सुवर्णभूमि में कालकाचार्य

लेखक
डा॰ उमाकान्त शाह एम ए, पी-एच् डी
डेप्युटी डायरेक्टर, ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट
म स यूनिवर्सिटी, बरोदा ।

जैन संस्कृति संशोधन मण्डल
बनारस ५.

निवेदन

श्री महावीर जैन विद्यालय ने आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि स्मारकग्रन्थ का प्रकाशन कुछ मास पहले कि है। उसमें प्रस्तुत लेख 'सुवर्णभूमि में कालकाचार्य' मुद्रित हुआ है। उसी को पुस्तिका रूप में मण्डल प्रकाशित र रहा है। अनुमति देने के लिए प्रकाशकों का और लेखक डा० उमाकान्त शाह का मंडल आभारी है। डा० उमाका मण्डल के सदस्यों के लिये नए नहीं हैं। उन्हीं की पुस्तक Studies in Jain Art इस पूर्व मण्डलने प्रकाशि की है। उसका जो सत्कार विद्वानों ने किया है उससे मण्डल गौरवान्वित है।

प्रस्तुत पुस्तिका से यह सिद्ध होता है कि जैनाचार्य भारत के बाहर जाते थे भारत के बाहर भी जैनधर्म क प्रचार करते थे, आचार्य कालक सुवर्णभूमि में गए हैं, बर्मा, मलय द्वीपकल्प, सुमात्रा और मलय द्वीप समूह के लिए सुवर्णभूमि शब्द प्रचलित था अतएव उन प्रदेशों में उनका विहार हुआ इतना ही नहीं किन्तु अनाम (चम्पा तक आचार्य कालकने विचरण किया—इत्यादि मुख्य स्थापनाएँ सप्रमाण सर्वप्रथम यहाँ डा उमाकान्त ने की हैं साथ ही कालक का समय कालकाचार्यों के कथानकों का विश्लेषण कर के कौन सी घटनाएँ सुवर्णभूमि जाने वाले कालक के जीवन से सम्बद्ध हैं इत्यादि अन्य गौण बातों का भी निरूपण एक संशोधक की दृष्टि से डा उमाकान्त ने किया है और विद्वानों को प्रार्थना की है कि इस संशोधन के प्रकाश में वे गर्दभ गर्दभिल्ल, विक्रमादित्य आदि के गू प्रश्नों के निराकरण ढूँढने का प्रयत्न करें।

प्रस्तुत पुस्तिका में प्रेस की असावधानी के कारण पृष्ठ संख्यांक गलत छप गये हैं। पृ ८ के बाद १७ से ३२ के स्थान में ९ से २४ पढ़ें।

प्रस्तुत पत्रिका के प्रकाशन में श्री कान्तिलाल कोरा रजिस्ट्रार श्री महावीर जैन विद्यालय ने जो प्रेस, कागज आदि का प्रबन्ध कर देने का प्रयत्न किया है उसके लिए हम उनके आभारी हैं।

निवेदक —
दलसुख मालवणिया
मन्त्री
जैन संस्कृति संशोधन मण्डल

बनारस
ता १-९-५६

प्रकाशक
दलसुख मालवणिया
मंत्री
जैन संस्कृति संशोधन मंडल
बनारस ५

मुद्रक
वि० पी० भागवत
मौज प्रिंटिंग ब्यूरो
खटाऊ वाडी, बम्बई ४

सुवर्णभूमि में कालकाचार्य

श्री. सङ्घदास गणि क्षमाश्रमणकृत बृहत्कल्पभाष्य[1] (विभाग १, पृ. ७३-७४) में निम्नलिखित गाथा है :

सागरियमप्पाहण, सुवन्न सुयसिस्स खतलक्खेण।
कहणा सिस्सागमण, धूलीपुंजोवमाण च ॥ २३६ ॥

इस गाथा की टीका मे श्रीमलयगिरि (वि० स० १२०० आसपास) ने कालकाचार्य के सुवर्णभूमि में जाने की हकीकत विस्तार से बतलाई है जिसका साराश यहाँ दिया जाता है।

उज्जयिनी नगरी मे सूत्रार्थ के ज्ञाता आर्य कालक नाम के आचार्य बड़े परिवार के साथ विचरते थे। इन्हीं आर्य कालक का प्रशिष्य, सूत्रार्थ को जाननेवाला सागर (सगक) श्रमण सुवर्णभूमि में विहार कर रहा था। आर्य कालक ने सोचा, मेरे ये शिष्य जब अनुयोग को सुनते नहीं तब मै कैसे इनके बीच में स्थिर रह सकूं? इससे तो यह अच्छा होगा कि मैं वहाँ जाऊं जहाँ अनुयोग का प्रचार कर सकूं, और मेरे ये शिष्य भी पिछे से लज्जित हो कर सोच समझ पाएँगे। ऐसा खयाल कर के उन्होंने शय्यातर को कहा : मैं किसी तरह (अज्ञात रह कर) अन्यत्र जाऊं। जब मेरे शिष्य लोग मेरे गमन को सुनेंगे तब तुम से पृच्छा करेंगे। मगर, तुम इनको कहना नहीं और जब ज्यादा तंग करे तब तिरस्कारपूर्वक बताना कि (तुम लोगों से निर्वेद पा कर) सुवर्णभूमि में सागर (श्रमण) की ओर गये हैं। ऐसा शय्यातर को समझाकर रात्रि को जब सब सोये हुए थे तब वे (विहार कर के) सुवर्णभूमि को गये। वहाँ जा कर उन्होंने स्वय 'खत' मतलब कि वृद्ध (साधु) हैं ऐसा बोल कर सागर के गच्छ मे प्रवेश पाया। तब यह वृद्ध (अति वृद्ध—मतलब कि अब जीर्ण और असमर्थ-नाकामीयाब होते जाते) हैं ऐसे खयाल से सागर आचार्य ने उनका अभ्युत्थान आदि से सन्मान नहीं किया। फिर अर्थ-पौरुषी (व्याख्यान) के समय पर (व्याख्यान के बाद) सागर ने उनसे कहा हे वृद्ध! आपको यह (प्रवचन) पसद आया? आचार्य (कालक) बोले हाँ! सागर बोला : तब अवश्य व्याख्यान को सुनते रहो। ऐसा कह कर गर्वपूर्वक सागर सुनाते रहे।

अब दूसरे शिष्यलोग (उज्जैन में) प्रभात होने पर आचार्य को न देखकर सम्भ्रान्त हो कर सर्वत्र ढूंढते हुए शय्यातर को पूछने लगे मगर उसने कुछ बताया नहीं और बोला : जब आप लोगों को स्वय आचार्य कहते नहीं तब मेरे को कैसे कहते? फिर जब शिष्यगण आतुर हो कर बहुत आग्रह करने लगा तब शय्यातर तिरस्कारपूर्वक बोला : आप लोगों से निर्वेद पा कर सुवर्णभूमि में सागर श्रमण के पास चले गये हैं।

फिर वे सब सुवर्णभूमि में जाने के लिए निकल पड़े। रास्ते में लोग पूछते कि यह कौनसे आचार्य विहार कर रहे हैं? तब वे बताते थे : आर्य कालक। अब इधर सुवर्णभूमि में लोगों ने बतलाया कि आर्य कालक नाम के बहुश्रुत आचार्य बहु परिवार सहित यहाँ आने के खयाल से रास्ते में हैं। इस बात को सुनकर सागर ने अपने शिष्यों को कहा मेरे आर्य आ रहे हैं। मैं इनसे पदार्थों के विषय में पृच्छा करूँगा।

थोड़े ही समय के बाद वे शिष्य आ गये। वे पूछने लगे : क्या यहाँ पर आचार्य पधारे हैं? उत्तर

---

१ मुनि श्रीपुण्यविजयजी सपादित, "निर्युक्ति-लघुभाष्य-वृत्त्युपेत-बृहत्कल्पसूत्रम्" विभाग १ से ६, प्रकाशक, श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर

मिला : नहीं मगर दूसरे वृद्ध आये हैं। पृच्छा हुई : कैसे हैं? (फिर वृद्ध को देख कर) यही आचार्य हैं ऐसा कह कर उनको वन्दन किया। तब सागर बड़े लज्जित हुए और सोचने लगे कि मैंने बहुत प्रलाप किया और क्षमाश्रमणजी (आर्य कालक) से मेरी वन्दना भी करवाई। इस लिए "आपका मैंने अनादर किया" ऐसा कह कर अपराह्णवेला के समय 'मिथ्या दुष्कृतं मे" ऐसे निवेदनपूर्वक क्षमायाचना की। फिर वह आचार्य को पूछने लगा हे क्षमाश्रमण! मैं कैसा व्याख्यान करता हूँ? आचार्य बोले : सुन्दर, किन्तु गर्व मत करो। फिर उन्होंने धूलि पुञ्ज का दृष्टान्त दिया। हाथ में धूलि लेकर एक स्थान पर रख कर फिर उठा कर दूसरे स्थान पर रख दिया, फिर उठा कर तीसरे स्थान पर। और फिर बोले कि जिस तरह यह धूलिपुञ्ज एक स्थान से दूसरे स्थान रखा जाता हुआ कुछ पर्यायों (अंश) को छोड़ता जाता है, इसी तरह तीर्थंकरों से गणधरों और गणधरों से हमारे आचार्य तक, आचार्य उपाध्यायों की परम्परा में आये हुए श्रुत में से कौन जान सकता है कि कितने अंश बीच में गलित हो गये? इस लिए तुम (सर्वज्ञता का—श्रुत के पूर्ण विज्ञाता होने का) गर्व मत करो। फिर जिनसे सागर ने "मिथ्या दुष्कृत' पाया है और जिन्होंने सागर से विनय अभिवादन इत्यादि पाया है ऐसे आर्य कालक ने शिष्य प्रशिष्यों को अनुयोग दान दिया।

मलयगिरिजी का दिया हुआ यह वृत्तान्त निराधार नहीं है। पहले तो उनके सामने परम्परा है, और दूसरा यह सारा वृत्तान्त मलयगिरिजी ने प्राचीन बृहत्कल्प-चूर्णि से प्रायः शब्दशः उद्धृत किया है। सूत्र के बाद निर्युक्ति तदनन्तर भाष्य और तदनन्तर चूर्णि की रचना हुई। फिर एक और महत्त्वपूर्ण आधार उत्तराध्ययन निर्युक्ति का भी है जिस में सुवर्णभूमि में सागर के पास कालकाचार्य के आने का उल्लेख है— 'उज्जेणि कालखमणा सागरखमणा सुवण्णभूमीए' (उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा १२) उत्तराध्ययन-चूर्णि में यही वृत्तान्त मिलता है।[१] बृहत्कल्प-भाष्य में कालक-सागर और कालक-गर्दभिल्ल का निर्देश तो है किन्तु उपलब्ध ग्रन्थ में निर्युक्ति और भाष्य गाथाओं के मिल जाने से इस बात का निश्चय नहीं किया जाता कि उपर्युक्त गाथा निर्युक्ति-गाथा है या भाष्य-गाथा। अगर निर्युक्ति-गाथा है तब तो यह वृत्तान्त कुछ ज्यादा प्राचीन है। उत्तराध्ययन निर्युक्ति की साक्षी भी यही सूचन करती है।

यह एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख है जिस की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया। पहिले तो भारत की सीमा से बाहिर अन्य देशों में जैन धर्म के प्रचार का प्राचीन विश्वसनीय पर परोक्ष निर्देश है। बृहत्कल्प भाष्य ईसा की ६ ठी सदी से अर्वाचीन नहीं है यह सर्वमान्य है। और दूसरा यह कि अगर यह वृत्तान्त उन्हीं आर्य कालक का है जिनका गर्दभिल्लों और शकों वाली कथा से सम्बन्ध है तब सुवर्णभूमि में जैन धर्म के प्रचार की तवारिख हमें मिलती है। कालक और गर्दभिल्लों की कथा कम से कम चूर्णि-ग्रन्थों से प्राचीन तो है ही क्यों कि दशाचूर्णि और निशीथ-चूर्णि में ऐसे निर्देश हमें मिलते हैं।[२] और इसी बृहत्कल्पभाष्य में भी निम्नलिखित गाथा है जिसका हम ख्याल करना चाहिये—

---

१ उत्तराध्ययन—चूर्णि (रतलाम से प्रकाशित) पृ. ८३–८४

२ कालकाचार्य कथा (प्रकाशक, श्री साराभाई नवाब अहमदाबाद) पृ. १–२ में निशीथचूर्णि दशम उद्देश से उद्धृत प्रसंग.

दशाचूर्णि व्यवहार-चूर्णि और बृहत्कल्पचूर्णि में से कालक-विषयक अवतरणों के लिए देखो वही पृ. ४-५ वही पृ. ११–१८ में भद्रेश्वरकृत कहावली में से कालक-विषयक अवतरण हैं। कहावली वि. सं. ... की रचना है। इस विषय में देखो श्री कल्याणविजय का लेख जैन सत्यप्रकाश (अहमदाबाद) वर्ष १७, अंक ४ जानुआरी १९५२ पृ. ८१ से आगे.

विज्जा ओरस्सबली, तेयसलद्धी सहायलद्धी वा।
उप्पादेउ सासति, अतिपत कालकज्जो वा ॥ ५५६३ ॥

—बृहत्कल्पसूत्र, विभाग ५, पृ. १४८०

उपर्युक्त भाष्य-गाथा कालकाचार्य ने विद्या-ज्ञान से गर्दभिल्ल का नाश करवाया इस बात की सूचक है और टीका से यह स्पष्ट होता है। बृहत्कल्पभाष्य-गाथा ई० स० ५०० से ई० स० ६०० के बीच में रची हुई मालूम होती है।[४] और जैन परम्परा के अनुसार कालक और गर्दभ का प्रसग ई० पू० स० ७४–६० आसपास हुआ माना जाता है।

अब देखना यह है कि सागरश्रमण के दादागुरु आर्य कालक और गर्दभिल्ल विनाशक आर्य कालक एक हैं या भिन्न। बृहत्कल्पभाष्यकार इन दोनों वृत्तान्तो की सूचक गाथाओं मे दो अलग अलग कालक होने का कोई निर्देश नहीं देते। अगर दोनों वृत्तान्त भिन्न भिन्न कालकपरक होते तो ऐसे समर्थ प्राचीन ग्रन्थकार जुरूर इस बात को बतलाते। टीकाकार या चूर्णिकार भी ऐसा कुछ बतलाते नहीं। और न ऐसा निशीथचूर्णिकार या किसी अन्य चूर्णिकार या भाष्यकार बतलाते हैं। क्यों कि इनको तो सन्देह उत्पन्न ही न हुआ कि सागर के दादागुरु कालक गर्दभविनाशक आर्य कालक से भिन्न हैं जैसा कि हमारे समकालीन पण्डितो का अनुमान है।

बृहत्कल्पभाष्य और चूर्णि मे मिलती कालक के सुवर्णभूमि-गमन वाली कथा मे कालक के 'अनुयोग' को उज्जैनवाले शिष्य सुनते नही थे ऐसा कथन है। आखिर में सुवर्णभूमि मे भी कालक ने शिष्य-प्रशिष्यों को अनुयोग का कथन किया ऐसा भी इस वृत्तान्त मे बताया गया है।[५] यहा कालक के रचे हुए अनुयोग ग्रन्थों का निर्देश है। 'अनुयोग' शब्द से सिर्फ 'व्याख्यान' या 'उपदेश' अर्थ लेना ठीक नहीं। व्याख्यान करना या उपदेश देना तो हरेक गुरु का कर्तव्य है और वह वे करते हैं और शिष्य उन व्याख्यानों को सुनते भी हैं। यहाँ क्यों कि कालक की नई ग्रन्थरचना थी इसी लिए पुराने खयालवाले शिष्यों में कुछ अश्रद्धा थी। चूर्णिकार और टीकाकार ने ठीक समझ कर अनुयोग शब्द का प्रयोग किया है।

हम आगे देखेंगे कि कालक ने लोकानुयोग और गण्डिकानुयोग की रचना की थी ऐसा पञ्चकल्पभाष्य का कथन है। इसी पञ्चकल्पभाष्य का स्पष्ट कथन है कि अनुयोगकार कालक ने आजीविको से निमित्तज्ञान प्राप्त किया था। इस तरह सुवर्णभूमि जाने वाले कालक पञ्चकल्पनिर्दिष्ट अनुयोगकार कालक ही हैं और वे निमित्तज्ञानी भी थे। गर्दभ विनाशक कालक भी निमित्तज्ञानी थे ऐसा निशीथचूर्णिगत वृत्तान्त से स्पष्टतया फलित होता है।[६] इस तरह निमित्तज्ञानी अनुयोगकार आर्य कालक और निमित्तज्ञानी गर्दभ-विनाशक आर्य कालक भिन्न नहीं किन्तु एकही व्यक्ति होना चाहिये क्यों कि दोनों वृत्तान्तों के नायक आर्य कालक नामक व्यक्ति हैं और निमित्तज्ञानी हैं। पहले हम कह चूके हैं कि प्राचीन ग्रन्थकारों ने दो

---

४ विशेष चर्चा के लिए देखो मुनिश्री पुण्यविजयजी लिखित प्रस्तावना, बृहत्कल्पसूत्र, विभाग ६, पृ० २०–२३

५ देखो—"ताहे अज्जकालया चिंतेति—एए मम सीसा अणुओग न सुणाति × × × × ×।" और, "ताहे मिच्छा दुक्कड करित्ता आढत्ता अज्जकालिया सीसपसीसाण अणुयोग कहेउ।"—बृहत्कल्पसूत्र, विभाग १, पृ० ७३–७४

६ देखो, निशीथचूर्णि, दशम उद्देश में कालक वृत्तान्त—"तत्थ एगो साहि त्ति राया भएणत्ति। त सम-ल्लीयो णिमित्तादिएहिं आउट्टेत्ति"।—नवाब प्रकाशित, कालिकाचार्य कथा, सदर्भ १, पृ० १

अलग अलग आर्य कालक होने का कोई इशारा भी नहीं किया। यही कालक जो शक-कुल पारसकुल तक गये यही कालक सुवर्णभूमि तक भी जा सकते हैं। कालकाचार्य का यह विशिष्ट व्यक्तित्व था।

हम आगे देखेंगे कि इस कालक का समय ई० स० पूर्व की पहली या दूसरी शताब्दी था। उस समय में भारत व सुवर्णभूमि और दक्षिण-चीन इत्यादि देशों से सम्बन्ध के थोड़े उल्लेख मिलते हैं मगर कालक के सुवर्णभूमिगमन वाले वृत्तान्त की महत्ता आज तक विद्वानों के सामने नहीं पेश हुई।

ग्रीक लेखक टॉलेमी और पेरिप्लस ऑफ द इरिथ्रियन सी के उल्लेख से, जैन ग्रन्थ वसुदेव हिंडि में चारुदत्त के सुवर्णभूमिगमन के उल्लेख से और महानिद्देस इत्यादि के उल्लेख से यह बात निश्चित हो चुकी है कि ईसा की पहिली दूसरी शताब्दियों में भारत का पूर्व के प्रदेशों (जैसे कि दक्षिण चीन, सियाम, हिन्दी चीन, बर्मा, कम्बोडिया, मलाया, जावा सुमात्रा आदि प्रदेशों) से घनिष्ठ व्यापारी सम्बन्ध था। चारुदत्त की कथा का मूल है गुणाढ्य की अप्राप्य बृहत्कथा जिसका समय यही माना जाता है। बहुत सम्भवित है कि इससे पहिले—अर्थात् ई० स० पूर्व की पहिली दूसरी शताब्दी में—भी भारत का सुवर्णभूमि से सम्बन्ध शुरू हो चुका था। बॅक्ट्रिया में ई० स० पूर्व १२८ आसपास पहुँचे हुवे चीनी राजदूत चांग कीन (Chang Kien) की गवाही मिली है कि दक्षिण पश्चिम चीन की बनी हुई बांस और रुई की चीजें हिन्दी सार्थवाहों ने सारे उत्तरी भारत और अफगानिस्तान के रास्ते से ले जा कर बॅक्ट्रिया में बेची थी।[७] कालकाचार्य और सागरश्रमण के सुवर्णभूमि-गमन का वृत्तान्त हमारे राष्ट्रीय इतिहास में और जैनधर्म के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक निर्देश है।

सुमात्रा के नजदीक में बक्क नामक खाड़ी है। डॉ० मोतीचन्द्रजी ने बताया है कि महानिद्देस में उल्लिखित वंकम् या वक्कम् यही बक्क खाड़ी का प्रदेश है।[८] हमें एक अतीव सूचक निर्देश मिलता है जिससे महत्त्व पंचकल्पभाष्य के उपर्युक्त उल्लेख के सहारे से बढ़ जाता है। सब को मालूम है कि आर्य कालक निमित्त और मन्त्रविद्या के ज्ञाता थे। आजीविकों से इन्हों ने निमित्तशास्त्र-ज्योतिष का ज्ञान पाया था ऐसे पंचकल्पभाष्य और पंचकल्पचूर्णि के उल्लेख हम आगे देखेंगे। खास तौर पर दीक्षा प्रव्रज्या देने के मुहूर्त विषय में इन्हों ने आजीविकों से शिक्षा पाई थी। अब हम देखते हैं कि वराहमिहिर के बृहज्जातक के टीकाकार उत्पलभट्ट (ई० स० ९ वी शताब्दी) ने एक जगह टीका में बृहत्कालकाचार्य के प्रव्रज्या-विषयक ग्रहस्थिति के विधान का सहारा लिया है और मूल गाथायें भी अपनी टीका में अवतारित की हैं। यह विधान निम्नलिखित शब्दों में है:

एते बृहत्कालकमतात् व्याख्याता। तथा च बृहत्कालकाचार्यः—

तावसिओ दिणणाहे चन्दे कावालिओ तहा भणिओ।
रत्तवडो भूमिसुए सोमसुए एगदंडीया ॥
देवगुरुसुक्ककोणे कमेण जइ-चरग-समणाई।

अस्यार्थः तावसिओ तापसिकः दिणणाहे दिननाथे सूर्ये चन्दे चन्द्रे कावालिओ कापालिकः तहा भणिओ तथा भणितः। रत्तवडो रक्तपटः। भूमिसुए भूमिसुते सोमसुए सोमसुते बुधे एगदंडीया एकदण्डी। कमेण

---

७. डॉ० पी० सी० बागची इन्डिया ऐन्ड चाइना (द्वितीय संस्करण बम्बई, १९५) पृ० ४-६, १६-१७, १९-२०.

८. कल्पना फरवरी १९५१ पृ० ११८.

९. महामहोपाध्याय पी० वा० काणे, वराहमिहिर एन्ड उत्पल, जर्नल ऑफ द बॉम्बे ब्रान्च ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसायटि १९४८-४९, पृ० २७ से आगे।

क्रमेण जई यतिः चरश्र चरकः खवणाई क्षपणक.। अत्र वृद्धश्रावकग्रहण माहेश्वराश्रिताना प्रव्रज्यानामुपलक्षणार्थे। आजीविकग्रहण च नारायणाश्रितानाम्। तथा च वङ्कालके संहितान्तरे पठ्यते—

जलण-हर-सुगअ केसव सुई ब्रह्मएण णग्ग मग्गेसु।
दिक्खाण णाश्रव्वा सूराइग्गहा कमेण णाहगश्रा ॥

जलण ज्वलनः साग्निक इत्यर्थः। हर ईश्वरभक्तः भट्टारक. सुगश्र सुगत बौद्ध इत्यर्थ। केसव केसवभक्त भागवत इत्यर्थ.। सुई श्रुतिमार्गगत' मीमासक.। ब्रह्मएण ब्रह्मभक्त. वानप्रस्थ'। णग्ग नग्न-क्षपणकः।XXXX'[१०]

वराहमिहिर ने अपने बृहज्जातक, १५.१ में प्रव्रज्या के विषय में जो विधान दिया है वह उत्पल भट्ट के कथन के अनुसार वङ्कालक के मतानुसार वराहमिहिर ने दिया है। उसी बात के स्पष्टीकरण में उत्पलभट्ट वङ्कालक की प्राकृत गाथायें उद्धृत करते हैं। यहाँ वकालकाचार्य (वङ्कालकाचार्य) ऐसा पाठ होने से इस प्राकृतविधान (गाथायें) के कर्ता के जैन आर्य कालक होने के बारे में विद्वानों मे सदेह रहा है। महामहोपाध्याय श्री पा० वा० काणे ने यह अनुमान किया है कि वकालकाचार्य का कालकाचार्य होना सम्भवित है।[११] हम देखते हैं कि कालकाचार्य और इनके प्रशिष्य सुवर्णभूमि गये थे। सुवर्णभूमि से यहाँ वस्तुत. किस पूर्वी प्रदेश का उल्लेख है यह तो पूरा निश्चित नहीं है किन्तु, विद्वानों का खयाल है कि दक्षिण बर्मा से लेकर मलाया और सुमात्रा के अन्त तक का प्रदेश सुवर्णभूमि बोला जाता था (देखो, डॉ० मोतीचन्द्र कृत, सार्थवाह, नकशा) जिसमें "वङ्क" या वका की खाडी भी आ जाती है। पॉलेमबँग के इस्टुअरी के सामने वका द्वीप है। वका का जलडमरुमध्य मलाया और जावा के बीच का साधारणपथ है। डॉ० मोतीचन्द्रजी लिखते हैं . बका की रॉगे की खदानें मशहूर थीं। सस्कृत में वँग के माने रॉगा होता है और सम्भव है कि इस धातु का नाम उसके उद्गमस्थान पर से पड़ा हो।[१२]

उत्पल-टीका की हस्तप्रतों का पाठ—'वङ्कालकाचार्य' और 'वङ्कालक सहिता' उन आचार्य का सूचक हो सकता है जो सुवर्णभूमि में गये थे और जिनके प्रशिष्य सागरश्रमण सपरिवार सुवर्णभूमि में (इस में "वङ्का" आ जाता है) रहते थे। सम्भव है येही आचार्य कालक के अलावा "वङ्कालक" या "वङ्का-कालक" नाम से भी पिछाने जाते हों। यह भी हो सकता है कि शुद्ध पाठ कालकाचार्य और कालक-सहिता हो किन्तु कालक के वङ्का-गमन की स्मृति में पाठ में अशुद्धि हो गई हो। उत्पलभट्ट का कहना है कि वराहमिहिर ने प्रव्रज्या के विषय मे (बृहज्जातक, १५. १) वङ्कालकाचार्य (कालकाचार्य) के मत का अनुसरण किया है। पञ्चकल्पभाष्य और पञ्चकल्पचूर्णि गवाही देते हैं कि कालकाचार्य ने उसी प्रव्रज्या के विषय का आजीवकों से सविशेष अध्ययन किया था। अत. उत्पल-टीका के वङ्कालकाचार्य कालकाचार्य हैं ऐसा मानना समुचित है।

ईसा की सातवीं शताब्दि आसपास रची हुई **पञ्चकल्प-चूर्णि** में लिखा है—[१३]

लोगाणुओगे, अज्जकालगा सज्झंतवासिणा भणिया एत्तिय। सो न नाओ मुहुत्तो जत्थ

१० **बृहज्जातक** (वेङ्कटेश प्रेस, बम्बई, स १६८०) उत्पलकृत टीका सह, पृ० १५६

११ देखो, महा पा० वा० काणे, **वराहमिहिर** एन्ड उत्पल, जर्नल ऑफ ध बॉम्बे ब्रान्च ऑफ ध आर० ए० एस० १६४८-४६ पृ० २७ से आगे

१२ डॉ० मोतीचन्द्र, **सार्थवाह**, पृ० १३०-१३१, १३४.

१३ श्री आत्मारामजी जैन ज्ञानमदिर, बडौदा, प्रवर्तक श्री कान्तिविजयजी शास्त्रसङ्ग्रह, हस्तलिखित प्रति न० १२८४, पत्र २६ मे उद्धृत

पढमाए य से कहग, देह मह सगहरसमुल्ल तु ।
बितियाए कुडल तू, ततियाए वि कुडल बितिय ॥
आजीविता उवट्ठित, गुरुदक्खिणा तु एय अम्ह ति ।
तेहि तय तु गहित, उवगेन्हित कालकज्ज तु ॥
णट्ठम्मि उ सुत्तम्मी, अत्थम्मि अणट्ठे ताहे सो कुणइ ।
लोगणुजोग च तहा, पढमणुजोगं च दोऽवेए ।
बहुगा णिमित्त तहिय, पढमणुओगे य होति चरियाइ ।
जिण चक्कि दसाराण, पुव्वभवाइ णिबद्धाइ ॥
ते काऊण तो सो, पाडलिपुत्ते उवट्ठितो सघ ।
बेइ कत मे किंची, अणुग्गहट्ठाए त सुणह ॥
तो सघेण णिसत, सोऊण य से पडिच्छित त तु ।
तो त पतिट्ठित तू, णगरम्मी कुसुमणामम्मि ॥
एमादीण करण, गहणा णिज्जूहणा पकप्पो उ ।
सगहणीण य करण, अप्पाहाराण उ पकप्पो ॥'[१४]

पहले पञ्चकल्पचूर्णि का बताया हुआ वृत्तान्त यहाँ पर है, और यह भाष्यगत वृत्तान्त ही चूर्णि का मूल है। भाष्यगाथा में स्पष्टीकरण है कि निमित्त सिखने के लिए कालकाचार्य प्रतिष्ठान नगर को गये और वहाँ उन्होंने आजीविकों से निमित्त पढ़ा। पढ़ने के बाद किसी समय वे वट वृक्ष के नीचे स्थित थे जहाँ 'सातवाहन-नरिन्द' आ पहुँचा और कालक से तीन प्रश्न पूछे। प्रश्न और गुरुदक्षिणा वाली बात दोनों ग्रन्थों में समान है किन्तु भाष्य में आगे की बातें कुछ विस्तार से हैं। भाष्यकार कहते हैं कि इस प्रसङ्ग के बाद कालकाचार्य अपने उचितकार्य में—धर्मकार्य में धर्माचरण में—लगे। सूत्र नष्ट होने से और अर्थ अनष्ट होने से (मतलब कि सूत्र दुर्लभ हो गये थे किन्तु प्रतिपाद्य विषय का अर्थज्ञान शेष था।) इन्होंने लोकानुयोग और प्रथमानुयोग इन दोनों शास्त्रों की रचना की। लोकानुयोग में निमित्तज्ञान था, और प्रथमानुयोग में जिन, चक्रवर्ती, दशार इत्यादि के चरित्र थे। इस रचना के बाद वे पाटलिपुत्र में सङ्घ के समक्ष उपस्थित हुए और अपनी ग्रन्थरचना सुनने की विज्ञप्ति की। ग्रन्थों को सुनकर इनको सङ्घने प्रमाणित किये—मान्य रक्खे। वे शास्त्रग्रन्थ माने गये। इन सब का करना, निर्यूहन करना इत्यादि को जैन परिभाषा में 'प्रकल्प' कहते हैं। और सङ्ग्रहणी इत्यादि की रचना भी प्रकल्प बोली जाती है।

इस तरह हम देखते हैं कि आर्य कालक निमित्तशास्त्र के बड़े पण्डित थे और प्रव्रज्या के विषय में (निमित्तशास्त्र का) इन्होंने आजीविकों से सविशेष अध्ययन किया था। वे बड़े ग्रन्थकर्ता थे जिन्होंने प्रथमानुयोग, लोकानुयोग इत्यादि की रचना की। इस लोकानुयोग में निमित्तशास्त्र आता है। अत: क्योंकि प्रव्रज्या के विषय में ही वराहमिहिर वङ्कालक के मत का अनुसरण करते हैं और उसी विषय की उनकी रची हुई गाथायें उत्पलभट्ट ने उद्धृत की हैं। हमें विश्वास होता है कि 'वङ्कालक' से आर्य कालक ही उद्दिष्ट हैं। हमें यह भी खयाल रखना चाहिये कि उत्पलभट्ट ने अवतारित की हुई गाथायें उसी प्राकृत में हैं जिसमें जैनशास्त्र रचे गये हैं।

इस चर्चा से यह फलित होता है कि आर्य कालक, अनुयोग-कार कालक, निमित्तवेत्ता कालक

१४. पञ्चकल्पभाष्य, मुनिश्री हंसविजयजी शास्त्रसंग्रह (श्री आत्मारामजी जैन ज्ञानमन्दिर, बड़ोदा), हस्तलिखित प्रति न० १६७३, पत्र ५०

ऐतिहासिक व्यक्ति थे उनकी रचनायें वराहमिहिर ने देखी थीं और ई० स० की ६ वीं शताब्दी में उत्पलभट्ट के सामने भी कालक की रचनायें या इनका अंश मौजूद था।

यह कालक वराहमिहिर के पूर्वसमकालीन या पूर्ववर्ती होंगे। अनुयोग के चार विभाग करने वाले आर्यरक्षित[15] से आर्य कालक पूर्ववर्ती होने चाहिये। आर्य रक्षित का समय ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्त में माना जाता है। अतः कालकाचार्य वराहमिहिर के पूर्ववर्ती हैं। वराहमिहिर का समय शक संवत् ४२७ या ई० स० ५०५ आसपास माना गया है।[16] इस समय के आसपास कालक शकों को भारत में लाए ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि ईसा की पहली सदी में भारत में शक स्थिर बसे हुए थे और बहुत भाग पर उनका शासन भी था। अतः आर्य कालक वराहमिहिर के पूर्ववर्ती ही थे। हम देख चुके हैं कि अनुयोगकार निमित्तज्ञ कालक और गर्दभिल्ल विनाशक निमित्तज्ञ कालक एक ही हैं और वही सुवर्णभूमि में गये थे।

डॉ० आर० सी० मजुमदार लिखते हैं : An Annamite text gives some particulars of an Indian named Khauda la. He was born in a Brāhmaṇa family of Western India and was well versed in magical art. He went to Tonkin by sea probably about the same time as Jivaka He *lived in caves or under trees and was also known as Ca la-cha la (Kālāchārya—black preceptor ?)*"[17]

इसका मतलब यह है कि अनाम-चम्पा के किसी ग्रन्थ में लिखा है कि पश्चिमी भारत की ब्राह्मणजाति का कोई खउद-ल नामक व्यक्ति वहाँ गया था और वहाँसे दरियाई रास्ते टोन्किन (दक्षिण चीन) गया था। यह व्यक्ति जादू-गुप्तविद्या मन्त्रविद्या में निपुण था। यहाँ कि लोग में या तो गुफाओं में या वृक्ष निवास करता था और उसको कालाचार्य कहते थे।

डॉ० मजुमदार का कहना है कि यह कालकाचार्य शायद उसी समय में अनाम और टोन्किन गये जिस समय बौद्ध साधु जीवक गया था। जीवक या मारजीवक ई० स० २९ आसपास टोन्किन में था।[18] इसी अनाम की परम्परा के विषय में डॉ० पी० सी० बागची से विशेष पृच्छा करने से इन्होंने मुझे लिखा है—

"Khaudala is not mentioned in any of the authentic Chinese sources which speak of the other three Buddhist monks Mārajīvaka, Sangha Varman and Kalyānaruci who were in Tonkin during the 3rd century A.D But he is referred to for the first time (loc. cit. P 217) in an Annamese book—*Cho Chau Phap Van Phat Bah hanh ngi lue* of the 14th century The text says "Towards the end of the reign of Ling Han (168-188 A.D) Jivaka was travelling Khau-da la (Kiu to-lo = Kṣudra) arrived about

---

१५ देविंद वंदिएहिं महाणुभावेहिं रक्खिअ अज्जेहिं।
जुगमासज्ज विहत्तो अणुओगो तो कओ चउहा॥
—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ७७४

१६ वराहमिहिर का समय शक सं ४२७ या ई स ५०५ आसपास है देखा एक मत के लिए देखो इण्डियन कल्चर वॉल्युम १ पृ १११ १४

१७ बृहत्तर इण्डियन बुलेटिन, १ ५५ इटालिक्स मेरे हैं

१८ वही, पृ ५५ और देखो *Le Bouddhisme en Annam*, Bulletin d'ecole Francaise d'Extreme-Orient, Vol. XXXII

the same tıme from Western Indıa He had another name Ca-la-cha-lo (Kıa-lo-cho-lo = Kālācārya) "

डॉ. बागची आगे अपने पत्र में लिखते हैं कि 'क्यों कि मारजीवक चीनी आधार से ई० स० २६० और ई० स० ३०६ के बीच में वहाँ दौरा लगाता था इस लिए अनाम के इस ग्रन्थ मे पायी जाती हकीकत ठीक नहीं लगती।'[१९] यह ठीक है कि जीवक का समय ई० स० २६० से ३०६ मानना चाहिये न कि ई० स० १६८–१८८ जो अनाम के ग्रन्थ का कहना है। किन्तु ई० स० १४ वीं शताब्दी मे बने हुए इस ग्रन्थ के कर्ता को पूरी हकीकत वास्तविक रूप में मिलनी मुश्किल है। फिर भी जिस तरह जीवक के अनाम और टोन्किन में जाने की बात विश्वसनीय है इसी तरह कालाचार्य के अनाम जाने की हकीकत सम्भवित हो सकती है।

क्या यह अनाम की परम्परा मे इन्ही कालकाचार्य की स्मृति तो नहीं जो विद्या-मन्त्र-निमित्त के ज्ञाता थे, जो सुवर्णभूमि मे विचरे थे, जिनका गुफाओं में और पेडों के नीचे रहना मानना युक्तिसङ्गत है और जो पश्चिमी भारत के रहनेवाले थे ? वे जन्म से ब्राह्मण हो सकते हैं, कई सुप्रसिद्ध जैनाचार्य जन्म से ब्राह्मण थे। जैन साधु गुफाओं में भी रहते थे। और पेड़ो के नीचे रहने वाली हकीकत कालकाचार्य के बारे में सच्ची है। उपर्युक्त पञ्चकल्पभाष्य में स्पष्ट लिखा है कि सातवाहन नरेन्द्र कालकाचार्य को मिले तब आर्य कालक वटवृक्ष के नीचे निविष्ट थे। **कालकाचार्य पेड़ो के नीचे रहते थे।** अनाम के ग्रन्थ का यह कहना कि कालाचार्य गुफाओं में और पेड़ों के नीचे रहते थे वह इस वस्तु का द्योतक है कि वे पुरुष गृहस्थी नहीं किन्तु साधु-जीवन गुजारने वाले थे। और जब हमें प्राचीन जैनग्रन्थों (उत्तराध्ययननिर्युक्ति, बृहत्कल्पभाष्य इत्यादि) की साक्षी मिलती है कि कालकाचार्य सुवर्णभूमि मे गये थे तब अनाम-परम्परा के कालाचार्य वाली हकीकत मे इसी कालकाचार्य के सुवर्णभूमि-गमन की स्मृति मानना उचित होगा।

कालाचार्य या कालकाचार्य के सुवर्णभूमिगमन का कारण भी दिया गया है। कालक की ग्रन्थरचनायें जिनको पाटलिपुत्र के सङ्घ ने भी प्रमाणित की थीं उन्हें खुद उनके शिष्य भी (उज्जैन में) नहीं सुनते थे। आर्य कालक इसी से निर्विण्ण हो कर देशान्तर गये। सुवर्णभूमि में जहाँ उनके मेधावी श्रुतज्ञानी प्रशिष्य सागरश्रमण थे वहाँ जाना आर्य कालक ने उचित माना।

अनाम की परम्परा का जो निर्देश है कि कालाचार्य पश्चिमी भारत के ब्राह्मण थे उसको भी सोचना चाहिए। कालक-कथानकों से यह तो स्पष्ट है कि इनका ज्यादा सम्बन्ध उज्जैन, भरूच (भरुकच्छ) और प्रतिष्ठानपुर से रहा। अत आर्य कालक पश्चिमी भारत के हो सकते हैं, और पूर्व में अनाम परम्परा उनको पश्चिमी भारत के मान ले यह स्वाभाविक है। कालाचार्य-कालकाचार्य के जन्म से ब्राह्मण होने के विषय में हम देख चूके हैं कि यह बात असम्भव नहीं, कई प्रभाविक जैन आचार्य पहले श्रोत्रिय ब्राह्मण पण्डित थे। और आर्य कालक के विषय में एक कथानक भी है जिससे वह ब्राह्मणजातीय थे ऐसा मान सकते हैं। आवश्यक-चूर्णि और कहावली (ई० स० १२०० के पहिले रचा हुआ, शायद ई० स० ९ वीं शताब्दि में रचित) में एक कथानक है जिस में बताया गया है कि कालक तुरुमिणी नगरी में भद्रा नामक ब्राह्मणी के सहोदर थे। भद्रा के पुत्र दत्त ने उस नगरी के राजा को पदभ्रष्ट करके राज्य ले लिया और उसने बहुत यज्ञ किये। इस दत्त के सामने कालकाचार्य ने यज्ञों कि निन्दा की और यज्ञ का बूरा फल कहा। इस से दत्त ने आचार्य को कैद किया। आचार्य के भविष्यकथन के अनुसार राजा दत्त बूरे हाल मरा।[१९अ] यज्ञफल और दत्त के भविष्य-

---

१९ डा बागचीजी द्वारा दी गई प्रस्तुत सूचना के लिए मैं उनका ऋणी हूँ।

१९अ देखो, कालकाचार्य-कथा (श्री नवाब प्रकाशित) पृ० ४० आवश्यक-चूर्णि, भाग १, पृ ४९५–४९६ में भद्रा को "धिग्जातिणी" कही है। भद्रा ब्राह्मणधर्मी होने से इसके लिए जैन लेखक ने

कथानकों से प्रतीत होता है कि इन लेखकों को सुवर्णभूमि का ठीक पता नहीं रहा होगा। इसी लिए प्रभावक चरित्र के कर्ता (समय वि० स० १३३४=ई० स० १२७७) सागर को उज्जैनी में बसे कहते हैं। और दूसरे लेखक सुवर्णभूमि के बजाय स्वर्णपुर कहते हैं। कई लेखक प्रदेश का नाम छोड़ देते हैं या दूर-देश या देशान्तर ऐसा अस्पष्ट उल्लेख करते हैं। इस से यह स्पष्ट होता है कि इन पिछले लेखकों के समय में कई परम्परायें विच्छिन्न थीं। और कई बातें उनकी समझ में आ न सकीं। ऐसे सयोग में हमारे लिए यही उचित है कि हम भाष्यकार, चूर्णिकार, कहावलीकार और मलयगिरि के कथनों में ज्यादा विश्वास रक्खे और हो सके वहाँ तक इन्हीं साक्षियों से कालकविषयक खड़ी होती समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करें। हम देख चूके हैं कि कालक ऐतिहासिक व्यक्ति थे न कि काल्पनिक। निमित्तज्ञानी, अनुयोगकार आर्य कालक सुवर्णभूमि में गये थे ऐसा निर्युक्तिकार, भाष्यकार और चूर्णिकार का कहना है जिसमे सन्देह रखने का कोई कारण नहीं।

लेकिन सुवर्णभूमि किस प्रदेश को कहते थे? सुवर्णभूमि का निर्देश हमें महानिद्देस जैसे प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। डॉ० मोतीचन्द्र लिखते हैं—"महानिद्देस के सुवर्णकूट और सुवर्णभूमि को एक साथ लेना चाहिये। सुवर्णभूमि, बगाल की खाड़ी के पूरब के सब प्रदेशों के लिए एक साधारण नाम था, पर सुवर्णकूट एक भौगोलिक नाम है। अर्थशास्त्र (२।२।२८) के अनुसार सुवर्णकुड्या से तैलपर्णिक नाम का सफेद या लालचन्दन आता था। यहाँ का अगर पीले और लाल रगों के बीच का होता था। सबसे अच्छा चन्दन मैकासार और तिमोर से, और सबसे अच्छा अगर चम्पा और अनाम से आता था। सुवर्णकुड्या से दुकूल और पत्रोर्ण भी आते थे। सुवर्णकुड्या की पहचान चीनी किन्‌लिन् से की जाती है जो फूनान के पश्चिम मे था।[२४]"

सुवर्णभूमि और सुवर्णद्वीप ये दोनों नाम सागरपार के पूर्वी प्रदेशों के लिए प्राचीन समय से भारतवासियों को सुपरिचित थे। जातककथायें, गुणाढ्य की (अभी अनुपलब्ध) बृहत्कथा के उपलब्ध रूपान्तर, कथाकोश और विशेषतः बौद्ध और दूसरे साहित्य के कथानकों में इनके नाम हमेशा मिलते रहते हैं। एक जातककथा के अनुसार महाजनक नामक राजकुमार धनप्राप्ति के उद्देश से सोदागरों के साथ सुवर्णभूमि को जानेवाले जहाज में गया था। दूसरी एक जातककथा भरुकच्छ से सुवर्णभूमि की जहाजी मुसाफिरी का निर्देश करती है। सुपारक–जातक में ऐसी ही यात्रा विस्तार से दी गई है।[२५]

गुणाढ्य की बृहत्कथा तो अप्राप्य है किन्तु उससे बने हुए बुधस्वामि लिखित बृहत्कथाश्लोकसङ्ग्रह में सानुदास की सुवर्णभूमि की यात्रा बताई गई है। कथासरित्सागर में सुवर्णद्वीप की यात्राओ के कई निर्देश हैं। कथाकोश मे नागदत्त को सुवर्णद्वीप के राजा सुन्द ने बचाया ऐसी कथा है।[२६]

बृहत्कथा के उपलब्ध रूपान्तरों में सबसे प्राचीन है सङ्घदास वाचक कृत वसुदेवहिण्डि (रचना-काल–ई० स० ३०० से ई० स० ५०० के बीच)। सार्थ के साथ उत्कल से ताम्रलिप्ति (वर्तमान तामलुक्) की ओर जाते हुए चारुदत्त को रास्ते मे लूटेरों की भेंट होती है, लेकिन वह बच जाता है। सार्थ से उसे अलग होना पड़ता है और वह अकेला प्रियगुपट्टण पहुँचता है जहाँ पहचानवाले व्यापारी की सहाय से वह नया माल ले-कर तरी रास्ते व्यापार के लिए जाता है। चारुदत्त अपना वृत्तान्त देता है—"पिछे मैंने जहाज को सज्ज किया, उस में माल भरा, खलासियों के साथ नौकर भी लिये राज्यशासन का पट्टक (पासपोर्ट)

---

२४. डा० मोतीचन्द्र, सार्थवाह, पृ० १३४

२५ जातक, भाग ६ (इंग्लिश में), पृ० २२, वही, भाग ३, पृ० १२४, भाग ४, पृ० ८६, और जातकमाला, न० १४,

२६ कथासरित्सागर (बम्बई प्रकाशन), तरङ्ग ५४, श्लो० ८६ से आगे, ९५ आगे, तरङ्ग, ५७, ७२ से आगे, पृ० २७६, २६७, तरङ्ग, ८६, ३३, ६२, तरङ्ग, १२३ ११० कथाकोश (Tawney s Ed) पृ० २८–२९

भी सिंधु और चीनस्थान की ओर जहाज को चलाया जलमार्ग होने से (चारों ओर) सात जगह संभ्रम सा प्रतीत होता था। फिर हमलोग चीनस्थान पहुँचे। वहाँ व्यापार कर के मैं सुवर्णद्वीप गया। पूर्व और दक्षिण दिशा के पत्तनों के प्रवास के बाद कमलपुर (ख्मेर) यवद्वीप (यवद्वीप—जावा) और सिंहल (सिलोन—लंका) में और पश्चिम में बर्बर (झांझीबार?) और यवन (अलेकझांड्रिया)[17] में व्यापार कर, मैंने आठ कोटि धन पैदा किया जहाज में मैं सौराष्ट्र के किनारे आ रहा था तब किनारा मेरी दृष्टिमर्यादा में था उसी समय उत्पात हुआ और वह जहाज नष्ट हुआ। कुछ समय के बाद एक काष्ठफलक मेरे हाथ आ गया और (समुद्र के) तरंगों की परम्परा से फेंकता हुआ मैं उस फलकावलम्बन से ही क्रमशः सात रात्रियों के बाद आखिर उम्बरावती-वेला (वेला = खाड़ी) के किनारे पर फेंका गया। इस तरह मैं समुद्र से बाहर आया।"[18]

यह स्थान महत्त्व का है। ताम्रलिप्ति बंगाल की एक प्राचीन बन्दरगाह थी। वहाँ से चारुदत्त चीन और हिन्द-एशिया की तरफ जाता है। चीन से सुवर्णद्वीप जाता है और पूर्व और दक्षिण के बन्दरगाहों, व्यापारकेन्द्रों में होता हुआ ख्मेर, वहाँ से यवद्वीप और फिर वहाँ से सिंहल को जाता है। इस तरह चीन और ख्मेर के बीच में सुवर्णद्वीप होना सम्भवित है।

वसुदेवहिण्डि की रचना बृहत्कल्पभाष्य से प्राचीन है।[19] वसुदेवहिण्डि अन्तर्गत चारुदत्त के ब्यान से प्रतीत होता है कि जैन ग्रन्थकार इन पूर्वीय देशों से सुपरिचित थे। बृहत्कल्पभाष्य-गाथा में "सुवण्ण" शब्द प्रयोग से ग्रन्थकार की अपनी संक्षेपात्मक शैली का भान चल जाता है क्योंकि लिखने और पढ़नेवाले इसके मतलब से (सुवण्ण शब्द से सूचित सुवर्णभूमि अर्थ से) सुपरिचित थे। और तदन्तर्गत निर्युक्ति तो स्पष्ट रूप से सुवर्णभूमि का निर्देश करती है।

सुवर्णभूमि के नगर के बारे में कौटिल्य के निर्देश (अर्थशास्त्र, २ ११) का उल्लेख पहिले किया गया है। मिलिन्दपण्ह भी समुद्रपार तक्कोल चीन सुवर्णभूमि के बन्दरगाह जहाँ जहाज इकट्ठे होते हैं, का उल्लेख करता है।[20]

निद्देस में सुवण्णभूमि और दूसरे देशों की जहाजी मुसाफरी का निर्देश है। महाकर्म-विभङ्ग में देशान्तर विपाक के उदाहरण में महाकोशली और ताम्रलिप्ति से सुवर्णभूमि की ओर जहाजी रास्ते से जानेवाले व्यापारियों को होती हुई आपत्तियों की बातें हैं। सिंहली महावंश में थेर उत्तर और थेर सोण के सुवण्णभूमि में धर्मप्रचार का निर्देश है।[21]

---

१७. यवन शब्द से ग्रीस के लिए प्रयुक्त था। जिस समय वसुदेवहिण्डि और पुरातन की रचना हुई उस समय यवन से अलेक्झाण्ड्रिया उचित होगा।

१८. वसुदेवहिण्डि भाग १ पृ. १४२-१४९

१९. आगम प्रभाकर मुनिश्री पुण्यविजयजी की प्रस्तावना बृहत्कल्पसूत्र विभाग ६

२०. मिलिन्दपण्ह (ट्रान्सलेटर), सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट सिरीज, वॉल्युम ३६ पृ. २६९—
—"As a ship-owner who has become wealthy by constantly levying freight in some sea-port town, will be able to traverse the high-seas and go to Takkola or Cina ... or Suvarnabhumi or any other place where ships may congregate ..."
देखो डा. सिल्वाँ लेवि Etudes Asiatiques, वॉ. १ पृ. १-५५, ४३१.

२१. महाकर्म-विभङ्ग डा. सिल्वाँ लेवि प्रकाशित पृ. ५ से आगे देखो महावंश गायगर प्रकाशित १२. ४४ सुवर्णद्वीप (डा. रमेशचन्द्र मजुमदार कृत) विभाग १ पृ. ६-४

ग्रीक-लाटिन ग्रन्थकार भी सुवर्णभूमि, सुवर्णद्वीप का उल्लेख करते हैं। क्रिसी (Chryse जिसका अर्थ सुवर्ण होता है) द्वीप का, पोम्पोनिअस मेल (ई० स० ४१–५४) अपने De Chorographia में उल्लेख करता है। प्लिनी, टॉलेमी वगैरह ग्रन्थकारों के बयानों में, और पेरिप्लस में भी, इसका उल्लेख है। टॉलेमी सिर्फ क्रिसी-द्वीप के बजाय Chryse Chora (सुवर्णभूमि) और Chryse Chersonesus (सुवर्ण-द्वीपकल्प) का निर्देश करता है।

अरबी ग्रन्थकारों के पिछले बयानों को यहाँ विस्तारभय से छोड़ देंगे। किन्तु इन सब साक्षियों की विस्तृत समीक्षा के बाद डाक्टर रमेशचन्द्र मजुमदार ने जो लिखा है वही देख लें। आप लिखते हैं—

"The Periplus makes it certain that the territories beyond the Ganges were called Chryse It does not give us any means to define the boundaries more precisely, beyond drawing our attention to the facts that the region consisted both of a part of mainland as well as an island, to the east of the Ganges, and that it was the last part of the inhabited world To the north of this region it places "This" or China In other words, Chryse, according to this authority, has the same connotation as the Trans-Gangetic India of Ptolemy, and would include Burma, Indo-China and Malaya Archipelago, or rather such portions of this vast region as were then known to the Indians Ptolemy's Chryse Chersonesus undoubtedly indicates Malaya Peninsula, and its Chryse Chora must be a region to the north of it Now we have definite evidence that a portion of Burma was known in later ages as Suvarnabhūmi According to Kalyāni Inscriptions (Suvarnabhūmi-raṭṭa-samkhāta Rāmaññadesa), Rāmaññadesa was called Suvarnabhūmi which would then comprise the maritime region between Cape Negrais and the mouth of the Salvin There can also be hardly any doubt, in view of the statement of Arab and Chinese writers, and the inscription found in Sumātrā itself, that the island was also known as Suvarnabhūmi and Suvarnadvīpa There are thus definite evidences that Burma, Malaya Peninsula and Sumātrā had a common designation of Suvarnabhūmi, and the name Suvarnadvīpa was certainly applied to Sumātrā and other islands of the Malaya Archipelago"[32]

इस तरह डा० मजुमदार के अन्वेषण से बर्मा, मलय द्वीपकल्प, सुमात्रा और मलय द्वीपसमूह से अभी पिछाने जाते प्रदेशों के लिए सुवर्णभूमि शब्द प्रचलित था, और विशेष सुमात्रा और मलयसामुद्रधूनि (Malaya Archipelago) का द्वीपसमूह सुवर्णद्वीप कहा जाता था।

बृहत्कल्पसूत्र की भाष्य-गाथा में, और उत्तराध्ययननिर्युक्ति में "सुवण्ण" शब्द है जिससे सुवर्ण-भूमि या सुवर्णद्वीप दोनों अर्थ घटमान होते हैं। किन्तु चूर्णिकार और टीकाकार (मलयगिरि) जैसे बहुश्रुत विद्वानों ने अपने को प्राप्त आधारग्रन्थ और प्राचीन-परम्परागत ज्ञान के अनुसरण में सुवर्णभूमि अर्थ दिया है। इस लिए कालकाचार्य दक्षिण-बर्मा, उसके पूर्व के और दक्षिण के प्रदेशों में विचरे थे ऐसा अर्थ घटाना ठीक होगा। वहाँ से आगे वे कहाँ तक गये, और "अज्ज कालग" ने शेष जीवन में क्या क्या किया,[33]

---

३२. डा० रमेशचन्द्र मजुमदार, सुवर्णद्वीप, भाग १, पृ० ४८

३३. आर्य कालक के शेष जीवन के बारे में अगर भाष्यकार और चूर्णिकार को कुछ और भी पता होगा

इस तरह हम देखते हैं कि महावीर-स्वामी के पश्चात् करीब पाँचसौ वर्ष में दूसरे सम्प्रदायों के साथ जैनों ने भी पूर्व में और उत्तरपूर्व में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के प्रयत्न किये होंगे, और बंगाल में ई० स० की पाँचवीं शताब्दी तक जैनो के वह प्रयत्न चालू थे। अत. इससे भी पूर्व में बर्मा, अनाम इत्यादि में तथा सुवर्णभूमि से पिछाने जाते प्रदेशों में ऐसा प्रयत्न होने का अगर प्राचीन जैन ग्रन्थों का प्रमाण मिले तब वह असङ्गत और अशक्य नहीं लग सकता। कम से कम बर्मा, आसाम और नेपाल में जैनाचार्यों के जाने का अनुमान तो हरेक को ग्राह्य होगा। दक्षिण बर्मा से पैदल रास्ते से जैनाचार्य, आगे भी, सुवर्णभूमि से पिछाने जाते प्रदेशों में, जा सकते थे और गये होंगे।

आर्य कालक के समय के बारे मे आगे विचार होगा। उनका समय, जैसा कि आगे देखेंगे, ई० स० पूर्व १६२ से १५१ या ई० स० पूर्व १३२ से ६१ की आसपास का है उस समय में भारतीय व्यापारी इन प्रदेशों मे जाते थे यह हम देख चूके हैं। डॉ० मजुमदार लिखते हैं—

"The view that the beginnings of Indian Colonisation in South-East Asia should be placed not later than the first century A D is also supported by the fact that trade relations between India and China, by way of sea, may be traced back to the second century B C[36] As the Chineses vessels did not proceed beyond Northern Annam till after the first century A D, it may be presumed that the Indian vessels plied at least as far as Annam even in the second century B C As the vessels in those days kept close to the coast, we may conclude that even in the second century B C Indian mariners and merchants must have been quite familiar with those regions in Indo-China, and Malaya Archipelago, where we find Indian colonies at a later date "[36A]

मगर जैनाचार्यों की जहाजी सफर का, समुद्रयान का, अनुमान करना मुश्किल है। किन्तु वे खुश्की रास्ते से जा सकते थे। इस मे भी बड़ीं बड़ी नदियाँ तो आती ही हैं। बड़ी बड़ी नदियों के पार करने में जैन श्रमण नाव मे बैठ सकते हैं। इस विषय की विस्तृत चर्चा बृहत्कल्पसूत्र, उद्देश ४ सूत्र ३२ से आगे, और इन सूत्रों की भाष्यगाथाओं (गाथा ५६२०) में मिलती है। गङ्गा या शोण (और सिन्धु, नर्मदा) जैसी भारतीय बड़ी नदियाँ पार करनेवाले जैनाचार्यों ने ब्रह्मपुत्रा, ईरावदी जैसी नदियाँ भी नॉव में पार की होगी। इस में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। किनारा सामने नजर में आ सके ऐसे जलमार्ग में नाव का उपयोग हो सकता है। बडी बड़ी ऐसी नदियों के रास्ते में भी ऐसी कई जगह (या पहाड़ी दून प्रदेश) होती हैं जहाँ जल खूब गहरा होता है लेकिन सामनेवाला किनारा नजरो से दूर नहीं होता। और इन्हीं नदियों में ऐसे भी जलमार्ग होते हैं जहाँ पाँव ऊपर उठा कर चल कर भी उनको पार कर सकते हैं जैसी कि बृहत्कल्पसूत्रकार "एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा" इत्यादि शब्दों में अनुज्ञा देते हैं। इस तरह अगर खुश्की रास्ते से, बीच में आनेवाली नदियों को नाव में बैठकर या चलकर पार करके, दक्षिण बर्मा, चम्पा, मलाया इत्यादि प्रदेशों में जाना शक्य होता था तब आर्य कालग, सागर श्रमण और दूसरे जैन श्रमणों का सुवर्ण-भूमि-गमन धर्मविरुद्ध, शास्त्रविरुद्ध नहीं था।

---

३६ तोउंग पओ (T'oung Pao), १३ (१९१२), पृ० ४५७—६१, इन्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १४, पृ० ३८०

३६ अ डा० आर० सी० मजुमदार, ऍन्शिअन्ट इन्डिया-कॉलनायझेशन इन साउथ-ईस्ट एशिया (१९५५), पृ० १३

बृहत्कल्पसूत्र के कर्ता हैं प्राचीन गोत्रीय या प्राचीन जनपद के स्थविर आर्य भद्रबाहु। अपने बनाये हुए इस छेदसूत्र के चतुर्थ उद्देश में साधुओं के जलयान की चर्चा करते हुए आप लिखते हैं—"नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाओ पंचमहण्णवाओ महानदीओ उद्दिट्ठाओ गणियाओ वंजियाओ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा। तं जहा—गंगा, जउणा, सरऊ, कोसिया मही।" इस सूत्र के ऊपर निर्युक्ति भी देखनी चाहिये—

पंचण्हं गहणेणं सेसा वि उ सूइया महासलिला।
तत्थ पुरा विहरिंसु य, न य ताओ कयाइ सुक्खंति ॥ ५६२ ॥[१७]

फिर आगे इसी विषय की विस्तृत चर्चा आती है। नावसन्तरण के भिन्न भिन्न दोष दिखलाते हुए बृहत्कल्प सूत्र के (निर्युक्तिकार या) भाष्यकार कहते हैं—

णीरवरस्स भावतो नावारूढस्स भवति उवघातो।
मिच्छद्दिट्ठि परद्धो कंबल-संबलेहिं तारिओ भावे ॥ ५६२८ ॥[१८]

भगवान् महावीर भी नाव में चढ़े थे इस की प्रतीति आवश्यक-निर्युक्ति गाथा ४६९–७१[१९] से भी होती है।

उपर्युक्त भाष्यगाथाओं में मत्स्यभीत्यादि दोषों की चर्चा और इनसे बचने के लिए जहाँ तक हो सके, स्थल-रास्ता (खुश्की-रास्ता) ग्रहण करने के उपदेश के साथ ही नाव से या चलते ही नदी पार करने की चर्चा है। जहाँ जल की गहराई बिलकुल कम हो और जानु से भी नीचे जल हो मतलब कि जहाँ पाँव का जल से ऊपर उठा कर फिर आगे रख कर नदी में चल सकें वहाँ कीचड़ से बच सकते हैं और गिरने की या जीवहिंसा की सम्भावना अतीव कम हो जाती है। किन्तु इस सारी चर्चा में नावारोहण—नाव से नदी पार करने का—*सम्पूर्ण प्रतिबन्ध नहीं रक्खा गया।*

कालकाचार्य और सागर श्रमण समुद्रमार्ग से—जहाजी रास्ते से—नहीं किन्तु खुश्की रास्ते से गये होंगे ऐसा हमारा खयाल है। और बृहत्कल्पभाष्य की चूर्णि और टीका के वृत्तान्तों का ध्वनि यही है। रास्ते में कालक के शिष्यों को लोग पूछते हैं, 'ये कौन से आचार्य जा रहे हैं?' इसका मतलब यही है कि वे खुश्की रास्ते से गये। ईसा के पूर्व की शताब्दियों में खुश्की रास्ता ज्यादा इस्तेमाल होता था। जहाजी व्यापार *क्रमशः बढ़ा होगा। खुश्की रास्ते से भी चीन (दक्षिण चीन) तक हो जाते थे। खुश्की रास्ते के विषय में* डा. मजुमदार लिखते हैं—

"From early times there was a regular trade-route by land between Eastern India and China through Upper Burma and Yunnan. We know from Chinese Chronicles that in the second century B.C. merchants with their ware travelled from China across the whole of North India and *Afghanistan to Bactria. Through this route came early Chinese priests* for whom, according to I-tsing, an Indian king built a temple in the third or fourth century A.D. From different points along this route one could pass to Lower Burma and other parts of Indo China, and a Chinese writer

---

१७. बृहत्कल्पसूत्र उद्देश ४ सू० ११ विभाग ५, पृ. १४७० गाथा ५६२
१८. वही पृ. १४७६, गाथा, ५६२८
१९. आवश्यक-सूत्र, हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र १९०–१

Kia Tan, refers to a land route between Annam and India (Journal Asiatique, II-XIII, 1919, p 461)[40]

श्रावकों के लिए तो सागर गमन और नावारोहण निषिद्ध मालूम नहीं होता है।[41] वसुदेवहिण्डि-अन्तर्गत चारुदत्त-कथानक का भी यही ध्वनि है, व्यापार के लिए जैन श्रावक द्वीपान्तरों मे जहाजों से जाते थे। ज्ञाताधर्मकथासूत्र म भी रत्नद्वीप पहुँचे हुए वणिकों का प्रसग है। अगर किसी प्रदेश मे जैन गृहस्थो की वसति न हो तो वहाँ जैन साधु साध्विया का विहार अतीव कठिन होता है क्यों कि आहार के बारे मे नियमो का पालन करना मुश्किल हो जाता है। सागरश्रमण सपरिवार सुवर्णभूमि मे थे ऐसे निर्देश का मतलब यह भी है कि वहाँ जैन गृहस्थ (साहसिक सोदागर) ठीक ठीक सख्या में मोजूद थे। इस तरह इस समय मे (ई० स० पूर्व १५१–६०) भारतीय व्यापारिया का सुवर्णभूमि में जाना शुरू हो चूका था। व्यापार के लिए हरेक सम्प्रदाय के वणिक् जाते थे—जैन, बौद्ध या हिन्दू कोई भी हो। जैनाचार्य के वहाँ सपरिवार विहार के इस विश्वसनीय बयान का निष्कर्ष यह है कि ईसा के पूर्व की पहली-दूसरी शताब्दियो मे भारतीय सोदागर और भारतीय सस्कृति के सुवर्णभूमिगमन का हमे एक और प्रमाण मिलता है।

धर्म के प्रचार के लिए सिद्धि—विद्यासिद्धि या मन्त्रसिद्धि—इत्यादि के प्रयोग करने का जैनाचार्यों के लिए निषिद्ध नहीं था। ऐसी प्रभावना के कई दृष्टान्त मिलते हैं और ऐसे आचार्यों को प्रभावक आचार्य कहते हैं। आर्य वज्र, आर्य खपुट, आर्य पादलिप्त जैसे प्राचीन आचार्यों के ऐसे कार्य सङ्घ को मान्य रहे थे। साध्वी को बचाने के लिए आर्य कालक ने जो किया वह भी धर्मविरुद्ध नहीं गिना गया। शककूल मे और भारत में भी कालकाचार्य ने अपने विद्या, मत्र और निमित्त-ज्ञान का परिचय दिया। ऐसे बड़े बड़े आचार्यों को प्रभावक आचार्य कहते हैं। ऐसे बहुश्रुत आचार्यों के आचरण में[42] शङ्का की बात तो दूर रही, वे आगे दूसरे आचार्यों और मुनिओं के मार्गदर्शक भी गिने जाते हैं। आर्य वज्र, आर्य पादलिप्त, आर्य कालक आदि स्थविर प्रभावक आचार्य माने गये और प्रभावक चरित्र मे इनके चरित्र भी दिये गये। प्रभावशाली, बहुश्रुत, वृद्ध जैन आचार्य धर्माचरणविषयक मामले मे प्रमाणभूत गिने जाते हैं और जहाँ शास्त्रों का पूरा खुलासा अनुपलब्ध हो या शास्त्रवचन समझ में न आवे वहाँ ऐसे पट्टधरों, युगप्रधानों, स्थविरों के मार्गदर्शन और कार्य प्रमाणभूत होते हैं।

श्रुतधर अनुयोगकार स्थविर आर्य कालक साध्वी को बचाने के लिए पारसकूल-शककूल गये और वहाँ से शकों को ले आये और गर्दभ का उच्छेद करवाया। आज तक आर्य कालक का यह कथानक जैन समाज में (विशेषत श्वेताम्बर जैन सङ्घ में) अतीव प्रचलित है। कालक-कथा की कई सचित्र प्राचीन हस्तप्रतें मिलती हैं। सचित्र प्रतियों में कल्पसूत्र के साथ कालककथा की प्रतियाँ मिलती रहती हैं, यह पर्युषणापर्वतिथि के साथ कालक का सम्बन्ध होने के कारण होगा। किन्तु शकों को लाने वाले कालक को इतना सन्मान मिलता है यही सूचक है।

---

४० डॉ० आर० सी० मजुमदार, एन्शिअन्ट इन्डिअन कॉलनाइझेशन इन साउथ-ईस्ट एशिआ (वडोदा १९५५), पृ० ८

४१ श्री वीरचन्द गाधी जब अमरिका सर्वधर्मपरिषद में जा कर आये तब जैन सङ्घ ने उनको प्रायश्चित्त करने का कहा। उस समय सुप्रसिद्ध जैनाचार्य श्री विजयानन्दसूरिजी (श्री आत्मारामजी महाराज) ने यही अभिप्राय दिया कि उनका समुद्रपार जाना निषिद्ध नहीं था। श्री आत्मारामजी महाराज का यह पत्र गुजराती साप्ताहिक '**जैन**' (भावनगर) के ता० २८–११–१९५३ के अङ्क में प्रकाशित हुआ है।

४२ जैसे कि आर्य वज्र चैत्यपूजा के लिए पुष्प ले आये थे।

आर्य कालक के जीवनकाल में उनके शकों को लाने के कार्य के विरुद्ध (और दूसरे कार्यों के विरुद्ध) कुछ आन्दोलन हुआ होगा। मन्त्र-विद्या और निमित्त के प्रयोग आम तौर पर जैन साधुओं के लिए उचित नहीं माने गये हैं। विद्यापिण्ड को तो निषिद्ध ही माना गया है। और फिर परदेश से शकों को इस देश में लाने का कार्य बहुत से लोगों को (जैनधर्मावलम्बी को भी) पसन्द न भी हो।

गर्दभराजोच्छेदक कालकाचार्य के जीवन में साहस (adventure) का—पराक्रम का—तत्त्व स्पष्ट दिखाई देता है। वे कोई असाधारण व्यक्ति थे। उन्होंने जब देखा कि सूत्र नष्ट होते जा रहे हैं तब उन्होंने अनुयोग-ग्रन्थों की रचना की। बृहत्कल्पचूर्णि और टीका के अनुसार उनके अनुयोग को उनका शिष्यसमुदाय सुनता नहीं था। क्यों? अनुयोग के यहाँ दो अर्थ हैं—उपदेश प्रवचन और आर्य कालक के रचे हुए अनुयोग ग्रन्थ जिनका व्याख्यान आप करते होंगे। हम सुनते हैं कि आर्य कालक के शिष्य प्रव्रज्या में स्थिर नहीं रहते थे। क्यों? क्या इन सब निर्देशों से यही सूचित नहीं होता कि कालक के क्रान्तिकारी असाधारण व्यक्तित्व और कार्य, पुराने रास्ते को छोड़ कर नये रास्ते पर चलने के साहस इत्यादि से संकुचित मनोवृत्ति वाले और प्रगतिविरोधी तत्त्व नाराज थे? हरेक मजहब की तवारिख में हम देखते हैं कि बड़े बड़े महात्माओं को ऐसे विरोध अपने जीवन में सहन करने पड़े यद्यपि आगे चलकर वे युगप्रधान माने गये। क्राइस्ट, महात्मा गांधी, तुकाराम, मीरां, कबीर आदि अनेक दृष्टान्त हमारे सामने मौजूद हैं। कालकाचार्य को भी ऐसी विपत्तियों का सामना करना पड़ा होगा।

जैन तवारिख में भी हम देखते हैं कि आर्य सुहस्ति के आचरण से आर्य महागिरि नाराज हुए थे। आर्य वज्र जब पूजा के लिए पुष्प ले आये तब उनका यह कार्य आम तौर से साधुओं के लिए उचित न था। उनका भी विरोध हुआ होगा। शकों को लानेवाले आजीविकों से निमित्त पढ़नेवाले निमित्तकथन और विद्याप्रयोग करनेवाले पर्युषणापर्व की पञ्चमी तिथि को बदल कर चतुर्थी को यह पर्व मनानेवाले नये अनुयोग-ग्रन्थ रचनेवाले आर्य कालक के सामने जरूर विरोधी तत्त्व खड़े हुए होंगे। मगर आर्य कालक डरनेवाले थे ही नहीं। उनकी प्रकृति कोई असाधारण किस्म की थी। जब उन्होंने देखा कि अपने ही शिष्य अपना ही अनुयोग सुनते नहीं थे तब उनको निर्वेद अवश्य हुआ मगर वे बैठे रहनेवाले या रुकनेवाले नहीं थे। उन्होंने नये कार्यप्रदेश की ओर दृष्टि डाली। वे सुवर्णभूमि जा पहुँचे जहाँ भारतीय व्यापारी गये हुए थे ही जहाँ उनका प्रशिष्य भी भेजा हुआ था ही और जहाँ भारत के अन्य धर्मावलम्बी सौदागर और साधु भी पहुँच चुके होंगे।

शङ्का यह उपस्थित होगी कि अगर कालक के सुवर्णभूमिगमनवाली परम्परा सच्ची है तो फिर हमें सुवर्णभूमि में क्यों जैनधर्म के अवशेष मिलते नहीं? लेकिन इसका मतलब यह तो नहीं हो सकता कि भविष्य में मिलना असम्भव है। हम यह तो जानते ही हैं कि ईसा की पहली दूसरी शताब्दी से लेकर भारतीय संस्कृति के अवशेष इन प्रदेशों में मिले हैं और भारतीय संस्कृति का ठीक ठीक प्रचार इस समय में इन प्रदेशों में हो चुका था। इस समय में वहाँ जानेवाले व्यापारियों में जैन भी अवश्य होंगे यह तो सर्व

---

४१ हमारे ख्याल से कालक के शकों को लानेवाली घटना से ही ज्यादा विरोध हुआ होगा। परदेशी शासन को पसन्द करे ऐसी प्रजा गिरी हुई न थी। और न कोई भी प्रजा परदेशी-शासकों को लानेवाला को सम्मान देती है। लक्ष्मी को बचाने के लिये जो करना पड़ा वह अपवाद का कार्य था पर इस कार्य में राष्ट्रीय स्वार्थ न था इस लिए विरोध सार्वत्रिक न होगा। विरोध होने पर भी शायद स्थविर आर्य कालक को समझनेवाले उनका सम्मान करनेवाले भी होंगे ही। कालक देशद्रोही नहीं गिने जा सकते।

सम्मत होगा। सातवीं सदी मे हरिभद्रसूरि ने अपनी समराइच्चकहा में भी व्यापारियों के परदेशगमन के दिये हुए बयान भी यह सूचित करते हैं कि जैन सोदागर भी जाते थे। और इनके भी कोई अवशेष, जैन-प्रतिमा इत्यादि मिलना असम्भव नहीं। किन्तु हमे याद रखना चाहिये कि आर्यकालक और सागरश्रमण जैसे साहसिक स्थविरों की परम्परा भी न रही जो सुवर्णभूमि को जायँ। और जब मगध और बंगाल मे जैन सङ्घ का आपत्तियाँ आई तब जैनसाधु ज्यादा करके मध्य, पश्चिम और दक्षिण भारत को अपने केन्द्र बनाते रहे। सुवर्णभूमि का खुश्की रास्ता था पर मगध और बंगाल की प्रतिकूल परिस्थिति के कारण बर्मा जानेवाले जैन साधुओं की परम्परा टूट गई।

२
कालकाचार्य का समय

अब हमे यह सोचना चाहिये कि कालकाचार्य कब सुवर्णभूमि में गये। कालकाचार्य के बारे में विद्वानों ने खूब चर्चा की है। जैन सम्प्रदाय मे अनेक कालकाचार्य-कथानक मिलते हैं। डा० डब्ल्यु० नॉर्मन ब्राउन ने अपने "स्टोरि ऑफ कालक" नामक ग्रन्थ में ऐसे कई कथानकों, और कहावलीअन्तगत कालक-कथानक और चूर्णिग्रन्थों में से भी कितनेक उल्लेख उद्धृत किये हैं। डा० ब्राउन ने इस विषय में पूर्वमें हुई चर्चा की सूची भी दी है। मुनिश्री कल्याणविजयजी ने प्रभावक-चरित्र के गुजराती भाषान्तर की प्रस्तावना मे कालकाचार्य के विषय मे चर्चा की है। और फिर द्विवेदीअभिनन्दन ग्रन्थ मे कितने कालकाचार्य हुए और कब इस विषय में मुनिश्री कल्याणविजयजी ने विस्तार से लिखा है। श्री साराभाई नवाब प्रकाशित कालकाचार्यकथा मे इन सब कथानकों-चूर्णियो के (पञ्चकल्पभाष्य और पञ्चकल्पचूर्णि को छोड़ कर) पाठ दिये हैं किन्तु चूर्णियों के कुछ सदर्भ सक्षिप्त हैं। खास कर के यवराज, गर्दभ और अडोलिया वाला, जिसका कालक से ज्यादा सम्बन्ध न मान कर सक्षेप किया है। इस प्रकाशन को सम्पादित करने वाले प० अम्बालाल शाहने मुनिश्री कल्याणविजय जी के प्रतिपादनो का साराश दिया है। आशा है कि इन प्रकाशनों को सामने रख कर विद्वद्गण आगे की चर्चा को पढेंगे।

कालकाचार्य के विषय मे उपलब्ध सब निर्देशो (सदर्भों) को दो विभाग में बॉटना आवश्यक होगा। एक तो है निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और कहावली का विभाग जो दूसरे विभाग से प्राचीन है और प्राचीनतर परम्पराओं का बना हुआ है। इसको ज्यादा विश्वसनीय मानना चाहिये। दूसरा है नवाब के प्रकाशन में दिया हुआ कालकाचार्य कथा प्राकृत विभाग, जिसमें न ३ वाले कहावली से लिये हुए सदर्भ को पहले विभाग में शामिल करना होगा और इस से अतिरिक्त सब कथानकों को दूसरे विभाग में।

कहावली को दूसरे विभाग से प्राचीन गिननी चाहिये। भाषा की दृष्टि से वह चूर्णियों से ज्यादा मिलती है। और इसमे जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के बारे में ग्रन्थकार ने "**संपयं** देवलोय गओ" ऐसा निर्देश किया है। अत कहावलीकार और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के बीच में पॉच शताब्दि का अन्तर मान लेना उचित नहीं।[४४]

पहले विभाग से सम्बन्ध रखनेवाली हैं कल्पसूत्र-स्थविरावली, और नन्दीसूत्र की पट्टावली। दूसरी पट्टावलियों से ये दोनों ज्यादा प्राचीन हैं। दु षमाकाल श्रीश्रमणसघस्तोत्र और हेमचन्द्राचार्य की स्थविरावली

---

४४ विशेष चर्चा के लिए देखिये, **जैन सत्यप्रकाश** (अहमदावाद), वर्ष १७ अक ४ (जान्युआरी, १९५२), पृ० ८६-९१।

भी इस विभाग से ज्यादा सम्बन्ध रखनेवाले हैं। मेरुतुङ्ग की विचारश्रेणि इत्यादि दूसरे विभाग में हैं क्यों कि उन ग्रन्थकारों के लिए परम्परा ज्यादा विच्छिन्न रूप में थी।

हम देखते हैं कि ज्यों ज्यों प्राचीन आचार्यों के साथ उत्तरकालीन ग्रन्थकारों का अधिक व्यवधान होता जाता है त्यों त्यों प्राचीन परम्परा की बातों का अधिक लोप होता जाता है। और पट्टावली जितनी अर्वाचीन उतनी ही अधिक अविश्वसनीय होती है। रत्नसञ्चयप्रकरण (विक्रम की १५ १६ शताब्दी) में चार कालकाचार्यों का समय निर्दिष्ट है। जब उनसे प्राचीन ग्रन्थकार तीन कालकाचार्यों का समय देते हैं। मेरुतुंग के सामने भी विच्छिन्न परम्परा थी और बहुत विरोधाभासवाली बातें भी इनकी लिखी हुई विचारश्रेणि में देखने मिलती हैं। मुनि कल्याणविजयजी ने अपने "वीर निर्वाण संवत् और जैन काल-गणना" के पृ ५५-५७ पादनोंध ४७ में यह स्पष्ट रूप से बताया है।

ऐसी परिस्थिति में हमें प्रथम विभाग के ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के आधार से ही अनुमान करके अनुमान करना ठीक होगा।

आर्य कालक के जीवन की घटनायें मुख्यतः सात हैं। दूसरे दूसरे संदर्भों में और कथानकों में ये सात घटनायें मिलती हैं, जैसा कि मुनि कल्याणविजय ने भी बताया है। ये घटनायें निम्नलिखित हैं—

(१) दत्त राजा के सामने यज्ञफल और दत्त मृत्यु-विषयक भविष्य कथन (निमित्त कथन)।

(२) इन्द्र के सामने निगोद व्याख्यान शक्र-संस्तुत निगोद-व्याख्याता आर्य कालक।

(३) आजीविकों से निमित्त पठन और तदनन्तर सातवाहन राजा के तीन प्रश्नों का निमित्त-ज्ञान से उत्तर देना।

(४) अनुयोगग्रन्थ निर्माण।

(५) गर्दभ-राजा का उच्छेदन।

(६) प्रतिष्ठानपुर जा कर वहाँ सातवाहन की विनती से पर्यूषणा पर्वतिथि जो पञ्चमी थी उसके बजाय चतुर्थी करना।

(७) अविनीतशिष्य-परिहार और सुवर्णभूमि-गमन।

(१) तुरुमिणी (या तुरमिणी) नगरी के राजा जितशत्रु की प्रजा से उठकर कालक के भागिनेय दत्त ने राज्य लिया और बहुत यज्ञ किये। गर्व से दत्त ने कालकाचार्य को इन यज्ञों का फल पूछा। तब कालक ने कहा कि सात दिन में दत्त बुरी तरह मरेगा तब कालकाचार्य को कैद किया गया मगर ठीक वैसे ही बुरे हाल दत्त मारा गया जैसा कि कालक का कथन था। सत्य-कथन, सम्यग् कथन के दृष्टान्त में यह कथा दी गई है।

(२) इस घटना में चमत्कार का तत्त्व ज्यादा होने से इसका ऐतिहासिक अंश पकड़ना मुश्किल है। कथा ऐसी है कि एक समय इन्द्र ने पूर्वविदेहक्षेत्र में विराजमान तीर्थङ्कर सीमन्धरस्वामी से निगोद जीवों के विषय में सूक्ष्म विवरण सुना। फिर इन्द्र ने पूछा तब उत्तर मिला कि इस समय भारत में ऐसा सूक्ष्म विवरण बतलानेवाले सिर्फ कालकाचार्य थे। कुतूहल से इन्द्र ब्राह्मण के रूप में आर्य कालक के पास गया और पूछा तब निगोद-व्याख्यान श्रवण हुआ। बाद में इन्द्र ने अपना हाथ आयुष्य दिखला रहा है ऐसी जब पृच्छा की तब आचार्य ने ध्यान ज्ञान से देखा कि दो सागरोपम आयुष्य यानी इस ब्राह्मण के लिए शेष था जो इन्द्र का ही हो सकता है। अतः आचार्य ने कहा— "आप तो इन्द्र हैं।" प्रसन्न हो कर इन्द्र चला गया। कथा के चमत्कारिक तत्त्व को छोड़ दें तो इस में से दो बातें फलित होती हैं यह ध्यान रखना चाहिये—एक है कालकाचार्य का निगोद जीवों के बारे में सर्वश्रेष्ठ ज्ञान और दूसरा है उनका ज्योतिषशास्त्र निमित्तज्ञान।

(३ और ४) प्रसङ्गों का वृत्तान्त हम पञ्चकल्पभाष्य और चूर्णि के आधार से देख चूके हैं। इन दोनों घटनाओं मे आर्य कालक के निमित्तज्ञान का स्पष्ट निर्देश है और इनके अनुयोग-निर्माण का उल्लेख भी है। इनके लोकानुयोग मे भी निमित्तशास्त्र था।

घटना (२) में आर्य कालक के निमित्तज्ञान का महत्त्व सूचित है ही। अतः (३) और (४) घटनाओं को भी (२) के साथ ही जोड़ना होगा। यज्ञफलकथनवाली घटना (१) मे भी निमित्तज्ञान का महत्त्व बताया गया हैं। अतः घटना (१) से (४) एक ही कालक के जीवन की होनी चाहिये।

निगोदव्याख्याता आर्य कालक के विषय मे मुनिश्री कल्याणविजयजी लिखते हैं:—"इनको निर्वाण से ३३५ वें वर्ष के अन्त मे युगप्रधानपद मिला और ४१ वर्ष तक ये इस पद पर रहें, जैसा कि स्थविरावली की गाथा मे कहा है।[४६] परन्तु विचारश्रेणि के परिशिष्ट मे एक गाथा है जो इनका वी०नि० ३२० में होना प्रतिपादित करती है। पाठको के विलोकनार्थ वह गाथा नीचे उद्धृत की जाती है—

> सिरिवीरजिणिंदाओ, वरिससया तिन्निवीस (३२०) अहियाओ।
> कालयसूरी जाओ, सक्को पडिबोहिओ जेण ॥ १ ॥

मालूम होता है कि इस गाथा का आशय कालकसूरि के दीक्षा समय को निरूपण करने का होगा।" आगे मुनिजी लिखते हैं—"रत्नसञ्चय में ४ सगृहीत गाथाए हैं, जिन में वीर निर्वाण से ३३५, ४५४, ७२०, और ६६३ मे कालकाचार्यनामक आचार्यो के होने का निर्देश है। इन मे पहले और दूसरे समय मे होनेवाले कालकाचार्य क्रमशः निगोद व्याख्याता और गर्दभिल्लोच्छेदक कालकाचार्य हैं।[४७] इसमें तो कोई सन्देह नहीं है पर ७२० वर्षवाले कालकाचार्य के अस्तित्व के बारे मे अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिला। दूसरे इस गाथोक्त कालकाचार्य को शक्र-सस्तुत लिखा है जो ठीक नहीं **क्योंकि शक्रसंस्तुत और निगोद-व्याख्याता एक ही थे जो पन्नवणाकर्ता और श्यामाचार्य के नाम से प्रसिद्ध थे और उनका समय वीरात् ३३५ से ३७६ तक निश्चित है।** इसमे इस गाथोक्त समय के कालकाचार्य के विषय मे सम्पूर्ण सन्देह है।"[४८]

मुनिजी उत्तराध्ययन-निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथा (न १२०) को उद्धृत करते हैं—

> "उज्जेणि कालखमणा, सागरखमणा सुवन्नभूमीए।
> इदो आउयसेस पुच्छइ सादिव्वकरण च ॥"
> उत्तराध्ययन-सूत्र, विभाग १, (दे ला पु० न ३३, बम्बई १६१६), पृ० १२५–१२७.

इस निर्युक्ति-गाथा से स्पष्ट है कि निर्युक्तिकार के मत से सुवर्णभूमि जानेवाले, सागर के दादागुरु आर्यकालक और निगोद व्याख्याता शक्र-संस्तुत आर्यकालक एक ही व्यक्ति हैं। किन्तु मुनिजी को यह मजूर नहीं है, वे इस निर्युक्तिगाथा पर लिखते हैं—"इस गाथा में सागर के

---

४५ मुनि कल्याणविजय, "**वीर निर्वाण सवत् और जैन कालगणना** (जालोर, वि० स० १९८१), पृ० ६४, पादनोंध ४६

४६ गाथा के लिए देखो, वही, पृ० ६१ यहाँ आर्यसुहस्ति के बाद गुणसुदर वर्ष ४४ और उनके बाद निगोदव्याख्याता कालकाचार्य वर्ष ४१, उनके बाद खदिल (सडिल या सांडिल्य) ३८ वर्ष तक युगप्रधान रहे ऐसा कहा गया है। सडिल के बाद रेवतीमित्र युगप्रधान रहे।

४७ रत्नसचयप्रकरण की गाथायें आगे दी गई हैं।

४८ **वीर निर्वाणसवत् और जैन कालगणना** पृ० ६४–६५।

भी इस विभाग से ज्यादा सम्बन्ध रखनेवाले हैं। मेरुतुङ्ग की विचारश्रेणि इत्यादि दूसरे विभाग में हैं क्यों कि उन ग्रन्थकारों के लिए परम्परा ज्यादा विच्छिन्न रूप में थी।

हम देखते हैं कि ज्यों ज्यों प्राचीन आचार्यों के साथ उत्तरकालीन ग्रन्थकारों का अधिक व्यवधान होता जाता है त्यों त्यों प्राचीन परम्परा की बातों का अधिक लोप होता जाता है। और पश्चाद्वर्ती जितनी अर्वाचीन उतनी ही अधिक अविश्वसनीय होती है। रत्नसञ्चयप्रकरण (विक्रम की १५ १६ शताब्दी) में चार कालकाचार्यों का समय निर्दिष्ट है। जब उनसे प्राचीन ग्रन्थकार तीन कालकाचार्यों का समय देते हैं। मेरुतुंग के सामने भी विच्छिन्न परम्परा थी और बहुत विरोधाभासवाली बातें भी इनकी लिखी हुई विचारश्रेणि में देखने मिलती है। मुनि कल्याणविजयजी ने अपने "वीर निर्वाण संवत् और जैन काल-गणना" के पृ. ५५ ५७ पादनोंध ४७ में यह स्पष्ट रूप से बताया है।

ऐसी परिस्थिति में हमें प्रथम विभाग के ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के आधार से ही छानबीन करके अनुमान करना ठीक होगा।

आर्य कालक के जीवन की घटनायें मुख्यतः सात हैं। दूसरे दूसरे संदर्भों में और कथानकों में ये सात घटनायें मिलती हैं, जैसा कि मुनि कल्याणविजय ने भी बताया है। ये घटनायें निम्नलिखित हैं—

(१) दत्त राजा के सामने यज्ञफल और दत्त मृत्यु विषयक भविष्य-कथन (निमित्त कथन)।

(२) इन्द्र के सामने निगोद व्याख्यान शक्र-संस्तुत निगोद-व्याख्याता आर्य कालक।

(३) आजीविकों से निमित्त पठन और तदनन्तर सातवाहन राजा के तीन प्रश्नों का निमित्त-ज्ञान से उत्तर देना।

(४) अनुयोगग्रन्थ निर्माण।

(५) गर्दभ-राजा का उच्छेदन।

(६) प्रतिष्ठानपुर जा कर वहाँ सातवाहन की विज्ञप्ति से पर्युषणा पर्वतिथि जो पञ्चमी थी उसके बजाय चतुर्थी करना।

(७) अविनीतशिष्य-परिहार और सुवर्णभूमि-गमन।

(१) तुरुमिणी (या तुरमिणी) नगरी के राजा जितशत्रु की प्रजा से हटाकर कालक के भागिनेय दत्त ने राज्य लिया और बहुत यज्ञ किये। गर्व से दत्त ने कालकाचार्य को इन यज्ञों का फल पूछा। तब कालक ने कहा कि सात दिन में दत्त बुरी तरह मरेगा तब कालकाचार्य का कैद किया गया मगर ठीक वैसे ही पूरे हाल दत्त मारा गया जैसा कि कालक का कथन था। सत्य-कथन, सम्यक्-कथन के दृष्टान्त में यह कथा दी गई है।

(२) इस घटना में चमत्कार का तत्त्व ज्यादा होने से इसका ऐतिहासिक अंश पकड़ना मुश्किल है। कथा ऐसी है कि एक समय इन्द्र ने पूर्वविदेहक्षेत्र में विद्यमान तीर्थङ्कर सीमन्धरस्वामी से निगोद जीवों के विषय में सूक्ष्म निरूपण सुना। फिर इन्द्र ने पूछा तब उत्तर मिला कि उस समय भारत में ऐसा सूक्ष्म निरूपण करनेवाले सिर्फ कालकाचार्य थे। कुतूहल से इन्द्र ब्राह्मण के रूप में आर्य कालक के पास गया और पृच्छा करके निगोद व्याख्यान इनसे सुना। बाद में इन्द्र ने अपना शेष आयुष्य कितना रहा है ऐसी जब पृच्छा की तब आचार्य ने अपने ज्ञान से देखा कि दो सागरोपम आयुष्य अभी इस ब्राह्मण के लिए शेष था जो इन्द्र का ही हो सकता है। अतः आचार्य ने कहा— 'आप तो इन्द्र हैं।" प्रसन्न हो कर इन्द्र चला गया। कथा के चमत्कारिक तत्त्व को छोड़ दें तो इस में से दो बातें फलित होती हैं वह ध्यान रखना चाहिये—एक है कालकाचार्य का निगोद जीवों के बारे में सर्वोत्तम ज्ञान और दूसरा है उनका ज्योतिर्ज्ञान निमित्तज्ञान।

इसी ढग से अन्वेषण करने का और इस प्रश्न का निराकरण करने का प्रयत्न मुनि कल्याणविजयजी ने भी किया। मुनि जी के खयाल से दो कालकाचार्य हुए। मगर जिस तर्क से वे दूसरे कालक के साथ भिन्न घटनाओं को जोड़ते हैं इसी तर्कपद्धति से वास्तव मे एक ही कालक के साथ सब घटनाओं का सम्बन्ध सिद्ध होता है, उस कालक का समय कुछ भी हो।

एक से ज्यादा कालकाचार्य की समस्या की उपस्थिति बादके ग्रन्थकारों के कारण और कालगणनाओं मे होनेवाली गड़बड़ के कारण, खड़ी हुई है। मुनिजी के तर्क को और निर्णय को सविस्तर देखने के पहले हम यहाँ यह बतलाना चाहते हैं कि हमारा उक्त अनुमान मुनिजी की तर्कपद्धति से ही किया गया है। आप लिखते हैं—"गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना मे यह लिखा है कि ये कालक ज्योतिष और निमित्तशास्त्र के प्रखर विद्वान् थे। उधर पाँचवीं घटना कालक के निमित्तशास्त्राध्ययन का ही प्रतिपादन करती है। इससे यह बात निर्विवाद है कि इन दोनों घटनाओं का सम्बन्ध एक ही कालकाचार्य से है।"[५०] जब इसी तर्क से सब घटनायें एक ही कालक के जीवन की घटित होती हैं, तब कुछ घटनायें पहिले कालकपरक और अन्य सब दूसरे कालकपरक मानना ऐसा मुनि जी का अनुमान युक्तिसङ्गत नहीं है।

सब घटनायें एक ही कालक के जीवन की है ऐसे निर्णय को दूसरी दृष्टि से भी पुष्टि मिलती है। हमने पहले बताया है उस तरह पहिले विभाग के सदर्भों (निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, कहावली इत्यादि) को देखें तो कोई भी ग्रन्थकार दो कालक की हस्ती दिखलाते ही नहीं। उन सब सदर्भों की छानबीन करनी चाहिये। हरेक ग्रन्थकार भिन्न भिन्न विषय की चर्चा मे, कालक के जीवन की एक या दो या तीन घटनायें देते हैं और हरेक ग्रन्थकार के मत से ये घटनायें एक ही कालक की हैं क्योंकि उन्होंने विरोधात्मक सूचन दिया ही नहीं और न इनको ऐसी शङ्का उत्पन्न हो सकती थी। अब देखें कि प्राचीन ग्रन्थ में कौनसी घटना है—

१ **दशाचूर्णि**—इसमे घटना न ६—चतुर्थीकरण—मिलती है।

२. **बृहत्कल्पभाष्य और चूर्णि**—घटना न. ७ और घटना न ५—गर्दभिल्लोच्छेद। इस के अलावा यवराजा, गर्दभ-युवराज और अडोलिया वाला कथानक (गर्दभ का गर्दभराजोच्छेद से सम्बन्ध है मगर उस वृत्तान्त मे कालक का प्रसङ्ग नहीं है)। यह यवराज और गर्दभ वाला वृत्तान्त हमने यहाँ परिशिष्ट मे दिया है, गर्दभिल्लों के विषय में आगे के संशोधन में पण्डितों की सुविधा के खयाल से।

३ **पञ्चकल्पभाष्य और चूर्णि**—घटना न ३—निमित्तपठन, और घटना ४—अनुयोग-ग्रन्थादि निर्माण.

४ **उत्तराध्ययन निर्युक्ति और चूर्णि**—घटना न. ७—अविनीत शिष्य परिहार, सुवर्णभूमि-गमन, और घटना न २—निगोद व्याख्यान

५ **निशीथचूर्णि**—घटना न ५—गर्दभिल्लोच्छेद और घटना न. ६—चतुर्थीकरण.

६ **व्यवहार-चूर्णि**—आर्य कालक उज्जैन मे शकों को लाये ऐसा उल्लेख है अतः वह घटना न. ५ से सम्बन्ध रखती है।

७ **आवश्यकचूर्णि**—घटना न १—दत्त के सामने यज्ञफलकथन

---

५० देखिये, मुनि कल्याणविजय, आर्य कालक, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, स० १९९०) पृ० ११५

दत्तगुरु कालकाचार्य के साथ इन्द्र का प्रश्न प्राप्ति होना लिखा है, गर्दभिल्लोच्छेदक, चतुर्थी पर्युषणाकारक और अविनीत-शिष्य परिहारक एक ही कालकाचार्य थे, जो ४५३ में विद्यमान थे और श्यामाचार्य की अपेक्षा दूसरे थे। प्रस्तुत स्थविरावली की गाथा में प्रथम कालकाचार्य को निगोदव्याख्याता लिखा है जो कि इस विषय का एक स्पष्ट मतभेद है।"[४८]

वास्तव में मुनिजी के लिए उत्तराध्ययन निर्युक्ति के इस विधान को छोड़कर अन्य कल्पना करने का उचित नहीं है क्यों कि निर्युक्ति का प्रमाण मेरुतुङ्ग की और दूसरी मध्यकालीन पट्टावलियों से प्राचीन और अधिक विश्वसनीय है। फिर भी यहाँ एक बात का देखना जरूरी होगा कि मुनिजी के खयाल से भी गर्दभिल्लोच्छेदक, अविनीतशिष्य-परिहारक (सुवर्णभूमि को जानेवाले) और चतुर्थी पर्युषणा कारक कालकाचार्य एक ही व्यक्ति थे।

(५) अब नं ५ आदि घटनायें देखें। शककुलों को भारत में ला कर गर्दभिल्ल का उच्छेद करने की कथा इतिहासविदों को सुप्रतीत है। यहाँ भी निमित्त और विद्याबल का उपयोग हुआ है। हम देख चुके हैं कि बृहत्कल्पभाष्य और चूर्णि में इस घटना का और नं ७ की घटना का उल्लेख है मगर दोनों में से एक भी ग्रन्थकार इन दोनों घटनावाले कालक के भिन्न भिन्न होने का कोई सूचन नहीं देते। और अब उत्तराध्ययन निर्युक्ति नं ७ और नं २ वाले कालकाचार्य को एक ही व्यक्ति मानती है तब नं ५, नं ७ और नं २ वाले कालक एक ही हैं।

(६) नं ६ वाली घटना में कहा गया है कि बलमित्र–भानुमित्र नामक अपने भागिनेय राजाओं से नाराज हो कर आर्य कालक प्रतिष्ठानपुर जाने को निकले। बलमित्र के पुरोहित ने जैन मुनियों को अकल्प्य आहार दिलवाना शुरू किया जिससे साधुओं को भूखा रहना पड़ा। अतः कालकाचार्य ने प्रतिष्ठानपुर जाने के लिए विहार किया। वहाँ के राजा सातवाहन (शातवाहन—जो जैन धर्म की ओर, विशेषतः आर्य कालक की ओर, अभिरुचि रखता होगा) को आचार्य ने कहा कि भाद्रपद शुक्ल पञ्चमी को पर्युषणा पर्व करो। राजा ने कहा कि उस नगर में यह तिथि आम प्रजा में इन्द्र महोत्सव का पर्व मनाई जाती है इस लिए आचार्य की आज्ञानुसार पर्युषणापर्व उस दिन मनाना मुश्किल होगा। राजा ने दूसरे दिन पर्व मनाने की अनुज्ञा माँगी। आर्य कालक ने कहा कि तिथि का अतिक्रम नहीं हो सकता अतः पूर्व दिन का—चतुर्थी को—पर्युषणा पर्व मनाओ और उस दिन विधिपूर्वक श्रमणों को आहार भी दो। इस तरह कालकाचार्य ने चतुर्थी मनाई। और उस दिन से यह तिथि श्रमणपूजा-पर्व रूप से महाराष्ट्र में प्रचलित हुई।

जैसे पहले कहा गया है सिर्फ प्रभावक आचार्य ही ऐसे निर्णय दे सकते हैं जो युगप्रधान आचार्य हों, बड़े युगवर हों। और यहाँ भी तिथिनिर्णय का प्रश्न होने से यह ज्योतिषशास्त्र—मुहूर्त और निमित्त—को जाननेवाले आर्य कालक के जीवन की घटना ही हो सकती है। फिर यह सुप्रतीत है कि नं ५ की गर्दभिल्लोच्छेद वाली घटना में बलमित्र–भानुमित्र का निर्देश होने से नं. ५ और नं ६ के आर्य कालक एक ही व्यक्ति हैं और इस तरह जैसे कि हम पीछे देख चुके हैं नं ५ नं ६ नं ७ और नं २ वाली घटनाओं के कालक, एक ही हैं। नं ३ और ४ वाली घटनाओं के आर्य कालक अनुयोगधर हैं उनका और सुवर्ण भूमि जानेवाले (नं ७) कालक का एक होना तो पहिले ही देख चुके हैं। नं १ वाली घटना विस्तार से आगे देखेंगे। अनुयोगधर कालक निमित्तज्ञानी हैं और नं १ में भवितव्य बतलाने वाले कालक भी समर्थ निमित्तज्ञानी हैं। अतः वास्तव में घटना नं १ से ७ के नायक एक ही आर्य कालक होंगे। यही युक्ति-संगत लगता है।

---

४८. वही पृ. ५४–५५ पादनोंध।

इसी ढग से अन्वेषण करने का और इस प्रश्न का निराकरण करने का प्रयत्न मुनि कल्याणविजयजी ने भी किया। मुनि जी के खयाल से दो कालकाचार्य हुए। मगर जिस तर्क से वे दूसरे कालक के साथ भिन्न घटनाओं को जोड़ते हैं इसी तर्कपद्धति से वास्तव में एक ही कालक के साथ सब घटनाओं का सम्बन्ध सिद्ध होता है, उस कालक का समय कुछ भी हो।

एक से ज्यादा कालकाचार्य की समस्या की उपस्थिति बादके ग्रन्थकारों के कारण और कालगणनाओं मे होनेवाली गड़बड़ के कारण, खड़ी हुई है। मुनिजी के तर्क को और निर्णय को सविस्तर देखने के पहले हम यहाँ यह बतलाना चाहते हैं कि हमारा उक्त अनुमान मुनिजी की तर्कपद्धति से ही किया गया है। आप लिखते हैं—"गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना मे यह लिखा है कि ये कालक ज्योतिष और निमित्तशास्त्र के प्रखर विद्वान् थे। उधर पाँचवीं घटना कालक के निमित्तशास्त्राध्ययन का ही प्रतिपादन करती है। इससे यह बात निर्विवाद है कि इन दोनों घटनाओं का सम्बन्ध एक ही कालकाचार्य से है।"[५०] जब इसी तर्क से सब घटनायें एक ही कालक के जीवन की घटित होती हैं, तब कुछ घटनायें पहिले कालकपरक और अन्य सब दूसरे कालकपरक मानना ऐसा मुनि जी का अनुमान युक्तिसङ्गत नहीं है।

सब घटनायें एक ही कालक के जीवन की है ऐसे निर्णय को दूसरी दृष्टि से भी पुष्टि मिलती है। हमने पहले बताया है उस तरह पहिले विभाग के सदर्भों (निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, कहावली इत्यादि) को देखें तो कोई भी ग्रन्थकार दो कालक की हस्ती दिखलाते ही नहीं। उन सब सदर्भों की छानबीन करनी चाहिये। हरेक ग्रन्थकार भिन्न भिन्न विषय की चर्चा में, कालक के जीवन की एक या दो या तीन घटनायें देते हैं और हरेक ग्रन्थकार के मत से ये घटनायें एक ही कालक की हैं क्योंकि उन्होंने विरोधात्मक सूचन दिया ही नहीं और न इनको ऐसी शङ्का उत्पन्न हो सकती थी। अब देखें कि प्राचीन ग्रन्थ में कौनसी घटना है—

१. **दशाचूर्णि**—इसमें घटना न ६—चतुर्थीकरण—मिलती है।

२ **वृहत्कल्पभाष्य और चूर्णि**—घटना न. ७ और घटना न ५—गर्द्दभिल्लोच्छेद। इस के अलावा यवराजा, गर्दभ–युवराज और अडोलिया वाला कथानक (गर्दभ का गर्दभराजोच्छेद से सम्बन्ध है मगर उस वृत्तान्त में कालक का प्रसङ्ग नहीं है)। यह यवराज और गर्दभ वाला वृत्तान्त हमने यहाँ परिशिष्ट में दिया है, गर्द्दभिल्लों के विषय में आगे के संशोधन में पण्डितों की सुविधा के खयाल से।

३ **पञ्चकल्पभाष्य और चूर्णि**—घटना न ३—निमित्तपठन, और घटना ४—अनुयोग-ग्रन्थादि निर्माण

४ **उत्तराध्ययन निर्युक्ति और चूर्णि**—घटना न. ७—अविनीत शिष्य परिहार, सुवर्णभूमि-गमन, और घटना न २—निगोद व्याख्यान

५ **निशीथचूर्णि**—घटना न ५—गर्द्दभिल्लोच्छेद और घटना न ६—चतुर्थीकरण.

६ **व्यवहार-चूर्णि**—आर्य कालक उज्जैन में शकों को लाये ऐसा उल्लेख है अत वह घटना न. ५ से सम्बन्ध रखती है।

७ **आवश्यकचूर्णि**—घटना न १—दत्त के सामने यज्ञफलकथन.

---

५० देखिये, मुनि कल्याणविजय, आर्य कालक, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, स० १९९०) पृ० ११५

८ कथावली—घटना नं ५—गर्दभोच्छेद; घटना नं ६—चतुर्थीकरण; घटना नं ७—अविनीत शिष्यपरिहार, सुवर्णभूमिगमन; घटना नं १—बालक और दत्तकथा

अब जब पञ्चकल्पभाष्य के अनुसार नं १ और ४ वाले कालक एक हैं, उत्तराध्ययन निर्युक्ति के अनुसार नं ७ और नं २ वाले एक हैं, और जब नं ७ वाली घटना का नं १ और नं ४ के अनुयोग ग्रन्थों से सम्बन्ध है तब नं १ ४, ७, और २—ये सब घटनाएँ एककालकपरक होती हैं। निशीथचूर्णि अनुसार नं ५ और नं. ६ वाले आर्यकालक एक हैं। और बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार नं ५ और नं ७ वाले एक हैं अतः नं ५, ६ और नं. ७ वाले कालक तो एक हैं ही। उत्तराध्ययननिर्युक्ति और चूर्णि के मत से नं ७ और नं २ वाले एक हैं। अतः नं ५, ६, ७, २ वाले एक ही कालक हैं। फिर नं १ और ४ वाले मे ७ वाले कालक हैं यह तो स्पष्ट है।" मुनिश्री कल्याणविजयजी का यह मन्तव्य है। और कथावली के अनुसार, नं ५, नं ६, नं ७ और नं १ वाले कालक एक हैं। अतः इस विभाग के ग्रन्थों के समीक्षा से इन ग्रन्थकारों के खयाल में घटनाओं नं १ से घटना नं ७ वाली सब घटना वाले कालकाचार्य एक ही होंगे।

यह कालक कब हुए? मुनिश्री कल्याणविजयजी के मत से दो कालकाचार्य हुए—पहले निर्वाण संवत् १ से १७१ तक में इन का जन्म नि सं २८ में दीक्षा नि सं १ में, युगप्रधानपद नि सं ३३५ में और स्वर्गवास नि सं ३७६ में। इनके जीवन की दो घटनाएँ। घटना नं १—दत्तकथन, और घटना नं २—निगोदव्याख्यान।[५१]

मुनिश्री के मत से दूसरे कालक के जीवन में घटना ३ से ७ हुईं। और ये घटनायें इस क्रमसे हुईं —घटना ३ (निमित्त पठन), और निर्वाण संवत् ४५३ से पहले घटना ४ (अनुयोग-निर्माण), नि सं ४५३ से पहले घटना ५ (गर्दभिल्लोच्छेद) नि सं ४५३ में; घटना ६ (चतुर्थी पर्युषणा) नि. सं ४५३ से ४६५ के बीच में घटना ७ (अविनीत शिष्य-परिहार) नि सं ४५३ के बाद और ४६५ के पहले।

आप लिखते हैं—"जहाँ तक हम जान सके हैं, उपर्युक्त सात घटनाओं का सम्बन्ध दो ही व्यक्तियों का सम्बन्ध है—प्रज्ञापनाकर्ता श्यामार्य और सरस्वती भ्राता आर्य कालक। निगोद-पृच्छा सम्बन्धि घटना को कालक कथाओं में चौथी घटना कही गई है हमारी समझ में आर्य रक्षित के चरित्र का अनुकरण है। परन्तु इस विषय में निश्चित मत देना दुस्साहस होगा क्यों कि उत्तराध्ययन-निर्युक्ति में एक गाथा हमें उपलब्ध होती है जिसका भावार्थ यह है— उज्जयिनी में कालक क्षमाश्रमण थे और सुवर्णभूमि में सागर श्रमण। (कालक सुवर्णभूमि गये और इन्द्र ने आ कर) शेष आयुष्य के विषय में पूछा। (तब कालक ने कहा) आप इन्द्र हैं। ××× इस बयान से यह तो मानना पड़ेगा कि कालक के पास इन्द्रागमन-सम्बन्धि बात

---

५१ अविनीतशिष्य-परिहार (और सुवर्णभूमिगमन) वाली घटना और निमित्त पठन और अनुयोग निर्माणवाली घटना को प्राचीन कर के मुनिश्री लिखते हैं— इन दोनों घटनाओं का आन्तरिक रहस्य एक ही है और वह यह कि कालक ने शिष्य उनके आयु में न थे। इस खयाल को ले कर मुनिश्री ने भी बताया है कि ये घटनायें एक ही कालक के जीवन की हैं।—द्विवेदी अभिनंदन-ग्रन्थ पृ ११२

५२ वही, पृ ११६–११७

५३ वही पृ ११६–११७।

भी प्राचीन है।[५४] उपर्युक्त घटना से यह भी जाना जाता है कि सागर के दादा-गुरु दूसरे आर्य कालक के साथ इस घटना का सम्बन्ध है। परन्तु हम पहले ही कह चुके हैं कि युगप्रधान स्थविरावली में "श्यामार्य" नामक प्रथम कालक को निगोद व्याख्याता कहा है। ऐसी दशा में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि निगोदव्याख्याता कालकाचार्य पहिले थे या दूसरे।"[५५]

मुनिजी के उक्त विधान में वास्तव में आखरी वाक्य की जुरूरत ही नहीं, क्यो कि निगोद-व्याख्यान का सम्बन्ध श्यामार्य से हो सकता है अथवा आर्य रक्षित से। हमे यह भी याद रखना चाहिये कि इस घटना में इन्द्र अपना शेष आयुष्य पूछता है जो वास्तव में ज्योतिष और निमित्तशास्त्र का विषय है। सुवर्णभूमि जानेवाले और अनुयोग निर्माता आर्य कालक एक ही थे और वे निमित्तज्ञानी थे यह तो हम देख चुके हैं और **घटना ३ से घटना ७ वाले कालक एक ही है वह तो मुनिजी को भी मंजूर है। अब अगर हम सिद्ध कर सके कि अनुयोग निर्माता आर्य कालक वह श्यामार्य ही हो सकते है तब घटना ३ से घटना ७ वाले कालक को भी श्यामार्य मानना पडेगा।** और उत्तराध्ययन-निर्युक्ति-गाथा (जो प्राचीन होने से ज्यादा विश्वसनीय होनी चाहिये) भी सच्ची सिद्ध होगी।

हम कह चुके हैं कि आर्य रक्षित ने अनुयोग-पृथक्त्व किया और अनुयोग के चार भाग किये। आर्य रक्षित का समय है आर्य वज्र के बाद का, मतलब कि नि० स० ५८४ से ५९७ आसपास,[५६] ई० स० ५७ से ७० आसपास। आर्य कालक ने लोकानुयोग, गण्डिकानुयोग, प्रथमानुयोग आदि का निर्माण किया जैसा कि पञ्चकल्पभाष्य मे कहा गया है। इस के बाद ही अनुयोग पृथक्त्व हो सकता है। कालक के अनुयोग के आर्य रक्षित के अनुयोग पृथक्त्व से पूर्ववर्ती होने का एक और प्रमाण भी मिलता है। इस विषय में मुनि श्री कल्याणविजयजी ने लिखा है कि—"**नन्दीसूत्र मे मूलप्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग का उल्लेख मिलता है। वहाँ प्रथमानुयोग के साथ लगा हुआ 'मूल' शब्द नन्दी के रचनाकाल में दो प्रथमानुयोगो के अस्तित्व की गूढ़ सूचना देता है।** यद्यपि टीकाकार इस 'मूल' शब्द का प्रयोग तीर्थङ्करों के अर्थ में बताते हैं, तथापि वस्तुस्थिति कुछ और ही मालूम होती है।[५७] आवश्यक-निर्युक्ति आदि जैन सिद्धान्त-ग्रन्थों में यह बात स्पष्ट लिखी मिलती है कि आर्य रक्षित सूरिजी ने अनुयोग को चार विभागों में बाँट दिया था[५८]

---

५४ वास्तव में इस घटना का आर्य रक्षित से सम्बन्ध तब जोडा गया जब कालक के अनुयोग का स्थान आर्य रक्षित के अनुयोग पृथक्त्व ने लिया। अत उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा में शङ्का रखने की आवश्यकता नहीं।

५५ **द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ**, पृ० ११४।

५६ देखिये, **पट्टावली समुच्चय**, सिरि दुममाकाल समणसघ-थय, पृ० ११–१८

५७ नन्दीसूत्र का यह उल्लेख ऐसा है —

से किं त अणुओगे? अणुओगे दुविहे पण्णत्ते।
त जहा—मूलपढमाणुओगे, गडियाणुओगे य॥

से किं त मूलपढमाणुओगे? मूलपढमाणुओगे ण अरहताण भगवताण पुव्वभवा देवगमणाइ आउ चवणाइ जम्मणाणि अभिसेआ रायवरसिरीओ पव्वज्जाओ एवमाइभावा मूलपढमाणुओगे कहिआ, से त्त मूलपढमाणुओगे, से किं त गडिआणुओगे? २ कुलगरगडिआओ तित्थयरगडिआओ चक्कवट्टिगडिआओ दसारगडिआओ बलदेवगडिआओ, वासुदेवगडिआओ गणधरगडिआओ भद्दबाहुगडिआओ तवोकम्मगडिआओ से त गडिआणुओगे, से त अणुओगे।
—**नन्दीसूत्र** (आगमोदय–समिति, सूरत) सू, ५६, पृ २३७ २३८ और पृ० २४१ पर की टीका

५८ यह गाथा ऐसी है—देविंदवदिएहि महाणुभागेहि रक्खिअज्जेहिं।
जुगमासज्ज विभत्तो अणुओगो तो कओ चउद्धा॥
—आवश्यक हारिभद्रीयवृत्ति, पृ० २९९, निर्युक्ति गाथा, ११४

८ कहावली—घटना नं ५—गर्दभोच्छेद; घटना नं ६—चतुर्थीकरण; घटना नं ७—अविनीत शिष्यपरिहार, सुवर्णभूमिगमन घटना नं. १—कालक और दत्तराज

अब जब पञ्चकल्पभाष्य के अनुसार नं १ और ४ वाले कालक एक हैं, उत्तराध्ययन निर्युक्ति के अनुसार नं ७ और नं २ वाले एक हैं, और जब नं ७ वाली घटना का नं १ और नं ४ के अनुयोग-ग्रन्थों से सम्बन्ध है तब नं. १ ४, ७, और २—ये सब घटनाएँ एककालकपरक होती हैं। निशीथचूर्णि अनुसार नं ५ और नं ६ वाले आर्यकालक एक हैं। और बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार नं ५ और नं ७ वाले एक हैं अतः नं ५, ६ और नं ७ वाले कालक तो एक हैं ही। उत्तराध्ययननिर्युक्ति और चूर्णि के मत से नं ७ और नं २ वाले एक हैं। अतः नं ५, ६ ७ २ वाले एक ही कालक हैं। फिर नं १ और ४ वाले नं. ७ वाले कालक हैं यह तो स्पष्ट है। मुनिश्री कल्याणविजयजी का यह मत है। और कहावली के अनुसार नं ५, नं ६ नं ७ और नं १ वाले कालक एक हैं। अतः इस विभाग के ग्रन्थों के सभी पक्ष से इन ग्रन्थकारों के मत में घटनाओं नं १ से घटना नं ७ वाली सब घटना वाले कालकाचार्य एक ही होंगे।

यह कालक कब हुए? मुनिश्री कल्याणविजयजी के मत से दो कालकाचार्य हुए—पहले निर्वाण संवत् १ से १७६ तक में इन का जन्म नि सं २८ में दीक्षा नि सं १ में युगप्रधानपद नि सं ३३५ में और स्वर्गवास नि सं ३७६ में। इनके जीवन की दो घटनाएँ। घटना नं १—भवस्थल कथन, और घटना नं २—निगोदव्याख्यान।[१]

मुनिजी के मत से, दूसरे कालक के जीवन में घटना ३ से ७ हुए। और ये घटनायें इस क्रमश हुए —घटना ३ (निमित्त पठन) और निर्वाण संवत् ४५३ से पहले घटना ४ (अनुयोग निर्माण) नि. सं ४५३ से पहले घटना २ (गर्दभिल्लोच्छेद) नि सं ४५३ में घटना ६ (चतुर्थी पर्युषणा) नि सं ४५६ से ४६५ के बीच में घटना ७ (अविनीत शिष्य-परिहार), नि सं ४५३ के बाद और ४६५ के पहले।

आप लिखते हैं—'यहाँ तक हम जान सके हैं उपर्युक्त सात घटनाओं के साथ दो ही व्यक्तियों का सम्बन्ध है—प्रज्ञापनाकर्ता श्यामार्य और सरस्वती भ्राता आर्य कालक। निगोद-पृच्छा सम्बन्धि घटना, जो कालक कथाओं में चौथी घटना कही गई है हमारी समझ में आर्य रक्षित के चरित्र का अनुकरण है। परन्तु इस विषय में निश्चित मत देना दुस्साहस होगा क्यों कि 'उत्तराध्ययन निर्युक्ति' में एक गाथा हमें उपलब्ध होती है जिसका आशय यह है— उज्जयिनी में कालक क्षमाश्रमण थे और सुवर्णभूमि में सागर श्रमण। (कालक सुवर्णभूमि गये और इन्द्र ने आ कर) शेष आयुष्य के विषय में पूछा। (तब कालक ने कहा) आर इतना है। ××× इस कथन से यह तो मानना पड़ेगा कि कालक के पास इन्द्रागमन-सम्बन्धि बात

२१ अविनीत शिष्य-परिहार (और सुवर्णभूमिगमन) वाली घटना और निमित्त पठन और अनुयोग निर्माणवाली घटना को कालपित कर के मुनिजी लिखते हैं—"इन दोनों घटनाओं का वास्तविक रहस्य यह ही है और वह यह कि कालक के शिष्य ... ... इस ख्याल को ले कर मुनिजी ने भी बताया है कि वे घटनायें एक ही कालक के जीवन की हैं।—द्विवेदी अभिनंदन-ग्रन्थ पृ ११५

२२ वही, पृ ११६-११७

२३ वही पृ ११६-११७।

तिसमुद्दखायकित्ति दीवसमुद्देसु गहियपेयालं ।
वन्दे अज्जसमुद्द, अक्खुभियसमुद्दगंभीरं ॥ १७ ॥[६१]

उपर्युक्त गाथाओं में श्यामार्य के बाद संडिल्ल (शाण्डिल्य) और उनके बाद आर्य समुद्र को पाते हैं। आर्य श्याम को प्रथम कालक माननेवाले (अर्थात् "श्याम" और "कालक" को एक ही व्यक्ति के नाम के पर्याय गिननेवाले) में मुनिश्री कल्याणविजयजी, डॉ० डब्ल्यू० नॉर्मन ब्राउन आदि सब आधुनिक पण्डित सम्मत हैं। जैन परम्परा में भी यही देखने मिलता है।[६२] स्थविरावलियों, पट्टावलियों के अनुसार प्रथम कालक ऊर्फ आर्य श्याम गुणसुन्दर के अनुवर्ती स्थविर और पट्टधर हैं।[६३] मेरुतुङ्ग की **विचार-श्रेणि** में भी—

अज्जमहागिरि तीसं, अज्जसुहत्थीण वरिस छायाला।
गुणसुंदर चउआला, एवं तिसया पणतीसा॥
तत्तो इगचालीसं, **निगोय-वक्खाय कालगायरिओ**।
अट्ठत्तीसं **खंदिल** (संडिल), एवं चउसय चउद्दसय॥
रेवइमित्ते छत्तीस, अज्जमगु अ वीसं एवं तु।
चउसय सत्तरि, चउसय तिपन्ने कालगो जाओ॥
चउवीस अज्जधम्मे एगुणचालीस भद्दगुत्ते अ।[६४]
जैनसाहित्य-संशोधक, खण्ड २, अङ्क ३-४, परिशिष्ट

रत्नसञ्चय-प्रकरण (अनुमान से विक्रम १६ वीं शताब्दि), जिसमें चार कालकाचार्यों का उल्लेख है, उसमें भी प्रथम कालक श्यामार्य ही माने गये हैं—

---

६१ **नन्दीसूत्र** (आगमोदयसमिति, सूरत, ई० स० १९१७), पृ० ४९ **पट्टावली समुच्चय**, भाग १, (सम्पादक, मु० दर्शनविजय, वीरमगाम, ई० स० १९३३), पृ० १३

डॉ० पीटरसन, **ए थर्ड रीपोर्ट ऑफ ऑपरेशन्स इन सर्च ऑफ संस्कृत मेन्युस्क्रिप्ट्स इन ध बॉम्बे सर्कल**, (बम्बई, ई० स० १८८१) में पृ० ३०३ पर, विनयचन्द्र (वि० सं० १३२५) रचित कल्पाध्ययनदुर्गपद-निरुक्त के अवतरण में किसी स्थविरावली की गाथायें हैं, जहाँ—

सूरिबलिस्सह साई सामज्जो संडिलो य जीयधरो।
अज्जसमुद्दो मगू नंदिल्लो नागहत्थी य ॥ २ ॥

ऐसा पाया जाता है। यही गाथा मेरुतुङ्ग की विचारश्रेणि-अन्तर्गत स्थविरावली में भी है।

६२ देखो, ब्राउन, **ध स्टोरि ऑफ कालक**, पृ० ५-६ और पादनोंध।

६३ **वही**, पृ० ५ श्री धर्मसागरगणि-कृत तपागच्छ-पट्टावली में भी—"अत्र श्रीआर्यसुहस्तिश्रीवज्रस्वामि-नोरन्तराले १ गुणसुन्दरसूरि, २ श्रीकालिकाचार्य, ३ श्रीस्कन्दिलाचार्य., ४ श्रीरेवतीमित्रसूरि, ५ श्रीधर्मसूरि." ऐसा बताया गया है—**पट्टावली-समुच्चय**, भाग १, पृ० १६ ।

६४ डॉ० भाउ दाजी ने **जर्नल ऑफ ध बॉम्बे ब्रान्च ऑफ ध रॉयल एशियाटिक सोसाइटि**, वॉ० ९ पृ० १४७-१५७ में मेरुतुङ्ग की स्थविरावली का विवरण दिया है। मुनिश्री कल्याणविजयजी ने अपने **वीर-निर्वाण-संवत् और जैनकालगणना**, पृ० ६१ पर स्थविरावली या युगप्रधानपट्टावली की गाथायें दी हैं, जो मेरुतुङ्ग ने दी हैं।

श्यामार्य हुए आर्य महागिरि की परम्परा में जो वाचकवंश रूप से दिखाया गया है, मेरुतुङ्ग ने आर्य महागिरि की शाखा के स्थविरों की अलग गाथायें भी दी हैं —" सूरि बलिस्सह साई सामज्जो संडिल्लो य जीयधरो। अज्जसमुद्दो मगु नंदिल्लो नागहत्थी य।" इत्यादि, देखो, जैनसाहित्य-संशोधक, १, ३-४, परिशिष्ट, पृ० ५।

जिस के एक विभाग का नाम 'धर्मकथानुयोग' था। इस धर्मकथानुयोग में उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित आदि सूत्रों को रक्खा था[२]। परन्तु नन्दीसूत्र में मूलप्रथमानुयोग का जो वर्णन दिया है वह इस आर्यरक्षितवाले धर्मकथानुयोग के साथ मेल नहीं खाता[३]।" ये नाम कालक के अनुयोगों के हैं, आर्यरक्षित के चार अनुयोग भिन्न भिन्न नामों से पहिचाने गये हैं।

हम देखते हैं कि नन्दीसूत्रकार के कथनानुसार मूलप्रथमानुयोग में तीर्थंकर, गणधर, पूर्वधर, आदि के अनशन आदि विषयों का बयान है। आर्य कालक के 'प्रथमानुयोग' में भी हम देख चुके हैं कि तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि के पूर्वभवों और चरित्रों का वर्णन था, जैसा कि पञ्चकल्पभाष्य का कहना है। अतः वास्तव में नन्दीसूत्र में मूलप्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग के निर्देश में सूत्रकार आर्य कालक के अनुयोग-ग्रन्थों का ही उल्लेख कर रहे थे और इसी लिए इन्होंने मूल-प्रथमानुयोग ऐसा शब्दप्रयोग किया।

क्यों कि ये मूलप्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोगकार आर्य कालक आर्य रक्षित से पूर्ववर्ती ही हो सकते हैं अतः ये (मुनिश्री कल्याणविजयजी के) प्रथम कालक—आर्य श्याम ही हो सकते हैं। जब अनुयोग निर्माता (घटना ४) आर्य कालक वह श्यामार्य ही हैं तब पूर्वोक्त प्रकार से घटना १ से घटना ७ वाले आर्य कालक भी वही श्यामार्य ही हैं।

इस सब चर्चा से फलित होता है कि आर्यकालक काल्पनिक नहीं किन्तु ऐतिहासिक व्यक्ति हैं जिन्होंने मूलप्रथमानुयोग आदि का निर्माण किया और जिनका नन्दीसूत्रकार भी प्रमाण देते हैं। इनके लोकानुयोग में निमित्तशास्त्र था ऐसा पञ्चकल्पभाष्य का प्रमाण है। उसी निमित्तशास्त्र के एक विषय—प्रव्रज्या—के बारे में कालक के मत का अनुसरण वराहमिहिर ने किया और उसी विषय की गाथायें भी हमें उत्पलभट्ट की टीका में प्राप्त होती हैं। इन सब साक्षियों के सामने आर्य कालक के ऐतिहासिक व्यक्ति होने के बारे में अब कोई भी शंका नहीं रहती। और अनुयोगकार कालक वह आर्यरक्षित के पूर्ववर्ती श्यामार्य (प्रथम कालक) ही हैं। अतः घटना १ से ७ वाले कालक भी श्यामार्य हैं न कि मुनिश्री के द्वितीय कालक।

प्राचीन और अर्वाचीन पण्डितों—ग्रन्थकारों के मत से श्यामार्य प्रथम कालकाचार्य माने जाते हैं। आर्य श्याम और आर्य कालक ये दोनों नाम पर्यायरूप से एक ही व्यक्ति के लिए उपयोग में लिये गये हैं। इसी तरह सागर का पर्याय होता है समुद्र। किसी भी पट्टावली में हमें आर्य कालक के प्रशिष्य आर्य सागर नहीं मिलते किन्तु आर्य श्याम के प्रशिष्य आर्य समुद्र अवश्य मिलते हैं। और यह उल्लेख भी नन्दीसूत्र की पट्टावली में है जो प्राचीन भी है और विश्वसनीय भी। नन्दीसूत्र पट्टावली का उल्लेख देखना चाहिये—

हारियगुत्तं साइं च वंदिमो हारियं च सामज्जं।
वन्दे कोसियगोत्तं, संडिल्लं अज्ज जीयधरं ॥२६॥

---

२८ इसके—कालियसुयं च इसिभासियाइं तइओ य सूरपन्नत्ती।
सव्वो य दिट्ठिवाओ चउत्थओ होइ अणुओगो ॥
—आवश्यकसूत्र हरिभद्रीयवृत्ति पृ. १९६ मूलभाष्यगाथा १२४

आर्यरक्षितकृत चार अनुयोगों के नाम हैं—चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, कालानुयोग और द्रव्यानुयोग।

३ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ. ९११। मुनिश्री लिखते हैं— यद्यपि आवश्यकमूलभाष्य में चरणकरणानुयोग पहिला कहा गया है और धर्मकथानुयोग दूसरा तथापि इस कथानुयोग को प्रथमानुयोग कहने से यह ज्ञात होता है कि पहले के चार अनुयोगों में धर्मकथानुयोग का नंबर पहिला होगा।
—वही पृ. ९११ पादनोट १

होंगे ऐसा खयाल पण्डित लालचन्द्र गान्धी का है। इन मेरुतुङ्ग का समय विक्रम सवत् १४०३ से १४७१ के बीच में है।[६७] इन्हीं के आधार से आर्य श्याम का समय निर्णीत करना ठीक न होगा। किन्तु सब जैनाचार्य प्रथम कालक या श्यामार्य का समय यही बतलाते हैं। दुष्षमाकाल श्रीश्रमणसङ्घस्तोत्र और उसकी अवचूरि के अनुसार प्रथम कालक का यही समय है।[६८] नन्दीसूत्रान्तर्गत स्थविरावली के अनुसार श्यामार्य और स्थविर आर्य सुहस्ति के बीच मे बलिस्सह और स्वाति हुए। मेरुतुङ्ग की विचारश्रेणि अन्तर्गत स्थविरावली-गाथानुसार सुहस्ति के बाद गुणसुदर ४४ वर्ष तक और आर्यकालक ४१ वर्ष तक पट्टधर रहे। (प्रथम) कालक या श्यामार्य के समय के विषय मे तो प्राचीन अर्वाचीन सभी पण्डितों का खयाल एक-सा है—इनका युगप्रधानपद वीर निर्वाण सवत् ३३५ मे और स्वर्गवास वी० नि० स० ३७६ मे।

अब जैन परम्परा के अनुसार वीर निर्वाण का समय है विक्रम सवत् से ४७० वर्ष पूर्व, अतः ई० स० पूर्व ५२७ होगा। इस हिसाब से श्यामार्य का युगप्रधानत्व होगा ई० स० पूर्व १९२ से १५१ तक। डा० याकोबी के मतानुसार अगर वीर निर्वाण ई० स० पूर्व ४६७ मे हुआ, तो श्यामार्य का समय होगा ई० स० पूर्व १३२ से ९१ तक।

उपर्युक्त दोनों समय में से कौनसा ग्राह्य है यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते, क्योंकि वीर निर्वाण के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। किन्तु दोनों में से कोई भी समय ग्राह्य हो, पर उससे आर्य कालक का सुवर्णभूमि जाना असम्भव नही है। हम देख चुके हैं कि ई० स० पूर्व प्रथम-द्वितीय शताब्दि में भारत सुवर्णभूमि से सुपरिचित था।

हमने यह भी जान लिया है कि घटना १ से ७ एक ही कालक के जीवन की होनी चाहिये। तब गर्दभ राजा के उच्छेदक आर्य कालक का समय भी ई० स० पूर्व १९२ से १५१ तक या ई० स० पूर्व १३२ से ९१ तक हो जाता है। शङ्का होगी कि यह कैसे हो सकता है? जब कि गर्दभ राजा के उच्छेदक कालक के कथानक का सम्बन्ध है विक्रम के साथ और उस विक्रम और शकों के पुनर्राज्यस्थापन (शक सवत्) के बीच में १३५ वर्ष का अन्तर जैन परम्परा को भी मजूर है।

किन्तु यहाँ देखने का यह है कि कालक-कथानक का सम्बन्ध है शकों के प्रथम आगमन और राज्य-स्थापन के साथ न कि ई० स० ७८ में जिन्होंने शक सवत् चलाया उन शकों के साथ। मुनि कल्याण—विजयजी ने जैन परम्पराओं को लेकर कालक, गर्दभ, विक्रम आदि के समय निर्णय का जो प्रयत्न किया है वह देखना चाहिये। उन्होंने अपना "वीर निर्वाणसम्वत् और जैन कालगणना" नामक ग्रन्थ में इस विषय की चर्चा में कहा है कि पुष्यमित्र शुङ्ग के राज्य के ३५ वें वर्ष के लगभग (जो शायद या उसके राज्य का आखरी वर्ष) "लाट देश की राजधानी भरुकच्छ (भरोच) मे बलमित्र का राज्याभिषेक हुआ। बलमित्र-भानुमित्र के राज्य के ४७ वें वर्ष के आसपास उज्जयिनी मे एक अनिष्ट घटना हो गई। वहाँ के गर्दभिल्लवशीय राजा दर्पण ने कालकसूरि नाम के जैनाचार्य की बहन सरस्वती साध्वी को जबरन् पड़दे में डाल दिया।" इसके बाद कालक के पारसकूल जा कर शकों को भारत में लानेवाली निशीथचूर्णि और कहावली में पाई जाती हकीकत दे कर मुनिजी बतलाते हैं कि लाट देश के

---

६७ पीटरसन, **रिपोर्ट**, वॉल्युम ४, पृ० xcviii। अगर प्रबन्धचिन्तामणिकार और विचारश्रेणिकार एक हों तब इनका समय वि० स० १३६६ है।

६८ **पट्टावली-समुच्चय**, भाग १, पृ० १६-१७ विशेष चर्चा के लिए देखो, ब्राउन, **ध स्टोरी ऑफ कालक**, पृ० ५-६, और पादनोंध, २३-३३, और **द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ**, पृ० ९४-११६।

हागि ऐसा खयाल पण्डित लालचन्द्र गान्धी का है। इन मेरुतुङ्ग का समय विक्रम सवत् १४०३ से १४७१ के बीच में है।[६७] इन्हीं के आधार से आर्य श्याम का समय निर्णीत करना ठीक न होगा। किन्तु सब जैनाचार्य प्रथम कालक या श्यामार्य का समय यही बतलाते हैं। दुपमाकाल श्रीश्रमणसङ्घस्तोत्र और उसकी अवचूरि के अनुसार प्रथम कालक का यही समय है।[६८] नन्दीसूत्रान्तर्गत स्थविरावली के अनुसार श्यामार्य और स्थविर आर्य सुहस्ति के बीच में बलिस्सह और स्वाति हुए। मेरुतुङ्ग की विचारश्रेणि अन्तर्गत स्थविरावली-गाथानुसार सुहस्ति के बाद गुणसुदर ४४ वर्ष तक और आर्यकालक ४१ वर्ष तक पट्टधर रहे। (प्रथम) कालक या श्यामार्य के समय के विषय में तो प्राचीन अर्वाचीन सभी पण्डितो का खयाल एक-सा है—इनका युगप्रधानपद वीर निर्वाण सवत् ३३५ मे और स्वर्गवास वी० नि० सं० ३७६ मे।

अब जैन परम्परा के अनुसार वीर निर्वाण का समय है विक्रम संवत् से ४७० वर्ष पूर्व, अतः ई० स० पूर्व ५२७ होगा। इस हिसाब से श्यामार्य का युगप्रधानत्व होगा ई० स० पूर्व १६२ से १५१ तक। डा० याकोबी के मतानुसार अगर वीर निर्वाण ई० स० पूर्व ४६७ मे हुआ, तो श्यामार्य का समय होगा ई० स० पूर्व १३२ से ६१ तक।

उपर्युक्त दोनों समय में से कौनसा ग्राह्य है यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते, क्योंकि वीर निर्वाण के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। किन्तु दोनों में से कोई भी समय ग्राह्य हो, पर उससे आर्य कालक का सुवर्णभूमि जाना असम्भव नहीं है। हम देख चुके हैं कि ई० स० पूर्व प्रथम-द्वितीय शताब्दि में भारत सुवर्णभूमि से सुपरिचित था।

हमने यह भी जान लिया है कि घटना १ से ७ एक ही कालक के जीवन की होनी चाहिये। तब गर्दभ राजा के उच्छेदक आर्य कालक का समय भी ई० स० पूर्व १६२ से १५१ तक या ई० स० पूर्व १३२ से ६१ तक हो जाता है। शङ्का होगी कि यह कैसे हो सकता है? जब कि गर्दभ-राजा के उच्छेदक कालक के कथानक का सम्बन्ध है विक्रम के साथ और उस विक्रम और शकों के पुनर्राज्यस्थापन (शक संवत्) के बीच में १३५ वर्ष का अन्तर जैन परम्परा को भी मजूर है।

किन्तु यहाँ देखने का यह है कि कालक-कथानक का सम्बन्ध है शकों के प्रथम आगमन और राज्य-स्थापन के साथ न कि ई० स० ७८ में जिन्होंने शक सवत् चलाया उन शकों के साथ। मुनि कल्याण—विजयजी ने जैन परम्पराओं को लेकर कालक, गर्दभ, विक्रम आदि के समय निर्णय का जो प्रयत्न किया है वह देखना चाहिये। उन्होने अपना "वीर निर्वाणसम्वत् और जैन कालगणना" नामक ग्रन्थ में इस विषय की चर्चा में कहा है कि पुष्यमित्र शुङ्ग के राज्य के ३५ वें वर्ष के लगभग (जो शायद था उसके राज्य का आखरी वर्ष) "लाट देश की राजधानी भरुकच्छ (भरोच) में बलमित्र का राज्याभिषेक हुआ। बलमित्र-भानुमित्र के राज्य के ४७ वें वर्ष के आसपास उज्जयिनी में एक अनिष्ट घटना हो गई। वहाँ के गर्दभिल्लवशीय राजा दर्पण ने कालकसूरि नाम के जैनाचार्य की बहन सरस्वती साध्वी को जबरन् पड़दे में डाल दिया।" इसके बाद कालक के पारसकूल जा कर शकों को भारत में लानेवाली निशीथचूर्णि और कहावली में पाई जाती हकीकत दे कर मुनिजी बतलाते हैं कि लाट देश के

---

६७ पीटरसन, **रिपोर्ट**, वॉल्युम ४, पृ० xcviii। अगर प्रबन्धचिन्तामणिकार और विचारश्रेणिकार एक हों तब इनका समय वि० स० १३६६ है।

६८ **पट्टावली-समुच्चय**, भाग १, पृ० १६-१७ विशेष चर्चा के लिए देखो, ब्राउन, **ध स्टोरी ऑफ कालक**, पृ० ५–६, और पादनोंध, २३–३३, और **द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ**, पृ० ६४–११६।

बलमित्र-भानुमित्र कही भरोच के और कहीं उज्जयिनी के राजे कहे गए हैं। मुनिश्री कल्याण विजयजी के मत से उसका कारण यही है कि वे पहले भरोच के राजा थे पर शक को हरा कर वे उज्जयिनी या अवन्ति के भी राजा बने थे। इस विषय में जो हकीकत कथानक आदि से उपलब्ध है वह हमें देखनी चाहिये—निशीथचूर्णि मे गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना वर्णित है मगर बाद की राज्यव्यवस्था का उल्लेख नहीं है। चतुर्थीकरणवाली घटना भी इसी चूर्णि मे है, वहाँ लिखा है—"कालगायरिओ विहरतो उज्जेणि गतो। तत्थ य नगरीए बलमित्तो राया।"[७१] दशाचूर्णि मे भी चतुर्थीकरण वाली घटना में "उज्जेणीए नगरीए बलमेत्त-भाणुमेत्ता रायाणो" ऐसा कहा है।[७२] कहावली में गर्दभिल्लोच्छेद के बाद की व्यवस्था का निर्देश नहीं है। किन्तु चतुर्थीकरणवाले कथानक मे कहावलीकार लिखते हैं—"साहिप्पमुहराणएहिं चाहिसित्तो उज्जेणीए कालगसूरिभाणेज्जो बलमित्तो नाम राया।"[७३] इस तरह बलमित्र के उज्जयिनी के राजा होने के बारे में प्राचीन साक्षी अवश्य है किन्तु कई कथानकों मे चतुर्थीकरणवाली घटना के वर्णन मे बलमित्र को "भरुअच्छ" (भरोंच) में राज्य करता बतलाया है।[७४] कालक-परक सभी कथानकों में

सट्ठी पालगरन्नो पणवन्नसय तु होइ नन्दाण।
अट्ठसय मुरियाण तीसच्चिय पूसमित्तस्स॥
बलमित्त-भाणुमित्ताण सट्ठि वरिसाणि चत्त नहवहणे।
तह गद्दभिल्लरज्ज तेरस वासे सगस्स चऊ॥
(जैन साहित्य सशोधक, खण्ड २ अङ्क ४ परिशिष्ट पृ० २)

वास्तव में यहाँ आखरी गाथा विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि बलमित्र भानुमित्र के ६० वर्ष, नहवाहन (या नभ.सेन) के ४० वर्ष, बाद में गर्दभिल्ल के १३ वर्ष, और शक के राज्य के ४ वर्ष कहे हैं गये हैं और यह निर्विवाद है कि गर्दभिल्लोच्छेदक चतुर्थीकारक आर्य कालक बलमित्र के समकालीन थे।

७१ नवाव प्रकाशित, **कालकाचार्यकथा,** पृ० २, निशीथचूर्णि, दशम उद्देश

७२ नवाव प्रकाशित, **कालकाचार्यकथा,** सदर्भ ६, पृ० ५

७३ **वही,** प्राकृतकथाविभाग, कथा न० ३, पृ० ३७

७४ **वही,** पृ० १४, देवचन्द्रसूरिविरचितकथा (रचना सवत् ११४६ = ई० स० १०८६) में, **वही,** पृ० ३१, मलधारी श्री हेमचन्द्रविरचित कथा (रचना वि० स० १२ शताब्दि) में, **वही,** पृ० ४५, अज्ञातसूरिविरचित कथा में, **वही,** पृ० ७०, अज्ञातसूरिविरचित अन्य कथा में, **वही,** पृ० ८७ श्री भावदेवसूरिरचित कथा (रचना सवत् १३१२ = ई० स० १२५५) में,—इत्यादि कथानकों में बलमित्र को भरुकच्छ का राजा बतलाया है।

किन्तु, जयानन्दसूरि-विरचित प्राकृत कथा (रचना अनुमान से वि० स० १४१० आसपास) में बलमित्र-भानुमित्र को अवन्ति के राजा और युवराज बताये हैं। इसी कथानक में गर्दभिल्लोच्छेद के बाद शक को राजा बनाया इतना ही उल्लेख है। नवाब प्रकाशित, **कालकाचार्यकथा,** पृ० १०७

वही, पृ० ५५, श्री धर्मघोषसूरि (वि० स० १३००-१३५७ आसपास) लिखते हैं कि जिस शक राजा के पास आर्य कालक रहे थे उसको कालकाचार्य ने अवन्ति का राजा बनाया और दूसरे शक उस राजा के सेवक बने किन्तु धर्मघोषसूरि लिखते हैं कि दूसरी परम्परा के अनुसार ये सब सेवक कालक के भागिनेय के सेवक बने—

जप्पासे सूरिठिओ सऽवतिपहु आसि सेवगा सेसा।
अन्ने भणति गुरुणो भाणिज्जा सेविया तेहिं॥ ४३॥
ज भणिओ निवपुरओ, स गओ ते हिं सह सूरिणो अ सगो।
सगकूल आगयात्ति य, सगुत्ति तो आसि तव्वसो॥ ४४॥

पालगरण्णो सट्ठी, पुण पण्णसय वियाणि णंदाणम्।
मुरियाण सट्ठिसय, पणतीसा पूसमित्ताणम् (त्तस्स) ॥ ६२१ ॥

वलमित्त भाणुमित्ता, सट्ठी चत्ताय होंति नहसेणे।
गद्दभसयमेग पुण, पडिवन्नो तो सगो राया॥ ६२२॥

पञ्च य मासा पञ्च य वासा, छच्चेव होंति वाससया।
परिनिव्वुअस्सऽरिहतो, तो उप्पन्नो (पडिवन्नो) सगो राया॥ ६२३ ॥[७६]

इस तरह शक सवत् जो ई० स० ७८ से शुरू होता है उसको चलाने वाले शकराजा के पूर्व १०० वर्ष गर्दभिल्लो के, ४० वर्ष नभ.सेन के और ६० वर्ष बलमित्र के बताये गये हैं।

दिगम्बर तिलोयपण्णत्ति मे भी ऐसी कालगणना मिलती है किन्तु कुछ फर्क के साथ—

जक्काले वीरजिणो नि'सेससपय समावण्णो।
तक्काले अभिसित्तो पालयणाम अवतिसुदो॥ १५०५ ॥

पालकरज्ज सट्ठि इगिसयपणवण्णा, विजयवसभवा।
चाल मुरुदयवसा तीस वस्सा सुपुस्समित्तम्मि॥ १५०६ ॥

वसुमित्त अग्गिमित्ता सट्ठी गधव्वया वि सयमेक्क।
णरवाहणा य चाल तत्तो भत्थट्ठणा जादा ॥ १५०७॥

भत्थट्ठणाण कालो दोण्णि सयाइ वति वादाला।[७७]

जिनसेनाचार्य के हरिवशपुराण [७८] में यही गणना मिलती है जिसके अनुसार पालक के ६० वर्ष, विजयवश या नदवश के १५५ वर्ष, मरुदय या मौर्यों के ४० वर्ष, पुष्यमित्र के ३०, वसुमित्र-अग्निमित्र के ६०, गधर्व या रासभों के १०० और नरवाहन के ४० वर्ष दिए गये हैं। उसके बाद भत्थट्ठाण (भृत्यान्ध्र) राजा हुए जिनका काल २४२ वर्ष का होता है।

दिगम्बर परम्परा को यहाँ स्पर्श किया है इससे प्रतीत होगा कि उनकी कालगणना में भी कुछ गड़बड़ है। क्यों कि मौर्यों के ४० वर्ष लिखे गये हैं वह ठीक नहीं। श्री काशीप्रसाद जयस्वालजी ने श्वेताम्बर काल गणनाओं की समीक्षा करते हुए बतलाया कि मौर्यों के कमी किये गये वर्ष रासभों (गर्दभिल्लों)

---

७६ **वीरनिर्वाणसम्वत् और जैनकालगणना** के पृ० ३०-३१ पर मुनिश्री कल्याणविजयजी ने ये गाथायें उद्धृत की हैं। तित्थोगाली की उपलब्ध प्रतियाँ अशुद्ध हैं।

वही, पृ० ३१ पादनोंध में मुनिश्री ने दुःषमगंडिका और युगप्रधान-गंडिका का सार दिया है। दूसरी गणनाओं से उसकी सङ्गति करना मुश्किल है। किसी भी तरह शकसवत् को वीरात् ६०५ तक ला ही जाता मगर बीच के राजाओं की कालगणना में गड़बड़ी हो जाती है। इस विषय में बहुत से विद्वानों ने चर्चा की है। यहाँ हम इन सबका सार भी लें तो वक्तव्य का विस्तार खूब बढ जाएगा। और यह सब चर्चा विद्वानों को सुपरिचित है ही।

७७ **तिलोयपण्णत्ति, भाग**, पृ० ३४२, **कसायपाहुड**, भाग १, प्रस्तावना, पृ० ५०-५५ में उद्धृत की गई है किन्तु परस्पर विरोधात्मक कालगणनाओं का अभी तक सतोषजनक समाधान नहीं हुआ है।

७८ डा० जयस्वाल, **जर्नल ऑफ ध बिहार-ओरिस्सा रिसर्च सोसायटी**, वॉल्युम १६, पृ० २३४-२३५ **वही**, कल्पना मुनिश्री कल्याणविजयजी भी करते हैं।

में बताये गये हैं। इस कालगणना के विषय में आज तक की सब चर्चाओं में से अभी कोई अचना निर्णयात्मक फलित नहीं हुई। [१] सम्भव है कि शकों का भारत में प्रथम आगमन और उज्जैन में राज्य करना तदनन्तर पराक्रम के बाद ई० स० ७८ में फिर राज्य करना ये दोनों अलग अलग इकट्ठित पश्चात्भूत ग्रन्थकार ठीक जान या समझ न सके। खुद तिलोयपण्णत्ति महावीर निर्वाण और शक सम्वत् के बीच के अन्तर की दो परम्परा देती है एक के अनुसार निर्वाण के बाद ४६१ वर्ष होने पर शक राजा उत्पन्न हुआ (तिलोयपण्णत्ति अधिकार ४ गाथा १४९६, पृ० ३४) दूसरी के अनुसार निर्वाण के ६०५ वर्ष और ५ मास के बाद शक नृप उत्पन्न हुआ (वही गाथा १४९९, पृ० ३४१)। कैसे भी हो मगर इतना तो फलित होता है कि श्वेताम्बर परम्परा के बलमित्र भानुमित्र दिगम्बर सम्प्रदाय में वसुमित्र अग्निमित्र नाम से लिखने आने लगे। ये शुंगों के मध्य और पश्चिमी भारत में राज्यपाल (Governors) होंगे। ये पुष्यमित्र शुंगराजा के कुल के हो सकते हैं। विदिशा में पुष्यमित्र का युवराज अग्निमित्र राज्यपाल था यह महाकवि कालिदास कृत मालविकाग्निमित्र के पाठकों को सुविदित है। पाञ्चाल में से मित्र नामान्त (अन्त्य) राजाओं के सिक्के मिले हैं। इस तरह बलमित्र-भानुमित्र के उज्जयिनी या राज्य के शासन की बात सम्भावित प्रतीत होती है।

पुष्यमित्र के समय में पतञ्जलि का महाभाष्य हुआ माना गया है। महाभाष्य के सूत्र ३।२।१११ में कात्यायन के वार्तिक 'परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये' पर दो अति प्रसिद्ध उदाहरण दिए गये हैं—'अरुणद् यवनः साकेतम्' और 'अरुणद् यवनः माध्यमिकाम्'। विद्वानों ने एकमत से स्वीकार किया है कि यहाँ यूनानी राजा मीनान्डर के भारतीय अभियान का उल्लेख है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं :— मीनान्डर ने शाकल (स्यालकोट) को अपने अधिकार में करके एक अभियान सिन्ध राजपूताना की ओर माध्यमिका (चित्तौड़ के समीप 'नगरी') को लक्ष्य करके किया था। उसका दूसरा सैनिक अभियान पूर्व की ओर था। उस में मथुरा-साकेत (अयोध्या) को अपने अधिकार में करके वह पाटलिपुत्र (पुष्पपुर) तक बढ़ गया था। गार्गी संहिता के युग पुराण नामक अध्याय में इस पूर्वी अभियान का स्पष्ट विवरणात्मक उल्लेख है। इसका एक नया प्रमाण जैनेन्द्र व्याकरण सूत्र २।२।९२ पर श्री अभयनन्दी की महावृत्ति में किसी प्रकार सुरक्षित बच गया है :—परोक्षे लोकविज्ञाते प्रयोक्तुः शक्यदर्शनत्वेन दर्शन विषयत्वे लङ् वक्तव्यः। अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्। अरुणद्यवनः साकेतम्। × × × 'महेन्द्र' हमारी दृष्टि में अपपाठ है। शुद्ध पाठ 'मेनन्द्र' होना चाहिए। अवश्य यही मूल पाठ रहा होगा जिसका अर्थ न जानकर बाद के लेखकों ने 'महेन्द्र' कर दिया। वस्तुतः मीनान्डर का लोक में प्रसिद्ध नाम 'मेनन्द्र' था उनके अनेक सिक्के मिले हैं जिनमें एक ओर यवनानी लिपि में उनका नाम है और दूसरी ओर खरोष्ठी लिपि में 'मेनन्द्र' नाम लिखा रहता है।"

---

९१. मत्स्य, ब्रह्माण्ड और वायुपुराण में कुल ५ गर्दभिल्ल राजा दिये हैं। और ब्रह्माण्डपुराण में गर्दभिल्लों का राज्यकाल सिर्फ ७ वर्ष का है। तिलोयपण्णत्ति वगैरह में गर्दभिल्ल-वंश राजाओं की संख्या तो नहीं पर उनका राज्यकाल १०० वर्ष प्रमाण लिखा है। जिस गर्दभराजा को कालकसूरि ने शकों की सहाय से हटाया वह क्या इस वंश का था ? वह क्या गर्दभिल्ल राजाओं में पांचवाँ राजा था ? ये सब विचारणीय बातें हैं। श्री शान्तिलाल शाह ने "श्री हरिभद्र सोभावारि ऑफ व सैवस" में लिखा है कि जिस गर्दभराजा का कालक ने उच्छेदन किया वह मथुरा के एक लेख में Khardaa नामक सरिष राजा है और गर्दभिल्ल वगैरह वंश के, स्पष्ट चालिया ४। यह मत अभी निश्चितरूप से माना नहीं जाता। किन्तु उस वर्ग राज का मौर्य होना ज्यादा सम्भावित है।

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल "मिलिन्द के पूर्व-भारत में अभियान का नया उल्लेख" राजस्थान भारती भाग ३ अङ्क ३-४ (जुलाई १९५३) पृ० ७१-७२

इस तरह यह स्पष्ट है कि ग्रीकों ने मध्य भारत में अधिकार जमाया था। बलमित्र-भानुमित्र का समकालीन ग्रीक राजकर्ता ही हो सकता है। बृहत्कल्पचूर्णि में उल्लेख है कि उज्जयिनी नगरी में अनिल-सुत जव (यव? यवन?) नामक राजा था। उसका पुत्र गर्दभ नाम का युवराज था। वह अपनी ही "अडोलिया" नामक भगिनी के रूप से मोहित हो कर उससे जातीय सुख भोगता रहा। राजा इससे निर्वेद पा कर प्रव्राजित हो गया। इस उल्लेख में "अणिलसुनो नाम यवनो राजा" ऐसे पाठ की कल्पना श्री शान्तिलाल शाह के उपरोक्त ग्रन्थ में दी गई है। 'अडोलिया' कोई परदेशी नाम है। हो सकता है इसी कामान्ध गर्दभ ने साध्वी सरस्वती का अपहरण किया। वे ग्रीक राजकर्ता हो सकते हैं, किन्तु उनके मूल नाम का पता अभी तक निश्चित रूप से नहीं मिला। कहावली में इस गर्दभ राजा का नाम "दप्पण" —दर्पण—लिखा है।

मथुरा को मीनान्डर ने घेर लिया था। पञ्चकल्पभाष्य और पञ्चकल्पचूर्णि के पहले दिये हुए उल्लेख में हम देख चुके हैं कि सातवाहन नरेश आर्य कालक को पूछता है—"मथुरा पड़ेगी या नहीं? और पड़ेगी तो कब?" इसका मतलब यह है कि मथुरा पर किसी का घेरा था और उसके परिणाम में सातवाहन राजा को रस हो यह योग्य ही है। यह भी हो सकता है कि खुद सातवाहन नरेश के सैन्य ने घेरा डाला था या वह डालना चाहता था क्या कि बृहत्कल्पभाष्य और चूर्णि में प्रतिष्ठान के सातवाहन राजा के दण्डनायक ने उत्तरमथुरा और दक्षिणमथुरा जीत लिया ऐसा उल्लेख है (बृहत्कल्पसूत्र विभाग ६, गाथा ६२४४ से ६२४६, और पृ० १६४७–४६)। उज्जैन में से ग्रीक (या कोई परदेशी) राजा जिसको "गर्दभ" कहा गया है उसको हटा गया, पीछे मथुरा से ग्रीक अमल को हटाने के लिए सातवाहन राजा ने प्रयत्न किया? या क्या यहाँ सातवाहन के प्रश्न में खारवेल के हाथीगुम्फा लेख में उद्दिष्ट मथुरा की ओर के अभियान का निर्देश है?[८१]

हम देख चुके हैं कि कालक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। उनका सम्बन्ध शकों के प्रथम आगमन से है। वह किसी सातवाहन राजा के समकालीन थे। बृहत्कल्पचूर्णि के उल्लेख से गर्दभ खुद यवन होने का सम्भव है। यद्यपि यह 'जव' शब्द यवन–यव–जव ऐसा रूपान्तरित है या 'मव' का 'जव' हुआ है इत्यादि बातें अनिश्चित हैं, तथापि 'अडोलिया' यह किसी ग्रीक नाम का रूपान्तर होने की शका रहती है। क्या गर्दभ राज (या गर्दभिल्लों) से भारत में ग्रीक राजकर्ता उद्दिष्ट हैं?

हमारे खयाल से यह ज्यादा सम्भवित है। गर्दभ और गर्दभिल्ल अवश्य परदेशी राजकर्ता होंगे। इनको हटाना भारतीयों के लिए मुश्किल मालूम पड़ा होगा। यवनों–ग्रीकों–के क्रूर स्वभाव का निर्देश हमें गार्गी सहिता के युगपुराण में भी मिलता है। इनको हटाने के लिए आर्य कालक शकों को लाये। अगर भारतीय राजकर्ता को हटाने के लिए परदेशी शक लाए गये होते तो आर्य कालक देशद्रोही गिने जाते।

---

८१ देखो, डा० वी० एम० बारुआ, **हाथीगुम्फा इन्स्क्रिप्शन ऑफ खारवेल**, इन्डिअन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, वॉ० १४, पृ० ४७७, लेख की पंक्ति ६ खारवेल किसी सातकर्णि (सातवाहन-वश के) राजा का समकालीन था यह इसी लेख से मालूम होता है। खारवेल का समय ई० स० पूर्व दूसरी या पहली शताब्दि है। इस विषय में डा० बारुआ ने अगले सर्व विद्वानों के मत की चर्चा अपने लेख और पुस्तक में की है। डा० हेमचन्द्र राय चौधरी ने **पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ एन्शिअन्ट इन्डिआ** (इ० स० १९५३ का सस्करण) में डा० बारुआ के मत की चर्चा की है। और देखो, **ध डेट ऑफ खारवेल**, जर्नल ऑफ ध एशिआटिक सोसाइटी (कलकत्ता), लेटर्स, वॉ० १९ (ई स १९५३), न० १, पृ० २५–३२

कालक जैसे समर्थ पंडित और प्राभाविक आचार्य ऐसा कर नहीं सकते। उनको प्रतीति हुई होगी कि शक राजकर्ताओं के सामने तत्कालीन भारतीय राजाओं से कुछ बनना मुश्किल था।

प्राचीन ग्रन्थों में कहीं भी नहीं बताया गया कि शकों को हरानेवाला विक्रमादित्य खुद गर्दभ-राजा का पुत्र था। यह मान्यता कुछ पीछे से बनी होगी। जब काल-गणना में गड़बड़ प्रतीत होती है उस समय के विधानों में यह मान्यता देखने में आती है। कालकाचार्यकथानकों में भी प्राचीन कथानकों में यह नहीं है। पीछे पादनोंध ७२ में हमने बताई हुई गाथियों में कहीं भी विक्रम को गर्दभ का पुत्र नहीं कहा है। इस तरह गर्दभिल्लोच्छेद और विक्रम के बीच कम अन्तर ही होना या मानना आवश्यक नहीं। वास्तव में डा० जायसवालजी की भी ऐसी ही राय थी। उन्हों ने गर्दभिल्लोच्छेद वाली घटना का निर्देश करके लिखा है—

"This event is placed before the Vikrama era but no time is specified as to how long after the occupation of Ujjain and Mālvā the first Saka dynasty came to an end. The Kathānaka expressly keeps it unspecified, as it says "*Kālāntareṇa Kenai* (ZDMG 1880 p 267 Konow CII II p. xxvii)."[80]

जायसवालजी इस गर्दभिल्लोच्छेद की घटना को ई० स० पूर्व १[illegible]१ में रखते हैं।[81]

पट्टावली की कालगणना में जैन ग्रन्थों में भी कुछ गड़बड़ और अस्पष्ट बातें हैं। मुनिश्री कल्याण विजयजी (जिनके मत से गर्दभिल्लोच्छेदक आर्य कालक यह दूसरे आर्य कालक थे और उनका समय वीरात् ४५३ था) इस घटना के बारे में लिखते हैं— 'घटनाओं के कालक्रम में हमने गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना निर्वाण संवत् ४५३ में बताई है, पर इसमें यह शंका हो सकती है कि इस घटना के समय यदि बलमित्र भानुमित्र विद्यमान थे—जैसा कि 'कथावली' आदि ग्रन्थों से ज्ञात होता है—तो इस घटना का उक्त समय निर्दोष कैसे हो सकता है? क्यों कि मेरुतुंगसूरि की 'विचार श्रेणि' आदि प्रचलित जैन-गणना के अनुसार बलमित्र भानुमित्र का राज्य-काल वीर निर्वाण से ३५४ से ४१३ तक आता है। ऐसी दशा में यह कहना चाहिए कि गर्दभिल्लोच्छेदवाली घटना का उक्त समय (४५३) ठीक नहीं है और यदि ठीक है तो यह कहना होगा कि बलमित्र भानुमित्र का उक्त समय गलत है। और यदि उपर्युक्त दोनों समय ठीक माने जायें तो अन्त में यह मानना ही पड़ेगा कि गर्दभिल्लवाली घटना के समय बलमित्र भानुमित्र विद्यमान न थे।"

मुनिश्री आगे लिखते हैं—' गर्दभिल्लवाली घटना का समय गलत मान लेने के लिये हमें कोई कारण नहीं मिलता। बलमित्रभानुमित्र आर्य कालक के भानजे थे यह बात सुप्रसिद्ध है, अत एव कालक के समय में इनका अस्तित्व मानना भी अनिवार्य है। रही बलमित्र भानुमित्र के समय की बात सो इसके सम्बन्ध में हमारा मत है कि उनका समय ३५४ से ४१३ तक नहीं किन्तु ४१४ से ४७३ तक था। मौर्य-काल में से ५२ वर्ष छूट जाने के कारण १६० के स्थान में केवल १०८ वर्ष ही प्रचलित गणनाओं में लिये गए हैं। अत एव एकदम ५२ वर्ष कम हो जाने के कारण बलमित्र आदि का समय अव्यवस्थित-सा हो गया है। हमने मौर्य राज्य के १६० वर्ष मान कर इस पद्धति में जो संशोधन किया है उसके अनुसार कालकाचार्य और बलमित्र

---

[80] डा० जायसवाल, प्रॉब्लेम्स ऑफ शक-सातवाहन हिस्टरी, जर्नल ऑफ बिहार एण्ड ओरिस्सा रिसर्च सोसायटी, वॉ० १६ (ई० स० १९३०), पृ० ११४

[81] वही पृ० ११४ से आगे.

[82] इसके लिए देखो मुनिश्री कल्याणविजयजी का वीरनिर्वाण-सम्वत् और जैन-कालगणना

के समय में कुछ विरोध नहीं रह जाता।"[८५] मुनिश्री की यह समीक्षा तो शङ्का को बढाती है कि गर्दभिल्लोच्छेद की घटना वीरात् ४५३ में मानना शुरू हुआ तब से कालगणना में गड़बड़ हो गई। डा० ब्राउन दूसरे कालक के बारे में लिखते हैं—

"Most versions make him the disciple of Gunākara (= the sthavira Gunasundara), but this must be an error, for on chronalogical grounds it must have been Kālaka I who was Gunākara's disciple"[८६]

इससे तो यह मानना ज्यादा उचित है कि कथानकों में प्रथम कालक ही उद्दिष्ट हैं। डा ब्राउन आगे लिखते हैं—

"The Kalpadruma and Samayasundara add an alternative tradition stating that Kālaka II was the maternal uncle of the kings Balamitra and Bhānumitra of Jain tradition, thus agreeing with a few versions of the Kālakāryakathā, although most of them identify the Kālaka who was the uncle of those kings with the Kālaka who changed the date of the Paryūsanā The year of Kālaka II is by all authorities said to be 453 of the Vīra era, in which year it is specifically stated in a stanza appended to three Mss of Dharmaprabha's version that he took Sarasvatī Possibly the statement is slightly inaccurate and the date refers to his accession to the position of *sūri*, just as in other stanzas appended to Mss of the same version the year 335, which is the date of accession to the position of *sūri*, is mentioned as that of Kālaka I Dharmasāgaragaṇin assigns the deeds of Kālaka II to Kālaka I"[८७]

पहले ही हम कह चुके हैं कि कथानकों में कालक का वर्ष नहीं बतलाया गया, किसी भाष्य या चूर्णि में भी नहीं। बलमित्र-भानुमित्र और पर्यूषणातिथि के बारे में भी पहले समीक्षा की गई है। धर्मप्रभ की रचना सं० १३६८ में हुई, मूल रचना में गर्दभिल्लोच्छेदक कालक वीरात् ४५३ में हुए ऐसा नहीं है। मूल में तो— "अह ते सग त्ति खाया, तव्वसं छदिऊण पुण काले। जाओ विक्कमराओ, पुहवी जेणूरणी विहिया ॥ ३१ ॥"—इतना ही होने से विक्रम और कालक के बीच का समयान्तर अस्पष्ट है। डा० ब्राउन की तृतीय कालक की कल्पना ठीक नहीं है, मुनिश्री कल्याणविजयजी ने तृतीय कालक के विषय में ठीक ही समीक्षा की है। विस्तारभय से हम उस चर्चा को छोड़ देते हैं।

अब कथानकों को छोड़ कर पट्टावली आदि को देखें तो कल्पसूत्र स्थविरावली में दो कालक का कोई उल्लेख नहीं, और न इसमें किसी स्थविर के वर्ष आदि बताये गये। नन्दी-स्थविरावली जिसके प्राचीन होने में शङ्का नहीं है उसमें गर्दभिल्लोच्छेदक अन्य कालक का कोई उल्लेख नहीं है। दुष्षमाकाल श्री श्रमणसङ्घ स्तोत्र में 'गुणसुदर, सामज, खदिलायरिय' का उल्लेख है किन्तु गाथा १३ में आर्य वज्रसेन,

---

८५ मुनिश्री कल्याणविजय, "आर्य-कालक," **द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ,** पृ० ११७ मुनिश्री के इस कथनानुसार, वि० स० ४५३ में गर्दभिल्ल को हटा कर, (ई० स० पू० ७४ में) शकराजा उज्जयिनी की गादी पर बैठा। और चार वर्ष के बाद वि० स० ४५७ में (ई० स० पू० ७० में) बलमित्र ने उसको हटा कर उज्जयिनी पर अपना अधिकार जमाया। बलमित्र-भानुमित्र के राज्य का अन्त वि० स० ४६५ (ई० स० पू० ६२) में हुआ।—**वही,** पृ० ११७ पादनोंध, १

८६ **ध स्टोरी ऑफ कालक,** पृ० ६

८७ ब्राउन, **वही,** पृ० ६, पृ० ७–१२.

ग्रन्थकारों का (मध्यकालीन पट्टावलिया के अलावा) कहीं भी उल्लेख नहीं। मौर्यों के १०८ वर्ष की हकीकत भी मान्य नहीं हो सकती। डा० जयस्वालजी के कथनानुसार अगर मौर्यों के शेष वर्ष रासभों में बढा कर किसी तरह वीरात् ४७० में विक्रम का हिसाब जोड़ा गया तब यह स्पष्ट है कि इन पट्टावलियो की नृप-कालगणना शङ्कारहित नहीं है, इनमें और भी गलती हो सकती है। इस गड़बड़ का कारण यह है कि प्रथम शकराज्य के बाद कितने वर्ष व्यतीत होने पर विक्रमादित्य हुआ यह स्पष्ट मालूम न होने से विक्रम और कालक को नज़दीक लाने की प्रवृत्ति हुई। एक से ज्यादा कालक नामक आचार्य हुए होंगे किन्तु घटनाओं के नायक तो प्रथम कालक ही हैं जो कि अन्य तर्कों से पहले ही हमने देख लिया है।

मुनिश्री कल्याणविजयजी के मत से बलमित्र ही विक्रमादित्य है। और उनके मत से गर्दभिल्लोच्छेदक द्वितीय कालक वीरात् ४५३ में हुए। मगर बलमित्र यदि विक्रमादित्य है तब वह गर्दभिल्ल का पुत्र नहीं हो सकता। और मेरुतुङ्ग या उपरोक्त अवचूरि के बयान तब व्यर्थ प्रतीत होते हैं।

वीरात् ४५३ मे गर्दभिल्लोच्छेदक कालक होने के सब आधार मध्यकालीन उन्ही परम्पराओं के हैं जिनमें कालगणना की ऐसी गड़बड़ी है। कालककथानक तो गर्दभिल्लोच्छेदक कालक के गुरु गुणसुन्दर या गुणाकर को ही बताते हैं। वह कालक श्यामार्य ही हैं जिन्होंने प्रज्ञापनासूत्र बनाया। उपलब्ध प्रज्ञापना अगर मूल प्रज्ञापना नहीं हो, तो भी उस में मूल का सस्करण और मूल के कई अश जरूर होंगे। यही प्रज्ञापना सूत्र उसके लेखक का देशदेशान्तर के लोगो का ज्ञान, भिन्न भिन्न लिपियों का ज्ञान आदि साक्षी देता है जो गर्दभिल्लोच्छेदक और सुवर्णभूमि में जानेवाले कालक में हो सकता है। प्रज्ञापनासूत्र के विषय ही उनके कर्ता निगोद-व्याख्याता होने का सूचन करते हैं।

विचारश्रेणि में स्थविरों के पट्टप्रतिष्ठाकाल बतानेवाली गाथायें दी हैं। वही मुनिश्री कल्याणविजयजी से उद्दिष्ट "स्थविरावली या युगप्रधानपट्टावली" है जिसकी हस्तप्रत मुनिश्री ने देखी है। वह हस्तप्रत या वह रचना विचारश्रेणि से कितनी प्राचीन है यह किसी को मालूम नहीं। विचारश्रेणि अन्तर्गत गाथायें भी मेरुतुङ्ग से कितनी प्राचीन हैं यह कहना मुश्किल है। इस स्थविरावली की गाथाओं (पहले हम दे चूके हैं) में "रेवइमित्ते छत्तीस, अज्जमङ्गु अ वीस एव तु। **चउसय सत्तरि, चउसयतिपन्ने कालगो जाओ॥** चउवीस अज्जवम्मे एगुणचालीस भद्दगुत्ते अ।" इत्यादि में पट्टधरों की वीरात् ४७० तक की परम्परा बताने के बाद ४५३ में कालक हुए ऐसा विधान है। पर इससे तो यह सूचित होता है कि ये द्वितीय कालक युगप्रधान नहीं हैं और न उनके आगे युगप्रधानपट्टधर (या गुरु) ग्रन्थकर्ता को मालूम हैं। इन गाथाओं में अगर कालक भी युगप्रधानपट्टधर हैं तब एक साथ ऐसे दो आचार्य युगप्रधानपट्टधर हो जाते हैं जैसा कि इस स्थविरावली का ध्वनि नहीं है। अत. यह सम्भवित है कि "चउसय तिपन्ने कालगो जाओ" यह बात प्राचीन युगप्रधानपट्टावलिओं में पीछे से बढाई गई है। प्रथम शकराज्य के बारे में वास्तविक वर्षगणना बाद के लेखकों को दुर्लभ होने से और किसी तरह विक्रम के समय के नजदीक ही कालक को और प्रथम शकराज्य को लाने के खयाल से यह वीरात् ४५३ में कालक के होने की कल्पना घुस गई होगी। उपलब्ध सब पट्टावलियों मे प्राचीन हैं कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की स्थविरावलियाँ, मगर इनमें वीरात् ४५३ में रख सकें ऐसा कोई कालक का उल्लेख नहीं है। पट्टावली-समुच्चय, भाग १ में दी हुई सब अन्य पट्टावलियाँ विक्रम की तेरहवीं सदी या उसके बाद की हैं। डा० क्लाट की पट्टावलियाँ भी वि० स० की १६ वीं शताब्दि के बाद की हैं।[८९]

---

८९ देखो, क्लाट महाशय का लेख, इन्डिअन एन्टिक्वेरि, वॉ० ११, पृ० २४५ से आगे डा० याकोबी, डा० लॉयमान आदि के पट्टावली-विषयक लेखों की सूचि के लिए देखो, ब्राउन, **ध स्टोरी ऑफ कालक,** पृ० ५ पादनोंध २३

कालक विषय के पहले विमर्श के (चूर्णि भाष्यादि के) सर्व सन्दर्भों से हम सिद्ध कर चुके हैं कि सभी घटनायें एक-कालक-परक हैं और वह है आर्य श्याम। उनके बाद आर्य शाण्डिल्य और शाण्डिल्य के बाद हुए आर्य समुद्र। सभी थेरावलियों और पट्टावलियों में इन्हीं आर्य समुद्र के अलावा किसी आचार्य के लिए 'सिंधुसुरस्मयकित्ति धीरसमुद्देसु गहिर पेयालं'' ऐसे शब्दप्रयोग नहीं हुए। अतः यही आर्य समुद्र सुवर्णभूमि जाने वाले सागर श्रमण हैं। और सुवर्णभूमि जानेवाले और गर्दभिल्लोच्छेदक आर्य कालक एक हैं यह तो मुनिश्री कल्याणविजयजी को स्वीकृत है। अतः यह कालक श्यामार्य ही हैं।

प्राचीन जैन परम्परानुसार वीर निर्वाण ई. स. पूर्व ५२७ में माना जाय, तब श्यामार्य का समय होगा ई० स. पूर्व ११२ से १५१ और डा. याकोबी आदि पण्डितों के मतानुसार निर्वाण ई. स. पू. ४६७ में मानें, तब श्यामार्य का समय होगा ई. स. पूर्व ११२ से ६१ तक। इसी समय में भारत में शकों का प्रथम आगमन हुआ। खरोष्ठी लिपि में लिखे हुए लेखों और मथुरा के अन्य कतिपय लेखों के अभ्यसन से यह तो सर्व पण्डितों को स्वीकार्य है कि दो तरह के शक सम्वत् चले थे एक Old Saka era = प्राचीन (मूल) शक सं. और दूसरा बाद (ई. स. ७८ में शुरू हुआ वह) शक सम्वत्। प्राचीन शक सम्वत् के प्रथम वर्ष के बारे में भिन्न भिन्न मत हैं। इन सब की समीक्षा डा. लोहुइजेन-द-ल्यु ने अपने ग्रन्थ 'द सिथियन पिरियड' में की है। डा. लोहुइजेन-द-ल्यु के मत से प्रथम शक सं. ई. स. पू. १२६ में शुरू हुआ, प्रो० रॅप्सन के ख्याल से ई. स. पू. १५ में, प्रो. टार्न के मत से ई. स. पू. १५५ में, डा. कन्स्टास के मत से ई. स. पू० १९० में। इस तरह भिन्न भिन्न मत हैं किन्तु डा. लोहुइजेन-द-ल्यु और कनस्टास के मत वास्तविक हकीकत से ज्यादा नजदीक हैं। इन सब मतों की चर्चा भी एम. एन. दत्त ने जर्नल ऑफ द एशियाटिक सोसायटि (बेंगाल) लेटर्स वॉ. १६, (ई. स. १९५१) अङ्क १ पृ. १-२४ में की है और वहाँ बताया है कि प्रथम शक सम्वत् ई. स. पू. १२१ में हुआ होगा। यह समय शकों और यू-ची की बस्तियों में पार्थियनों पर के विजय का है। इसके बाद थोड़े ही समय में मिथ्रदात दूसरा (Mithradates II) नामक पार्थियन राजा ने शकों को फिर भगाया। यही समय है जब शक भारत की ओर आये।

इससे हमारे ख्याल से श्यामार्य का समय ई. स. पूर्व ११२ से ई. स. पूर्व ६१ तक मानना ज्यादा उचित है। ई. स. पूर्व ५८ में विक्रम संवत् (मालव सं.) चला उस समय कालकाचार्य जीवित थे ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः कालक के समय का ई. स. पू. ६१ के बाद ही होना आवश्यक नहीं।

कालक ऐतिहासिक व्यक्ति थे उनका समय ऊपर के दो समय में से एक है इसी समय गर्दभ का उच्छेद हुआ इसी समय में कालक सुवर्णभूमि में गये। अन्य कालकाचार्य हुए होंगे किन्तु वे सब कथानकों की घटनाओं के नायक नहीं हैं इतना निश्चित है। अब भारतीय इतिहास के पण्डितों से प्रार्थना है कि गर्दभ, गर्दभिल्ल, विक्रमादित्य आदि के कूट प्रश्नों के निराकरण इन्हीं के पुनः मन्थन करें।

---

१ देखो डा. लोहुइजेन-द-ल्यु, ग. एम. एन. दत्ता आदि के लेख ग्रंथ और डा. प्रभाकर चट्टोपाध्याय कृत द शकाज इन इण्डिया (विश्वभारती प्रकाशन १९५५) पृ. ६ प्रो. रापसन लिखते हैं—
It was in his reign that the struggle between the kings of Parthia and their Scythian subjects in Eastern Iran was brought to a close and the suzerainty of Parthia over ruling powers of Seistan and Kandahar confirmed (Cambridge Hist. of India, Vol. I. p. 567)

११ देखो वीर निर्वाण सम्वत् और जैनकालगणना पृ. ११५ से पृ. ११ पर पादनोंध में दो हुई देवर्षि गणिक्षमाश्रमण की गुर्वावली और वाचकी युगप्रधान पट्टावली। वाचकी पट्टावली के थे १० वें आर्य कालकाचार्य के स्वर्गवास को निर्वाण सम्वत् ३३५ में बताती है पुरस्कारार हुआ।

परिशिष्ट १

दत्तराजा और आर्यकालक

दत्त राजा के सामने यज्ञफल का निरूपण करनेवाली घटना (घटना न १) का उल्लेख आवश्यकचूर्णि के अतिरिक्त 'आवश्यक निर्युक्ति' में दो स्थानों में है।[९२] मुनिश्री कल्याणविजयजी के खयाल के अनुसार इस घटना का सम्बन्ध सम्भवत प्रथम कालकाचार्य से है।[९३] 'आवश्यक-निर्युक्ति' की एक गाथा (८६५) में उल्लिखित सामायिक के आठ दृष्टान्तों में तीसरा दृष्टान्त आर्यकालक का है जिन का वर्णन आव० चूर्णि में इस प्रकार मिलता है। "तुरुविणी नगरी में 'जितशत्रु' नामक राजा था। वहाँ 'भद्रा' नाम की एक ब्राह्मणी रहती थी जिसके पुत्र का नाम 'दत्त' था। भद्रा का एक भाई था जिसने जैन मत की दीक्षा ली थी, उसका नाम था 'आर्य कालक'। दत्त जुआड़ी और मदिरा-प्रसङ्गी था। वह राजसेवा करते करते प्रधान सैनिक के पद तक पहुँच गया। पर अन्त मे उसने विश्वासघात किया। राजकुल के मनुष्यो को फोड़कर उसने राजा को कैद किया और स्वय राजा बन बैठा। उसने बहुत से यज्ञ किये। एक बार वह अपने 'मामा' कालक के पास जाकर बोला कि मैं धर्म सुनना चाहता हूँ, कहिए यज्ञों का फल क्या है? कालक ने उसको धर्म का स्वरूप, अधर्म का फल और अशुभ कर्मों के उदय को समझाया और पूछने पर कहा कि यज्ञ का फल नरक है। दत्त ने इस का प्रमाण पूछा तो कालक ने बताया कि "आज से सातवे दिन तू कुमी में पकता हुआ कुत्तों से नोचा जायगा।" दत्त ने कालक को कैद किया मगर ठीक वैसा ही हुआ जैसा भविष्य कथन आर्य कालक ने किया था।

ग्रन्थकार लिखते हैं—"इस प्रकार सत्य वचन बोलना चाहिए, जैसे कालकाचार्य बोले।" इस कथानक का संक्षिप्त सार 'आवश्यक निर्युक्ति' की निम्नलिखित गाथा मे भी सूचित किया है—

दत्तेण पुच्छिओ जो, जण्णफल कालगो तुरुमिणीए।
समयाए आहिएण सम बुइय भय तेण ॥ ८७१ ॥

मुनिश्री कल्याणविजयजी लिखते हैं कि "जब तक चौथे कालक का अस्तित्व सिद्ध न हो, इस सातवीं घटना का सम्बन्ध पहले कालक से मान लेना कुछ भी अनुचित नहीं है।"

परिशिष्ट २

घटना नं ५—गर्दभ-राजा का उच्छेद

गर्दभिल्लोच्छेद वाली घटना[९४] के साथ दो स्थलों का उल्लेख है—उज्जयिनी और पारसकूल। निशीथचूर्णि में पारसकूल का उल्लेख है। वहाँ से साहिराजा और उनके साथ दूसरे ६५ साहियों को लेकर आर्य कालक "हिन्दुक-देश" को आते हैं। इस प्रकार ये ६५ या ६६ साहि (शक कुलों) समुद्रमार्ग से सौराष्ट्र में आये।

---

९२ द्वि० अभि० ग्रं० पृ० ९७

९३ वही पृ० ११४-१५

९४ निशीथचूर्णिगत इस घटना के बयान के लिये देखो, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ९८-९९

इन स्थलों के बारे में कथाओं में कुछ गड़बड़ हुई है जिसकी मुनिश्री कल्याणविजयजी ने अच्छी तरह छानबिन की है। आप लिखते हैं—

"प्राकृत कालक कथा में पारसकूल की जगह 'शककूल' नाम मिलता है। प्रभावकचरितान्तर्गत कालक-प्रबन्ध में इस स्थान का नाम 'शाखिदेश' लिखा है। कल्पसूत्रमूल के साथ छपी हुई संस्कृत 'कालक-कथा' में इस स्थान को 'सिंधु नदी का पश्चिम पार्श्वकूल' लिखा है। फिर 'हिमवन्तथेरावली' में इस स्थल का नाम सिंधु देश कहा है। इन भिन्न भिन्न नामों में हमारी संमति में पारसकूल नाम ही सही है जिसका उल्लेख इस विषय के सबसे पुराने ग्रंथ 'निशीथचूर्णि' में है।[१८] ××× पारस-कूल का अर्थ पारस का किनारा होगा। ×× क्यों कि वहाँ के निवासी लोग शकजाति के हैं, अतः उस प्रदेश का 'शककूल' नाम भी संगत है। ××××× कालक कथाओं में सिंधु नदी पार होकर सौराष्ट्र में कालकाचार्य के आने का उल्लेख है पर यह भ्रान्तिशून्य नहीं है क्योंकि सिंधु नदी पार करके पंजाब अथवा सिंध में जा सकते हैं, सौराष्ट्र में नहीं। परंतु यह बात तो सभी लेखक एक-स्वर से स्वीकार करते हैं कि कालकाचार्य सौराष्ट्र में ही उतरे थे। यदि वे शाहियों के साथ सिंधु नदी पार कर हिन्दुस्थान में आये होते, तो सौराष्ट्र में किसी प्रकार न उतर सकते। इससे यही सिद्ध होता है कि वे सिंधु-नदी नहीं बल्कि सिंधु-समुद्र के द्वारा सौराष्ट्र में उतरे थे। 'निशीथचूर्णि' में तो सौराष्ट्र में ही उतरने का उल्लेख है, वहाँ सिंधु नदी का नामोल्लेख नहीं है। संभव है सिंधु के साथ नदी शब्द पीछे से जुड़ा गया है।[१९]"

मुनिजी की यह समीक्षा महत्त्व की है। इससे कालक का समुद्रयान-जहाजयान सिद्ध होता है। अगर यह बात सही है तब तो कालक के सुवर्णभूमिगमन (हिंदी-चीन आदि देशों में गमन) के वृत्तान्त में पुराने लेखक के जैन आख्यान और साधुगण को भी शङ्का न होनी चाहिये। कालकाचार्य सुवर्णभूमि में खुश्की रास्ते से ही गये होंगे। किसी को शङ्का हो सकती है कि वे दुर्गम खुश्की रास्ते से नहीं जा सकते और जहाजी रास्ते से साधु जाते नहीं किन्तु कालकाचार्य के विषय में यह शङ्का भी नष्ट हो जाती है क्योंकि आर्य कालक शाखों के साथ जहाजी रास्ते से आये होंगे ऐसा मुनिजी का मत है। यह मत ठीक लगता है। फिर अनाम के ग्रन्थ में जो लिखा है कि कालकाचार्य अनाम से जहाज-यान से ओकिन (दक्षिण चीन) में गये थे यह विधान भी असम्भव नहीं लगेगा।

परिशिष्ट ३

रत्नसंचय प्रकरण की गाथाओं पर मुनिश्री कल्याणविजयजी

मुनिश्री कल्याणविजयजी इन गाथाओं के बारे में लिखते हैं— जहाँ तक हमने देखा है श्यामार्य नामक प्रथम कालकाचार्य का वृत्तान्त सर्वत्र निर्वाण सं २८० में जन्म ३०० में दीक्षा ३३५ में युगप्रधानपद और ३७६ में स्वर्गवास ऐसा लिखा है। इनका सम्पूर्ण आयुष्य ९६ वर्ष का था। वे 'प्रज्ञापनाकार' और निगोदव्याख्याता नामों से भी प्रसिद्ध थे। इन सब बातों का विचार करने के बाद यह कहना लेश भी अनुचित न होगा कि उक्त प्रकरण की गाथा में जो प्रथम कालकाचार्य का निरूपण किया गया है वास्तव में वही सत्य है।

---

१८. कच्छ के स्थान में पारसकूल नहीं किन्तु पारसकूल शब्द होना चाहिये देखो वही, पृ ११ नागरीप्र १२१

१९. वही, पृ. ११

दूसरे कालक का समय—गर्दभिल्लोच्छेदक कालकाचार्य का समय—निर्वाण सं० ४५३ है, और इन दूसरे कालक की हस्ति को मुनिश्री ठीक मानते हैं। आगे आप लिखते हैं—"तीसरे कालकाचार्य के सम्बन्ध में हम निश्चित अभिप्राय नहीं व्यक्त कर सकते। कारण, निर्वाण सं० ७२० में कालकाचार्य के अस्तित्व-साधक इस गाथा के अतिरिक्त दूसरा कोई प्रमाण नहीं है। दूसरा कारण यह भी है कि गाथा में इन कालकाचार्य को 'शक्रसंस्तुत' कहे हैं, जो सर्वथा असङ्गत है, क्यों कि शक्रसंस्तुत कालकाचार्य तो वही थे, जो 'निगोद-व्याख्याता' के नाम से प्रसिद्ध थे। युगप्रधान स्थविरावली के लेखानुसार यह विशेषण प्रथम कालकाचार्य को ही प्राप्त था।

"चौथे कालकाचार्य को चतुर्थी-पर्यूषणा-कर्ता लिखते हैं, जो ठीक नहीं। यद्यपि 'वालभी युगप्रधान पट्टावली' के लेखानुसार इस समय में भी एक कालकाचार्य हुए अवश्य हैं—जो निर्वाण सं० ९८१ से ९९३ तक युगप्रधान थे, पर इनसे चतुर्थी पर्यूषणा होने का उल्लेख सर्वथा असङ्गत है।"[९७]

इस चतुर्थ कालक के विषय में मुनिजी आगे लिखते हैं—"वर्धमान से ९९३ वर्ष व्यतीत होने पर कालकसूरिद्वारा पर्यूषणा चतुर्थी की स्थापना हुई ऐसी एक प्राकरणिक गाथा है जो तित्थोगाली पइन्नय से ली गई है ऐसा संदेहविषौषधि ग्रन्थ के कर्ता का उल्लेख है। मगर वह ठीक नहीं, और उपाध्याय धर्मसागरजी ने अपनी कल्पकिरणावली में भी बताया है कि यद्यपि यह गाथा धर्मघोषसूरिरचित कालसप्तति में देखने में आती है तथापि तीर्थोद्गार प्रकीर्णक में यह गाथा देखने में नहीं आती[९८]" आगे मुनिश्री ने बताया है कि बारहवीं सदी में चतुर्थी की फिर पञ्चमी करने की प्रथा हुई तब चतुर्थी पर्यूषणा को अर्वाचीन ठहराने के खयाल से किसीने यह गाथा रची।[९९]

इन सब बातों से यह स्पष्ट होना चाहिये कि एक से ज्यादा कालक की परम्परायें शङ्कारहित हैं ही नहीं। एक नाम के अनेक आचार्य हुए इससे, और ज्यों ज्यो घटनाओं की हकीकत प्रथम कालक के साथ जोड़ने में शङ्का हुई त्यों त्यो या ज्यों ज्यो विक्रम और शक और तत्कालीन नृपविषयक ऐतिहासिक हकीकत विस्मृत होने लगी और परम्परायें विच्छिन्न होती गई, त्यों त्यों ये मध्यकालीन ग्रन्थकार व्यामोह में पड़ते गये और घटनाओं को भिन्न भिन्न कालक के साथ जोड़ते गये। तिथि के निर्णय में या श्रुत का पुनःसंग्रह करने में जिन्हों ने बार बार कुछ हिस्सा लिया उनको कालकाचार्य का बिरुद मिला हो ऐसा भी हो सकता है। ये बातें विशेष अनुसन्धान के योग्य हैं।

मुनिजी ने एक और गाथा की समीक्षा है जिसका भी उल्लेख करना चाहिये। आप लिखते हैं—

"उपर्युक्त गाथाओं के अतिरिक्त कालकाचार्य विषयक एक और गाथा मेरुतुङ्ग की 'विचार-श्रेणि' के परिशिष्ट में लिखी मिलती है, जिसमें निर्वाण सम्वत् ३२० में कालकाचार्य का होना लिखा है। उस गाथा[१००] का अर्थ इस प्रकार है—"वीर जिनेन्द्र के ३२० वर्ष बाद कालकाचार्य हुए, जिन्होंने इन्द्र को प्रतिबोध दिया।" इस गाथा से कालकाचार्य के अस्तित्व की सम्भावना की जा सकती है पर ऐसा करने की

९७ मुनिश्री कल्याणविजय, **आर्य कालक**, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ९६–९७

९८ **द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ**, पृ० ११८–११९

९९ **वीरनिर्वाण सम्वत् और जैन कालगणना**, पृ० ५६–५८ की पादनोंध

१०० गाथा इस तरह है—
सिरिवीरजिणिंदाओ, वरिससया तिन्निवीस (३२०) अहियाओ।

कोई आवश्यकता नहीं है। शक्यविशेष के निर्देश से ही यह स्पष्ट है कि उक्त गाथोक्त वे ही हैं जिनका वर्णन 'युगप्रधान' के रूप में 'निगोद-व्याख्याता' विशेषण के साथ, युगप्रधान-स्थविरावलियों में किया गया है।" जब इन्द्रप्रतिबोधक निगोद-व्याख्याता प्रथम कालक ही हैं तब उत्तराध्ययन निर्युक्तिगाथा के आधार से सुवर्णभूमि वे गये होंगे यह भी मानना चाहिये।

परिशिष्ट ४

निमित्तशास्त्रज्ञ आर्य कालक

निशीथ चूर्णि, उद्देश १ पृ ७ में निम्नलिखित उल्लेख है—' इदाणिं निमित्तं अस्स व्याख्या विज्जा उभयं सेवेति। उभयं साम पासत्थ गिहत्था ते विजामंतजोगाणिमिसिचं सेवेतव्वं'।" इस तरह विद्याप्राप्ति के निमित्त साधु को पतित साधु अथवा गृहस्थ की भी सेवा करनी चाहिये ऐसी प्राचीन शास्त्रकार की अनुज्ञा का उपयोग कालकाचार्य के जीवन में देखने में आता है। निमित्त ज्ञान इन्होंने आजीवक-मत के साधुओं से प्राप्त किया। इस घटना का स्फोट करनेवाला पञ्चकल्पचूर्णिगत उल्लेख हम पहले दे चुके हैं। कालकाचार्य ने जो ग्रन्थ बनाये उनका उल्लेख पञ्चकल्पभाष्य और पञ्चकल्पचूर्णि में इसी घटना के साथ ही मिलता है और हम इस को देख चुके हैं।

मुनिजी कल्याणविजयजी इस विषय में कुछ और साक्षी भी देते हैं। आप लिखते हैं—" पाटन के ताडपत्रीय पुस्तक भंडार में ताडपत्र पर लिखे हुए एक प्रकरण (लगभग चौदहवीं सदी में लिखे हुए इस प्रकरण का नाम मालूम नहीं हुआ) में हमने एक प्राकृत गाथा पढ़ी थी जिसका आशय यह है—कालकसूरि ने प्रथमानुयोग में जिन चक्रवर्ती वासुदेव, आदि के चरित्र और उनके पूर्वभवों का वर्णन किया और लोकानुयोग में बहुत बड़े निमित्तशास्त्र की रचना की। ××× मोक्षसागरगणि नामक जैन विद्वान् ने संस्कृतभाषा में रमल-विद्या-विषयक एक ग्रंथ लिखा है। उसमें उन्हों ने लिखा है कि पहले पहल यह विद्या कालकाचार्य के द्वारा यवन देश से यहाँ लाई गई थी। किन्तु रमल विद्या को यवन-देश से चाहे कालकाचार्य लाए हों या न भी लाए हों पर इससे तो इतना सिद्ध ही है कि निमित्त अथवा ज्योतिष विद्या के जैन विद्वान् लोग कालकाचार्य को अपने पथ का आदि पथिक समझते थे।

मुनिजी लिखते हैं— आर्य कालक दिग्गज विद्वान् के अतिरिक्त एक क्रांतिकारी पुरुष भी थे। विद्या के कारण उनकी जितनी प्रसिद्धि है उस से कहीं अधिक उनके घटनामय जीवन से है।×× आप कालक का प्रत्येक जीवन प्रसङ्ग साधुस्थिति के सामान्य जीवन-प्रवाह से कुछ आगे बढ़ा हुआ है।"

कालक के जीवन की घटनाओं में जो दो खास उल्लेखनीय हैं वे दो घटनाएं ये हैं—एक इनका निमित्तज्ञान और दूसरा उनका क्रान्तिकारी तात्त्विक नीडर जीवन।

१ १ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ ९९-१०.

१ १ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ १४

१ १ वही पृ १५.

परिशिष्ट ५.

उत्तराध्ययननिर्युक्ति और चूर्णि के संदर्भ

उज्जेणी कालखमणा सागरखमणा सुवण्णभूमीए।
इंदो आउयसेस पुच्छइ सादिव्वकरणं च ॥ १२० ॥

उत्तराध्ययननिर्युक्ति, २ अध्ययन

'उज्जेणी कालखमणा' गाथा (११६-१२७) उज्जेणीए अज्जकालगा आयरिया बहुस्सुया, तेसिं सीसो न कोइ नाम इच्छइ पढिउ, तस्स सीसस्स सीसो बहुस्सुओ सागरखमणो नाम सुवन्नभूमीए गच्छेण विहरइ, पच्छा आयरिया पलायितु तत्थ गता सुवण्णभूमीं, सो य सागरखमणो अणुयोग कहयति पण्णा-परिसह न सहति, भणति-खता! गत एय तुब्भ सुयक्खध जावोकविजतु, तेण भण्णति—गतति, तो सुण, सो सुणावेउ पयत्तो, ते य सिज्जायरणिब्बधे कहिते तस्सिसा सुवन्नभूमिं जतो वलिता, लोगो पुच्छति त वृद गच्छत—को एस आयरिओ गच्छति? तेण भण्णति—कालगायरिया, त जणपरपरेण फुसत कोहु सागरखमणस्स सपत्त, जहा—कालगायरिया आगच्छति, सागरखमणो भणति—खत! सच्च मम पितामहो आगच्छति? तेण भण्णति—मयावि सुत, आगया साधुणो, सो अब्भुट्ठितो, सो तेहिं साधूहिं भण्णति—खमासमणा केई इहागता? पच्छा सो सकितो भणति—खतो एक्को पर आगतो, ण तु जाणामि खमासमणा, पच्छा सो खामेति, भणति—मिच्छामि दुक्कड जएत्थ मए आसादिया, पच्छा भणति—खमासमणा! केरिस अह वक्खाणेमि? खमासमणेण भण्णति—लट्ठ, किंतु मा गव्व करेहि को जाणति कस्स को आगमोत्ति, पच्छा धूलिणाएण चिक्खिलपिंडएण य आहरण करेंति, ण तहा कायत्व जहा सागरखमणेण कत, ताण अज्जकालगाण समीव सक्को आगतु निगोयजीवे पुच्छति, जहा अज्जरक्खियाण तथैव जाव सादिव्वकरण च।

—उत्तराध्ययनचूर्णि, (ऋषभदेव केशरीमलजी श्वे सस्था, रतलाम, ई० स० १९३३), पृ० ८३-८४
और देखिये, श्रीशान्तिसूरिकृत उत्तराध्ययन-बृहद्वृत्ति, भाग १, पृ० १२७-१२८।

परिशिष्ट ६

व्यवहारभाष्य और चूर्णि के संदर्भ

भाष्यगाथा—

पुरिसज्जाया चउरो वि भासियव्वा उ आणुपुव्वीए।
अत्थकरे माणकरे उभयकरे नोभयकरे य ॥ ३ ॥
पढमतइया एत्थं तु सफला निप्फला दुवे इयरे।
दिट्ठतो सगतेणा सेवता अन्नरायाण ॥ ४ ॥
उज्जेणी सगराय नीयागव्वा न सुट्ठु सेवेंति।
वित्तियदाण चोज्ज निवेसया अण्णनिवे सेवा ॥ ५ ॥
धावयपुरतो तह मग्गतो या सेवइ य आसण नीय।
भूमियपि य निसीयइ इगियकारी उ पढमो उ ॥ ६ ॥
चिक्खेल अन्नया पुरतो उगतो से एगो नवरि मव्वतो।
तुट्ठेण तहा रन्ना विती उ सुपुक्खला दिन्ना ॥ ७ ॥

कोई आवश्यकता नहीं है। शास्त्रप्रतिपाद के निर्देश से ही यह स्पष्ट है कि उक्त गाथोक्त वे ही हैं जिनका वर्णन 'युगप्रधान' के रूप में 'निगोद-व्याख्याता' विशेषण के साथ, युगप्रधान-स्थविरावलियों में किया गया है।" अब निगोदप्रतिबोधक निगोद-व्याख्याता प्रथम कालक ही हैं तब उत्तराध्ययन निर्युक्तिगाथा के आधार से सुवर्णभूमि का गमन इन का भी मानना चाहिये।

परिशिष्ट ४

निमित्तशास्त्रज्ञ आर्य कालक

निशीथ चूर्णि, उद्देश १ पृ० ७ में निम्नलिखित उल्लेख है—"नाणादि निमित्त अप्पस्स अप्पस्स किच्चा उभयं सेवेति। उभयं णाम पासत्थ गिहत्था से विज्जमंतजोगादिणिमित्तं सेवेस्सयं।" इस तरह विद्याप्राप्ति के निमित्त साधु को पतित साधु अथवा गृहस्थ की भी सेवा करनी चाहिए ऐसी प्राचीन शास्त्रकार की अनुज्ञा का उपयोग कालकाचार्य के जीवन में देखने में आता है। निमित्त ज्ञान इन्होंने आजीवक-मत के साधुओं से प्राप्त किया। इस घटना का संकेत करनेवाला पञ्चकल्पचूर्णिगत उल्लेख हम पहले दे चुके हैं। कालकाचार्य ने जो ग्रन्थ बनाये उनका उल्लेख पञ्चकल्पभाष्य और पञ्चकल्पचूर्णि में इसी घटना के साथ ही मिलता है और हम इस को देख चुके हैं।

मुनिश्री कल्याणविजयजी इस विषय में कुछ और साक्षी भी देते हैं। आप लिखते हैं—"पाटन के ताड़पत्रीय पुस्तक भंडार में ताड़पत्र पर लिखे हुए एक प्रकरण (लगभग चौदहवीं सदी में लिखे हुए इस प्रकरण का नाम मालूम नहीं हुआ) में हमने एक प्राकृत गाथा पढ़ी थी, जिसका आशय यह है—कालकसूरि ने प्रथमानुयोग में जिन चक्रवर्ती, वासुदेव आदि के चरित्र और उनके पूर्वभवों का वर्णन किया और लोकानुयोग में बहुत बड़े निमित्तशास्त्र की रचना की। ××× प्रेमसागरगणि नामक जैन विद्वान ने संस्कृतभाषा में रमल-विद्या विषयक एक ग्रंथ लिखा है। उसमें उन्हों ने लिखा है कि पहले-पहल यह विद्या कालकाचार्य के द्वारा यवन देश से यहाँ लाई गई थी। किन्तु रमल-विद्या को यवन-देश से चाहे कालकाचार्य लाए हों या न भी लाए हों पर इससे तो इतना सिद्ध ही है कि निमित्त अथवा ज्योतिष-विद्या के जैन विद्वान् लोग कालकाचार्य को अपने पथ का आदि-पथिक समझते थे।"

मुनिश्री लिखते हैं— आर्य कालक दिग्गज विद्वान् के अतिरिक्त एक क्रांतिकारी पुरुष भी थे। विद्या के कारण उनकी जितनी प्रसिद्धि है उस से कहीं अधिक उनके घटनामय जीवन से है।×× आर्य कालक का प्रत्येक जीवन प्रसङ्ग साधुस्थिति के सामान्य जीवन-व्यवहार से कुछ आगे बढ़ा हुआ है।

कालक के जीवन की घटनाओं में जो दो तत्त्व सर्वसाधारण हैं वे सब घटनाओं में हैं—एक उनका निमित्तज्ञान और दूसरा उनका क्रान्तिकारी साहसिक वीरतर जीवन।

---

१ १ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ १६–१७.

१ १ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ १ ५

१ १ वही पृ १ ५.

परिशिष्ट ५

उत्तराध्ययननिर्युक्ति और चूर्णि के संदर्भ

उज्जेणी कालखमणा सागरखमणा सुवएणभूमीए।
इंदो आउयसेस पुच्छइ सादिव्वकरणं च ॥ १२० ॥

उत्तराध्ययननिर्युक्ति, २ अध्ययन

'उज्जेणी कालखमणा' गाथा (११६-१२७) उज्जेणीए अज्जकालगा आयरिया बहुस्सुया, तेसिं सीसो न कोइ नाम इच्छइ पढिउं, तस्स सीसस्स सीसो बहुस्सुओ सागरखमणो नाम सुवन्नभूमीए गच्छेण विहरइ, पच्छा आयरिया पलायितु तत्थ गता सुवण्णभूमीं, सो य सागरखमणो अणुयोग कहयति पण्णापरिसह न सहति, भणति-खता! गत एय तुब्भ सुयक्खंध जावोकधिज्जतु, तेण भण्णाति—गतति, तो सुण, सो सुणावेउ पयत्तो, ते य सिज्जायरणिब्बंधे कहिते तस्सिग्गा सुवन्नभूमिं जतो वलिता, लोगो पुच्छति त वृद गच्छत—को एस आयरिओ गच्छति? तेण भण्णाति—कालगायरिया, त जणपरपरेण फुसत कोट्ठु सागरखमणस्स सपत्त, जहा—कालगायरिया आगच्छति, सागरखमणो भणति—खत! सच्च मम पितामहो आगच्छति? तेण भण्णाति—मयावि सुत, आगया साधुणो, सो अब्भुट्ठितो, सो तेहि साधूहिं भण्णनि—खमासमणा केई इहागता? पच्छा सो सकितो भणति—खतो एक्को पर आगतो, ण तु जाणामि खमासमणा, पच्छा सो खामेति, भणति—मिच्छामि दुक्कड जणत्थ मए आसादिया, पच्छा भणति—खमासमणा! केरिस अह वक्खाणेमि? खमासमणेण भण्णाति—लट्ठ, किंतु मा गव्व करेहि को जाणति कस्स को आगमोत्ति, पच्छा धूलिणाएण चिक्खिलपिंडएण य आहरण करेति, ण तहा कायव्व जहा सागरखमणेण कत, ताण अज्जकालगाण समीव सक्को आगतु निगोयजीवे पुच्छति, जहा अज्जरक्खियाण तथैव जाव सादिव्वकरणं च।

—उत्तराध्ययनचूर्णि, (ऋषभदेव केशरीमलजी श्वे सस्था, रतलाम, ई० स० १६३३), पृ० ८३-८४ और देखिये, श्रीशान्तिसूरिकृत उत्तराध्ययन-बृहद्वृत्ति, भाग १, पृ० १२७-१२८।

परिशिष्ट ६

व्यवहारभाष्य और चूर्णि के संदर्भ

भाष्यगाथा—

पुरिसज्जाया चउरो वि भासियव्वा उ आणुपुव्वीए।
अत्थकरे माणकरे उभयकरे नोभयकरे य ॥ ३ ॥
पढमतइया एत्थ तु सफला निप्फला दुवे इयरा।
दिट्ठतो मगतेणा सेवता अन्नेगयाण ॥ ४ ॥
उज्जेणी उगराय नीयागव्वा न सुट्ठ [illegible]
वित्तियढाण चोज्ज निव्वसया [illegible]
धावयपुरतो तद मगतो [illegible]
भूमियपि य निसीयइ [illegible]
चिक्खेल अन्नया [illegible]
तुट्ठेण तहा [illegible]

पव्वयरण च नरिंदे, पुरणरागमऽडोलिखेलरण चेडा।
जवपत्थरण खरस्सा, उवस्सओ फरुससालाए ॥ ११५६ ॥

यवो नाम राजा। तस्य दीर्घपृष्ठ सचिवः। गर्दभश्च पुत्र.। दुहिता अडोलिका। सा च गर्दभेण तीव्ररागाध्युपपन्नेन 'अगडे' भूमिगृहे विषयसेवार्थं क्षिता ॥ ११५५ ॥

तच्च ज्ञात्वा वैराग्योत्तरङ्गितमनसो नरेन्द्रस्य प्रव्रजनम्। पुत्रस्नेहाच्च तस्योज्जयिन्यां पुनः पुनरागमनम्। अन्यदा च चेटरूपाणामडोलिकया क्रीडन खरस्य च यवप्रार्थनम्। ततश्चोपाश्रयः परुषः—कुम्भकारस्तस्य शालायामित्यक्षरार्थः ॥ ११५६ ॥

भावार्थ. पुनरयम्—[१०४]

उज्जेणी नगरी। तत्थ अनिलसुओ जवो नाम राया। तस्स पुत्तो गद्दभो नाम जुवराया। तस्स धूया गद्दभस्स जुवरन्नो भइणी अडोलिया णाम, सा य अतीवरूववती। तस्स य जुवरन्नो दीहपट्ठो अमच्चो। ताहे सो जुवराया त अडोलिय भगिणि पासित्ता अज्झोववन्नो दुब्बलीभवति। अमच्चेण पुच्छिओ। निब्बधे सिट्ठ। अमच्चेण भन्नति—सागारिय भविस्सति तो एसा भूमिघरे छुब्भति, तत्थ भुजाहि ताए सम भोए, लोगो जाणिस्सति 'सा कहिं पि विनट्ठा'। 'एव होउत्ति कय'। अन्नया सो राया त कज्ज नाउ निव्वेदेण पव्वतिओ। गद्दभो राया जातो। सो य जवो नेच्छति पढिउ, पुत्तनेहेण य पुणो पुणो उज्जेणिं एति। अन्नया सो उज्जेणीए अदूरसामते जवखेत्त, तस्स समीवे वीसमति। त च जवखेत्त एगो खेत्तपालओ रक्खति। इओ य एगो गद्दभो त जवखेत्त चरिउ इच्छति ताहे तेण खेत्तपालएण सो गद्दभो भन्नति—

आधावसी पधावसी मम वा वि निरिक्खसी।
लक्खिओ ते मया भावो, जव पत्थेसि गद्दभा ! ॥ ११५७ ॥[१०५]

अय भाष्यान्तर्गत श्लोक कथानकसमाप्त्यनन्तर व्याख्यास्यते, एवमुत्तरावपि श्लोकौ।

तेण साहुणा सो सिलोगो गहिओ। तत्थ य चेडरूवाणि रमति अडोलियाए, उदोइयाए त्ति भणिय होइ। सा य तेसिं रमताण अडोलिया नट्ठा विले पडिया। पच्छा ताणि चेडरूवाणि इओ इओ य मग्गति त अडोलिय, न पासति। पच्छा एगेण चेडरूवेण त विल पासित्ता णाय—जा एत्थ न दीसति सा नूण एयम्मि विलम्मि पडिया। ताहे तेण भन्नति—

इओ गया इओ गया, मग्गिज्जती न दीसति।
अहमेय वियाणामि, अगडे छूढा अडोलिया ॥ ११५८ ॥

सो वि तेण सिलोगो पढिओ। पच्छा तेण साहुणा उज्जेणिं पविसित्ता कुमकारसालाए उवस्सओ गहिओ। सो य दीहपट्ठो अमच्चो तेण जवसाहुणा रायत्ते विराहिओ। ताहे अमच्चो चिंतेति—'कह एयस्स वेर निज्जाएमि ?' त्ति काउ गद्दभराय भणति—एस परीसहपरातिओ आगओ रज्ज पेल्लेउकामो, जति न पत्तियसि पेच्छह से उवस्सए आउहाणि। तेण य अमच्चेण पुव्व चेव ताणि आउहाणि तम्मि उवस्सए नूमियाणि पत्तियावणनिमित्त। रन्ना दिट्ठाणि। पत्तिज्जिओ। तीए अ कुम्भकारसालाए उदुरो ढुक्किउ ढुक्किउ

---

१०४ यहाँ से आगे टीकान्तर्गत प्राकृत-कथानक बृहत्कल्पचूर्णि के पाठ से उद्धृत है, कुछ गौण फर्क है। इस लिए यहाँ चूर्णि का पाठ अवतरित नहीं किया है।

१०५ जासि एसि पुणो चेव, पासेसु टिरिटिल्लसि।
लक्खितो ते मया भावो जव पत्थेसि गद्दभा ॥
इति रूपा गाथा बृहत्कल्पचूर्णौ।

ओधरसि भएरण। ताहे तेणं कुम्भकारेणं भणति—

सुकुमालग ! भद्दलया ! रत्तिं हिंडणसीलया ! ।
भयं ते नत्थि ममूला, दीहपट्ठाओ ते भयं ॥ ११५६ ॥

सो वि तेण सिलोगो गहिओ। ताहे सो राया त दिवसं मारउकामो तं भणाइ। 'पगत उब्बूहह हारि 'त्ति काउं अम चेव समं रत्तिं फस्ससासं भलीयो अच्छति। तत्थ तेण साहुणा पढिओ पढमो सिलोगो—
'आधावसी पधावसी ॥ (गा ११५७) '

अथा नायं—जाणिया मो पुवं अतिसेसी एस साहू। तओ बितिओ पढिओ— 'इओ गया इओ गया ॥" (गा ११५८)

ते वि राया परिगयं, जहा—जाणंमि (४ । नाम) एतस्स। तओ ततिओ पढिओ—" सुकुमालग ! भद्दलया ॥ (गा ११५६)

ताहे भणाति—एस अमच्चो मम चेव मारउकामो जओ मम राजा (रज्जा) होऊं सते माय परिवारत्थ पुत्तो ते चेव पत्थति !, एस अमच्चे मं मारेउकामो एव पच्चं करेइ। ताहे राया अमच्चस्स सीसं छेत्तुं साहुस्स उवगंतु सम्मं करेइ खामेइ य ॥

अथ श्लोकत्रयस्याक्षरार्थः—आ ईषद् आभिमुख्येन वा धावसि आधावसि अपरेण पृष्ठतो वा धावसि प्रधावसि मामपि च निरीक्षसे लक्षितस्तं मया 'भाव' अभिप्रायो यथा यवं भक्षयितुं वाञ्छसि भो गर्दभ। द्वितीयश्लोके यवनामानं राजानं मारयितुं भो गवेषयते। आर्धावसीति प्रथमश्लोकः ॥ ११५७ ॥

इतो गता इतो गता मृग्यमाणा न दृश्यते अहमेतद् विजानामि अगडे भूमिगृहे गर्तायां वा स्थिता अणोलिका उन्दोलिका नृपतिदुहिता वा। द्वितीयश्लोकः ॥ ११५८ ॥

मूषकस्य राजन् शरीरस्य सुकुमारभावात् सुकुमारक! "स्वगमन्तराणम्, भद्दलग 'त्ति भद्रक! रात्रौ हिण्डनशील! मूषकस्य दिवा मानुषसंघातभयचकितस्य राजन् रात्रौ पर्यटनशीलत्वात्, भयं ते' तव नास्ति मत्सकाशात् मत्सिमित्तं किन्तु 'दीर्घपृष्ठात्' एकत्र सर्पात् अन्यत्र तु अमात्यात् ते भय भवतीति तृतीयश्लोकः ॥ ११५६ ॥

—बृहत्कल्पसूत्र, विभाग २ प्रथम उद्देश सूत्र १ भाष्यगाथा ११५७–६१ पृ १५६–१६१

उपर्युक्त अवतरण की ओर विशेष ध्यान देना जरूरी है। सारी कथा ऐतिहासिक न हो किन्तु गर्दभ लगता है विलक्षण कालककथा से सम्बन्ध है। यहाँ भी उसका अभी स्वभाव प्रकट है। अडोलिया नाम परदेशी (शायद किसी ग्रीक-यावनी) नाम का रूपान्तर लगता है। डा शान्तिलाल शाह ने अपने ग्रन्थ में अनुमान किया है कि अनिलसुत यव Antialkidas है और गर्दभ वह Khardaa [*] है यह हमें ठीक नहीं लगता, क्योंकि Antialkidas का अनिलसुत होना असम्भव है। और अनिल का सुत ऐसा अर्थ लें तब भी वह Antialkidas नहीं हो सकता और Khardaa (मथुरा के सिंह ध्वज के लेख में उल्लिखित) इस Antialkidas का समकालीन नहीं हो सकता। श्री शान्तिलाल शाह का यह अनुमान कि अणिलसुतो जवो नाम राया कि जवद अणिलसुतो नाम जवनो राया होना चाहिये उससे भी पूरा संतोष नहीं होता क्योंकि उसका समकालीन Khardaa नहीं है।

फिर भी गर्दभ कौन? इस विषय के संशोधन में सम्भव है यह अवतरण सहायक हो भी जाय। कालक के जीवन की घटनाओं के विषय में चूर्णियों के, कथानकों के अन्य अवतरण हम यहाँ नहीं देते क्योंकि वे सभी नवाब और डा ब्राउन ने संगृहीत किये हुए हैं।

९६. गाथायें ११५७ ११५ ११५६ ऊपर दी गई हैं इस लिए हमने यहाँ पूरी अवतरित नहीं की है।

१००. शान्तिलाल शाह: द ट्रैडिशनल क्रोनोलोजी ऑफ द जैनाज् पृ ११ ९८. मथुरा के सिंह ध्वज Khardaa के उल्लेख के लिए देखो एपिग्राफिया इण्डिका भा ९, पृ १४ १४७.

उपसंहार

इस लेख का उद्देश्य है जैन साहित्य की छानबीन करना। इस समीक्षा मे हम निश्चितरूप से कह सकते हैं कि कालक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। एक तो उन्होंने अनुयोगादि ग्रन्थों का निर्माण किया और दूसरा इन्हीं ग्रन्थों में से प्रव्रज्याविषयक कालकरचित गाथायें मिली हैं। निगोद-व्याख्यानकार, सुवर्णभूमि को जाने वाले, आर्य समुद्र के दादागुरु और अनुयोगनिर्माता, आजीविको से निमित्त पढनेवाले और जिन्होंने सातवाहन राजा को मथुरा का भविष्य कहा था वह कालक आर्य श्याम ही हैं। इतना तो निश्चित ही है।

धर्मघोषसूरि ने श्रीऋषिमण्डलस्तव मे प्रज्ञापनाकार श्यामार्य को प्रथमानुयोग और लोकानुयोग के कर्ता कालकसूरि कहा है। कालक के बाद उन्होंने आर्य समुद्र की स्तुति की है—

निज्जूढा जेण तया पन्नवणा सव्वभावपन्नवणा।
तेवीसइमो पुरिसो पवारो सो जयउ सामज्जो ॥ १८० ॥

पढमणुओगे कासी जिणचक्किदसारपुव्वभवे।
कालगसूरी बहुअ लोगणुओगे निमित्त च ॥ १८१ ॥

अजसमुद्दगणहरे दुब्बलिए धिप्पए पिहू सव्व।
सुत्तत्थचरमपोरिसिसमुट्ठिए तिण्णि किइकम्मा ॥ १८२ ॥

—जैनस्तोत्रसन्दोह, भाग १, पृ० ३२६–३०.

देवेन्द्रसूरि के शिष्य श्री धर्मघोषसूरि का लेखनसमय है। वि० स० १३२०–१३५७ आसपास। अत. ई० स० की तेहरवीं शताब्दि में, सङ्घभाष्य आदि के कर्ता, श्रीधर्मघोषसूरि जैसे आचार्य भी श्यामार्य को ही अनुयोगकार कालकाचार्य मानते थे।

गर्दभराजोच्छेदक कालक भी वे ही आर्य श्याम हैं ऐसा हमारा मत है। किन्तु अभी भी अगर किसी को शङ्का रही हो, तो इनको यही देखना चाहिये कि बलमित्र-भानुमित्र और आर्य कालक का समकालीनत्व तो निश्चित ही है। पुराने ग्रन्थों का प्रमाण है। फिर पट्टावलियों की पट्टधर कालगणना या स्थविरकालगणना या नृपकालगणना जिनमे कहीं कहीं गड़बड़ है उनको छोड़ कर स्वतत्र प्राचीन ग्रन्था साक्षियों से हमने बताया है कि गर्दभोच्छेदक कालक और दूसरी घटनाओ के नायक आर्य कालक एक ही हैं और वे गुणसुन्दर के शिष्य आर्यश्याम ही होने चाहिये। इनका समय ई० स० पूर्व पहली या दूसरी शताब्दि है।

जिनको दूसरे कालक (वीरात् ४५३) मजूर है इन के हिसाब से भी कालक के सुवर्णभूमिगमन का समय ई० स० पूर्व पहली शताब्दि तो है ही।

कालक किसी सातवाहन राजा के समकालीन थे। वह राजा कौन था? क्यो कि कालक एक काल्पनिक व्यक्ति नहीं हैं इस लिए अब सातवाहन वश के इतिहास के बारे में विद्वानों को फिर सोचविचार करना चाहिये। पञ्चकल्पभाष्य, बृहत्कल्पभाष्य जैसे ग्रन्थों के कर्ता सङ्घदासगणि क्षमाश्रमण ने या दूसरे भाष्यकार चूर्णिकार ने जो ऐतिहासिक बातें लिखी हैं वे बिलकुल कपोलकल्पित नहीं किन्तु ज्यादातर

तथापि न तो वहां इन विचारों की कोई अविच्छिन्न धारा दृष्टिगोचर होती और न उक्त प्रश्नों के समाधान का कोई व्यवस्थित प्रयत्न किया गया दिखाई देता। इस प्रकार का चिंतन आरण्यकों और उपनिषदों में हमें बहुलता से प्राप्त होता है। इन रचनाओं का प्रारंभ ब्राह्मण काल में अर्थात् ई० पू० आठवीं शताब्दी के लगभग हो गया था और सहस्रों वर्ष पश्चात् तक निरन्तर प्रचलित रहा जिसके फलस्वरूप संस्कृत साहित्य में सैकड़ों उपनिषद् ग्रन्थ पाये जाते हैं। ये ग्रन्थ केवल अपने विषय और भावना की दृष्टि से ही नहीं किन्तु अपनी ऐतिहासिक व भौगोलिक परम्परा द्वारा शेष वैदिक साहित्य से अपनी विशेषता रखते हैं। जहां वेदों में देवी-देवताओं का आह्वान उनकी पूजा-अर्चा तथा सांसारिक सुख और अभ्युदय संबंधी वरदानों की मांग की प्रधानता है, वहां उपनिषदों में उन समस्त बातों की कठोर उपेक्षा और तात्विक एवं आध्यात्मिक चिन्तन की प्रधानता पाई जाती है। इस चिन्तन का आदि भौगोलिक केन्द्र वेद-प्रसिद्ध पंचनद प्रदेश व गंगा-यमुना से पवित्र मध्य देश न होकर वह पूर्व प्रदेश है जो वैदिक साहित्य में धार्मिक दृष्टि से पवित्र नहीं माना गया। अध्यात्म के आदि-चिंतक वैदिक ऋषि व ब्राह्मण पुरोहित नहीं किन्तु जनक जैसे क्षत्रिय राजर्षि थे और जनक की ही राजसभा में यह आध्यात्मिक चिन्तन-धारा पुष्ट हुई पाई जाती है।

जैनधर्म मूलतः आध्यात्मिक है और उसका प्रचलित उपलब्ध कोशल काशी विदेह आदि पूर्वीय प्रदेशों के क्षत्रियवंशी राजाओं से पाया जाता है। इसी पूर्वी प्रदेश में जैनियों के अधिकांश तीर्थंकरों ने जन्म लिया तपस्या की ज्ञान प्राप्त किया और अपने उपदेशों द्वारा वह ज्ञानगंगा बहाई जो आजतक जैनधर्म के रूप में प्रवाहित है। ये सभी तीर्थंकर क्षत्रिय राजवंशी थे। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि जनक के ही एक पूर्वज नमि राजा जैनधर्म के २१ वें तीर्थंकर हुए हैं। अतएव कोई आश्चर्य की बात नहीं जो जनक-कुल में उस आध्यात्मिक चिंतन की धारा पाई जाय जो जैनधर्म का मूलभूत अंग है। उपनिषत्कार पुकार पुकार कर कहते हैं कि –

> एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
> दृश्यते त्वग्र्‌यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ (कठो १ ३ १२)
>
> \+ 　　 + 　　 + 　　 +
>
> हन्त तेऽइदम् प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
> यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिन ।
स्थाणुमन्येऽनुसयन्ति यथाकर्म यथाश्रुत ॥ (कठो २, २, ६-७)

अर्थात् प्राणिमात्र मे एक अनादि अनन्त सजीव तत्व है जो भौतिक न होने के कारण दिखाई नही देता। वही आत्मा है। मरने के पश्चात् यह आत्मा अपने कर्म व ज्ञान की अवस्थानुसार वृक्षो से लेकर ससार की नाना जीव-योनियो मे भटकता फिरता है, जबतक कि अपने सर्वोत्कृष्ट चरित्र और ज्ञान द्वारा निर्वाण पद प्राप्त नही कर लेता। उपनिषत् मे जो यह उपदेश गौतम को नाम लेकर सुनाया गया है, वह हमे जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर महावीर के उन उपदेशो का स्मरण कराये बिना नही रहता, जो उन्होने अपने प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम को गौतम नाम से ही सबोधन करके सुनाये थे, और जिन्हे उन्ही गौतम ने बारह अगो मे निबद्ध किया, जो प्राचीनतम जैन साहित्य है और द्वादशाग आगम या जैन श्रुताग के नाम से प्रचलित हुआ पाया जाता है।

महावीर से पूर्व का साहित्य—

प्रश्न हो सकता है कि क्या महावीर से पूर्व का भी कोई जैन साहित्य है ? इसका उत्तर हा और ना दोनो प्रकार से दिया जा सकता है। साहित्य के भीतर दो तत्वो का ग्रहण होता है, एक तो उसका शाब्दिक व रचनात्मक स्वरूप और दूसरा आर्थिक व विचारात्मक स्वरूप। इन्ही दोनो बातो को जैन परम्परा मे द्रव्य-श्रुत और भाव-श्रुत कहा गया है। द्रव्यश्रुत अर्थात् शब्दात्मकता की दृष्टि से महावीर से पूर्वकालीन कोई जैन साहित्य उपलभ्य नही है, किन्तु भावश्रुत की अपेक्षा जैन श्रुतागो के भीतर कुछ ऐसी रचनाए मानी गई हैं जो महावीर से पूर्व श्रमण-परम्परा में प्रचलित थी, और इसी कारण उन्हें 'पूर्व' कहा गया है। द्वादशाग आगम का बारहवा अग दृष्टिवाद था। इस दृष्टिवाद के अन्तर्गत ऐसे चौदह पूर्वो का उलेल्ख किया गया है, जिनमे महावीर से पूर्व की अनेक विचार-धाराओ, मत-मतान्तरो तथा ज्ञान-विज्ञान का सकलन उनके शिष्य गौतम द्वारा किया गया था। इन चौदह पूवो के नाम इस प्रकार हैं, जिनसे उनके विषयो का भी कुछ अनुमान किया जा सकता है—उत्पादपूर्व, अग्रायणीय, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञान-प्रवाद, सत्य-प्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणवाद (श्वेताम्बर परम्परानुसार अवन्ध्य), प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोक-विन्दुसार। प्रथम पूर्व उत्पाद मे जीव, काल, पुद्गल आदि द्रव्यों के उत्पत्ति,

विमाय व प्रभुता का विचार किया गया था। द्वितीय पूर्व अग्रायणीय में उक्त समस्त द्रव्यों तथा उनकी नाना अवस्थाओं की संख्या परिमाण आदि का विचार किया गया था। तृतीय पूर्व वीर्यानुवाद में उक्त द्रव्यों के क्षेत्रकालादि की अपेक्षा से वीर्य अर्थात् बल-सामर्थ्य का प्रतिपादन किया गया था। चतुर्थ पूर्व अस्ति-नास्ति प्रवाद में लौकिक वस्तुओं के नाना अपेक्षाओं से अस्तित्व नास्तित्व का विवेक किया गया था। पांचवें पूर्व ज्ञानप्रवाद में मति आदि ज्ञानों तथा उनके भेद प्रभेदों का प्रतिपादन किया गया था। छठे पूर्व सत्यप्रवाद में वचन की अपेक्षा सत्यासत्य विवेक व वक्ताओं की मानसिक परिस्थितियों तथा असत्य के स्वरूपों का विवेचन किया गया था। सातवें पूर्व आत्मप्रवाद में आत्मा के स्वरूप उसकी व्यापकता ज्ञातृभाव तथा भोक्तृपन सम्बन्धी विवेचन किया गया था। आठवें पूर्व कर्मप्रवाद में नाना प्रकार के कर्मों की प्रकृतियों स्थितियों शक्तियों व परिमाणों आदिका प्ररूपण किया गया था। नौवें पूर्व प्रत्याख्यान में परिग्रह-त्याग उपवासादि विधि मन वचन काय की विशुद्धि आदि आचार सम्बन्धी नियम निर्धारित किये गये थे। दसवें पूर्व विद्यानुवाद में नाना विद्याओं और उपविद्याओं का प्ररूपण किया गया था जिनके भीतर अंगुष्ट प्रसेनादि सातसौ अल्पविद्याओं रोहिणी आदि पांचसौ महाविद्याओं एवं अन्तरिक्ष भौम अंग स्वर, स्वप्न लक्षण व्यंजन और छिन्न इन आठ महानिमित्तों द्वारा भविष्य को जानने की विधि का वर्णन था। ग्यारहवें पूर्व कल्याणवाद में सूर्य चन्द्र नक्षत्र और तारागणों की नाना गतियों को देखकर शकुन के विचार तथा बलदेवों वासुदेवों चक्रवर्तियों आदि महापुरुषों के गर्भावतरण आदि के अवसरों पर होने वाले लक्षणों और कल्याणों का कथन किया गया था। इस पूर्व के अवन्ध्य नामकी सार्थकता यही प्रतीत होती है कि शकुनों और शुभाशुभ लक्षणों के निमित्त से भविष्य में होने वाली घटनाओं का कथन अवन्ध्य अर्थात् अवश्यम्भावी माना गया था। बारहवें पूर्व प्राणावाद में आयुर्वेद अर्थात् कायचिकित्सा-शास्त्र का प्रतिपादन एवं प्राण अपान आदि वायुओं का शरीर धारण की अपेक्षा से कार्य का विवेचन किया गया था। तेरहवें पूर्व क्रियाविशाल में लेखन गणना आदि बहत्तर कलाओं स्त्रियों के चौसठ गुणों और शिल्पों ग्रन्थरचना सम्बन्धी गुण-दोषों व छन्दों आदि का प्ररूपण किया गया था। चौदहवें पूर्व लोकबिन्दुसार में जीवन की श्रेष्ठ क्रियाओं व व्यवहारों एवं उनके निमित्त से मोक्ष के सम्पादन विषयक विचार किया गया था। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन पूर्व नामक रचनाओं के अंतर्गत तत्कालीन न केवल धार्मिक दार्शनिक व नैतिक विचारों का संकलन किया गया था किन्तु उनके

भीतर नाना कलाओ व ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विज्ञानो, तथा फलित ज्योतिष, शकुन-शास्त्र, व मन्त्र-तन्त्र आदि विषयो का भी समावेश कर दिया गया था। इस प्रकार ये रचनाए प्राचीन काल का भारतीय ज्ञानकोष कही जाय तो अनुचित न होगा।

किन्तु दुर्भाग्यवश यह पूर्व-साहित्य सुरक्षित नही रह सका। यद्यपि पश्चात्कालीन साहित्य मे इनका स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है, और उनके विषय का पूर्वोक्त प्रकार प्ररूपण भी यत्र-तत्र प्राप्त होता है, तथापि ये ग्रन्थ महावीर निर्वाण के १६२ वर्ष पश्चात् क्रमशः विच्छिन्न हुए कहे जाते हैं। उक्त समस्त पूर्वों के अन्तिम ज्ञाता श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। तत्पश्चात् १८१ वर्षो में हुए विशाखाचार्य से लेकर धर्मसेन तक अन्तिम चार पूर्वों को छोड़, शेष दश पूर्वों का ज्ञान रहा, और उसके पश्चात् पूर्वों का कोई ज्ञाता आचार्य नही रहा। षट्खडागम के वेदना नामक चतुर्थखण्ड के आदि मे जो नमस्कारात्मक सूत्र पाये जाते हैं, उनमे दशपूर्वो और चौदहपूर्वों के ज्ञाता मुनियों को अलग-अलग नमस्कार किया गया है (**नमो दसपुव्वियाण, नमो चउद्दसपुव्वियाण**)। इन सूत्रो की टीका करते हुए वीरसेनाचार्य ने बतलाया है कि प्रथम दशपूर्वों का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर कुछ मुनियो को नाना महाविद्याओ की प्राप्ति से सासारिक लोभ व मोह उत्पन्न हो जाता है, जिससे वे आगे वीतरागता की ओर नही बढ पाते। जो मुनि इस लोभ-मोह को जीत लेता है, वही पूर्ण श्रुतज्ञानी बन पाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्त के जिन पूर्वों मे कलाओ, विद्याओ, मन्त्र-तन्त्रो व इन्द्रजालो का प्ररूपण था, वे सर्वप्रथम ही मुनियो के सयमरक्षा की दृष्टि से निषिद्ध हो गये। शेष पूर्वों के विछिन्न हो जाने का कारण यह प्रतीत होता है कि उनका जितना विषय जैन मुनियो के लिये उपयुक्त व आवश्यक था, उतना द्वादशाग के अन्य भागों मे समाविष्ट कर लिया गया था, इसीलिये इन रचनाओ के पठन-पाठन मे समय-शक्ति को लगाना उचित नही समझा गया। इसी बातकी पुष्टि दिग० साहित्य की इस परम्परा से होती है कि वीर निर्वाण से लगभग सात शताब्दियों पश्चात् हुए गिरिनगर की चन्द्रगुफा के निवासी आचार्य धरसेन को द्वितीय पूर्व के कुछ अधिकारों का विशेष ज्ञान था। उन्होंने वही ज्ञान पुष्पदत और भूतबलि आचार्यों को प्रदान किया और उन्होंने उसी ज्ञान के आधार से सत्कर्मप्राभृत अर्थात् षट्खण्डागम की सूत्र रूप रचना की।

अंग-प्रविष्ट व अंग बाह्य साहित्य—

दिग परम्परानुसार महावीर द्वारा उपदिष्ट साहित्य की ग्रन्थ रचना उनके शिष्यों द्वारा दो भागों में की गई एक अंग-प्रविष्ट और दूसरा अंग-बाह्य। अंग-प्रविष्ट के आचारांग आदि ठीक वे ही द्वादश ग्रन्थ थे जिनका क्रमशः लोप माना गया है, किन्तु जिनमें से ग्यारह अंगों का श्वेताम्बर परम्परानुसार वीर निर्वाण के पश्चात् १ वीं शती में किया गया संकलन अब भी उपलब्ध है। इनका विशेष परिचय आगे कराया जायगा। अंग-बाह्य के चौदह भेद माने गये हैं, जो इस प्रकार हैं—सामायिक चतुर्विंशतिस्तव वन्दना प्रतिक्रमण वैनयिक, कृतिकर्म दशवैकालिक उत्तराध्ययन कल्पव्यवहार कल्पाकल्प महाकल्प पुंडरीक महा-पुंडरीक और निषिद्धिका। यह अंग-बाह्य साहित्य भी यद्यपि दिग परम्परानुसार अपने मूलरूप में अप्राप्य हो गया है तथापि श्वे परम्परा में उनका सद्भाव अब भी पाया जाता है। सामायिक आदि प्रथम छह का समावेश आवश्यक सूत्रों में हो गया है तथा कल्प व्यवहार और निशीथ सूत्रों में अन्त के कल्प व्यवहारादि छह का अन्तर्भाव हो जाता है। दशवैकालिक और उत्तराध्ययन नाम की रचनाएं विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इनका श्वे आगम साहित्य में बड़ा महत्व है। यही नहीं इन ग्रन्थों की रचना के कारण का जो उल्लेख दिग शास्त्रों में पाया जाता है ठीक वही उपलब्ध दशवैकालिक की रचना के संबंध में कहा जाता है। आचार्य पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका (१ २) में लिखा है कि "आरातीय आचार्यों ने कालदोष से संक्षिप्त आयु मति और बलशाली शिष्यों के अनुग्रहार्थ दशवैकालिकादि ग्रन्थों की रचना की इन रचनाओं में उतनी ही प्रमाणता है जितनी गणधरों व श्रुतकेवलियों द्वारा रचित सूत्रों में क्योंकि वे अर्थ की दृष्टि से सूत्र ही हैं जिस प्रकार कि क्षीरोदधि से घड़े में भरा हुआ जल क्षीरोदधि से भिन्न नहीं है।" दशवैकालिक निर्युक्ति व हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व में बतलाया गया है कि स्वयंभव आचार्य ने अपने पुत्र मनक को अल्पायु जान उसके अनुग्रहार्थ आगम के सारस्प दशवैकालिक सूत्र की रचना की। इस प्रकार इन रचनाओं के सम्बन्ध में दोनों सम्प्रदायों में मतैक्य पाया जाता है। श्वे परम्परानुसार महावीर निर्वाण से १६ वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र में स्थूलभद्र आचार्य ने जैन श्रमण संघ का सम्मेलन कराया और वहां ग्यारह अंगों का संकलन किया गया। बारहवें अंग दृष्टिवाद का उपस्थित मुनियों में से किसी को भी ज्ञान नहीं रहा था अतएव

उसका संकलन नहीं किया जा सका। इसके पश्चात् की शताब्दियों में यह श्रुत-संकलन पुनः छिन्न-भिन्न हो गया। तब वीरनिर्वाण के लगभग ८४० वर्ष पश्चात् आर्य स्कन्दिल ने मथुरा में एक संघ-सम्मेलन कराया, जिसमें पुनः आगम साहित्य को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया। इसी समय के लगभग वलभी में नागार्जुन सूरि ने भी एक मुनि सम्मेलन द्वारा आगम रक्षा का प्रयत्न किया। किन्तु इन तीन पाटलिपुत्री, माथुरी और प्रथम वलभी वाचनाओं के पाठ उपलभ्य नहीं। केवल साहित्य में यत्र-तत्र उनके उल्लेख मात्र पाये जाते हैं। अन्त में महावीर निर्वाण के लगभग ९८० वर्ष पश्चात् वलभी में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण द्वारा जो मुनि-सम्मेलन किया गया उसमें कोई ४५-४६ ग्रन्थों का संकलन हुआ, और वे ग्रन्थ आजतक सुप्रचलित हैं। यह उपलभ्य आगम साहित्य निम्नप्रकार है —

अर्धमागधी जैनागम

(श्रुतांग—११)

१—आचारांग (आयारंग)—इस ग्रन्थ में अपने नामानुसार मुनि-आचार का वर्णन किया गया है। इसके दो श्रुतस्कंध हैं। प्रत्येक श्रुतस्कंध अध्ययनों में और प्रत्येक अध्ययन उद्देशकों या चूलिकाओं में विभाजित है। इस प्रकार श्रुत प्रथम स्कंध में ९ अध्ययन व ४४ उद्देशक हैं, एवं द्वितीय श्रुतस्कंध में तीन चूलिकाएं हैं, जो १६ अध्ययनों में विभाजित हैं। इस प्रकार द्वितीय श्रुतस्कंध प्रथम की चूलिका रूप है। भाषा, शैली तथा विषय की दृष्टि से स्पष्टतः प्रथम श्रुतस्कंध अधिक प्राचीन है। इसकी अधिकांश रचना गद्यात्मक है, पद्य बीच बीच में कहीं कहीं आ जाते हैं। अर्द्धमागधी-प्राकृत भाषा का स्वरूप समझने के लिए यह रचना बड़ी महत्त्वपूर्ण है। सातवें अध्ययन का नाम महापरिज्ञा तो निर्दिष्ट किया गया है, किन्तु उसका पाठ उपलभ्य नहीं है। उपधान नामक नवमें अध्ययन में महावीर की तपस्या का बड़ा मार्मिक वर्णन पाया जाता है। यहां उनके लाढ, वज्रभूमि और शुभ्रभूमि में विहार और नाना प्रकार के घोर उपसर्ग सहन करने का उल्लेख आया है। द्वितीय श्रुतस्कंध में श्रमण के लिए भिक्षा मांगने, आहार-पान-शुद्धि, शय्या-संस्तरण-ग्रहण, विहार, चातुर्मास, भाषा, वस्त्र, पात्रादि उपकरण, मल-मूत्र-त्याग एवं व्रतों व तत्सम्बन्धी भावनाओं के स्वरूपों व नियमोपनियमों का वर्णन हुआ है।

२— सूत्रकृतांग (सूयगडं)—यह भी दो श्रुतस्कंधों में विभक्त है, जिनके पुनः क्रमशः १६ और ७ अध्ययन हैं। पहला श्रुतस्कंध प्रायः पद्यमय है। केवल एक अध्ययन में गद्य का प्रयोग हुआ है। दूसरे श्रुतस्कंध में गद्य और पद्य दोनों पाये जाते हैं। इसमें गाथा छंद के अतिरिक्त अन्य छन्दों का भी उपयोग हुआ है, जैसे इन्द्रवज्रा वैतालिक अनुष्टुप् आदि। ग्रन्थ में जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य मतों व वादों का प्ररूपण किया गया है जैसे क्रियावाद, अक्रियावाद, नियतिवाद अज्ञानवाद जगत्कर्तृत्ववाद आदि। मुनियों को भिक्षाचार में सतर्कता परीषहों की सहनशीलता नरकों के दुःख उत्तम साधुओं के लक्षण ब्राह्मण श्रमण भिक्षुक व निर्ग्रन्थ आदि शब्दों की व्युत्पत्ति भले प्रकार उदाहरणों व रूपकों द्वारा समझाई गई है। द्वितीय श्रुतस्कंध में जीव-शरीर के एकत्व ईश्वर-कर्तृत्व व नियतिवाद आदि मतों का खंडन किया गया है। आहार व भिक्षा के दोषों का निरूपण हुआ है। प्रसंगवश भौमोत्पातादि महा-निमित्तों का भी उल्लेख आया है। प्रत्याख्यान क्रिया बतलाई गई है। पाप-पुण्य का विवेक किया गया है, एवं गोशालक शाक्यभिक्षु आदि तपस्वियों के साथ हुआ वाद-विवाद अंकित है। अन्तिम अध्ययन नालन्दीय नामक है, क्योंकि इसमें नालन्दा में हुए गौतम गणधर और पार्श्वनाथ के शिष्य उदकपेढालपुत्र का वार्तालाप और अन्त में पेढालपुत्र द्वारा चातुर्याम को त्यागकर पंच-महाव्रत स्वीकार करने का वृत्तान्त आया है। प्राचीन मतों वादों व दृष्टियों के अध्ययन की दृष्टि से यह श्रुतांग बहुत महत्वपूर्ण है। भाषा की दृष्टि से भी यह विशेष प्राचीन सिद्ध होता है।

३—स्थानांग (ठाणांग)—यह श्रुतांग दस अध्ययनों में विभाजित है, और उसमें सूत्रों की संख्या एक हजार से ऊपर है। इसकी रचना पूर्वोक्त दो श्रुतांगों से भिन्न प्रकार की है। यहां प्रत्येक अध्ययन में जैन सिद्धान्तानुसार वस्तु-संख्या गिनाई गई है जैसे प्रथम अध्ययन में कहा गया है-एक दर्शन एक चरित्र एक समय एक प्रदेश एक परमाणु, एक सिद्ध आदि। उसी प्रकार दूसरे अध्ययन में बतलाया गया है कि क्रियाएं दो हैं, जीव-क्रिया और अजीव-क्रिया। जीव-क्रिया पुनः दो प्रकार की है, सम्यक्त्व-क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया। उसी प्रकार अजीव क्रिया भी दो प्रकार की है, ईर्यापथिक और साम्परायिक इत्यादि। इसी प्रकार इसमें अध्ययनमें इसी क्रम से वस्तुभेद दस तक गये हैं। इस दृष्टिसे यह श्रुतांग पालि बौद्धग्रन्थ अंगुत्तर निकाय से तुलनीय है। यहाँ नाना प्रकार के वस्तु-निर्देश अपनी अपनी दृष्टि से बड़े महत्व पूर्ण हैं। यथास्थान ऋग्, यजु और साम ये तीन वेद बतलाये गये हैं, धर्म, अर्थ

और काम ये तीन प्रकार की कथाए बतलाई गईहै। वृक्ष भी तीन प्रकार के हैं,पत्रोपेत,पुष्पोपेत और फलोपेत। पुरुष भी नाना दृष्टियोंसे तीन-तीन प्रकार के हैं-जैसे नाम पुरुष,द्रव्यपुरुष और भावपुरुष,अथवा ज्ञानपुरुष,दर्शनपुरुष और चरित्रपुरुष,अथवा उत्तम पुरुष, मध्यमपुरुष, और जघन्यपुरुष। उत्तमपुरुष भी तीन प्रकार के हैं-धर्मपुरुष भोगपुरुष और कर्मपुरुष। अर्हन्त धर्मपुरुष हैं, चक्रवर्ती भोगपुरुष हैं, और वासुदेव कर्मपुरुष। धर्म भी तीन प्रकार का कहा गया है-श्रुतधर्म, चरित्रधर्म और अस्तिकाय धर्म। चार प्रकार की अन्त-क्रियाए बतलाई गई हैं, और उनके दृष्टान्त-स्वरूप भरत चक्रवर्ती, गजसुकुमार, सनत्कुमार व मरुदेवी के नाम बतलाये गये हैं। प्रथम और अन्तिम तीर्थकरो को छोड बीच के २२ तीर्थंकर चातुर्याम धर्मके प्रज्ञापक कहे गये हैं। आजीविको का चार प्रकार का तप कहा गयाहै-उग्रतप, घोरतप,रसनिर्यूयणता और जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनता। शूरवीर चार प्रकार के बतलाये गये हैं-क्षमासूर, तपसूर, दानशूर और युद्धशूर। आचार्य वृक्षो के समान चार प्रकार के बतलाये गये हैं, और उनके लक्षण भी चार गाथाओ द्वारा प्रगट किये गये हैं। कोई आचार्य और उसका शिष्य-परिवार दोनो शालवृक्षके समान महान् और सुन्दर होतेहैं कोई आचार्य तो शाल वृक्षके समान होते हैं, किन्तु उनका शिष्य-समुदाय एरड के समान होता है। किसी आचार्य का शिष्य-समुदाय तो शालवृक्ष के समान महान् होता है, किन्तु स्वय आचार्य एरड के समान खोखला, और कही आचार्य और उनका शिष्य-समुदाय दोनो एरड के समान खोखले होते हैं। सप्तस्वरो के प्रसग से प्राय गीतिशास्त्र का पूर्ण निरूपण आ गया है। यहा भणिति-बोली दो प्रकार की कही गई है-सस्कृत और प्राकृत। महावीर के तीर्थ में हुए बहुरत आदि सात निन्हवों और जामालि आदि उनके सस्थापक आचायो एव उनके उत्पत्ति-स्थान श्रावस्ती आदि नगरियो का उल्लेख भी आया है। महावीर के तीर्थ मे जिन नौ पुरुषो ने तीर्थकर गोत्र का बध किया उनके नाम इस प्रकार हैं-श्रेणिक, सुपार्श्व, उदायी, प्रोष्ठिल, दृढ़ायु, शख, सजग या शतक (सयय), सुलसा और रेवती। इस प्रकार इस श्रुताग मे नाना प्रकार का विषय—वर्णन प्राप्त होता है जो अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।

४ समवायांग—इस श्रुताग मे २७५ सूत्र हैं। अन्य कोई स्कध, अध्ययन वा उद्देशक आदि रूपसे विभाजन नही है। स्थानाग के अनुसार यहा भी सख्या के क्रम से वस्तुओ का निर्देश और कही कही उनके स्वरूप व भेदोपभेदोका वर्णन किया गया है। आत्मा एक है, लोक एक है, धर्म अधर्म एक-एक हैं, इत्यादि क्रम के २,३,४, वस्तुओ को गिनाते हुए १७८ वें सूत्रमे १०० तक सख्या पहुची है, जहा बतलाया गया है कि

शतभिषा नक्षत्र में १०० तारे हैं, पार्श्व अरहंत तथा सुधर्माचार्य की पूर्णायु सौ वर्ष की थी इत्यादि। इसके पश्चात् २ १ आदि क्रम से वस्तु-निर्देश आगे बढ़ा है। और यहां कहा गया है कि श्रमण भगवान् महावीर के तीन सौ शिष्य १४ पूर्वों के ज्ञाता थे और ४ वादी थे। इसी प्रकार उत्तक्रम से १११ वें सूत्र पर संख्या दस सहस्र पर पहुंच गई है। तत्पश्चात् संख्या शतसहस्र (लाख) के क्रमसे बढ़ी है, जैसे अरहन्त पार्श्व के तीन शत-सहस्र और सत्ताईस सहस्र उत्कृष्ट श्राविका संघ था। इस प्रकार २ ८ वें सूत्रतक दसशत-सहस्र पर पहुंचकर आगे कोटि क्रमसे कथन करते हुए २१० वें सूत्रमें भगवान् ऋषभदेव से लेकर अंतिम तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान तक का अन्तर काल एक सागरोपम कोटाकोटि निर्दिष्ट किया गया है। तत्पश्चात् २११ वें से २२७ वें सूत्र तक आचारांग आदि बारहों अंगों के विभाजन और विषय का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यहां इन रचनाओं को द्वादशांग गणिपिटक कहा गया है। इसके पश्चात् जीवराशि का विवरण करते हुए स्वर्ग और नरक भूमियों का वर्णन पाया जाता है। २४१ वें सूत्र से अन्त के २७१ वें सूत्रतक कुलकरों तीर्थंकरों चक्रवर्तियों तथा बलदेव और वासुदेवों एवं उनके प्रतिशत्रुओं (प्रतिवासुदेवों) का उनके पिता माता जन्मनगरी दीक्षास्थान आदि नामावली-क्रम से विवरण किया गया है। इस भाग को हम संक्षिप्त जैन पुराण कह सकते हैं। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि सूत्र क १३२ में उत्तम (शलाका) पुरुषों की संख्या ५४ निर्दिष्ट की गई है, ६३ नहीं अर्थात् नौ प्रतिवासुदेवों को शलाका पुरुषों में सम्मिलित नहीं किया गया। ४६ संख्या के प्रसंग में दृष्टिवाद अंग के मातृकापदों तथा ब्राह्मी लिपि के ४६ मातृका अक्षरों का उल्लेख हुआ है। सूत्र १२४से१३०में सूत्र तक मोहनीय कर्म के ५२ पर्यायवाची नाम गिनाये गये हैं जैसे क्रोध कोप रोष द्वेष अक्षम संज्वलन कलह, आदि। अनेक स्थानों में (सू १४१ १६२) श्रमण भगवंत को कोसलीय विशेषण लगाया गया है जो उनके कोसल देशवासी होने का सूचक है। इससे महावीर के साथ जो अन्यत्र वेसालीय' विशेषण लगा पाया जाता है, उससे उनके वैशाली के नागरिक होने की पुष्टि होती है। १३ वें सूत्र में लेख गणित रूप मादृग गीत वादित्र आदि बहत्तर कलाओं के नाम निर्दिष्ट हुए हैं। इस प्रकार जैन सिद्धान्त व इतिहास की परम्परा के अध्ययन की दृष्टि से यह अंगांग महत्व पूर्ण है। अधिकांश रचना गद्य रूप है, किन्तु बीच बीच में नामावलियां व अन्य विवरण गाथाओं द्वारा भी प्रस्तुत हुए हैं।

५ भगवती व्याख्या प्रज्ञप्ति (वियाह-पण्णत्ति)—इस सक्षेप में केवल भगवती नाम से भी उल्लिखित किया जाता है। इसमें ४१ शतक हैं और प्रत्येक शतक अनेक उद्देशको मे विभाजित है। आदि के आठ शतक, तथा १२-१४, तथा १८-२० ये १४ शतक १०, १० उद्देशको मे विभाजित हैं। शेष शतको मे उद्देशकों की सख्या हीनाधिक पाई जाती है। पन्द्रहवें शतक मे उद्देशक-भेद नही है। यहाँ मखलिगोशाल का चरित्र एक स्वतत्र ग्रन्थ जैसा प्रतीत होता है। कही कही उद्देशक सख्या विशेष प्रकार के विभागानुसार गुणित क्रम से बतलाई गई है, जैसे ४१ वें शतक मे २८ प्रकार की प्ररूपणा के गुणा मात्र से उद्देशको की सख्या १९६ हो गई है। ३३ वें शतक मे १२ अवान्तर शतक हैं, जिनमे प्रथम आठ, ग्यारह के गुणित क्रम से ८८ उद्देशको मे, एव अन्तिम चार, नौ उद्देशकों के गुणित क्रम से ३६ होकर सम्पूर्ण उद्देशको की सख्या १२४ हो गई है। इस समस्त रचना का सूत्र-क्रम से भी विभाजन पाया जाता है, जिसके अनुसार कुल सूत्रो की सख्या ८६७ है। इस प्रकार यह अन्य श्रुतागो की अपेक्षा बहुत विशाल है। इसकी वर्णन शैली प्रश्नोत्तर रूप मे है। गौतम गणधर जिज्ञासा-भाव मे प्रश्न करते हैं, और स्वय तीर्थंकर महावीर उत्तर देते हैं। टीकाकार अभयदेव ने इन प्रश्नोत्तरो की सख्या ३६००० बतलाई है। प्रश्नोत्तर कही बहुत छोटे छोटे हैं। जैसे भगवन् ज्ञान का फल क्या है?—विज्ञान। विज्ञान का क्या फल है? प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान का क्या फल है? सयम, इत्यादि। और कही ऐसे बडे कि प्राय एक ही प्रश्न के उत्तर मे मखलिगोशाल के चरित्र सम्बन्धी पन्द्रहवाँ शतक ही पूरा हो गया है। इन प्रश्नोत्तरों मे जैन सिद्धान्त व इतिहास तथा अन्य सामयिक घटनाओ व व्यक्तियो का इतना विशाल सकलन हो गया है कि इस रचना को प्राचीन जैन-कोष ही कहा जाय तो अनुचित नहीं। स्थान स्थान पर विवरण अन्य ग्रन्थो, जैसे पण्णवणा, जीवाभिगम, उववाइय, रायपसेणिज्ज, णदी आदि का उल्लेख करके सक्षिप्त कर दिया गया है, और इस प्रकार उद्देशक के उद्देशक भी समाप्त कर दिये गये हैं। ये उल्लिखित रचनायें निश्चय ही ग्यारह श्रुतागों से पश्चात्-कालीन हैं। नदीसूत्र तो वल्लभी वाचना के नायक देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की ही रचना मानी जाती है। उसका भी इस ग्रन्थ में उल्लेख होने से, तथा यहाँ के विषम-विवरण को उसे देखकर पूर्ण कर लेने की सूचना मे यह प्रमाणित होता है कि इस श्रुताग को अपना वर्तमान रूप, नदीसूत्र की रचना के पश्चात् अर्थात् वीर० निर्वाण से लगभग १००० वर्ष पश्चात् प्राप्त हुआ है। यही बात प्राय अन्य श्रुतागो के सम्बन्ध में भी घटित

होती है। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि विषय-वर्णन प्राचीन है और आचार्य परम्परागत है। इसमें हमें महावीर के जीवन के अतिरिक्त उनके अनेक शिष्यों गृहस्थ-अनुयायियों तथा अन्य तीर्थंकरों का परिचय मिलता है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। आजीवक सम्प्रदाय के संस्थापक मंखलि गोशाल के जीवन का जितना विस्तृत परिचय यहां मिलता है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। स्थान-स्थान पर पार्श्वापत्यों अर्थात् पार्श्वनाथ के अनुयाइयों तथा उनके द्वारा मान्य चातुर्याम धर्म के उल्लेख मिलते हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि महावीर के समय में यह निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय स्वतंत्र रूप से प्रचलित था। उसका महावीर द्वारा प्रतिपादित पंचमहाव्रत रूप धर्म से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था एवं उसका क्रमशः महावीर के सम्प्रदाय में समावेश होना प्रारम्भ हो गया था। ऐतिहासिक व राजनैतिक दृष्टि से सातवें शतक में उल्लिखित वैशाली में हुए महाशिलाकण्टक संग्राम तथा रथ-मुसल संग्राम इन दो महायुद्धों का वर्णन अपूर्व है। कहा गया है कि इन युद्धों में एक ओर वज्जी एवं विदेहपुत्र थे और दूसरी ओर नौ मल्लकी नौ लिच्छवी काशी कौशल एवं अठारह गणराजा थे। इन युद्धों में वज्जी विदेहपुत्र कुणिक (अजातशत्रु) की विजय हुई। प्रथम युद्ध में ८४ और दूसरे युद्ध में ९६ लाख लोग मारे गये। २१ २२ और २३ वें शतक वनस्पति शास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं। यहां नानाप्रकार से वनस्पति का वर्गीकरण किया गया है एवं उनके कंद मूल स्कन्ध त्वचा शाखा प्रवाल पत्र पुष्प फल और बीज के सजीवत्व निर्जीवत्व की दृष्टि से विचार किया गया है।

६ ज्ञातृधर्म कथा (णायाधम्मकहाओ) — यह आगम दो श्रुतस्कंधों में विभाजित है। प्रथम श्रुतस्कंध में १९ अध्ययन हैं। इसके नाम की सार्थकता दो प्रकार से समझाई जाती है। एक तो संस्कृत रूपान्तर ज्ञातृधर्मकथा के अनुसार, जिससे प्रगट होता है कि श्रुतांग में ज्ञातृ अर्थात् ज्ञातृपुत्र महावीर के द्वारा उपदिष्ट धर्म कथाओं का प्ररूपण है। दूसरा संस्कृत रूपान्तर न्यायधर्मकथा भी सम्भव है, जिसके अनुसार इसमें न्यायों अर्थात् ज्ञान व नीति संबंधी सामान्य नियमों और उनके दृष्टान्तों द्वारा समझाने वाली कथाओं का समावेश है। रचना के स्वरूप को देखते हुए यह द्वितीय संस्कृत रूपान्तर ही उचित प्रतीत होता है, यद्यपि प्रचलित नाम ज्ञातृधर्मकथा पाया जाता है। प्रथम अध्ययन में राजगृह के नरेश श्रेणिक के धारिणी देवी से उत्पन्न राजपुत्र मेघकुमार का कथानक है। वह राजकुमार वैभवानुसार बालकपन को व्यतीत कर व समस्त विद्याओं और कलाओं को सीखकर युवावस्था

को प्राप्त हुआ, तब उसका अनेक राजकन्याओ से विवाह हो गया। एकवार महावीर के उपदेश को सुनकर मेघकुमार को मुनिदीक्षा धारण करने की इच्छा हुई। माता ने बहुत कुछ समझाया, किन्तु राजकुमार नही माना और उसने प्रव्रज्या ग्रहण करली। मुनि-धर्म पालन करते हुए एकवार उसके हृदय मे कुछ क्षोभ उत्पन्न हुआ, और उसे प्रतीत हुआ जैसे मानो उसने राज्य छोड, मुनि दीक्षा लेकर भूल की है। किन्तु जब महावीर ने उसके पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुनाकर समझाया, तब उसका चित्त पुन मुनिधर्म में दृढ हो गया। इसी प्रकार अन्य अन्य अध्ययनो मे भिन्न भिन्न कथानक तथा उनके द्वारा तप, त्याग व सयम सबधी किसी नीति व न्याय की स्थापना की गई है। आठवें अध्ययन मे विदेह राजकन्या मल्लि एव सोलहवें अध्ययन के द्रौपदी के पूर्व जन्म की कथा विशेष ध्यान देने योग्य है। व्रतकथाओ मे सुप्रचलित सुगध-दशमी कथा का मूलाधार द्रौपदी के पूर्वभव मे नागश्री व सुकुमालिया का चरित्र सिद्ध होता है। द्वितीय श्रुतस्कध दश वर्गों मे विभाजित है, और प्रत्येक वर्ग पुन अनेक अध्ययनो मे विभक्त है। इन वर्गों मे प्राय स्वर्गों के इन्द्रो जैसे चमरेन्द्र, असुरेन्द्र, वाणव्यतरेन्द्र, चन्द्र, सूर्य, शक्र व ईशान की अग्रमहिषी रूपसे उत्पन्न होने वाली पुण्यशाली स्त्रियो की कथाए है। तीसरे वर्ग मे देवकी के पुत्र गजसुकुमाल का कथानक विशेष उल्लेखनीय है, क्योकि यह कथानक पीछे के जैन साहित्य मे पल्लवित होकर अवतरित हुआ है। यही कथानक हमे पालि महावग्ग मे यस पव्वज्जा के रूप मे प्राप्त होता है।

७ **उपासकाध्ययन (उवासगदसाओ)**—इस श्रुताग मे, जैसा नाम मे ही सूचित किया गया है, दश अध्ययन हैं, और उनमे क्रमश आनद, कामदेव, चुलनी-प्रिय, सुरादेव, चुल्लशतक, कुडकोलिय, सद्दालपुत्र, महाशतक, नदिनीप्रिय और सालिहीप्रिय इन दस उपासको के कथानक हैं। इन कथानको के द्वारा जैन गृहस्थो के धार्मिक नियम समझाये गये हैं, और यह भी बतलाया गया है कि उपासको को अपने धर्म के परिपालन मे कैसे कैसे विघ्नो और प्रलोभनो का सामना करना पडता है। प्रथम आनन्द अध्ययन मे पाच अणुव्रतो, तीन गुणव्रतो और चार शिक्षाव्रतो – इन बारह व्रतो तथा उनके अतिचारो का स्वरूप विस्तार से समझाया गया है। इनका विधिवत् पालन वाणिज्य ग्राम के जैन गृहस्थ आनद ने किया था। आनद बडा धनी गृहस्थ था, जिसकी धन-धान्य सपत्ति करोडो स्वर्ण मुद्राओ की थी। आनद ने स्वय भगवान् महावीर से गृहस्थ-व्रत लेकर अपने समस्त परिग्रह और भोगोपभोग के परिमाण को सीमित किया था। उसने क्रमश अपनी धर्मसाधना को बढाकर वीस

वर्ष में इतना अवधिज्ञान प्राप्त किया था कि उसके विषय में गौतम गणधर को कुछ शंका हुई, जिसका निराकरण स्वयं भगवान् महावीर ने किया। इस कथानक के अनुसार वाणिज्य ग्राम और कोल्लाग संनिवेश पास-पास थे। कोल्लाग सन्निवेश में ज्ञातृकुल की पौषधशाला थी वहां का कोलाहल वाणिज्य ग्राम तक सुनाई पड़ता था। वैशाली के समीप जो बनिया और कोल्हुआ नामक वर्तमान ग्राम हैं वे ही प्राचीन वाणिज्य ग्राम और कोल्लाग सन्निवेश सिद्ध होते हैं। अगले चार अध्ययनों में धर्म के परिपालन में बाहर से कैसी-कैसी विघ्नबाधाएं आती हैं इनके उदाहरण उपस्थित किये गये हैं। द्वितीय अध्ययन में एक मिथ्यादृष्टि देव ने पिशाच आदि नाना रूप धारण कर, कामदेव उपासक को अपनी साधना छोड़ देने के लिये कितना डराया धमकाया इसका सुन्दर चित्रण किया गया है। ऐसा ही चित्रण तीसरे, चौथे और पांचवें अध्ययनों में भी पाया जाता है। छठवें अध्ययन में उपासक के सम्मुख गोशाल मंखलिपुत्र के सिद्धान्तों का एक देव के व्याख्यान द्वारा उसकी धार्मिक श्रद्धा को डिगाने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु वह अपने श्रद्धान में दृढ़ रहता है तथा अपने प्रत्युत्तरों द्वारा प्रतिपक्षी को परास्त कर देता है। इस समाचार को जानकर महावीर ने उसकी प्रशंसा की। उक्त प्रसंग में गोशाल मंखलिपुत्र के नियतिवादका प्ररूपण किया गया है। सातवें अध्ययन में भगवान् महावीर आजीवक सम्प्रदाय के उपासक सद्दालपुत्र को सम्बोधन कर अपना अनुगामी बना लेते हैं। (यहां महावीर को उनकी विविध महाप्रवृत्तियों के कारण महाब्राह्मण महागोप महासार्थवाह, महाधर्मकथिक, व महानिर्यामक उपाधियां दी गई हैं)। तत्पश्चात् उसके सम्मुख पूर्वोक्त प्रकार का दैवी उपसर्ग उत्पन्न होता है, किन्तु वह अपने श्रद्धान में अडिग बना रहता है और अन्त तक धर्म पालन कर स्वर्गगामी होता है। आठवें अध्ययन में उपासक को उसकी अधार्मिक व मांसलोलुपी पत्नी द्वारा धर्म-बाधा पहुंचाई जाती है। अन्त के कथानक बहुत संक्षेप में शांतिपूर्वक धर्मपालन के उदाहरण रूप कहे गये हैं। ग्रन्थ के अन्त की बारह गाथाओं में उक्त दसों कथानकों के नगर आदि के उल्लेखों द्वारा सार प्रगट कर दिया गया है। इस प्रकार यह श्रुतांग आचारांग का परिपूरक है, क्योंकि आचारांग में मुनिधर्म का और इसमें गृहस्थ धर्म का निरूपण किया गया है। आनंद आदि महासम्पत्तिवान् गृहस्थों का जीवन कैसा था इसका परिचय इस ग्रन्थ से भलीभांति प्राप्त होता है।

८　अन्तकृद्दशा—(अंतगडदसाओ)—इस श्रुतांग में आठ वर्ग हैं जो क्रमशः १ ८ ११ १ १ १६, ११ और १ अध्ययनों में विभाजित हैं। इनमें ऐसे

महापुरुषो के कथानक उपस्थित किये गये हैं, जिन्होंने घोर तपस्या कर अन्त मे निर्वाण प्राप्त किया, और इसी के कारण वे अन्तकृत् कहलाये। यहाँ कोई कथानक अपने रूप मे पूर्णता से वर्णित नही पाया जाता। अधिकाश वर्णन अन्यत्र के वर्णनानुसार पूरा कर लेने की सूचना मात्र करदी गई है। उदाहरणार्थ, प्रथम अध्ययन मे गौतम का कथानक द्वारावती नगरी के राजा अधकवृष्णि की रानी धारणी देवी की सुप्तावस्था तक वर्णन कर, कह दिया गया है कि यहाँ स्वप्न-दर्शन, पुत्र-जन्म, उसका बालकपन, कला-ग्रहण, यौवन, पाणिग्रहण, विवाह, प्रासाद और भोगो का वर्णन जिस प्रकार महाबल की कथा मे अन्यत्र (भगवती मे) किया गया है, उसी प्रकार यहाँ कर लेना चाहिये। आगे तो अध्ययन के अध्ययन केवल आख्यान के नायक या नायिका का नामोल्लेख मात्र करके शेष समस्त वर्णन अन्य आख्यान द्वारा पूरा कर लेने की सूचना देकर समाप्त कर दिये गये हैं। इस श्रुताग के नाम पर से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमे उवासगदसाओ के समान मूलत दस ही अध्याय रहे होंगे। पश्चात् पल्लवित होकर ग्रन्थ को उसका वर्तमान रूप प्राप्त हुआ।

९ **अनुत्तरोपपातिक दशा (अणुत्तरोवाइय दसाओ)**—इस श्रुताग मे कुछ ऐसे महापुरुषो का चरित्र वर्णित है, जिन्होंने अपनी धर्म-साधना के द्वारा मरणकर उन अनुत्तर स्वर्ग विमानो मे जन्म लिया जहाँ से पुन केवल एक बार ही मनुष्य योनि मे आने से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यह श्रुताग तीन वर्गों मे विभाजित है। प्रथम वर्ग मे १०, द्वितीय मे १३ व तृतीय मे १० अध्ययन हैं। किन्तु इनमे चरित्रो का उल्लेख केवल सूचना मात्र से कर दिया गया है। केवल प्रथम वर्ग मे धारणीपुत्र जाली तथा तीसरे में भद्रापुत्र धन्य का चरित्र कुछ विस्तार से वर्णित है। उल्लिखित ३३ अनुत्तरविमानगामी पुरुषो मे से प्रथम २३ राजा श्रेणिक की धारणी, चेलना व नदा, इन तीन रानियो से उत्पन्न कहे गये हैं। और अन्त के धन्य आदि दस काकन्दी नगरी की सार्थवाही भद्रा के पुत्र। तीसरे वर्ग के प्रथम अध्ययन मे धन्य की कठोर तपस्या और उसके कारण उसके अग प्रत्यगो की क्षीणता का बड़ा मार्मिक और विस्तृत वर्णन किया गया है। यह वर्णन पालि ग्रथो मे बुद्ध की तप से उत्पन्न देह-क्षीणता का स्मरण कराता है।

१० **प्रश्न व्याकरण (पण्ह-वागरण)**—यह श्रुताग दो खडो मे विभाजित है। प्रथम खड मे पाँच आस्रवद्वारो का वर्णन है, और दूसरे मे पाँच सवरद्वारो का पाँच आस्रवद्वारो में हिंसादि पाँच पापो का विवेचन है, और सवरद्वारो मे उन्ही के निषेध रूप अहिंसादि व्रतो का। इस प्रकार इसमे उक्त व्रतो का सुव्यवस्थित

वर्णन पाया जाता है। किन्तु इस विषय-वर्णन से श्रुतांग के नाम की सार्थकता का कोई पता नहीं चलता। स्थानांग समवायांग तथा नन्दीसूत्र में जो इस श्रुतांग का विषय-परिचय दिया गया है, उससे प्रतीत होता है कि मूलतः इसमें स्वसमय और परसमय सम्मत नाना विद्याओं व मंत्रों आदि का प्रश्नोत्तर रूप से विवेचन किया गया था किन्तु वह विषय प्रस्तुत ग्रन्थ में अब प्राप्त नहीं होता।

११ विपाक सूत्र (विवाग सुयं)—इस श्रुतांग में दो श्रुतस्कंध हैं, पहला दुःख-विपाक विषयक और दूसरा सुख-विपाक विषयक। प्रथम श्रुत-स्कंध दूसरे की अपेक्षा बहुत बड़ा है। प्रत्येक में दस-दस अध्ययन हैं, जिनमें क्रमशः जीव के कर्मानुसार दुःख और सुख रूप कर्मफलों का वर्णन किया गया है। कर्म-सिद्धान्त जैन धर्म का विशेष महत्वपूर्ण अंग है। उसके उदाहरणों के लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। यहाँ लकड़ी टेककर चलते हुए व भिक्षा मांगते हुए कहीं एक अन्धे मनुष्य का दर्शन होगा कहीं श्वास कफ, भगंदर अर्श खाज खसरा व कुष्ट आदि से पीड़ित मनुष्यों के दर्शन होंगे। नाना व्याधियों के औषधि-उपचार का विवरण भी मिलता है। गर्भिणी स्त्रियों के दोहले भ्रूण-हत्या नरबलि क्रूर अमानुषिक दंड वेश्याओं के प्रलोभनों नाना प्रकार के मांस संस्कारों पकाने की विधि आदि के वर्णन भी यहाँ मिलते हैं। उनके द्वारा हमें प्राचीन काल की नाना सामाजिक विधियों मान्यताओं एवं अन्धविश्वासों का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। इस प्रकार सामाजिक अध्ययन के लिये यह श्रुतांग महत्वपूर्ण है।

१२ : दृष्टिवाद (दिट्ठिवाद)—यह श्रुतांग अब नहीं मिलता। समवायांग के अनुसार इसके पाँच विभाग थे—परिकर्म सूत्र पूर्वगत अनुयोग और चूलिका। इन पाँचों के नाना भेद-प्रभेदों के उल्लेख पाये जाते हैं, जिनपर विचार करने से प्रतीत होता है कि परिकर्म के अन्तर्गत लिपि-विज्ञान और गणित का विवरण था। सूत्र के अन्तर्गत छिन्न-छेद नय अछिन्न-छेद नय त्रिक नय व चतुर्नय की परिपाटियों का विवरण था। छिन्न छेद व चतुर्नय परिपाटियां निर्ग्रन्थों की एवं अछिन्न छेद नय और त्रिक नय परिपाटियां आजीविकों की थीं। पीछे इन सबका समावेश जैन नयवाद में हो गया। दृष्टिवाद का पूर्वगत विभाग सबसे अधिक विशाल और महत्वपूर्ण रहा है। इसके अन्तर्गत उत्पाद, अग्रायणी वीर्यप्रवाद आदि वे १४ पूर्व थे जिनका परिचय ऊपर कराया जा चुका है। अनुयोग नामक दृष्टिवाद के चतुर्थभेद के मूलप्रथमानुयोग और गंडिकानुयोग—ये दो भेद बतलाये गये हैं। प्रथम में अरहन्तों के गर्भ जन्म तप ज्ञान और निर्वाण संबंधी इतिवृत्त समाविष्ट

किया गया था, और दूसरे मे कुलकर, चक्रवर्ती, वलदेव, वासुदेव आदि अन्य महापुरुषो के चरित्र का। इस प्रकार अनुयोग को प्राचीन जैन पुराण कहा जा सकता है। दिग० जैन परम्परा मे इस भेद का सामान्य नाम प्रथमानुयोग पाया जाता है। पचम भेद चूलिका के सबध मे समवायाग मे केवल यह सूचना पाई जाती है कि प्रथम चार पूर्वों की जो चूलिकाएँ गिनाई गई हैं, वे ही यहाँ समाविष्ट समझना चाहिये। किन्तु दिग० परम्परा मे चूलिका के पाँच भेद गिनाये गये हैं, जिनके नाम हैं—जलगत, स्थलगत, मायागत, रूपगत और आकाशगत। इन नामो पर से प्रतीत होता है कि उनका विषय इन्द्रजाल और मन्त्र-तन्त्रात्मक था, जो जैन धर्म की तात्त्विक और समीक्षात्मक दृष्टि के आगे स्वभावत अधिक काल तक नही टिक सका।

उपाग-१२

उपर्युक्त श्रुतागो के अतिरिक्त वल्लभी वाचना द्वारा १२ उपागो, ६ छेद सूत्रो,४ मूल सूत्रो, १० प्रकीर्णको और २ चूलिका सूत्रो का भी सकलन किया गया था। (१) प्रथम उपाग औपपातिक मे नाना विचारो, भावनाओ और साधनाओ से मरने वाले जीवो का पुनर्जन्म किस प्रकार होता है, इसका उदाहरणो सहित व्याख्यान किया गया है। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि यहा नगरो, चैत्यो, राजाओ व रानियो आदि के वर्णन सपूर्ण रूप मे पाये जाते हैं, जिनका वर्णन अन्य श्रुतागो मे इसी ग्रन्थ का उल्लेख देकर छोड दिया जाता है।

(२) दूसरे उपाग का नाम 'राय-पसेणिय' है, जिसका स० रूपान्तर 'राजप्रश्नीय' किया जाता है, क्योकि इसका मुख्य विषय राजा पएसी (प्रदेशी) द्वारा किये गये प्रश्नो का केशी मुनि द्वारा समाधान है। आश्चर्य नही जो इस ग्रन्थ का यथार्थ नायक कोशल का इतिहास-प्रसिद्ध राजा पसेंडी (स० प्रसेनजित्) रहा हो, जिसके अनुसार ग्रन्थ के नामका ठीक स० रूपान्तर 'राज-प्रसेनजित् सूत्र' होना चाहिये। इसके प्रथम भाग मे तो सूर्याभदेव का वर्णन है, और दूसरे भाग मे इस देव के पूर्व जन्म का वृत्तान्त है, जब कि सूर्याभ का जीव राजा प्रदेशी के रूप मे पार्श्वनाथ की परम्परा के मुनि केशी से मिला था, और उनसे आत्मा की सत्ता व उसके स्वरूप के सबध मे नाना प्रकार से अपने भौतिकवाद की दृष्टि से प्रश्न किये थे। अन्त मे केशी मुनि के उपदेश से वह सम्यग्दृष्टि बन गया और उसी के प्रभाव से दूसरे जन्म मे महासमृद्धिशाली सूर्याभ देव हुआ। यह ग्रन्थ जडवाद और अध्यात्मवाद

की प्राचीन परम्पराओं के अध्ययन के लिये तो महत्वपूर्ण है ही साथ ही साहित्यिक दृष्टि से भी यह रचना सुन्दर है।

(३) तीसरे उपांग जीवाजीवाभिगम में २० उद्देश थे, किन्तु उपलभ्य संस्करण में नौ प्रतिपत्तियां (प्रकरण) हैं, जिनके भीतर २७२ सूत्र हैं। इसमें नामानुसार जीव और अजीव के भेद-प्रभेदों का विवरण महावीर और गौतम के बीच प्रश्नोत्तर रूप से उपस्थित किया गया है। तीसरी प्रतिपत्ति में द्वीप-सागरों का विस्तार से वर्णन पाया जाता है। यहां प्रसंगवश लोकोत्सवों यानों अलंकारों व मिष्टान्नों आदि के उल्लेख भी आये हैं, जो प्राचीन लोक-जीवन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

(४) चौथे उपांग प्रज्ञापना (पण्णवणा) में छत्तीस पद (परिच्छेद) हैं, जिनमें क्रमशः जीव से संबंध रखनेवाले प्रज्ञापना स्थान बहुवक्तव्य स्थिति एवं कषाय इन्द्रिय लेश्या कर्म उपयोग वेदना समुद्घात आदि विषयों का प्ररूपण है। जैन दर्शन की दृष्टि से यह रचना बड़ी महत्वपूर्ण है। जो स्थान अंगों में भगवती सूत्र को प्राप्त है, वही उपांगों में इस सूत्रको दिया जा सकता है, और उसे भी उसी के अनुसार जैन सिद्धान्त का ज्ञानकोष कहा जा सकता है। इस रचना में इसके कर्ता आर्य श्याम का भी उल्लेख पाया जाता है, जिनका समय सुधर्म स्वामीसे २१ वीं पीढ़ी वीर नि के ३७६ वर्ष पश्चात् अर्थात् ई पूर्व दूसरी शताब्दी सिद्ध होता है।

(५) पांचवां उपांग सूर्यप्रज्ञप्ति (सूरियपण्णत्ति) में ९ पाहुड हैं, जिनके अन्तर्गत १०८ सूत्रों में सूर्य तथा चन्द्र व नक्षत्रों की गतियों का विस्तार से वर्णन किया गया है। प्राचीन भारतीय ज्योतिष संबंधी मान्यताओं के अध्ययन के लिये यह रचना विशेष महत्वपूर्ण है।

(६) छठा उपांग जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति (जम्बूदीवपण्णत्ति) है। इसके दो विभाग हैं, पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। प्रथम भाग के चार वक्षस्कारों (परिच्छेदों) में जम्बूद्वीप और भरत क्षेत्र तथा उसके पर्वतों नदियों आदि का एवं उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल-विभागों का तथा कुलकरों तीर्थंकरों और चक्रवर्ती आदि का वर्णन है।

(७) सातवां उपांग चन्द्रप्रज्ञप्ति (चंदपण्णत्ति) अपने विषय-विभाजन व प्रतिपादन में सूर्यप्रज्ञप्ति से अभिन्न है। मूलतः ये दोनों अवश्य अपने-अपने विषय में भिन्न रहे होंगे किन्तु उनका मिश्रण होकर वे प्रायः एक से हो गये हैं।

(८) आठवें उपांग कल्पिका (कप्पिया) में १० अध्ययन हैं, जिनमें कुणिक अजातशत्रु के अपने पिता श्रेणिक बिंबिसार को बंदीगृह में डालने श्रेणिक की आत्म-

हत्या तथा कुणिक का वैशाली नरेश चेटक के साथ युद्ध का वर्णन है, जिनसे मगध के प्राचीन इतिहास पर विशेष प्रकाश पडता है।

(९) नौवें उपाग **कल्पावतसिका** (कप्पावडसियाओ) मे श्रेणिक के दस पौत्रो की कथाए हैं, जो अपने सत्कर्मों द्वारा स्वर्गगामी हुए।

(१०-११) दसवें व ग्यारहवें उपाग **पुष्पिका** (पुप्फियाओ) और **पुष्पचूला** (पुप्फचूलाओ) मे १०-१० अध्ययन हैं, जिनमे ऐसे पुरुष-स्त्रियो की कथाए हैं जो धार्मिक साधनाओ द्वारा स्वर्गगामी हुए, और देवता होकर अपने विमानो द्वारा महावीर की वदना करने आये।

(१२) बारहवें अतिम उपाग **वृष्णिदशा** (**वण्हिवसा**) मे बारह अध्ययन है, जिनमे द्वारावती (द्वारिका) के राजा कृष्ण वासुदेव का बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के रैवतक पर्वत पर विहार का एव वृष्णि वशीय बारह राजकुमारो के दीक्षित होने का वर्णन पाया जाता है।

आठ से बारह तक के पाँच उपाँग सामूहिक रूप से **निरयावलियाओं** भी कहलाते हैं, और उनमे उन्हे उपाग नाम से निर्दिष्ट भी किया गया है। आश्चर्य नही जो आदित ये ही पाँच उपाँग रहे हो और वे अपने विषयानुसार अगो से सम्बन्ध हो। पीछे द्वादशाग की देखादेखी उपागो की सख्या बारह तक पहुँचा दी गई हो।

छेदसूत्र—६

छह छेदसूत्रो के नाम क्रमश (१) **निशीथ**, (निसीह) (२) **महानिशीथ** (महानिसीह) (३) **व्यवहार** (विवहार) (४) **आचारदशा** (आचारदसा) (५) **कल्पसूत्र** (कप्पसुत्त) और (६) **पचकल्प** (पचकप्प) या **जीतकल्प** (जीतकप्प) हैं, जिनमे बडे विस्तार के साथ जैन मुनियो की बाह्य और आभ्यन्तर साधनाओ का विस्तार से वर्णन किया गया है, और विशेष नियमो के भग होने पर समुचित प्रायश्चित्तो का विधान किया गया है, प्रसगवश यहाँ नाना तीर्थंकरो व गणधरो सम्बन्धी घटनाओ के उल्लेख भी आये हैं। इन रचनाओ मे कल्पसूत्र विशेष रूप से प्रसिद्ध है, और साधुओ मे उसके पठन-पाठन की परम्परा आजतक विशेष रूप से सुप्रचलित है। मुनियों के वैयक्तिक व सामूहिक जीवन और उसकी समस्याओ का समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिये ये रचनाए बडे महत्व की हैं।

मूलसूत्र—४

चार मूल सूत्रो के नाम हैं—**उत्तराध्ययन** (उत्तरज्झयण), **आवश्यक**

(आवस्सय) दशवैकालिक (दसवेयालिय) और पिंडनिर्युक्ति (पिंडणिज्जुत्ति)। ये चारों सूत्र मुनियों के अध्ययन और चिन्तन के लिये विशेषरूप से महत्वपूर्ण माने गये हैं, क्योंकि उनमें जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्तों विचारों व भावनाओं और साधनाओं का प्रतिपादन किया गया है। आवश्यक सूत्र में साधुओं की छह नित्यक्रियाओं अर्थात् सामायिक चतुर्विंशति-स्तव वन्दना प्रतिक्रमण कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान का स्वरूप समझाया गया है। पिंडनिर्युक्ति में अपने नामानुसार पिंड अर्थात् मुनिके ग्रहण योग्य आहार का विवेचन किया गया है। इसमें आठ अधिकार हैं—उद्गम उत्पादन एषणा संयोजना प्रमाण अंगार, धूम और कारण जिनके द्वारा आहार में उत्पन्न होने वाले दोषों का विवेचन किया गया है, और उनके साधु द्वारा निवारण किये जाने पर जोर दिया गया है। निर्युक्ति आगमों पर सबसे प्राचीन टीकाओं को कहते हैं और इनके कर्त्ता भद्रबाहु माने जाते हैं। पिंड-निर्युक्ति यथार्थतः दशवैकालिक के अंतर्गत पिंड-एषणा नामक पांचवें अध्ययन की इसी प्रकार की प्राचीन टीका है जिसे अपने विषय के महत्व व विस्तार के कारण आगम में एक स्वतंत्र स्थान प्राप्त हुआ है। शेष दो मूलसूत्र अर्थात् उत्तराध्ययन और दशवैकालिक विशेष महत्वपूर्ण सुप्रचलित और लोकप्रिय रचनायें हैं जो भाषा साहित्य एवं सिद्धान्त तीनों दृष्टियों से अपनी विशेषता रखती हैं। उत्तराध्ययन में ३६ अध्ययन हैं। परम्परानुसार महावीर ने अपने जीवन के उत्तरकाल में निर्वाण से पूर्व ये उपदेश दिये थे। इन छत्तीस अध्ययनों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—एक सैद्धान्तिक दूसरा नैतिक व सुभाषितात्मक और तीसरा कथात्मक। इन तीनों प्रकार के विषयों का पश्चात्कालीन साहित्य में खूब अनुकरण व टीकाओं आदि द्वारा खूब पल्लवन किया गया है। दशवैकालिक सूत्र में बारह अध्ययन हैं, जिनमें विशेषतः मुनि-आचार का प्ररूपण किया गया है। ये दोनों रचनाएं बहुलता से पद्यात्मक हैं, और सुभाषितों न्यायों व रूपकों से भरपूर हैं। इनकी भाषा आचारांग और सूत्रकृतांग के समान अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन सिद्ध होती है। इन दोनों सूत्रों का उल्लेख दिग. शास्त्रों में भी पाया जाता है।

प्रकीर्णक—१०

दसपइण्णा—नामक ग्रन्थों की रचना के सम्बन्ध में टीकाकारों ने कहा है कि तीर्थंकर द्वारा दिये गये उपदेश के आधार पर नाना श्रमणों द्वारा जो ग्रन्थ लिखे गये वे प्रकीर्णक कहलाये। ऐसे प्रकीर्णकों की संख्या सहस्त्रों बतलाई जाती है, किन्तु जिन

रचनाओ को वल्लभी वाचना के समय आगम के भीतर स्वीकृत किया गया वे दस है, जिनके नाम हैं—(१) चतु शरण (चउसरण), (२) **आतुर-प्रत्याख्यान** (आउर पच्चक्खाण), (३) **महाप्रत्याख्यान** (महा-पच्चक्खाण), (४) **भक्तपरिज्ञा**, (भत्तपइण्णा), (५) **तदुलवैचारिक** (तदुलवेयालिय), (६) **सस्तारक** (सथारग), (७) **गच्छाचार** (गच्छायार), (८) **गणिविद्या** (गणिविज्जा), (९) **देवेन्द्रस्तव** (देविंद्रथ) और (१०) **मरणसमाधि** (मरणसमाहि)। ये रचनायें प्राय पद्यात्मक हैं। (१) **चतु शरण** मे आरभ मे छ आवश्यको का उल्लेख करके पश्चात् अरहृत, सिद्ध, साधु और जिनधर्म इन चार को शरण मानकर दुष्कृत (पाप) के प्रति निंदा और सुकृत (पुण्य) के प्रति अनुराग प्रगट किया गया है। इसमें त्रेसठ गाथाएँ मात्र हैं। अतिम गाथा मे कर्त्ता का का नाम वीरभद्र अकित पाया जाता है। (२) **आतुर-प्रत्याख्यान** मे वालमरण और पडितमरण मे भेद स्थापित किया गया है, और प्रत्याख्यान अर्थात् परित्याग को मोक्षप्राप्ति का साधन कहा गया है। इसमे केवल ७० गाथाए हैं, और कुछ अश गद्य में भी है। (३) **महाप्रत्याख्यान** मे १४२ अनुष्टुप् छदमय गाथाओ द्वारा दुश्चरित्र की निंदापूर्वक, सच्चरित्रात्मक भावनाओ, व्रतो व आराधनाओ और अन्तत प्रत्याख्यान के परिपालन पर जोर दिया गया है। इस प्रकार यह रचना पूर्वोवत आतुर-प्रत्याख्यान की ही पूरक स्वरूप है। (४) **भक्त-परिज्ञा** मे १७२ गाथाओं द्वारा भक्त-परिज्ञा, इगिनी और पादोपगमन रूप मरण के भेदो का स्वरूप वतलाया गया है, तथा नाना दृष्टान्तो द्वारा मन को सयत रखने का उपदेश दिया गया है। मन को वन्दर की उपमा दी गई है, जो स्वभावत अत्यन्त चचल है और क्षणमात्र भी शात नही रहता। (५) **तदुलवैचारिक** या वैकालिक १२३ गाथाओ युक्त गद्य-पद्य मिश्रित रचना है, जिसमे गौतम और महावीर के वीच प्रश्नोत्तरो के रूप मे जीव की गर्भावस्था, 'आहार-विधि, वालजीवन-क्रीडा आदि अवस्थाओं का वर्णन है। प्रसग वश इसमे शरीर के अग प्रत्यगो का व उसकी अपवित्रता का, स्त्रियो की प्रकृति और उनसे उत्पन्न होने वाले साधुओ के भयों आदि का विस्तार से वर्णन है। (६) **सस्तारक** मे १२२ गाथाओ द्वारा साधु के अत समय मे तृण का आसन (सथारा) ग्रहण करने की विधि वतलाई गई है, जिस पर अविचल रूप से स्थिर रहकर वह पडित-मरण करके सद्गति को प्राप्त कर सकता है। इस प्रसग के दृष्टान्त स्वरूप सुवधु व चाणक्य आदि नामो का उल्लेख हुआ है। (७) **गच्छाचार** मे १३७ गाथाओ द्वारा मुनियो व आर्यिकाओ के गच्छ मे रहने व तत्सवधी विनय व नियमोपनियमों के पालन की विधि समझाई गई है। यहा मुनियो और साध्वियो को एक दूसरे के प्रति पर्याप्त सतर्क रहने और

अपने को कामवासना की जागृति से बचाने पर बहुत जोर दिया गया है। (८) गणि विद्या में ८६ गाथाओं द्वारा दिवस तिथि नक्षत्र योग करण मुहूर्त आदि का ज्योतिष की रीति से विचार किया गया है जिसमें होरा शब्द भी आया है। (९) देवेन्द्रस्तव में ३०७ गाथाएं हैं, जिनमें २४ तीर्थंकरों की स्तुति करके स्तुतिकार एक प्रश्न के उत्तर में कल्पों और कल्पातीत देवों का वर्णन करता है। यह कृति भी वीरभद्र कृत मानी जाती है। (१०) मरण-समाधि में ६६३ गाथाएं हैं, जिनमें आराधना आराधक आलोचन संलेखन क्षमापन आदि १४ द्वारों से समाधि-मरण की विधि समझाई गई है, व नाना दृष्टान्तों द्वारा परीषह सहन करने की आवश्यकता बतलाई गई है। अन्तमें बारह भावनाओं का भी निरूपण किया गया है। दसों प्रकीर्णकों के विषय पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि उनका उद्देश्य प्रधानतः मुनियों के अपने अन्त समय में मनको धार्मिक भावनाओं में लगाते हुए शांति और निराकुलता पूर्वक शरीर परित्याग करने की विधि को समझाना ही है।

चूलिका सूत्र—२

अन्तिम दो चूलिका सूत्र नंदी और अनुयोगद्वार हैं, जो अपेक्षाकृत पीछे की रचनाएं हैं। नंदीसूत्र के कर्त्ता तो एक मतानुसार वल्लभी वाचना के प्रधान देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ही हैं। नंदीसूत्र में ९० गाथाएं और ५९ सूत्र हैं। यहां भगवान महावीर तथा उनके उत्तरवर्ती श्रमणों व परंपरागत भद्रबाहु स्थूलभद्र महागिरि आदि आचार्यों की स्तुति की गई है। तत्पश्चात् ज्ञान के पांचभेदों का विवेचन कर, आचारांगादि बारह श्रुतांगों के स्वरूप को विस्तार से व्यक्त किया गया है। यहां भारत रामायण कौटिल्य पातंजल आदि शास्त्रपुराणों तथा वेदों एवं बहत्तर कलाओं का उल्लेख कर मुनियों के लिये उनका अध्ययन वर्ज्य कहा गया है। (२) अनुयोगद्वार आर्यरक्षित कृत माना जाता है। उसमें प्रश्नोत्तर रूप से पल्योपमादि उपमा प्रमाण का स्वरूप समझाया गया है, और नयों का भी प्ररूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त काव्यसम्बन्धी नव रसों स्वर, ग्राम मूर्च्छना आदि के लक्षणों एवं चरक गौतम आदि अन्य शास्त्रों के उल्लेख भी आये हैं। इस पर हरिभद्र द्वारा विवृत्ति भी लिखी गई है।

अर्धमागधी भाषा

उपर्युक्त ४५ आगम ग्रन्थों की भाषा अर्धमागधी मानी जाती है। अर्ध-मागधी का अर्थ नाना प्रकार से किया जाता है-जो भाषा आधे मगध प्रदेश में बोली जाती

थी, अथवा जिसमे मागधी भाषा की आधी प्रवृत्तिया पाई जाती थी। यथार्थत ये दोनो ही व्युत्पत्तिया सार्थक हैं, और इस भाषा के ऐतिहासिक स्वरूप को सूचित करती हैं। मागधी भाषा की मुख्यत तीन विशेषताए थी। (१) उसमे र का उच्चारण ल होता था, (२) तीनो प्रकार के ऊष्म ष, स, श वर्णों के स्थान पर केवल तालव्य 'श' ही पाया जाता था, और (३) अकारान्त कर्त्ताकारक एक वचन का रूप 'ओ' के स्थान पर 'ए' प्रत्यय द्वारा बनता था। इन तीन मुख्य प्रवृत्तियो मे से अर्द्ध-मागधी मे कर्ताकारक की एकार विभक्ति बहुलता से पाई जाती है। र का ल क्वचित् ही होता है, तथा तीनो सकारो के स्थानपर तालव्य 'श' कार न होकर दन्त्य 'स' कार ही होता है। इस प्रकार इस भाषा मे मागधी की आधी प्रवृत्तिया कही जा सकती हैं। इसकी शेष प्रवृत्तिया शौरसैनी प्राकृत से मिलती हैं, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि इस भाषा का प्रचार मगध से पश्चिम प्रदेश मे रहा होगा। विद्वानो का यह भी मत है कि मूलत महावीर एव बुद्ध दोनो के उपदेशो की भाषा उस समय की अर्द्धमागधी रही होगी, जिससे वे उपदेश पूर्व एव पश्चिम की जनता को समान रूप से सुबोध हो सके होंगे। किन्तु पूर्वोक्त उपलभ्य आगम ग्रन्थो में हमें उस प्राक्तन अर्द्धमागधी का स्वरूप नही मिलता। भाषा-शास्त्रियो का मत है कि उस काल की मध्ययुगीन आर्य भाषा मे सयुक्त व्यजनो का समीकरण अथवा स्वर-भक्ति आदि विधियो से भाषा का सरलीकरण तो प्रारभ हो गया था, किन्तु उसमे वर्णों का विपरिवर्तन जैसे क-ग, त-द, अथवा इनके लोप की प्रक्रिया प्रारभ नही हुई थी। यह प्रक्रिया मध्ययुगीन आर्य भाषा के दूसरे स्तर मे प्रारभ हुई मानी जाती है, जिसका काल लगभग दूसरी शती ई० सिद्ध होता है। उपलभ्य आगम ग्रन्थ इसी स्तर की प्रवृत्तियो से प्रभावित पाये जाते हैं। स्पष्टत ये प्रवृत्तिया कालानुसार उनकी मौखिक परम्परा के कारण उनमे समाविष्ट हो गई हैं।

सूत्र या सूक्त ?—

इन आगमो के सम्बन्ध मे एक बात और विचारणीय है। उन्हे प्राय सूत्र नाम से उल्लिखित किया जाता है, जैसे आचाराग सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र आदि। किन्तु जिस अर्थ मे सस्कृत मे सूत्र शब्द का प्रयोग पाया जाता है, उस अर्थ में ये रचनाए सूत्र रूप सिद्ध नही होती। सूत्र का मुख्य लक्षण सक्षिप्त वाक्य मे अधिक से अधिक अर्थ व्यक्त करना है, और उनमे पुनरावृत्ति को दोष माना जाता है। किन्तु ये जैन श्रुताग न तो वैसी सक्षिप्त रचानाए हैं, और न उनमे विषय व वाक्यो की पुनरावृत्ति की कमी है। अतएव उन्हें सूत्र कहना अनुचित सा प्रतीत होता है। अपने प्राकृत

नामानुसार ये रचनाएं सुत्त कही गई हैं, जैसे आयारंग सुत्त, उत्तराध्ययन सुत्त आदि। इस सुत्त का संस्कृत पर्याय सूत्र भ्रममूलक प्रतीत होता है। उसका उचित संस्कृत पर्याय सूक्त अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। महावीर के काल में सूत्र शैली का *प्रारंभ भी सम्भवतः नहीं हुआ था। उस समय विशेष प्रचार था वेदों के सूक्तों का।* और संभवतः वही नाम मूलतः इन रचनाओं को तथा बौद्ध साहित्य के सुत्तों को उनके प्राकृत रूप में दिया गया होगा।

आगमों का टीका साहित्य—

उपर्युक्त आगम ग्रन्थों से सम्बद्ध अनेक उत्तरकालीन रचनाएं हैं, जिनका उद्देश्य आगमों के विषय को संक्षेप या विस्तार से समझाना है। ऐसी रचनाएं चार प्रकार की हैं, जो निर्युक्ति (णिज्जुत्ति) भाष्य (भास) चूर्णि (चुण्णि) और टीका कहलाती हैं। ये रचनाएं भी आगम का अंग मानी जाती हैं और इनके सहित यह साहित्य पंचांगी आगम कहलाता है। इनमें निर्युक्तियां अपनी भाषा शैली व विषय की दृष्टि से सर्वप्राचीन हैं। ये प्राकृत पद्यों में लिखी गई हैं और संक्षेप में विषय का प्रतिपादन करती हैं। इनमें प्रसंगानुसार विविध कथाओं व दृष्टान्तों के संकेत मिलते हैं, जिनका विस्तार हमें टीकाओं में प्राप्त होता है। वर्तमान में आचारांग, सूत्रकृतांग, सूर्यप्रज्ञप्ति, व्यवहार, कल्प, दशाश्रुतस्कंध, उत्तराध्ययन, आवश्यक और दशवैकालिक इन ९ आगमों की निर्युक्तियां मिलती हैं, और वे भद्रबाहुकृत मानी जाती हैं। इसी 'ऋषि भाषित निर्युक्ति' का उल्लेख है, किन्तु वह प्राप्त नहीं हुई। इनमें कुछ प्रकरणों की निर्युक्तियां जैसे पिण्डनिर्युक्ति व ओघनिर्युक्ति मुनियों के आचार की दृष्टि से इतनी महत्वपूर्ण समझी गईं कि वे स्वतंत्र रूप से आगम साहित्य में प्रतिष्ठित कर ली गई हैं।

भाष्य भी प्राकृत गाथाओं में रचित संक्षिप्त प्रकरण हैं। ये अपनी शैली में निर्युक्तियों से इतने मिलते हैं कि बहुधा इन दोनों का परस्पर मिश्रण हो गया है, जिसका पृथक्करण असंभव सा प्रतीत होता है। कल्प, पंचकल्प, जीतकल्प, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, निशीथ और व्यवहार, इनके भाष्य मिलते हैं। इनमें कथाएं कुछ विस्तार से पाई जाती हैं। निशीथ भाष्य में धूर्त आदि चार धूर्तों की वह रोचक कथा वर्णित है जिसे हरिभद्रसूरि ने अपने धूर्ताख्यान नामक ग्रन्थ में सरसता के साथ पल्लवित किया है। कुछ भाष्यों जैसे कल्प, व्यवहार और निशीथ के कर्ता संघदास गणि माने जाते हैं और विशेषावश्यक भाष्य के कर्ता जिनभद्र (ई सं ६०९)। यह भाष्य कोई ३६०० गाथाओं में पूर्ण हुआ है और उसमें ज्ञान

नय-निक्षेप, आचार आदि सभी विषयों का विवेचन किया गया है। इस पर स्वोपज्ञ टीका भी है।

चूर्णियां भाषा व रचना शैली की दृष्टि से अपनी विशेषता रखती हैं। वे गद्य मे लिखी गई हैं, और भाषा यद्यपि प्राकृत-संस्कृत मिश्रित है, फिर भी इनमे प्राकृत की प्रधानता है। आचारांग, सूत्रकृतांग, निशीथ, दशाश्रुतस्कंध, जीतकल्प, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, नंदी और अनुयोगद्वार पर चूर्णियाँ पाई जाती हैं। ऐतिहासिक, सामाजिक व कथात्मक सामग्री के लिये निशीथ और आवश्यक की चूर्णियाँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं। सामान्यरूप से चूर्णियों के कर्ता जिनदासगणि महत्तर माने जाते हैं, जिनका समय ई० की छठी-सातवीं शती अनुमान किया जाता है।

टीकाएं अपने नामानुसार ग्रन्थों को समझने समझाने के लिये विशेष उपयोगी हैं। ये संस्कृत मे विस्तार से लिखी गई हैं, किन्तु कहीं कहीं, और विशेषतः कथाओं मे प्राकृत का आश्रय लिया गया है। प्रतीत होता है कि जो कथाएं प्राकृत मे प्रचलित थीं, उन्हें वहाँ जैसा का तैसा उद्धृत कर दिया है। आवश्यक, दशवैकालिक, नंदी और अनुयोगद्वार पर हरिभद्र सूरि (ई० स० ७५०) की टीकाएं उपलब्ध हैं। इनके पश्चात् आचारांग और सूत्रकृतांग पर शीलांक आचार्य (ई० स० ८७६) ने टीकाएं लिखीं। ११ वीं शताब्दी में वादि वेताल शान्तिसूरि द्वारा लिखित उत्तराध्ययन की शिष्यहिता टीका प्राकृत मे है, और बड़ी महत्वपूर्ण है। इसी शताब्दी मे उत्तराध्ययन पर देवेन्द्रगणि नेमिचन्द्र ने सुखबोधा नामक टीका लिखी, जिसके अन्तर्गत ब्रह्मदत्त अगडदत्त आदि कथाएं प्राकृत कथा साहित्य के महत्वपूर्ण अंग हैं, जिनका संकलन डा० हर्मन जैकोबी ने एक पृथक् ग्रन्थ मे किया था, और जो प्राकृत-कथा-संग्रह के नाम से मुनि जिनविजय जी ने भी प्रकाशित कराई थी। उत्तराध्ययन पर और भी अनेक आचार्यों ने टीकाएं लिखीं, जैसे अभयदेव, द्रोणाचार्य, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र, क्षेमकीर्ति, शान्तिचन्द्र आदि। टीकाओं की यह बहुलता उत्तराध्ययन के महत्व व लोकप्रियता को स्पष्टतः प्रमाणित करती है।

शौरसेनी जैनागम—

उपर्युक्त उपलभ्य आगम साहित्य जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय में सुप्रचलित है, किन्तु दिग० सम्प्रदाय उसे प्रामाणिक नहीं मानता। इस मान्यतानुसार मूल आगम ग्रंथों का क्रमशः लोप हो गया, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। उन आगमों का केवल आंशिक ज्ञान मुनि-परम्परा मे सुरक्षित रहा। पूर्वों के एकदेश-ज्ञाता

आचार्य धरसेन माने गये हैं जिन्होंने अपना यह ज्ञान अपने पुष्पदंत और भूतबलि नामक शिष्यों को प्रदान किया और उन्होंने उस ज्ञान के आधार से षट्खंडागम की सूत्ररूप रचना की। यह रचना उपलब्ध है, और अब सुचारु रूप से टीका व अनुवाद सहित २१ भागों में प्रकाशित हो चुकी है। इसके टीकाकार वीरसेनाचार्य ने प्रारम्भ में ही इस रचना के विषय का जो उद्गम बतलाया है उससे हमें पूर्वों के विस्तार का भी कुछ परिचय प्राप्त होता है। पूर्वों में द्वितीय पूर्व का नाम आग्रायणीय था। उसके भीतर पूर्वान्त अपरान्त आदि चौदह प्रकरण थे। इनमें पांचवें प्रकरण का नाम चयन लब्धि था जिसके अन्तर्गत बीस पाहुड थे। इनमें चतुर्थ पाहुड का नाम कर्म-प्रकृति था। इस कर्म-प्रकृति पाहुड के भीतर कृति वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वार थे जिनके विषय को लेकर षट्खंडागम के छह खंड अर्थात् जीवट्ठाण खुद्दाबंध बंधस्वामित्व-विचय वेदना वर्गणा और महाबंध की रचना हुई। इसमें का कुछ अंश अर्थात् सम्यक्त्वोत्पत्ति नामक जीवस्थान की आठवीं चूलिका बारहवें अंग दृष्टिवाद के द्वितीय भेद सूत्रसे तथा गति-अगति नामक नवमी चूलिका व्याख्याप्रज्ञप्ति से उत्पन्न बतलाई गई है। यही आगम दिग सम्प्रदाय में सर्वप्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। इसकी रचना का काल ई० द्वितीय शताब्दी सिद्ध होता है। इसकी रचना ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को पूर्ण हुई थी और उस दिन जैन संघ ने श्रुतपूजा का महान् उत्सव मनाया था जिसकी परम्परानुसार श्रुतपंचमी की मान्यता दिग सम्प्रदाय में आज भी प्रचलित है। इस आगम की परम्परा में जो साहित्य निर्माण हुआ उसे चार अनुयोगों में विभाजित किया जाता है। प्रथमानुयोग करणानुयोग चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग में पुराणों चरितों व कथाओं अर्थात् आख्यानात्मक ग्रन्थों का समावेश किया जाता है। करणानुयोग में ज्योतिष गणित आदि विषयक ग्रन्थों का चरणानुयोग में मुनियों व गृहस्थों द्वारा पालने योग्य नियमोपनियम संबंधी आचार विषयक ग्रन्थों का और द्रव्यानुयोग में जीव-अजीव आदि तत्वों के चिंतन से संबंध रखने वाले दार्शनिक कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी तथा नय-निक्षेप आदि विषयक सैद्धान्तिक ग्रन्थों का।

इस धार्मिक साहित्य मे प्रधानता द्रव्यानुयोग की है, और इस वर्ग की रचनाएं बहुत प्राचीन बड़ी विशाल तथा लोकप्रिय हैं। इसमें सबसे प्रथम स्थान पूर्वोल्लिखित षट्खंडागम का ही है। इस ग्रन्थ के प्रकाश में आने का भी एक रोचक इतिहास है। इस ग्रन्थ का साहित्यकारों द्वारा प्रचुरता से उपयोग केवल ११वीं १२वीं शताब्दी तक गोम्मटसार के कर्ता आचार्य नेमिचन्द्र और उनके टीकाकारों तक ही पाया जाता है। उसके पश्चात् के लेखक इन ग्रन्थों के नाम-मात्र से परिचित प्रतीत होते हैं। इस

ग्रन्थ की दो सपूर्ण और एक त्रुटित, ये तीन प्रतिया प्राचीन कन्नड लिपि मे ताडपत्र पर लिखी हुई केवल एक स्थान मे, अर्थात मैसूर राज्य मे मूडवद्री नामक स्थान के सिद्धान्त वस्ति नामक मदिर मे ही सुरक्षित वची थी, और वहा भी उनका उपयोग स्वाध्याय के लिये नही, किन्तु दर्शन मात्र से पुण्योपार्जन के लिए किया जाता था। उन प्रतियो की उत्तरोत्तर जीर्णता को वढती देखकर समाज के कुछ कर्णधारो को चिता हुई, और सन् १८९५ के लगभग उनकी कागज पर प्रतिलिपि करा डालने का निश्चय किया गया। प्रतिलेखन कार्य सन् १९२२ तक धीरे धीरे चलता हुआ २६-२७ वर्ष मे पूर्ण हुआ। किन्तु इसी बीच इनकी एक प्रतिलिपि गुप्तरूप से वाहर निकलकर सहारनपुर पहुच गई। यह प्रतिलिपि भी कन्नड लिपि मे थी। अतएव इसकी नागरी लिपि कराने का आयोजन किया गया, जो १९२४ तक पूरा हुआ। इस कार्य के सचालन के समय उनकी एक प्रति पुन: गुप्त रूपसे वाहर आ गई, और उसी की प्रतिलिपिया अमरावती, कारजा, सागर और आरा में प्रतिष्ठित हुई। इन्ही गुप्तरूप से प्रगट प्रतियों पर से इनका सम्पादन कार्य प्रस्तुत लेखक के द्वारा सन् १९३८ मे प्रारम्भ हुआ, और सन् १९५८ मे पूर्ण हुआ। हर्ष की वात यह है कि इसके प्रथम दो भाग प्रकाशित होने के पश्चात् ही मूडविद्री की सिद्धान्त वस्ति के अधिकारियो ने मूल प्रतियो के मिलान की भी सुविधा प्रदान कर दी, जिससे इस महान् ग्रन्थ का सम्पादन-प्रकाशन प्रामाणिक रूप से हो सका।

षट्खडागम टीका—

पट्खडागम के उपर्युक्त छह खडो मे सूत्ररूप मे जीव द्वारा कर्मवध और उससे उत्पन्न होनेवाले नाना जीव-परिणामो का वडी व्यवस्था, सूक्ष्मता और विस्तार से विवेचन किया गया है। यह विवेचन प्रथम तीन खडो में जीव के कर्तृत्व की अपेक्षा से और अतिम तीन खडो मे कर्मप्रकृतियो के स्वरूप की अपेक्षा से हुआ है। इसी विभागानुसार नेमिचन्द्र आचार्य ने इन्ही के सक्षेप रूप गोम्मटसार ग्रथ के दो भाग किये हैं—एक जीवकाड और दूसरा कर्मकाड । इन ग्रन्थो पर श्रुतावतार कथा के अनुसार क्रमश: अनेक टीकाए लिखी गई जिनके कर्ताओं के नाम कुदकुद, श्यामकुड, तुम्बुलूर, समन्तभद्र और वप्पदेव उल्लिखित मिलते हैं, किन्तु ये टीकाए अप्राप्य हैं। जो टीका इस ग्रन्थ की उक्त प्रतियो पर से मिली है, वह वीरसेनाचार्यकृत धवला नाम की है, जिसके कारण ही इस ग्रन्थ की ख्याति धवल सिद्धान्त के नाम से पाई जाती है। टीकाकार ने अपनी जो प्रशस्ति ग्रन्थ के अत मे लिखी है, उसपर से उसके पूर्ण होने का

समय कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी शक सं. ७३८ = ई. सन् ८१६ सिद्ध होता है। इस प्रशस्ति में वीरसेन ने अपने पंचस्तूप अन्वय का, विद्यागुरु एलाचार्य का तथा दीक्षागुरु आर्यनन्दि व दादागुरु चन्द्रसेन का भी उल्लेख किया है। इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार कथा के अनुसार एलाचार्य ने चित्रकूटपुर में रहकर वीरसेन को *सिद्धान्त* पढ़ाया था। पश्चात् वीरसेन ने वाटग्राम में जाकर अपनी यह टीका लिखी। वीरसेन की टीका का प्रमाण बहत्तर हजार श्लोक अनुमान किया जाता है।

शौरसैनी आगम की भाषा—

धवला टीका की भाषा गद्यात्मक प्राकृत है, किन्तु यत्र तत्र संस्कृत का भी प्रयोग किया गया है। यह शैली जैन साहित्यकारों में सुप्रचलित रही है, और इसे मणि-प्रवाल शैली कहा गया है। टीका में कहीं कहीं प्रमाण रूप से प्राचीन गाथाएं भी उद्धृत की गई हैं। इस प्रकार भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इस ग्रन्थ में हमें प्राकृत के तीन स्तर मिलते हैं—एक सूत्रों की प्राकृत जो स्पष्टतः अधिक प्राचीन है तथा शौरसैनी की विशेषताओं को लिये हुए भी कहीं कहीं अर्द्धमागधी से प्रभावित है। शौरसैनी प्राकृत का दूसरा स्तर हमें उद्धृत गाथाओं में मिलता है, और तीसरा टीका की गद्य रचना में। यहां उद्धृत गाथाओं में की अनेक गोम्मटसार में भी जैसी की तैसी पाई जाती हैं। भेद यह है कि वहां शौरसैनी महाराष्ट्री की प्रवृत्तियां कुछ अधिकता से मिश्रित दिखाई देती हैं।

यहां प्राकृत भाषा के ऐतिहासिक विकास सम्बन्धी कुछ बातों का स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। प्राचीनतम प्राकृत साहित्य तथा प्राकृत व्याकरणों से हमें मुख्यतः तीन भाषाओं का स्वरूप उनके विशेष लक्षणों सहित दृष्टिगोचर होता है। मागधी, अर्द्धमागधी और शौरसेनी। मागधी और अर्द्धमागधी के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है। शौरसेनी का प्राचीनतम रूप हमें अशोक (ई. पू. तीसरी शती) की *गिरनार शिला पर खुदी हुई चौदह धर्मलिपियों में* दृष्टिगोचर होता है। यहां कारक व क्रिया रूपों के सरलीकरण के अतिरिक्त जो संस्कृत की ध्वनियों में सरलता के लिये उत्पन्न हुए हेरफेर पाये जाते हैं उनमें मुख्य परिवर्तन हैं संयुक्त व्यंजनों का समीकरण या एक वर्ण का लोप जैसे धर्म का 'धम्म', कर्म का कम्म, पश्यति का पसति, पुत्र का पुत, कल्याण का कलाण आदि। तत्पश्चात् अश्वघोष (प्रथम शती ई.) के नाटकों में उक्त परिवर्तन के अतिरिक्त हमें अघोष वर्णों के स्थान पर उनके अनुरूप सघोष वर्णों का आदेश मिलता है, जैसे क का ग, च का ज, त का द और थ का ध। इसके अनन्तर भास में जो प्रवृत्ति, भास कालिदास आदि के नाटकों की प्राकृतों में

दिखाई देती है, वह है-मध्यवर्ती असयुक्त वर्णों का लोप तथा महाप्राण वर्णों के स्थान पर 'ह' आदेश। यही प्रवृति महाराष्ट्री प्राकृत का लक्षण माना गया है, और इसका प्रादुर्भाव प्रथम शताब्दी के पश्चात् का स्वीकार किया जाता है। दण्डी के उल्लेखानुसार प्राकृत (शौरसेनी) ने महाराष्ट्र मे आने पर जो रूप धारण किया, वही उत्कृष्ट प्राकृत महाराष्ट्री कहलाई (**महाराष्ट्राश्रया भाषा प्रकृष्टं प्राकृत विदु-काव्यादर्श**) और इसी महाराष्ट्री प्राकृत मे सेतुबन्धादि काव्यो की रचना हुई है। जैसा पहले कहा जा चुका है, अर्द्धमागधी आगम मे भी ये महाराष्ट्री प्राकृत की प्रवृत्तियाँ प्रविष्ट हुई पाई जाती हैं। भारत के उत्तर व पश्चिम प्रदेशो मे जो प्राकृत ग्रथ लिखे गये, उनमे भी इन प्रवृत्तियो का आशिक समावेश पाकर पाश्चात्य विद्वानो ने उनकी भाषा को 'जैन महाराष्ट्री' की सज्ञा दी है। किन्तु जिन षट्खडागमादि रचनाओ का ऊपर परिचय दिया गया है, उनमे प्रधान रूप से शौरसेनी की ही मूल प्रवृत्तिया पाई जाती हैं और महाराष्ट्री की प्रवृत्तियाँ गौण रूप से उत्तरोत्तर बढती हुई दिखाई देती हैं। इस कारण इन रचनाओ की भाषा को 'जैन शौरसेनी' कहा गया है। यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब महाराष्ट्र प्रदेश और उससे उत्तर की भाषा मे महाराष्ट्री प्राकृत की प्रवृत्तिया पूर्ण या बहुल रूप से प्रविष्ट हो गई, तब महाराष्ट्र से सुदूर दक्षिण प्रदेश मे लिखे गये ग्रन्थ इस प्रवृत्ति से कैसे बचे, या अपेक्षाकृत कम प्रभावित हुए ? इस प्रश्न का समाधान यही अनुमान किया जा सकता है कि जिस मुनि-सम्प्रदाय मे ये ग्रन्थ लिखे गये उसका दक्षिण प्रदेश मे आगमन महाराष्ट्री प्रवृत्तिया उत्पन्न होने से पूर्व ही हो चुका था और आर्येतर भाषाओ के बीच मे लेखक अपने उस प्रान्तीय भाषा के रूप का ही अभ्यास करते रहने के कारण, वे महाराष्ट्री के बढते हुए प्रभाव से बचे रहे या कम प्रभावित हुए। इसी भाषा-विकास-क्रम का कुछ स्वरूप हमे उक्त स्तरो मे दिखाई देता है।

षट्खडागम के टीकाकार के सम्मुख जैन सिद्धान्त विषयक विशाल साहित्य उपस्थित था। उन्होंने सतकम्मपाहुड, कषायपाहुड, सम्मति सुत्त, तिलोयपण्णत्ति सुत्त, पचत्थिपाहुड, तत्वार्थसूत्र, आचाराग, वट्टकेर कृत मूलाचार, पूज्यपाद कृत सारसग्रह, अकलक कृत तत्वार्थ भाष्य, तत्वार्थ राजवार्तिक, जीवसमास, छेदसूत्र, कर्म्मपवाद, दशकरणी सग्रह आदि के उल्लेख किये हैं। इनमे से अनेक ग्रन्थ तो सुविख्यात हैं, किन्तु कुछ का जैसे पूज्यपाद कृत सारसग्रह, जीवसमास, छेदसूत्र, कर्मप्रवाद और दशकरणी सग्रह का कोई पता नही चलता। इसी प्रकार उन्होंने अपने गणित सबधी विवेचन में परिकर्म का उल्लेख किया है, तथा व्याकरणात्मक विवेचन मे कुछ ऐसे सूत्र व गाथाए

उद्धृत की है, जिनसे प्रतीत होता है कि उनके सम्मुख कोई पद्यात्मक प्राकृत व्याकरण का ग्रन्थ उपस्थित था जो अब प्राप्त नहीं है। स्वयं षट्खंडागम सूत्रों की उनके सम्मुख अनेक प्रतियाँ थीं जिनमें पाठभेद भी थे जिनका उन्होंने अनेकस्थलों पर स्पष्ट उल्लेख किया है। कहीं कहीं सूत्रों में परस्पर विरोध देखकर टीकाकार ने सत्यासत्य का निर्णय करने में अपनी असमर्थता प्रकट की है, और स्पष्ट कह दिया है कि इनमें कौन सूत्र है और कौन असूत्र इसका निर्णय आगम में निपुण आचार्य करें। कहीं कहा है—इसका निर्णय तो चतुर्दश-पूर्वधारी या केवलज्ञानी ही कर सकते हैं किन्तु वर्तमान काल में वे है नहीं और उनके पास से उपदेश पाकर आये हुए भी कोई विद्वान् नहीं पाये जाते अतः सूत्रों की प्रामाणिकता नष्ट करने से डरने वाले आचार्यों को दोनों सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिये। कहीं कहीं सूत्रों पर उठाई गई शंका पर उन्होंने यहां तक कह दिया है कि इस विषय की पृच्छा गौतम गणधर से करना चाहिये हमने तो यहां उनका अभिप्राय कह दिया। टीका के अनेक उल्लेखों परसे ज्ञात होता है कि सूत्रों का अध्ययन कई प्रकार से चलता था। कोई सूत्राचार्य थे तो कोई निक्षेपाचार्य और कोई व्याख्यानाचार्य। इनसे भी ऊपर महावाचकों का पद था। कषाय-प्राभृत के प्रकाण्ड ज्ञाता आर्य मंक्षु और नागहस्ति को अनेक स्थानों पर महावाचक कहा गया है। आर्य नंदी महावाचक का भी उल्लेख आया है। सैद्धान्तिक मतभेदों के प्रसंग में टीकाकार ने अनेक स्थानों पर उत्तर प्रतिपत्ति और दक्षिण प्रतिपत्ती का उल्लेख किया है, जिनमें से वे स्वयं दक्षिण प्रतिपत्ति को स्वीकार करते थे क्योंकि वह सरल सुस्पष्ट और आचार्य-परम्परागत है। कुछ प्रसंगों पर उन्हें स्पष्ट आगम परम्परा प्राप्त नहीं हुई, तब उन्होंने अपना स्वयं स्पष्ट मत स्थापित किया है और यह कह दिया है कि शास्त्र प्रमाण के अभाव में उन्होंने स्वयं अपने युक्तिबल से अमुक बात सिद्ध की है। विषय चाहे दार्शनिक हो और चाहे गणित जैसा शास्त्रीय वे उस पर पूर्ण विवेचन और स्पष्ट निर्णय किये बिना नहीं रुकते थे। इसी कारण उनकी ऐसी असाधारण प्रतिभा को देखकर ही उनके विद्वान् शिष्य आचार्य जिनसेन ने उनके विषय में कहा है कि—

यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम्।
जाताः सर्वज्ञ-सद्भावे निरारेका मनस्विनः॥

अर्थात् उनकी स्वाभाविक सर्वार्थगामिनी प्रज्ञा को देखकर विद्वज्जन सर्वज्ञ के सद्भाव के विषय में निस्सन्देह हो जाते थे। इस टीका के आलोडन से हमें तत्कालीन

सैद्धांतिक विवेचन, वादविवाद व गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा अध्ययन-अध्यापन की प्रणाली का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है।

नेमिचन्द्र (११वीं शती) की रचनाए

जैसा ऊपर सकेत किया जा चुका है, इसी पट्खडागम और उसकी धवला टीका के आधार से गोम्मटसार की रचना हुई, जिसके ७३३ गाथाओ युक्त जीवकाड तथा ९६२ गाथाओ युक्त कर्मकाड नामक खडो मे उक्त आगम का समस्त कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी सार निचोड लिया गया है, और अनुमानत इसी के प्रचार से मूल पट्खडागम के अध्ययन-अध्यापन की प्रणाली समाप्त हो गई। गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्रने अपनी कृति के अत मे गर्व से कहा है कि जिस प्रकार चक्रवर्ती पट्खड पृथ्वी को अपने चक्र द्वारा सिद्ध करता है, उसी प्रकार मैंने अपनी बुद्धि रूपी चक्र से पट्खडागम को सिद्धकर अपनी इस कृति मे भर दिया है। इसी सफल सैद्धांतिक रचना के कारण उन्हें सिद्धान्त चक्रवर्ती की उपाधि प्राप्त हुई और तत्पश्चात् यह उपाधि अन्य अनेक आचार्यो के साथ भी सलग्न पाई जाती है। सभवत त्रैविद्यदेव की उपाधि वे आचार्य धारण करते थे, जो इस पट्खडागम के प्रथम तीन खडो के पारगामी हो जाते थे। इन उपाधियो ने धवलाकार के पूर्व की सूत्राचार्य आदि उपाधियो का लोप कर दिया। उन्होंने अपनी यह कृति गोम्मटराय के लिये निर्माण की थी। गोम्मट गगनरेश राचमल्ल के मत्री चामुडराय का ही उपनाम था, जिसका अर्थ होता है—सुन्दर, स्वरूपवान्। इन्ही चामुडराय ने मैसूर के श्रवण बेलगोल के विन्ध्यगिरि पर बहुबलि की उस प्रख्यात मूर्ति का उद्घाटन कराया था, जो अपनी विशालता और कलात्मक सौन्दर्य के लिये कोई उपमा नही रखती। समस्त उपलभ्य प्रमाणो पर से इस मूर्ति की प्रतिष्ठा का समय रविवार दि० २३ मार्च सन् १०२८, चैत्र शुक्ल पचमी, शक स० ९५१ सिद्ध हुआ है। कर्मकाड की रचना तथा इस प्रतिष्ठा का उल्लेख कर्मकाण्ड की ९६८ वी गाथा मे साथ-साथ आया है। अतएव लगभग यही काल गोम्मटसार की रचना का माना जा सकता है। इन रचनाओ के द्वारा पट्खडागम के विषय का अध्ययन उसी प्रकार सुलभ बनाया गया जिस प्रकार उपर्युक्त निर्युक्तियो और भाष्यों द्वारा श्रुतागों का। गोम्मटसार पर सस्कृत मे दो विशाल टीकाए लिखी गई—एक **जीवप्रबोधिनी** नामक टीका केशव वर्णी द्वारा, और दूसरी **मदप्रबोधिनी** नामकी टीका श्रीमदभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के द्वारा। कुछ सकेतो के आधार से प्रतीत होता है कि गोम्मटसार पर चामुडराय ने भी कन्नड मे एक वृत्ति लिखी थी, जो अब नही मिलती। इनके आधार

म हिंदी में इसकी सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका नामक वचनिका पं टोडरमल जी ने सं० १८१८ में समाप्त की । गोम्मटसार से सम्बद्ध एक और कृति लब्धिसार नामक है जिसमें आत्मशुद्धि रूप लब्धियों को प्राप्त करने की विधि समझाई गयी है । अपनी द्रव्यसंग्रह नामक एक ५८ गाथायुक्त अन्य कृति द्वारा नेमिचन्द्र ने जीव तथा अजीव तत्वों को विधिवत् समझाकर एक प्रकार से संपूर्ण जैन तत्वज्ञान का प्रतिपादन कर दिया है । लब्धिसार के साथ साथ एक कृति क्षपणासार भी मिलती है जिसमें कर्मों को खपाने की विधि समझाई गई है । इसकी प्रशस्ति के अनुसार इसे माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव ने बाहुबलि मंत्री की प्रार्थना से लिखकर शक स ११२५ (ई सन् १२ ३) में पूर्ण किया था ।

षट्खंडागम की परम्परा की द्वितीय महत्वपूर्ण रचना है पंचसंग्रह जो अभी प्रकाशित हुई है । इसमें नामानुसार पांच अधिकार (प्रकरण) हैं, जीवसमास प्रकृति समुत्कीर्तन कर्मस्तव शतक और सत्तरि अर्थात् सप्ततिका जिनमें क्रमानुसार २ ६ १२ ७७ १ ५ और ७ गाथाएं हैं । प्रकृति समुत्कीर्तन में कुछ भाग गद्यात्मक भी है । इसकी बहुतसी गाथाएं धवला और गोम्मटसार के समान ही हैं । अंतिम दो प्रकरणों पर गाथाबद्ध भाष्य भी है, जिसकी गाथाएं भी गोम्मटसार से मिलती हैं । ये भाष्य गाथाएं मूलग्रन्थ से मिश्रित पाई जाती हैं । शतक नामक प्रकरण के आदि में कर्ता ने स्पष्ट कहा है कि मैं यहां कुछ गाथाएं दृष्टिवाद से लेकर कहता हूं (वोच्छं कविवइ गाहाओ दिट्ठिवादाओ)। शतक के अंत में १ १ वीं गाथा में कहा गया है कि यहां बंध-समास का वर्णन कर्म प्रवाद नामक श्रुतसागर का रस मात्र ग्रहण करके किया गया है । जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, कर्मप्रवाद दृष्टिवाद के अन्तर्गत १४ पूर्वों में से आठवें पूर्व का नाम था । उसी प्रकार सप्तति के प्रारंभ में कहा गया है कि मैं यहां दृष्टिवाद के सार को संक्षेप से कहता हूं (वोच्छं सखेवेणं निस्संदं दिट्ठिवादादो) । प्रत्येक प्रकरण मंगलाचरण और प्रतिज्ञात्मक गाथाओं से प्रारम्भ होता है और अपने अपने रूप में परिपूर्ण है । इससे प्रतीत होता है कि आदितः ये पांचों प्रकरण स्वतंत्र रचनाओं के रूप में रहे हैं । इनपर एक संस्कृत टीका भी है जिसके कर्ता ने अपना परिचय शतक की अंतिम गाथा की टीका में दिया है । यहां उन्होंने मूलसंघ के विद्यानंदि गुरु भट्टारक मल्लिभूषण मुनि लक्ष्मीचन्द्र और वीरचन्द्र उनके पट्टवर्ती ज्ञानभूषण गणि और उनके शिष्य प्रभाचन्द्र मति के नाम लिये हैं । ये प्रभाचन्द्र ही इस टीका के कर्ता प्रतीत होते हैं । उक्त आचार्य परम्परावर्ती प्रभाचन्द्र का नाम संवत् १६२५ से १६१० तक पाया जाता है । उक्त प्रशस्तिके अन्तकी पुष्पिका में मूल ग्रन्थ को पंचसंग्रह अपर नाम लघुगोम्मटसार सिद्धान्त कहा है । इस पर से अनुमान होता है कि मूल ग्रन्थ अथवा उसकी भाष्य-गाथाओं का

सकलन गोम्मटसार पर से किया गया है। इसी पचसग्रह के आधार से अमितगति ने **सस्कृत श्लोकबद्ध पचसग्रह** की रचना की, जो उसकी प्रशस्ति के अनुसार वि० स० १०७३ (ई० सन् १०१६) मे मसूरिकापुर नामक स्थान मे समाप्त हुई। इसमे पाचो अधिकारो के नाम पूर्वोक्त ही हैं, तथा दृष्टिवाद और कर्मप्रवाद के उल्लेख ठीक पूर्वोक्त प्रकार से ही आये हैं। यदि हम इसका आधार प्राकृत पचसग्रह को न माने तो यहा शतक और सप्तति नामक अधिकारो की कोई सार्थकता ही सिद्ध नही होती, क्योकि इनमे श्लोक-सख्या उससे बहुत अधिक पाई जाती है। किन्तु जब सस्कृत रूपान्तरकारने अधिकारो के नाम वे ही रखे हैं, तब उन्होंने भी मूल और भाष्य आधारित श्लोको को अलग अलग रखा हो तो आश्चर्य नही। प्राकृत मूल और भाष्य को सन्मुख रखकर, सभव है श्लोको का उक्त प्रकार पृथकत्व किया जा सके।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे भी एक **प्राकृत पचसग्रह** पाया जाता है जिसके कर्ता पार्श्वर्षि के शिष्य चर्द्रर्षि हैं। उनका काल छठी शती अनुमान किया जाता है। इस ग्रन्थ मे ९६३ गाथायें हैं जो शतक, सप्तति, कषायपाहुड, षट्कर्म और कर्मप्रकृति नामक पाच द्वारो मे विभाजित हैं। ग्रन्थ पर मलयगिरि की टीका उपलब्ध है।

शिवशर्म कृत **कर्मप्रकृति** (कम्मपयडि) मे ४१५ गाथाए हैं और वे बधन, सक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरणा, उपशमना, उदय और सत्ता इन आठ करणो (अध्यायो) में विभाजित हैं। इस पर एक चूर्णि तथा मलयगिरि और यशोविजय की टीकायें उपलब्ध हैं।

शिवशर्म की दूसरी रचना **शतक** नामक भी है। गर्गर्षि कृत **कर्मविपाक** (कम्मविवाग) तथा जिनवल्लभगणि कृत **षडशीति** (सडसीइ) एव **कर्मस्तव** (कम्मत्थव) **बंधस्वामित्व** (सामित्त) और **सप्ततिका** (सत्तरी) अनिश्चित कर्ताओ की उपलब्ध हैं, जिनमे कर्म सिद्धान्त के भिन्न-भिन्न प्रकरणो का अतिसक्षेप में सुव्यवस्थित वर्णन किया गया है। ये छहों रचनाए प्राचीन कर्मग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध हैं और उन पर नाना कर्ताओ की चूर्णि, भाष्य, वृत्ति, टिप्पण आदि रूप टीकाए पाई जाती हैं। सत्तरी पर अभयदेव सूरि कृत भाष्य तथा मेरुतुग की वृत्ति (१४ वी शती) उपलब्ध हैं।

ईस्वी की १३वी शती मे जगच्चन्द्र सूरि के शिष्य देवेन्द्र सूरि ने कर्मविपाक (गा० ६०), कर्मस्तव (गा० ३४), बधस्वामित्व (गा० २४), षडशीति (गा० ८६) और शतक (गा० १००), इन पाच ग्रन्थो की रचना की, जो **नये कर्मग्रन्थों** के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन पर उन्होंने स्वय विवरण भी लिखा है। छठा नव्य कर्मग्रन्थ प्रकृति-बध विपयक ७२ गाथाओं मे लिखा गया है, जिसके कर्ता के विषय मे अनिश्चय है। इस पर मलयगिरि कृत टीका मिलती है।

जिनभद्र गणी कृत विशेषणवती (६वीं शती) में ४ गाथाओं द्वारा ज्ञान दर्शन जीव अजीव आदि नाना प्रकार से द्रव्य-प्ररूपण किया गया है।

जिनवल्लभसूरि कृत सार्धशतक का दूसरा नाम 'सूक्ष्मार्थ विचारसार' है जिसमें सिद्धान्त के कुछ विषयों पर सूक्ष्मता से विचार किया गया है। इस पर एक भाष्य मुनिचन्द्र कृत चूर्णि तथा हरिभद्र धनेश्वर और चक्रेश्वर कृत चूर्णियों के उल्लेख मिलते हैं। मूल रचना का काल लगभग ११ ईस्वी पाया जाता है।

जीवसमास नामक एक प्राचीन रचना २८६ गाथाओं में पूर्ण हुई है, और उसमें सत्, संख्या आदि सात प्ररूपणाओं द्वारा जीवादि द्रव्यों का स्वरूप समझाया गया है। इस ग्रन्थ पर एक बृहद् वृत्ति मिलती है जो मलधारी हेमचन्द्र द्वारा ११ ७ ईस्वी में लिखी गई ७ श्लोक प्रमाण है।

जैन सिद्धान्त में मन वचन और काम योग के भेद-प्रभेदों का वर्णन पाता है गोम्मटसारादि रचनाओं में यह पाया जाता है। यशोविजय उपाध्याय (१८वीं शती) ने अपने भाषारहस्य-प्रकरण की १ १ गाथाओं में द्रव्य व भाव-भात्मक भाषा के स्वरूप तथा सत्यभाषा के जनपद-सत्या सम्मत-सत्या नामसत्या आदि दश भेदों का निरूपण किया है।

षट्खंडागम सूत्रों की रचना के काल में ही गुणधर आचार्य द्वारा कसायपाहुड की रचना हुई। यथार्थत कहा नहीं जा सकता कि धरसेन और गुणधर आचार्यों में कौन पहले और कौन पीछे हुए। श्रुतावतार के कर्ता ने स्पष्ट कह दिया है कि इन आचार्यों की पूर्वापर परम्परा का उन्हें कोई प्रमाण नहीं मिल सका। कसायपाहुड की रचना षट्खंडागम के समान सूत्र रूप नहीं किन्तु पद्यबद्ध है। इसमें २३३ मूल गाथाएं हैं, जिनका विषय कषायों अर्थात् क्रोध मान माया और लोभ के स्वरूप का विवेचन और उनके कर्मबंध में कारणीभूत होने की प्रक्रिया का विवरण करना है। ये चारों कषाय पुन दो वर्गों में विभाजित होते हैं—प्रेयस् (राग) और द्वेष और इसी कारण ग्रन्थ का दूसरा नाम पेज्जदोस पाहुड पाया जाता है। इस पाहुड को आर्यमंक्षु और नागहस्ति से सीखकर, यतिवृषभाचार्य ने उस पर छह हजार श्लोक प्रमाण वृत्तिसूत्र लिखे जिन्हें उच्चारणाचार्य ने पुन पल्लवित किया। इन पर वीरसेनाचार्य ने अपनी जयधवला टीका लिखी। इसे वे बीस हजार श्लोक प्रमाण लिखकर स्वर्गवासी हो गये तब उनके शिष्य जिनसेनाचार्य ने चालीस हजार श्लोक प्रमाण टीका और लिख कर उसे पूरा किया। यह रचना शक सं ७५६ (ई सन् ८३७) में पूरी हुई, जबकि राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष का राज्य था। इस टीका की रचना भी धवला के समान

मरिण-प्रवाल न्याय से बहुत कुछ प्राकृत, किन्तु यत्र-तत्र सस्कृत मे हुई है। इस रचना के मूडवद्री के सिद्धान्त वसति से बाहर आने का इतिहास वही है, जो षट्खडागम का।

कुन्दकुन्द के ग्रन्थ—

प्राकृत पाहुडो की रचना की परम्परा मे कुदकुद आचार्य का नाम सुविख्यात है। यथार्थत दिग० सम्प्रदाय मे उन्हें जो स्थान प्राप्त है, वह दूसरे किसी ग्रन्थकार को नही प्राप्त हो सका। उनका नाम एक मगल पद्य मे भगवान महावीर और गौतम के पश्चात् ही तीसरे स्थान पर आता है—"**मगल भगवान् वीरो मगल गौतमो गणी। मगल कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोस्तु मगलम्।**" दक्षिण के शिलालेखो मे इन आचार्य का नाम कोडकुद पाया जाता है, जिससे उनके तामिल देशवासी होने का अनुमान किया जा सकता है। श्रुतावतार के कर्ता ने उन्हें कोडकुड-पुर वासी कहा है। मद्रास राज्य मे गुतकल के समीप कुडकुडी नामक ग्राम है, जहाँ की एक गुफा मे कुछ जैन मूर्तिया स्थापित हैं। प्रतीत होता है कि यही कुदकुदाचार्य का मूल निवास-स्थान व तपस्या-भूमि रहा होगा। आचार्य ने अपने ग्रन्थो मे अपना कोई परिचय नही दिया, केवल बारस अणुवेक्खा की एक प्रति के अत मे उसके कर्ता श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य कहे गये हैं। इसके अनुसार कवि का काल ई० पू० तीसरी चौथी शताब्दी मानना पडेगा। किन्तु एक तो वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष की जो आचार्य-परम्परा सुसम्बद्ध और सर्वमान्य पाई जाती है, उसमें कुन्दकुन्द का कही नाम नही आता, और दूसरे भाषा की दृष्टि से उनकी रचनाए इतनी प्राचीन सिद्ध नही होती। उनमे अघोष वर्णों के लोप, य-श्रुति का आगमन आदि ऐसी प्रवृत्तिया पाई जाती हैं, जो उन्हें ई० सन् से पूर्व नही, किन्तु उससे पश्चात् कालीन सिद्ध करती हैं। पाचवी शताब्दी मे हुए आचार्य देवनदी पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका मे कुछ गाथाए उद्धृत की हैं, जो कुन्दकुन्द की बारस-अणुवेक्खा मे भी पाई जाने से वही से ली हुई अनुमान की जा सकती है। बस यही कुन्दकुन्दाचार्य के काल की अतिम सीमा कही जा सकती है। मर्करा के शक सवत् ३८८ के ताम्रपत्रो मे उनके आम्नाय का नाम पाया जाता है, किन्तु अनेक प्रबल कारणो से ये ताम्रपत्र जाली सिद्ध होते हैं। अन्य शिलालेखो मे इस आम्नाय का उल्लेख सातवी आठवी शताब्दी से पूर्व नही पाया जाता। अतएव वर्तमान प्रमाणो के आधार पर निश्चयत इतना ही कहा जा सकता है कि वे ई० की पाचवी शताब्दी के प्रारभ व उससे पूर्व हुए है।

मान्यतानुसार कुदकुदाचार्य ने कोई चौरासी पाहुडों की रचना की। किन्तु वर्तमान

में इनकी निम्न रचनाएं सुप्रसिद्ध हैः—(१) समयसार (२) प्रवचनसार, (३) पंचास्तिकाय (४) नियमसार, (५) रयणसार, (६) दशभक्ति (७) अष्ट पाहुड और (८) बारस अणुवेक्खा। समयसार जैन अध्यात्म की एक बड़ी उत्कृष्ट रचना मानी जाती है, और उसका आदर जैनियों के सभी सम्प्रदायों में समान रूप से पाया जाता है। इसमें आत्मा के गुणधर्मों का निश्चय और व्यवहार दृष्टियों से विवेचन किया गया है तथा उसकी स्वाभाविक और वैभाविक परिणतियों का सुन्दर निरूपण अनेक दृष्टान्तों उदाहरणों व उपमाओं सहित ४१५ गाथाओं में हुआ है। प्रवचनसार की २७५ गाथाएं ज्ञान ज्ञेय व चारित्र नामक तीन श्रुतस्कंधों में विभाजित हैं। *यहां आचार्य ने आत्मा के मूलगुण ज्ञान के स्वरूप का सूक्ष्मता से विवेचन किया है* और जीव की प्रवृत्तियों को शुभ होने से पुण्य बंध करने वाली अशुभ होने से पाप कर्म बंधक तथा शुद्ध होने से कर्मबंध से मुक्त करनेवाली बतलाया है। ज्ञेय तत्वाधिकार में गुण और पर्याय का भेद तथा व्यवहारिक जीवन में होनेवाले आत्म और पुद्गल संबंध का विवेचन किया है। चारित्राधिकार में श्रमणों की दीक्षा और उसकी मानसिक तथा दैहिक साधनाओं का स्वरूप समझाया है। इस प्रकार यह ग्रंथ अपने नामानुसार जैन प्रवचन का सार सिद्ध होता है। कुंदकुंद की रचनाओं में अभी तक इसी ग्रन्थ का भाषात्मक व विषयात्मक सम्पादन व अध्ययन आधुनिक समालोचनात्मक पद्धति से हो सका है।

पंचास्तिकाय की १८१ गाथाएं दो श्रुतस्कंधों में विभाजित हैं। प्रथम श्रुतस्कंध १११ गाथाओं में समाप्त हुआ है और इसमें ६ द्रव्यों में से पांच अस्तिकायों अर्थात् जीव पुद्गल धर्म अधर्म और आकाश का स्वरूप समझाया गया है। अंतिम आठ गाथाएं चूलिका रूप हैं, जिनमें सामान्य रूप से द्रव्यों और विशेषतः काल के स्वरूप पर भी कुछ प्रकाश डाला गया है। दूसरा श्रुतस्कंध महावीर के नमस्कार रूप मंगल से प्रारंभ हुआ है, और इसमें नौ पदार्थों के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है तथा दर्शन ज्ञान और चारित्र को मोक्ष का मार्ग बतलाकर, उनका आचरण करने पर जोर दिया गया है। पांच अस्तिकायों के समवाय को ही लेखक ने समय कहा है एवं अपनी रचना को संग्रहसूत्र (गाथा १ १ १८) कहा है।

समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय पर दो टीकाएं सुप्रसिद्ध हैं—एक अमृतचन्द्र सूरि कृत और दूसरी जयसेन कृत। अमृतचन्द्र का समय ११ वीं शती का पूर्वार्द्ध व जयसेन का १ वीं का अन्तिम भाग सिद्ध होता है। ये दोनों ही टीकाएं बड़ी विद्वत्तापूर्ण हैं, और मूलग्रंथों के मर्म को तथा जैन सिद्धान्त संबंधी अनेक बातों को

स्पष्टता से समझने मे बडी सहायक होती है। अमृतचन्द्र की समयसार-टीका विशेष महत्वपूर्ण है। इसमे उन्होने इस ग्रन्थ को ससार का सच्चा सार स्वरूप दिखलाने वाला नाटक कहा है, जिसपर से न केवल यह ग्रन्थ, किन्तु उक्त तीनो ही ग्रन्थ नाटक-त्रय के नाम से भी प्रख्यात हैं, यद्यपि रचना की दृष्टि से वे नाटक नही हैं। अमृतचन्द्र की समयसार टीका मे आये श्लोको का सग्रह 'समयसार कलश' के नाम से एक स्वतत्र ग्रन्थ ही बन गया है, जिसपर शुभचन्द्र कृत टीका भी है। इन्ही कलशो पर से हिन्दी मे बनारसीदास ने अपना 'समयसार नाटक' नाम का आध्यात्मिक काव्य रचा है, जिसके विषय मे उन्होंने कहा है कि 'नाटक के पढ़त हिया फाटक सो खुलत है'। अमृतचन्द्र की दो स्वतत्र रचनाए भी मिलती हैं—एक पुरुषार्थसिद्ध्युपाय जो जिन प्रवचन-रहस्य-कोष भी कहलाता है, और दूसरी तत्वार्थसार, जो तत्वार्थसूत्र का पद्यात्मक रूपान्तर या भाष्य है। कुछ उल्लेखो व अवतरणो पर से अनुमान होता है कि उनका कोई प्राकृत पद्यात्मक ग्रन्थ, सभवत श्रावकाचार, भी रहा है, जो अभी तक मिला नही।

अमृतचन्द्र और जयसेन की टीकाओ मे मूल ग्रन्थो की गाथा-सख्या भी भिन्न भिन्न पाई जाती है। अमृतचन्द्र के अनुसार पचास्तिकाय मे १७३, समयसार मे ४१५ और प्रवचनसार मे २७५ गाथाए हैं, जब कि जयसेन के अनुसार उनकी सख्या क्रमश १८१, ४३९ और ३११ है।

उक्त तीनो ग्रन्थो पर बालचन्द्र देव कृत कन्नड टीका भी पाई जाती है, जो १२ वी १३ वी शताब्दी मे लिखी गई है। यह जयसेन की टीका से प्रभावित है। प्रवचनसार पर प्रभाचन्द्र द्वारा लिखित सरोज-भास्कर नामक टीका भी है, जो अनुमानत १४ वी शती की है, और उक्त टीकाओ की अपेक्षा अधिक सक्षिप्त है।

कुदकुद कृत शेष रचनाओ का परिचय चरणानुयोग विषयक साहित्य के अन्तर्गत आता है।

द्रव्यानुयोग विषयक सस्कृत रचनाए—

सस्कृत में द्रव्यानुयोग विषयक रचनाओ का प्रारम्भ तत्वार्थ सूत्र से होता है, जिसके कर्ता उमास्वाति हैं। इसका रचनाकाल निश्चित नही है, किन्तु इसकी सर्वप्रथम टीका पाचवी शताब्दी की पाई जाती है, अतएव मूल ग्रन्थ की रचना इससे पूर्व किसी समय हुई होगी। यह एक ऐसी अद्वितीय रचना है, कि उसपर दिग० श्वे० दोनो सम्प्रदायो की अनेक पृथक् पृथक् टीकाए पाई जाती हैं। इस ग्रन्थ की रचना सूत्र रूप है और वह दस अध्यायो मे विभाजित है। प्रथम अध्याय के ३३ सूत्रो मे

सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय के उल्लेख पूर्वक सम्यग्दर्शन की परिभाषा सात तत्त्वों के नाम निर्देश प्रमाण और नयका उल्लेख एवं मति श्रुत आदि पांचज्ञानों का स्वरूप बतलाया गया है। दूसरे अध्याय में ५३ सूत्रों द्वारा जीवों के भेदोपभेद बतलाये गये हैं। तीसरे अध्याय में ३८ सूत्रों द्वारा अधोलोक और मध्यलोक का तथा चौथे अध्याय में ४२ सूत्रों द्वारा देवलोक का वर्णन किया गया है। पांचवें अध्याय में छह द्रव्यों का स्वरूप ४२ सूत्रों द्वारा बतलाया गया है और इस प्रकार सात तत्त्वों में से प्रथम दो अर्थात् जीव और अजीव तत्त्वों का प्ररूपण समाप्त किया गया है। छठे अध्याय में २७ सूत्रों द्वारा आस्रव तत्त्व का निरूपण समाप्त किया गया है, जिसमें शुभाशुभ परिणामों द्वारा पुण्य पाप रूप कर्मास्रव का वर्णन है। सातवें अध्याय में अहिंसादि व्रतों तथा उनसे सम्बद्ध भावनाओं का ३६ सूत्रों द्वारा वर्णन किया गया है। आठवें अध्याय के २६ सूत्रों में कर्मबन्ध के मिथ्यादर्शनादि कारण प्रकृति स्थिति आदि विधियों ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मभेदों और उनके उपभेदों को स्पष्ट किया गया है। नौवें अध्याय में ४७ सूत्रों द्वारा अनागत कर्मों को रोकने के उपाय रूप संवर, तथा बंधे हुए कर्मों के विनाश रूप निर्जरा तत्त्वों को समझाया गया है। दसवें अध्याय में नौ सूत्रों द्वारा कर्मों के क्षय से उत्पन्न मोक्ष का स्वरूप समझाया गया है। इस प्रकार छोटे छोटे ३५७ सूत्रों द्वारा जैन धर्म के मूलभूत सात तत्त्वों का विधिवत् निरूपण इस ग्रन्थ में आ गया है, जिससे इस ग्रन्थ को समस्त जैन सिद्धान्त की कुंजी कहा जा सकता है। इसी कारण यह ग्रन्थ लोक प्रियता और सुविस्तृत प्रचार की दृष्टि से जैन साहित्य में अद्वितीय है। दिग परम्परा में इसकी प्रमुख टीकाएं देवनंदि पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि (५वी शती) अकलंक कृत तत्त्वार्थराजवार्तिक (आठवी शती) तथा विद्यानंदि कृत तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (नौवीं शती) एवं श्वे परम्परा में स्वोपज्ञ भाष्य तथा सिद्धसेन गणि कृत टीका (आठवी शती) हैं। इन टीकाओं के द्वारा मूल ग्रन्थ का सूत्रों द्वारा संक्षेप मे वर्णित विषय खूब पल्लवित किया गया है। इनके अतिरिक्त भी इस ग्रन्थ पर छोटी बड़ी और भी अनेक टीकाएं उत्तर काल मे लिखी गई हैं। तत्त्वार्थ सूत्र के विषय को लेकर उसके भाष्य रूप स्वतंत्र पद्यात्मक रचनाएं भी की गई हैं। इनमें अमृतचन्द्रसूरि कृत तत्त्वार्थसार विशेष उल्लेखनीय है।

न्याय विषयक प्राकृत जैन साहित्य—

जैन आगम सम्मत तत्त्वज्ञान की पुष्टि अनेक प्रकार की न्यायशैलियों में की गई है, जिन्हें स्याद्वाद, अनेकान्तवाद नयवाद आदि नामों से कहा गया है। इस न्याय

शैलियो का स्फुटरूप से उल्लेख व प्रतिपादन तो जैन साहित्य मे आदि से ही यत्र तत्र आया है, तथापि इस विषय के स्वतत्र ग्रन्थ चौथी पाचवी शताब्दी से रचे गये मिलते हैं। जैन न्यायका प्राकृत मे प्रतिपादन करने वाला सर्व प्रथम ग्रन्थ सिद्धसेन कृत **'सम्मइ सुत्त'** (सन्मति या सम्मति तर्क) या सन्मति-प्रकरण है । सन्मति-तर्क को तत्वार्थसूत्र के समान ही दिग० श्वे० दोनो सम्प्रदायो के आचार्यो ने प्रमाण रूप से स्वीकृत किया है। षट्खडागम की धवला टीका मे इसके उल्लेख व उद्धरण मिलते है, तथा वादिराज ने अपने पार्श्वनाथचरित (शक ९४७) मे इसका व सभवत उस पर सन्मति (सुमतिदेव) कृत विवृत्ति का उल्लेख किया है। इसका रचना काल चौथी-पाचवी शताब्दी ई० है। इसमे तीन काड हैं, जिनमे क्रमश ५४, ४३ और ६९ या ७० गाथाए हैं। इस पर अभयदेव कृत २५००० श्लोक प्रमाण 'तत्वबोध विधायिनी' नामकी टीका है, जिसमे जैन न्याय के साथ साथ जैन दर्शन का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। इससे पूर्व मल्लवादी द्वारा लिखित टीका के भी उल्लेख मिलते हैं। प्राकृत मे स्याद्वाद और नयका प्ररूपण करने वाले दूसरे आचार्य देवसेन हैं, जो दसवी शताब्दी मे हुए हैं। उनकी दो रचनाए उपलभ्य हैं एक **लघु-नयचक्र**, जिसमे ८७ गाथाओ द्वारा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दो तथा उनके नैगमादि नौ नयो को उनके भेदोपभेद के उदाहरणो सहित समझाया है। दूसरी रचना **वृहन्नयचक्र**है, जिसमे ४२३ गाथाए हैं, और उसमे नयो व निक्षेपो का स्वरूप विस्तार से समझाया गया है। रचना के अत की ६, ७ गाथाओ मे लेखक ने एक यह महत्वपूर्ण बात बतलाई है कि आदित उन्होने 'दव्व-सहाव-पयास' (द्रव्य स्वभाव प्रकाश) नाम से इस ग्रन्थ की रचना दोहा बध में की थी, किन्तु उनके एक शुभकर नामके मित्र ने उसे सुनकर हसते हुए कहा कि यह विपय इस छद मे शोभा नही देता, इसे गाथा बद्ध कीजिये । अतएव उसे उनके माहल्ल-धवल नामक शिष्य ने गाथा रूप मे परिवर्तित कर डाला । स्याद्वाद और नयवाद का स्वरुप, उनके पारिभाषिक रूप में, व्यवस्था से समझने के लिये देवसेन की ये रचनायें वहुत उपयोगी हैं। इनकी न्यायविपयक एक अन्य रचना **'आलाप-पद्धति'** है। इसकी रचना सस्कृत गद्य मे हुई है। जैन न्याय मे सरलता से प्रवेश पाने के लिये यह छोटा सा ग्रन्थ वहुत सहायक सिद्ध होता है। इसकी रचना नयचक्र के पश्चात् नयो के सुवोध व्याख्यान रूप हुई है ।

न्याय विषयक सस्कृत जैन साहित्य—

जैन न्याय की इस प्राचीन शैली को परिपुष्ट वनाने का श्रेय आचार्य समतभद्र

(५-वीं ६ ठी शती) की है, जिनकी न्याय विषयक आप्तमीमांसा (११४ श्लोक) और युक्त्यनुशासन (६४ श्लोक) ये दोनों रचनाएं प्राप्त हैं। आप्तमीमांसा को देवागम स्तोत्र भी कहा गया है। ये दोनों कृतियां स्तुतियों के रूप में रची गई हैं और उनमें विषय की ऊहापोह एवं खंडन-मंडन स्याद्वाद की सप्तभंगी व नयों के आश्रय से किया गया है और उनमें विशेष रूप से एकांतवाद का खंडन कर अनेकान्तवाद की पुष्टि की गई है। इसी अनेकान्तवाद के आधारपर युक्त्यनुशासन में महावीर के शासन को सर्वोदय तीर्थ कहा गया है। इस रचना का दिग० सम्प्रदाय में बड़ा आदर हुआ है, और उसपर विशाल टीका साहित्य पाया जाता है। सबसे प्राचीन टीका भट्टाकलंककृत अष्टशती है, जिसे आत्मसात् करते हुए विद्यानंदि आचार्य ने अपनी अष्टसहस्री नामक टीका लिखी है। इस टीका के आप्तमीमांसालंकृति व देवागमालंकृति नाम भी पाये जाते हैं। अन्य कुछ टीकाएं वसुनंदि कृत देवागम-वृत्ति (१ वीं शती) तथा लघु समंतभद्र कृत अष्टसहस्रीविषमपद-तात्पर्यटीका (१३ वीं शती) नामकी हैं। एक टिप्पण उपाध्याय यशोविजय कृत भी उपलब्ध है। युक्त्यनुशासन पर विद्यानंदि आचार्य कृत टीका पाई जाती है। इस टीका की प्रस्तावना में कहा गया है कि समन्तभद्र स्वामी ने आप्तमीमांसा में 'अन्ययोग-व्यवच्छेद' द्वारा तीर्थंकर भगवान् को व्यवस्थापित किया और फिर युक्त्यनुशासन की रचना की। इसके द्वारा हमें उक्त दोनों ग्रन्थों के रचना क्रम की सूचना मिलती है। विद्यानंदि ने यहां जो 'अन्ययोग-व्यवच्छेद' पद आप्तमीमांसा के सम्बन्ध में प्रयोग किया है, उसका भाव बड़ा प्रभाव पड़ा और हेमचन्द्र ने अपनी एक स्तुति रूप रचना का यही नाम रखा जिस पर मल्लिषेण ने स्याद्वाद मंजरी टीका लिखी। अपनी एक दूसरी स्तुति-रूप रचना को हेमचन्द्र ने 'अयोग व्यवच्छेदिका नाम दिया है। समंतभद्र कृत अन्य दो ग्रन्थों अर्थात् जीव-सिद्धि और तत्त्वानुशासन के नामों का उल्लेख मिलता है, किन्तु ये रचनायें अभी तक प्रकाश में नहीं आईं।

संस्कृत मे जैन न्याय विषयक संक्षिप्ततम रचना सिद्धसेन कृत न्यायावतार उपलब्ध होती है जिसमें प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाण भेदों के प्रतिपादन द्वारा जैन न्याय का एक नया मोड़ दिया गया है। इससे पूर्व प्रमाण के मति श्रुत अवधि मनः-पर्यय और केवल ये पांच ज्ञानभेद किये जाते थे जिनमें प्रथम दो परोक्ष और शेष तीन प्रत्यक्ष माने जाते थे। इसके अनुसार इन्द्रिय-जन्य समस्त ज्ञान परोक्ष माना जाता था। किन्तु वैदिक व बौद्ध परम्परा के न्याय शास्त्रों में इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हुए ज्ञान को भी प्रत्यक्ष ही मानकर चला गया है। इस ज्ञान को

सम्भवत जिनभद्रगणि ने अपने विशेषावश्यक भाष्य मे प्रथम बार परोक्ष के स्थान पर 'साव्यवहारिक प्रत्यक्ष' की सज्ञा प्रदान की। इसी आधार पर पीछे के न्याय ग्रन्थो मे प्रमाण को प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, इन तीन अथवा उपमान को मिलाकर चार भेदो मे विभाजित कर ऊहापोह की जाने लगी। न्यायावतार मे कुल ३२ कारिकाए हैं, जिनके द्वारा उपर्युक्त तीन प्रमाणो का सक्षेप से प्रतिपादन किया गया है। इसी विषय का विस्तार न्यायावतार की हरिभद्र सूरि (८वी शती) कृत वृत्ति, सिद्धर्षि गणि (१०वी शती) कृत टीका, एव देवभद्र सूरि (१२ वी शती) कृत **टिप्पणो** में किया गया है। शान्तिसूरि (११ वी शती) ने न्यायावतार की प्रथम कारिका पर सटीक **पद्यवध वार्त्तिक** रचा है। इसी प्रथम कारिका पर जिनेश्वर सूरि (११ वी शती) ने अपना पद्यवध **प्रमालक्षण** नामक ग्रन्थ लिखा, और स्वय उसपर व्याख्या भी लिखी।

जैन न्याय को अकलक की देन बडी महत्वपूर्ण है। अनेक शिलालेखो व प्रशस्तियो के आधार से अकलक का समय ई० की आठवी शती का उत्तरार्द्ध विशेषत ई० ७२०-७८० सिद्ध हो चुका है। इनकी तत्त्वार्थसूत्र तथा आप्तमीमासा पर लिखी हुई टीकाओ का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उन रचनाओ मे हमे एक बडे नैयायिक की तर्क शैली के स्पष्ट दर्शन होते हैं। अकलक की न्यायविषयक चार कृतिया प्राप्त हुई हैं-प्रथम कृति **लघीयस्त्रय** मे प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश तथा प्रवचन-प्रवेश नाम के तीन प्रकरण हैं, जो प्रथमत स्वतत्र ग्रन्थ थे, और पीछे एकत्र ग्रथित होकर लघीयस्त्रयनाम से प्रसिद्ध हो गये। प्रमाण, नय और निक्षेप इन तीनो का तार्किक शैली से एकत्र प्ररूपण करने वाला यही सर्वप्रथम ग्रन्थ सिद्ध होता है। इस ग्रन्थ मे उन्होने प्रत्यक्ष का स्वतत्र लक्षण स्थिर किया (१, ३), तार्किक कसौटी द्वारा क्षणिक-वाद का खडन किया (२, १), तर्क का विषय, स्वरूप, उपयोग आदि स्थिर किया, इत्यादि। इसपर स्वय कर्ता की विवृत्ति नामक टीका मिलती है। इसी पर प्रभाचन्द्र ने **लघीयस्त्रयालकार** नामकी वह विशाल टीका लिखी जो **'न्यायकुमुदचन्द्र'** नामसे प्रसिद्ध है, और जैन न्याय का एक बडा प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इनका काल ई० की ग्यारहवी शती है। अकलक की दूसरी रचना **'न्यायविनिश्चय'** है, और उसपर भी लेखक ने स्वय एक वृत्ति लिखी थी। मूल रचना की कोई स्वतत्र प्रति प्राप्त नही हो सकी, किन्तु उसका उद्धार उनकी वादिराजसूरि (१३ वी शती) द्वारा रचित **विवरण** नामकी टीका पर से किया गया है। इसमे प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन नाम के तीन प्रस्ताव हैं, जिनकी तुलना सिद्धसेन द्वारा न्यायावतार में स्थापित प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुत, तथा बौद्ध ग्रन्थकार धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान से करने योग्य है। तीसरी

रचना 'सिद्धिविनिश्चय' में प्रत्यक्षसिद्धि सविकल्पसिद्धि,प्रमाणान्तरसिद्धि जीवसिद्धि आदि बारह प्रस्तावों द्वारा प्रमाण नय और निक्षेप का विवेचन किया गया है। इस पर अनंतवीर्यकृत (११वीं शती) विशाल टीका है। इनका चौथा ग्रन्थ 'प्रमाण-संग्रह' है जिसकी ८७-८८ कारिकाएं नौ प्रस्तावों में विभाजित हैं। इसपर कर्ता द्वारा स्वरचित वृत्ति भी है, जो गद्य मिश्रित शैली में लिखी गई है। इसमें प्रत्यक्ष अनुमान आदि का स्वरूप हेतुओं और हेत्वाभासों का निरूपण वाद के लक्षण प्रवचन के लक्षण सप्तभंगी और नैगमादि सात नयों का कथन एवं प्रमाण नय और निक्षेप का निरूपण बड़ी प्रौढ़ और गंभीर शैली में किया गया है जिससे अनुमान होता है कि यही अकलंक की अन्तिम रचना होगी। इसपर अनन्तवीर्य कृत प्रमाणसंग्रह भाष्य अपर नाम 'प्रमाणसंग्रह-अलंकार टीका' उपलब्ध है। इन रचनाओं द्वारा अकलंक ने जैन न्याय को खूब परिपुष्ट किया है, और उसे उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त कराई है।

अकलंक के अनन्तर जैन न्याय विषयक साहित्य को विशेष रूप से परिपुष्ट करने का श्रेय आचार्य विद्यानंदि को है जिनका समय ई. ७७५ से ८४ तक सिद्ध होता है। उनकी रचनाएं दो प्रकार की पाई जाती हैं एक तो उनसे पूर्वकाल की विशेष सैद्धान्तिक कृतियों की टीकाएं, और दूसरे अपनी स्वतंत्र कृतियां। उनकी उमास्वाति कृत त. सूत्र पर श्लोकवार्तिक नामक टीका समन्तभद्र कृत युक्त्यनुशासन की टीका और आप्तमीमांसा पर अष्टसहस्री टीका के उल्लेख यथास्थान किये जा चुके हैं। इन टीकाओं में भी उनकी सैद्धान्तिक प्रतिभा एवं न्याय की तर्क शैली के दर्शन पद-पद पर होते हैं। उनकी न्याय विषयक स्वतंत्र कृतियां हैं—आप्तपरीक्षा प्रमाणपरीक्षा पत्रपरीक्षा और सत्य शासन-परीक्षा। आप्त-परीक्षा सर्वार्थसिद्धि के 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' आदि प्रथम श्लोक के भाष्य रूप लिखी गई है। विद्यानंदि ने अपने प्रमाण-परीक्षादि ग्रन्थों में उस वर्णन शैली को अपनाया है, जिसके अनुसार प्रतिपादन अन्य ग्रन्थ की व्याख्या रूप से नहीं किन्तु विषय का स्वतंत्र धारावाही रूप से किया जाता है। इन सब ग्रन्थों में कर्ता ने अकलंक के न्याय को और भी अधिक परिमार्जित करके चमकाया है। उनकी एक और रचना 'विद्यानंद-महोदय' का उल्लेख स्वयं उनके तत्वार्थश्लोकवार्तिक में तथा वादिदेव सूरि के 'स्याद्वाद-रत्नाकर' में मिलता है, किन्तु वह अभी तक प्रकाश में नहीं आ सकी है।

विद्यानंदि के पश्चात् विशेष उल्लेखनीय नैयायिक अनन्तकीर्ति (१ वीं शती) और माणिक्यनंदि (११ वीं शती) पाये जाते हैं। अनन्तकीर्ति की दो रचनाएं 'बृहत् सर्वज्ञसिद्धि' और 'लघुसर्वज्ञसिद्धि' प्रकाश में आ चुकी हैं। माणिक्यनंदि कृत परीक्षा मुख में हमें अनुमान के प्रतिज्ञा हेतु, दृष्टान्त उपनय और निगमन इन पांचों अवयवों

के प्रयोग की स्वीकृति दिखाई देती है (३, २७-४६)। यहा अनुपलब्धि को एक मात्र प्रतिषेध का ही नही, किन्तु विधि-निषेध दोनो का साधक बतलाया है (३, ५७ आदि)। यह ग्रन्थ प्रभाचन्द्र कृत 'प्रमेय-कमल-मार्तण्ड' नामक टीका के द्वारा विशेष प्रख्यात हो गया है। प्रभाचन्द्र कृत 'न्यायकुमुदचन्द' नामक टीका का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। प्रभाचन्द्र का काल ई० की ११ वी शती सिद्ध होता है। १२ वी शती मे अनतवीर्य ने **प्रमेयरत्नमाला**, १५ वी शती मे धर्मभूपण ने **न्यायदीपिका**, विमलदास ने **सप्तभगि-तरगिणी**, शुभचन्द्र ने **सशयवदनविदारण**, तथा अनेक आचार्यो ने पूर्वोक्त ग्रन्थो पर टीका, वृत्ति व टिप्पण रूप से अथवा स्वतत्र प्रकरण लिखकर सस्कृत मे जैन न्यायशास्त्र की परम्परा को १७ वी-१८ वी शती तक बरावर प्रचलित रखा, और उसका अध्ययन-अध्यापन उत्तरोत्तर सरल और सुवोध बनाने का प्रयत्न किया।

जिस प्रकार दिग० सम्प्रदाय मे पूर्वोक्त प्रकार से न्यायविपयक ग्रन्थो की रचना हुई, उसी प्रकार श्वे० सम्प्रदाय मे भी सिद्धसेन के पश्चात् सस्कृत मे नाना न्यायविषयक ग्रन्थो की रचना की परम्परा १८ वी शती तक पाई जाती है। मुख्य नैयायिक और उनकी रचनाए निम्न प्रकार हैं मल्लवादी ने छठवी शती मे, **द्वादशार नयचक्र** नामक ग्रन्थ की रचनाकी जिसपर सिंहसूरिगणि की वृत्ति है और उसी वृत्तिपर से इस ग्रन्थका उद्धार किया गया है। इसमे सिद्धसेन के उद्धरण पाये जाते हैं, तथा भर्तृहरि और दिङ्नाग के मतो का भी उल्लेख हुआ है। इस नयचक्र का कुछ उद्धरण अकलकके तत्वार्थवार्तिक मे भी पाया जाता है। आठवी शती मे हरिभद्राचार्य ने न केवल जैन न्याय को, किन्तु जैन सिद्धान्त को भी अपनी विपुल रचनाओ द्वारा परिपुष्ट बनाया है, एव कथा साहित्य को भी अलकृत किया है। उनकी रचनाओ मे **अनेकान्त जयपताका** (स्वोपज्ञ वृत्ति सहित), **अनेकान्त-वाद-प्रवेश** तथा **सर्वज्ञसिद्धि** जैन न्याय की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

अनेकान्त-जयपताका में ६ अधिकार हैं, जिनमे क्रमश सदसद्-रूप-वस्तु, नित्यानित्यवस्तु, सामान्य-विशेष, अभिलाप्यानभिलाप्य, योगाचार मत, और मुक्ति, इन विषयो पर गम्भीर व विस्तृत न्यायशैली से ऊहापोह की गई है। उक्त विपयो मे से योगाचार मत को छोडकर शेप पाच विषयो पर हरिभद्रने **अनेकान्तवाद-प्रवेश** नामक ग्रन्थ सस्कृत मे लिखा, जो भाषा, शैली तथा विषय की दृष्टि से अनेकान्तजयपताका का सक्षिप्त रूप ही प्रतीत होता है। यह ग्रन्थ एक टिप्पणी सहित प्रकाशित हो चुका है (पाटन १९१२)। उनके **अष्टप्रकरण** नामक ग्रन्थ मे आठ-आठ पद्यो के ३२

प्रकरण हैं जिनमें आत्मसिद्धिवाद क्षणिकवाद नित्यानित्य आदि विषयों का निरूपण पाया जाता है। इसपर जिनेश्वर सूरि (११ वीं सदी) की टीका है। इस टीका में कुछ अंश प्राकृत के हैं जिनका संस्कृत रूपान्तर टीकाकार के शिष्य अभयदेव सूरि ने किया है। उनकी अन्य दार्शनिक रचनाएं हैं षड्दर्शनसमुच्चय शास्त्रवार्ता समुच्चय (सटीक) धर्मसंग्रहणी लोकतत्त्वनिर्णय व परलोकसिद्धि आदि। धर्मसंग्रहणी में १३९६ गाथाओं द्वारा धर्म के स्वरूप का निक्षेपों द्वारा प्ररूपण किया गया है। प्रसंगवश इसमें चार्वाक मत का खंडन भी आया है। इसपर मलयगिरि कृत संस्कृत टीका उपलब्ध है। उनकी योग विषयक योगबिन्दु, योगदृष्टि-समुच्चय योग-शतक योगविंशिका (विंशति विंशिका में १७ वीं विंशिका) एवं षोडशक (१५ वां १६ वां षोडशक) नामक रचनाएं पातञ्जल योग शास्त्र की तुलना में योग विषयक ज्ञान विस्तार की दृष्टि से अध्ययन करने योग्य हैं। अन्यमतों के विवेचन की दृष्टि से उनकी द्विज वदन-चपेटा नामक रचना उल्लेखनीय है। विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होंने बौद्धाचार्य दिङ्नाग (५ वीं सदी) के न्यायप्रवेश पर अपनी टीका लिखकर एक तो मूलग्रन्थ के विषय को बड़े विशदरूप में सुस्पष्ट किया और दूसरे उसके द्वारा जैन सम्प्रदाय में बौद्ध न्याय के अध्ययन की परम्परा चला दी। आगामी काल की रचनाओं में वादिदेव सूरि (१२ वीं सदी) कृत प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, स्याद्वाद रत्नाकर, हेमचन्द्र (१२ वीं सदी) कृत प्रमाण-मीमांसा व अन्ययोगव्यवच्छेदिका और वेदांकुश रत्नप्रभसूरि (११ वीं सदी) कृत स्याद्वाद रत्नाकरावतारिका जयसिंह सूरि (१५ वीं सदी) कृत न्यायसार-दीपिका शुभविजय (१७ वीं सदी) कृत स्याद्वादमाला विनयविजय (१७ वीं सदी) कृत नयकर्णिका उल्लेखनीय हैं।

समन्तभद्र कृत युक्त्यनुशासन के परिचय में कहा जा चुका है कि उस ग्रन्थ के टीकाकार विद्यानंदि ने आप्तमीमांसा को 'अन्ययोगव्यवच्छेदक' कहा है, और तदनुसार हेमचन्द्र ने अपनी अन्ययोगव्यवच्छेदिका और अयोगव्यवच्छेद ये दो द्वात्रिंशिकाएं लिखीं। अन्ययोग-व्यवच्छेदिका पर मल्लिषेण सूरि ने एक सुविस्तृत टीका लिखी जिसका नाम स्याद्वादमंजरी है और जिसे उन्होंने अपनी प्रशस्ति के अनुसार जिनप्रभसूरि की सहायता से शक सं. १२१४ (ई. १२९२) में समाप्त किया था। इसमें न्याय वैशेषिक, पूर्व मीमांसा वेदान्त बौद्ध व चार्वाक मतों का परिचय और उनपर टीकाकार के समालोचनात्मक विचार प्राप्त होते हैं। इस कारण यह ग्रन्थ जैन दर्शन के उक्त दर्शनों से तुलनात्मक अध्ययन के लिये विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है।

अठारवीं शताब्दी में आचार्य यशोविजय हुए, जिन्होंने जैनन्याय और सिद्धान्त

को अपनी अनेक रचनाओ द्वारा खूब परिपुष्ट किया। न्याय की दृष्टि से उनकी 'अनेकान्त-व्यवस्था', 'जैन तर्कभाषा', 'सप्तभगी-नय-प्रदीप', 'नयप्रदीप', 'नयोपदेश', 'नयरहस्य' व 'ज्ञानसार-प्रकरण', 'अनेकान्त-प्रवेश', अनेकान्त-व्यवस्था व वादमाला आदि उल्लेखनीय हैं। तर्कभाषा मे उन्होने अकलकके लघीयस्त्रय तथा प्रमाण-सग्रह के अनुसार प्रमाण नय और निक्षेप, इन तीन विषयो का प्रतिपादन किया है। बौद्ध परम्परा मे मोक्षाकर कृत तर्कभाषा (१२ वी शती) और वैदिक परम्परा मे केशव मिश्र कृत तर्कभाषा (१३ वी–१४ वी शती) के अनुसरण पर ही इस ग्रन्थ का नाम 'जैन तर्कभाषा' चुना गया लगता है। उन्होंने ज्ञानबिन्दु, न्याय-खण्डखाद्य तथा न्यायालोक को नव्य शैली मे लिखकर जैन न्याय के अध्ययन को नया मोड दिया। ज्ञानबिन्दु मे उन्होने प्राचीन मतिज्ञान के व्यजनावग्रह को कारणाश, अर्थावग्रह और ईहा को व्यापाराश, अवाय को फलाश और धारणा को परिपाकाश कहकर जैन परिभाषाओ की न्याय आदि दर्शनो मे निर्दिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रियाओ से सगति बैठाकर दिखलाई है।

करणानुयोग साहित्य—

उपर्युक्त विभागानुसार द्रव्यानुयोग के पश्चात् जैन साहित्य का दूसरा विषय है करणानुयोग। इसमे उन ग्रन्थो का समावेश होता है जिनमे ऊर्ध्व, मध्य व अधोलोको का, द्वीपसागरो का, क्षेत्रो, पर्वतो व नदियो आदि का स्वरूप व परिमाण विस्तार से, एव गणित की प्रक्रियाओ के आधार से, वर्णन किया गया है। ऐसी अनेक रचनाओ का उल्लेख ऊपर वर्णित जैन आगम के भीतर किया जा चुका है, जैसे सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति और द्वीपसागर-प्रज्ञप्ति। इन प्रज्ञप्तियो मे समस्त विश्व को दो भागो मे बाटा गया है----लोकाकाश व अलोकाकाश। अलोकाकाश विश्व का वह अनन्त भाग है जहा आकाश के सिवाय अन्य कोई जड या चेतन द्रव्य नही पाये जाते। केवल लोकाकाश ही विश्व का वह भाग है जिसमे जीव, और पुद्गल तथा इनके गमनागमन मे सहायक धर्म और अधर्म द्रव्य तथा द्रव्य परिवर्तन मे निमित्तभूत काल, ये पाच द्रव्य भी पाये जाते हैं। इस द्रव्यलोक के तीन विभाग हैं--ऊर्ध्व, मध्य और अधो लोक। मध्यलोक मे हमारी वह पृथ्वी है, जिसपर हम निवास करते हैं। यह पृथ्वी गोलाकार असख्य द्वीप-सागरो मे विभाजित है। इसका मध्य मे एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है, जिसे वलयाकार वेष्टित किये हुए दो लाख योजन विस्तार वाला लवण-समुद्र है। लवणसमुद्र को चार लाख योजन विस्तार वाला धातकी खड द्वीप वेष्टित

प्रकरण हैं जिनमें आत्मनित्यवाद क्षणिकवाद नित्यानित्य आदि विषयों का निरूपण पाया जाता है। इसपर जिनेश्वर सूरि (११ वीं शती) की टीका है। इस टीका में कुछ अंश प्राकृत के हैं जिनका संस्कृत रूपान्तर टीकाकार के शिष्य अभयदेव सूरि ने किया है। उनकी अन्य दार्शनिक रचनाएं हैं षड्दर्शनसमुच्चय शास्त्रवार्ता समुच्चय (सटीक) धर्मसंग्रहणी लोकतत्त्वनिर्णय व परलोकसिद्धि आदि। धर्मसंग्रहणी में १३९६ गाथाओं द्वारा धर्म के स्वरूप का निक्षेपों द्वारा प्ररूपण किया गया है। प्रसंगवश इसमें चार्वाक मत का खंडन भी पाया है। इसपर मलयगिरि कृत संस्कृत टीका उपलब्ध है। उनकी योग विषयक योगबिन्दु, योगदृष्टि-समुच्चय योग-शतक योगविंशिका (विंशति विंशिका में १७ वीं विंशिका) एवं षोडशक (१४ वां १६ वां षोडशक) नामक रचनाएं पातञ्जल योग शास्त्र की तुलना में योग विषयक ज्ञान विस्तार की दृष्टि से अध्ययन करने योग्य हैं। अन्यमतों के विवेचन की दृष्टि से उनकी द्विज वदन-चपेटा नामक रचना उल्लेखनीय है। विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होंने बौद्धाचार्य दिङ्नाग (५ वीं शती) के न्यायप्रवेश पर अपनी टीका लिखकर एक तो मूलग्रन्थ के विषय को बड़े विशदरूप में सुस्पष्ट किया और दूसरे उसके द्वारा जैन सम्प्रदाय में बौद्ध न्याय के अध्ययन की परम्परा चला दी। आगामी काल की रचनाओं में वादिदेव सूरि (१२ वीं शती) कृत प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, स्याद्वाद रत्नाकर, हेमचन्द्र (१२ वीं शती) कृत प्रमाण-मीमांसा व अन्ययोगव्यवच्छेदिका और वेदांकुश रत्नप्रभसूरि (१३ वीं शती) कृत स्याद्वाद रत्नाकरावतारिका जयसिंह सूरि (१५ वीं शती) कृत न्यायसार दीपिका शुभविजय (१७ वीं शती) कृत स्याद्वादमाला विनयविजय (१७ वीं शती) कृत नयकर्णिका उल्लेखनीय हैं।

समन्तभद्र कृत युक्त्यनुशासन के परिचय में कहा जा चुका है कि उस ग्रन्थ के टीकाकार विद्यानंदि ने आप्तमीमांसा को 'अन्ययोगव्यवच्छेदक' कहा है, और तदनुसार हेमचन्द्र ने अपनी अन्ययोगव्यवच्छेदिका और अयोगव्यवच्छेद ये दो द्वात्रिंशिकाएं लिखीं। अन्ययोग-व्यवच्छेदिका पर मल्लिषेण सूरि ने एक सुविस्तृत टीका लिखी जिसका नाम स्याद्वादमंजरी है, और जिसे उन्होंने अपनी प्रशस्ति के अनुसार जिनप्रभसूरि की सहायता से शक स १२१४ (ई १२९२) में समाप्त किया था। इसमें न्याय वैशेषिक पूर्व मीमांसा वेदान्त बौद्ध व चार्वाक मतों का परिचय और उनपर टीकाकार के समालोचनात्मक विचार प्राप्त होते हैं। इस कारण यह ग्रन्थ जैन दर्शन के अन्य दर्शनों से तुलनात्मक अध्ययन के लिये विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है।

अठारवीं शताब्दी में आचार्य यशोविजय हुए, जिन्होंने जैनन्याय और सिद्धान्त

को अपनी अनेक रचनाओ द्वारा खूब परिपुष्ट किया । न्याय की दृष्टि से उनकी **'अनेकान्त-व्यवस्था', 'जैन तर्कभाषा', 'सप्तभगी-नय-प्रदीप', 'नयप्रदीप', 'नयोपदेश', 'नयरहस्य' व 'ज्ञानसार-प्रकरण', 'अनेकान्त-प्रवेश', अनेकान्त-व्यवस्था व वादमाला** आदि उल्लेखनीय हैं। **तर्कभाषा** मे उन्होने अकलकके लघीयस्त्रय तथा प्रमाण-सग्रह के अनुसार प्रमाण नय और निक्षेप, इन तीन विषयो का प्रतिपादन किया है। बौद्ध परम्परा मे मोक्षाकर कृत तर्कभाषा (१२ वी शती) और वैदिक परम्परा मे केशव मिश्र कृत तर्कभाषा (१३ वीं–१४ वी शती) के अनुसरण पर ही इस ग्रन्थ का नाम 'जैन तर्कभाषा' चुना गया लगता है। उन्होंने **ज्ञानबिन्दु, न्याय-खण्डखाद्य** तथा *न्यायालोक* को नव्य शैली मे लिखकर जैन न्याय के अध्ययन को नया मोड दिया। ज्ञानबिन्दु मे उन्होने प्राचीन मतिज्ञान के व्यजनावग्रह को कारणाश, अर्थावग्रह और ईहा को व्यापाराश, अवाय को फलाश और धारणा को परिपाकाश कहकर जैन परिभाषाओ की न्याय आदि दर्शनो मे निर्दिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रियाओ से सगति बैठाकर दिखलाई है।

करणानुयोग साहित्य—

उपर्युक्त विभागानुसार द्रव्यानुयोग के पश्चात् जैन साहित्य का दूसरा विषय है करणानुयोग। इसमे उन ग्रन्थो का समावेश होता है जिनमे ऊर्ध्व, मध्य व अधोलोको का, द्वीपसागरो का, क्षेत्रो, पर्वतो व नदियों आदि का स्वरूप व परिमाण विस्तार से, एव गणित की प्रक्रियाओ के आधार से, वर्णन किया गया है। ऐसी अनेक रचनाओ का उल्लेख ऊपर वर्णित जैन आगम के भीतर किया जा चुका है, जैसे सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति और द्वीपसागर-प्रज्ञप्ति। इन प्रज्ञप्तियो में समस्त विश्व को दो भागो मे बाटा गया है—लोकाकाश व अलोकाकाश। अलोकाकाश विश्व का वह अनन्त भाग है जहा आकाश के सिवाय अन्य कोई जड या चेतन द्रव्य नही पाये जाते। केवल लोकाकाश ही विश्व का वह भाग है जिसमे जीव, और पुद्गल तथा इनके गमनागमन मे सहायक धर्म और अधर्म द्रव्य तथा द्रव्य परिवर्तन मे निमित्तभूत काल, ये पाच द्रव्य भी पाये जाते हैं। इस द्रव्यलोक के तीन विभाग हैं--ऊर्ध्व, मध्य और अधो लोक। मध्यलोक में हमारी वह पृथ्वी है, जिसपर हम निवास करते हैं। यह पृथ्वी गोलाकार असख्य द्वीप-सागरो मे विभाजित है। इसका मध्य मे एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है, जिसे वलयाकार वेष्टित किये हुए दो लाख योजन विस्तार वाला लवण-समुद्र है। लवणसमुद्र को चार लाख योजन विस्तार वाला धातकी खड द्वीप वेष्टित

किये हुए है और उसे भी वेष्टित किये हुए आठ लाख योजन विस्तार वाला कालोदधि समुद्र है। कालोदधि के आसपास १६ लाख योजन विस्तार वाला पुष्करवर द्वीप है। उसके आगे उक्त प्रकार दुगुने दुगुने विस्तार वाले असंख्य सागर और द्वीप हैं। पुष्करवर-द्वीप के मध्य में एक महान् दुर्लंघ्य पर्वत है, जो मानुषोत्तर कहलाता है, क्योंकि इसको लांघकर उस पार जाने का सामर्थ्य मनुष्य में नहीं है। इस प्रकार जम्बूद्वीप धातकी खण्ड और पुष्करार्द्ध ये ढाई द्वीप मिलकर मनुष्य--लोक कहलाता है। जम्बूद्वीप सात क्षेत्रों में विभाजित है, जिनकी सीमा निर्धारित करने वाले छह कुल--पर्वत हैं। क्षेत्रों के नाम हैं—भरत हैमवत हरि, विदेह, रम्यक हैरण्यवत और ऐरावत। इनके विभाजक पर्वत हैं-- हिमवान्, महाहिमवान्, निषध नील रुक्मि और शिखरी। इनमें मध्यवर्ती विदेह क्षेत्र सबसे विशाल है, और उसी के मध्य में मेरु पर्वत है। भरतक्षेत्र में हिमालय से निकलकर गंगा नदी पूर्व समुद्रकी ओर, तथा सिंधु पश्चिम समुद्र की ओर बहती हैं। मध्य में विन्ध्य पर्वत है। इन नदी-पर्वतों के द्वारा भरत क्षेत्र के छह खंड हो गये हैं जिनको जीतकर अपने वशीभूत करने वाला सम्राट् ही षट्खंड चक्रवर्ती कहलाता है।

मध्यलोक में उपर्युक्त असंख्य द्वीपसागरों की परम्परा स्वयम्भूरमण समुद्र पर समाप्त होती है। मध्यलोक के इस असंख्य योजन विस्तार का प्रमाण एक राजु माना गया है। इस प्रमाण से सात राजु ऊपर का क्षेत्र ऊर्ध्वलोक और सात राजु नीचे का क्षेत्र अधोलोक है। ऊर्ध्वलोक में पहले ज्योतिर्लोक आता है, जिसमें सूर्य चन्द्र ग्रह, नक्षत्र और तारों की स्थिति बतलाई गई है। इनके ऊपर सौधर्म ईशान सनत्कुमार, माहेन्द्र ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, लान्तव कापिष्ठ, शुक्र महाशुक्र शतार, सहस्रार, आनत प्राणत आरण और अच्युत ये सोलह स्वर्ग हैं। इन्हें कल्प भी कहते हैं क्योंकि इनमें रहने वाले देव इन्द्र सामानिक त्रायस्त्रिंश पारिषद आत्मरक्ष लोकपाल अनीक प्रकीर्णक आभियोग्य और किल्विषिक इन दस उत्तरोत्तर हीन पदरूप कल्पों (भेदों) में विभाजित हैं। इन सोलह स्वर्गों के ऊपर नौ ग्रैवेयक और उनके ऊपर विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पांच कल्पातीत देव-विमान हैं। सर्वार्थसिद्धि के ऊपर लोक का अग्रतम भाग है, जहां मुक्तात्माएं जाकर रहती हैं। इसके आगे धर्मद्रव्य का अभाव होने से कोई जीव या अन्य द्रव्य प्रवेश नहीं कर पाता। अधोलोक में क्रमशः रत्न शर्करा बालुका पंक धूम तम और महातम प्रभा नाम के सात उत्तरोत्तर नीचे की ओर जाते हुए नरक हैं।

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप से कालचक्र घूमा

करता है, जिसके अनुसार सुषमा-सुषमा, सुपमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुपमा,दुषमा और दुषमा-दुषमा ये छह अवसर्पिणी के, और ये ही विपरीत क्रम से उत्सर्पिणी के आरे होते हैं। प्रथम तीन आरो के काल मे भोगभूमि की रचना रहती है, जिसमे मनुष्य अपनी अन्न वस्त्र आदि समस्त आवश्यकताए कल्पवृक्षो से ही पूरी करते है, और वे कृषि आदि उद्योग-व्यवसायों से अनभिज्ञ रहते हैं। सुषमा-दुषमा काल के अन्तिम भाग मे क्रमश भोगभूमि की व्यवस्था समाप्त होती और कर्मभूमि की रचना प्रारम्भ होती है। उस समय कर्मभूमि सम्बधी युगधर्मो को समझाने वाले क्रमश चौदह कुलकर होते हैं। वर्तमान अवसर्पिणी के सुषमा-दुपमा काल के अत मे प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमकर, क्षेमधर, सीमकर, सीमधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित् और नाभिराज, इन चौदह कुलकरो और विशेपत अतिम कुलकर नाभिराज ने असि, मसि, कृषि, विद्या-वाणिज्य, शिल्प और उद्योग, इन षट्कर्मों की व्यवस्थाए निर्माण की। इनके पश्चात् ऋषभ आदि २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव ९ वासुदेव, और ९ प्रति-वासुदेव, ये ६३ शलाका पुरुप दुषमा-सुपमा नामक चौथे काल मे हुए। अतिम तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के पश्चात् पचम काल दुपम प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान मे चल रहा है। यही सामान्य रूप से करणानुयोग के ग्रन्थो मे वर्णित विपयो का सक्षिप्त परिचय है। किन्ही ग्रन्थो मे यह सम्पूर्ण विषयवर्णन किया गया है, और किन्ही मे इनमे से कोई। किन्तु विशेषता यह है कि इनके विषय के प्रतिपादन मे गणित की प्रक्रियाओ का प्रयोग किया गया है, जिससे ये ग्रन्थ प्राचीन गणित के सूत्रो, और उनके क्रम-विकास को समझने मे बडे सहायक होते हैं। इस विपय के मुख्य ग्रन्थ निम्न प्रकार हैं—

दिग० परम्परा मे इस विषय का प्रथम ग्रन्थ **लोकविभाग** प्रतीत होता है। यद्यपि यह मूलग्रन्थ उपलब्ध नही है, तथापि इसका पश्चात् कालीन सस्कृत पद्यात्मक रूपान्तर सिंहसूरि कृत लोकविभाग मे मिलता है। सिंहसूरि ने अपनी प्रशस्ति में स्पष्ट कहा है कि तीर्थंकर महावीर ने जगत् का जो विधान बतलाया, उसे सुधर्म स्वामी आदि ने जाना, और वही आचार्य-परम्परा से प्राप्त कर, सिंहसूरि ऋषि ने भाषा का परिवर्तन करके रचा। जिस मूलग्रन्थ का उन्होंने यह भाषा-परवर्तन किया, उसका भी उन्होंने यह परिचय दिया है कि वह ग्रन्थ काची नरेश सिंहवर्मा के बाईसवें सवत्सर, तदनुसार शक के ३८० वें वर्ष मे सर्वनदि मुनि ने पाड्य राष्ट्र के पाटलिक ग्राम में लिखा था। इतिहास से सिद्ध है कि शक सवत् ३८० मे पल्लव वशी राजा सिंहवर्मा राज्य करते थे, और उनकी राजधानी काची थी। यह मूल ग्रन्थ अनुमानत प्राकृत मे ही रहा होगा।

किये हुए है और उसे भी वेष्टित किये हुए आठ लाख योजन विस्तार वाला कालोदधि समुद्र है। कालोदधि के आसपास १६ लाख योजन विस्तार वाला पुष्करवर द्वीप है। उसके आगे उक्त प्रकार दुगुने दुगुने विस्तार वाले असंख्य सागर और द्वीप है। पुष्करवर-द्वीप के मध्य में एक महान् वृत्ताकार पर्वत है, जो मानुषोत्तर कहलाता है, क्योंकि इसको लांघकर उस पार जाने का सामर्थ्य मनुष्य में नहीं है। इस प्रकार जम्बूद्वीप धातकी खण्ड और पुष्करार्द्ध ये ढाई द्वीप मिलकर मनुष्य-लोक कहलाता है। जम्बूद्वीप सात क्षेत्रों में विभाजित है जिनकी सीमा निर्धारित करने वाले छह कुल-पर्वत हैं। क्षेत्रों के नाम हैं—भरत हैमवत हरि, विदेह रम्यक हैरण्यवत और ऐरावत। इसके विभाजक पर्वत हैं- हिमवान्, महाहिमवान् निषध नील रुक्मि और शिखरी। इनमें मध्यवर्ती विदेह क्षेत्र सबसे विशाल है और उसी के मध्य में मेरु पर्वत है। भरतक्षेत्र में हिमालय से निकलकर गंगा नदी पूर्व समुद्रकी ओर, तथा सिंधु पश्चिम समुद्र की ओर बहती है। मध्य में विन्ध्य पर्वत है। इन नदी-पर्वतों के द्वारा भरत क्षेत्र के छह खंड हो गये हैं, जिनको जीतकर अपने वशीभूत करने वाला सम्राट् ही षट्खंड चक्रवर्ती कहलाता है।

मध्यलोक मे उपर्युक्त असंख्य द्वीपसागरों की परम्परा स्वयम्भूरमण समुद्र पर समाप्त होती है। मध्यलोक के इस असंख्य योजन विस्तार का प्रमाण एक राजु माना गया है। इस प्रमाण से सात राजु ऊपर का क्षेत्र ऊर्ध्वलोक और सात राजु नीचे का क्षेत्र अधोलोक है। ऊर्ध्वलोक में पहले ज्योतिर्लोक आता है, जिसमें सूर्य चन्द्र ग्रह, नक्षत्र और तारों की स्थिति बतलाई गई है। इनके ऊपर सौधर्म ईशान सनत्कुमार, माहेन्द्र ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, लान्तव कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र सतार, सहस्रार, आनत प्राणत आरण और अच्युत ये सोलह स्वर्ग हैं। इन्हें कल्प भी कहते हैं, क्योंकि इनमें रहने वाले देव इन्द्र सामानिक त्रायस्त्रिंश पारिषद आत्मरक्ष लोकपाल अनीक प्रकीर्णक आभियोग्य और किल्विषिक इन दस उत्तरोत्तर हीन पदरूप कल्पों (भेदों) में विभाजित हैं। इन सोलह स्वर्गों के ऊपर नौ ग्रैवेयक और उनके ऊपर विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पांच कल्पातीत देव-विमान हैं। सर्वार्थसिद्धि के ऊपर लोक का अग्रतम भाग है, जहाँ मुक्तात्माएं जाकर रहती हैं। इसके आगे धर्मद्रव्य का अभाव होने से कोई जीव या अन्य द्रव्य प्रवेश नहीं कर पाता। अधोलोक में क्रमशः रत्न शर्करा बालुका पंक धूम तम और महातम प्रभा नाम के सात उत्तरोत्तर नीचे की ओर जाते हुए नरक हैं।

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप से कालचक्र घूमा

करता है, जिसके अनुसार सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा,दुषमा और दुषमा-दुषमा ये छह अवसर्पिणी के, और ये ही विपरीत क्रम से उत्सर्पिणी के आरे होते हैं। प्रथम तीन आरो के काल मे भोगभूमि की रचना रहती है, जिसमे मनुष्य अपनी अन्न वस्त्र आदि समस्त आवश्यकताए कल्पवृक्षो से ही पूरी करते हैं, और वे कृषि आदि उद्योग-व्यवसायो से अनभिज्ञ रहते हैं। सुषमा-दुषमा काल के अन्तिम भाग मे क्रमश भोगभूमि की व्यवस्था समाप्त होती और कर्मभूमि की रचना प्रारम्भ होती है। उस समय कर्मभूमि सम्बधी युगधर्मो को समझाने वाले क्रमश चौदह कुलकर होते हैं। वर्तमान अवसर्पिणी के सुषमा-दुषमा काल के अत मे प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमकर, क्षेमधर, सीमकर, सीमधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित् और नाभिराज, इन चौदह कुलकरो और विशेषत अतिम कुलकर नाभिराज ने असि, मसि, कृषि, विद्या-वाणिज्य, शिल्प और उद्योग, इन षट्कर्मों की व्यवस्थाए निर्माण की। इनके पश्चात् ऋषभ आदि २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ बलदेव ६ वासुदेव, और ६ प्रति-वासुदेव, ये ६३ शलाका पुरुष दुषमा-सुषमा नामक चौथे काल मे हुए। अतिम तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के पश्चात् पचम काल दुषम प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान मे चल रहा है। यही सामान्य रूप से करणानुयोग के ग्रन्थो मे वर्णित विषयो का सक्षिप्त परिचय है। किन्ही ग्रन्थो मे यह सम्पूर्ण विषयवर्णन किया गया है, और किन्ही मे इसमे से कोई। किन्तु विशेषता यह है कि इनके विषय के प्रतिपादन मे गणित की प्रक्रियाओ का प्रयोग किया गया है, जिससे ये ग्रन्थ प्राचीन गणित के सूत्रो, और उनके क्रम-विकास को समझने मे बड़े सहायक होते हैं। इस विषय के मुख्य ग्रन्थ निम्न प्रकार हैं—

दिग० परम्परा मे इस विषय का प्रथम ग्रन्थ **लोकविभाग** प्रतीत होता है। यद्यपि यह मूलग्रन्थ उपलब्ध नही है, तथापि इसका पश्चात् कालीन सस्कृत पद्यात्मक रूपान्तर सिंहसूरि कृत लोकविभाग मे मिलता है। सिंहसूरि ने अपनी प्रशस्ति मे स्पष्ट कहा है कि तीर्थंकर महावीर ने जगत् का जो विधान बतलाया, उसे सुधर्म स्वामी आदि ने जाना, और वही आचार्य-परम्परा से प्राप्त कर, सिंहसूरि ऋषि ने भाषा का परिवर्तन करके रचा। जिस मूलग्रन्थ का उन्होंने यह भाषा-परवर्तन किया, उसका भी उन्होंने यह परिचय दिया है कि वह ग्रन्थ काची नरेश सिंहवर्मा के बाईसवें सवत्सर, तदनुसार शक के ३८० वें वर्ष मे सर्वनदि मुनि ने पाड्य राष्ट्र के पाटलिक ग्राम मे लिखा था। इतिहास से सिद्ध है कि शक सवत् ३८० मे पल्लव वशी राजा सिंहवर्मा राज्य करते थे, और उनकी राजधानी काची थी। यह मूल ग्रन्थ अनुमानत प्राकृत मे ही रहा होगा।

कुन्दकुन्दकृत नियमसार की १७ वीं गाथा में जो 'लोयविभागेसु णादव्वं' रूप से उल्लेख किया गया है उसमें सम्भव है इसी सर्वनंदि कृत लोकविभाग का उल्लेख हो। आगामी तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ में लोकविभाग का अनेक बार उल्लेख किया गया है।

सिंहसूरि ऋषि ने यह भी कहा है कि उन्होंने अपना यह रूपान्तर उक्त ग्रन्थ पर से समास अर्थात् संक्षेप में लिखा है। जिस रूप में यह रचना प्राप्त हुई है, उसमें २२१ श्लोक पाये जाते हैं, और वह जम्बूद्वीप लवणसमुद्र मानुषक्षेत्र द्वीप-समुद्र काल ज्योतिर्लोक भवनवासी लोक अधोलोक व्यन्तरलोक स्वर्गलोक और मोक्ष इन ग्यारह विभागों में विभाजित है। ग्रन्थ में यत्र तत्र तिलोयपण्णत्ति आदिपुराण त्रिलोकसार व जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति ग्रन्थों के अवतरण या उल्लेख पाये जाते हैं, जिससे इसकी रचना ११ वीं शती के पश्चात् हुई अनुमान की जा सकती है।

त्रैलोक्य संबंधी समस्त विषयों को परिपूर्णता और सुव्यवस्था से प्रतिपादित करने वाला उपलभ्य प्राचीनतम ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति है, जिसकी रचना प्राकृत गाथाओं में हुई है। यत्र तत्र कुछ प्राकृत गद्य भी पाया है, एवं अंकात्मक संदृष्टियों की उसमें बहुलता है। ग्रन्थ इन नौ महाधिकारों में विभाजित है-- सामान्य लोक नारकलोक, भवनवासीलोक मनुष्यलोक तिर्यक्लोक व्यन्तरलोक ज्योतिर्लोक देवलोक और सिद्धलोक। ग्रन्थ की कुल गाथा-संख्या ५६७७ है। बीच बीच में इन्द्रवज्रा स्रग्धरा उपजाति दोधक शार्दूल-विक्रीडित वसन्ततिलका और मालिनी छंदों का भी प्रयोग पाया जाता है। ग्रन्थोल्लेखों में अग्गायणी संगायणी संगाहणी दिट्ठिवाद, परिकम्म मूलाचार, लोयविणिच्छय लोगाइणी व लोकविभाग नाम पाये जाते हैं। मनुष्य लोकान्तर्गत त्रेसठ शलाका पुरुषों की ऐतिहासिक राजवंशीय परम्परा महावीर निर्वाण के १ वर्ष पश्चात् हुए चतुर्मुख कल्कि के काल तक वर्णित है। षट्खंडागम की वीरसेन कृत धवला टीका में तिलोयपण्णत्ति का अनेक बार उल्लेख किया गया है। इन उल्लेखों पर से इस ग्रन्थ की रचना मूलतः ई० सन् के ५ और ८० के बीच हुई सिद्ध होती है। किन्तु उपलभ्य ग्रन्थ में कुछ प्रकरण ऐसे भी मिलते हैं जो उक्त वीरसेन कृत धवला टीका परसे जोड़े गये प्रतीत होते हैं। इस ग्रन्थ के कर्ता यति वृषभाचार्य हैं जो कषायप्राभृत की चूर्णि के लेखक से अभिन्न ज्ञात होते हैं।

नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कृत त्रिलोकसार १ १८ प्राकृत गाथाओं में समाप्त हुआ है। उसमें यद्यपि कोई अध्यायों के विभाजन का निर्देश नहीं किया गया तथापि जिन विषयों के वर्णन की आरंभ में प्रतिज्ञा की गई है, और उसी अनुसार जो वर्णन हुआ है, तदनुसार से इसके लोक-सामान्य तथा भवन व्यन्तर, ज्योतिष वैमानिक और

नर-तिर्यक्लोक ये छह अधिकार पाये जाते हैं। विपय-वर्णन प्राय त्रिलोकप्रज्ञप्ति के अनुसार सक्षिप्त रूप से किया गया है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल ई० ११ वी शती है।

पद्मनदि मुनि कृत **जम्वूद्वीपवपण्णत्ति** मे २३८९ प्राकृत गाथाए हैं और रचना तिलोय पण्णति के आधार से हुई स्पष्ट प्रतीत होती है। इसके तेरह उद्देश्य निम्न प्रकार हैं —उपोद्घात, भरत-ऐरावत वर्ष, शैल-नदी-भोगभूमि, सुदर्शन मेरु, मदर जिनभवन, देवोत्तरकुरु, कक्षाविजय, पूर्व विदेह, अपर विदेह, लवण समुद्र, द्वीपसागर-अघ -ऊर्ध्व-सिद्ध लोक, ज्योतिर्लोक और प्रमाण परिच्छेद। ग्रन्थ के अन्त मे कर्ता ने वतलाया है कि उन्होंने जिनागम को ऋपि विजयगुरु के समीप सुनकर उन्ही के प्रसाद से यह रचना माघनदि, के प्रशिष्य तथा सकलचन्द्र के शिष्य श्रीनदि गुरु के निमित्त की। उन्होंने स्वय अपने को वीरनदि के प्रशिष्य व वलनदि के शिष्य कहा है, तथा ग्रन्थ रचना का स्थान पारियात्र देश के अन्तर्गत वारानगर और वहा के राजा सति या सत्ति का उल्लेख किया है।

श्वे० परम्परा मे इस विपय की आगमान्तर्गत सूर्य, चन्द्र व जम्वूद्वीप प्रज्ञप्तियो के अतिरिक्त जिनभद्रगणि कृत दो रचनाए **क्षेत्रसमास** और **संग्रहणी** उल्लेखनीय हैं। इन दोनो रचनाओ के परिमाण मे क्रमश वहुत परिवर्द्धन हुआ है, और उनके लघु और वृहद् रूप सस्करण टीकाकारो ने प्रस्तुत किये हैं। उपलम्य **वृहत्क्षेत्रमास**, अपर-नाम त्रैलोप्यदीपिका, मे ६५६ गाथाए हैं, जो इन पाच अधिकारो मे विभाजित हैं–जम्वूद्वीप, लवणोदधि, धातकीखड, कालोदधि और पुष्करार्द्ध। इस प्रकार इसमे मनुष्य लोक मात्र का वर्णन है। उपलम्य **वृहत्सग्रहणी** के सकलनकर्ता मलधारी हेमचन्द्रसूरि के शिष्य चन्द्रसूरि (१२ वी शती) हैं। इसमे ३४९ गाथाए हैं, जो देव, नरक, मनुष्य, और तिर्यच, इन चार गति नामक अधिकारो मे, तथा उनके नाना विकल्पो एव स्थिति, अवगाहना आदि के प्ररूपक नाना द्वारो मे विभाजित है। यहा लोको की अपेक्षा उनमे रहने वाले जीवो का ही अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है। एक **लघुक्षेत्रसमास** रत्नशेखर सूरि (१४ वी शती) कृत २६२ गाथाओ मे तथा **वृहत्क्षेत्रसमास** सोम-तिलक सूरि (१४ वीं शती) कृत ४८९ गाथाओ मे, भी पाये जाते हैं। इनमे भी अढाई द्वीप प्रमाण मनुष्य-लोक का वर्णन है। **विचारसार-प्रकरण** के कर्ता देवसूरि के शिष्य प्रद्युम्नसूरि (१३ वी शती) हैं। इसमे ९०० गाथाओ द्वारा कर्मभूमि, भोगभूमि, आर्य व अनार्य देश, राजधानिया, तीर्थंकरो के पूर्वभव, माता-पिता, स्वप्न, जन्म आदि एव समवशरण, गणधर, अष्टमहाप्रातिहार्य, कल्कि, शक व विक्रम काल गणना,

रचनिसूत्र ८४ लाख योनियां व सिद्ध इस प्रकार नाना विषयों का वर्णन है। इस पर माणिक्यसागर कृत संस्कृत छाया उपलब्ध है। (भा स भावनगर, १९८१)।

उक्त समस्त रचनाओं से संभवतः प्राचीन 'ज्योतिषकरंडक' नामक ग्रन्थ है जिसे मुद्रित प्रति में 'पूर्वभृद् बालभ्य प्राचीनतराचार्य कृत' कहा गया है (प्र रतलाम १९२८)। इस पर पादलिप्त सूरि कृत टीका का भी उल्लेख मिलता है। उपलब्ध ज्योतिषकरंडक-प्रकीर्णक में ३७६ गाथाएं हैं, जिनकी भाषा व शैली जैन महाराष्ट्री प्राकृत रचनाओं से मिलती है। ग्रन्थ के आदि में कहा गया है कि सूर्यप्रज्ञप्ति में जो विषय विस्तार से वर्णित है उसको यहाँ संक्षेप से पृथक उद्धृत किया जाता है। ग्रन्थ में कालप्रमाण मान अधिकमास-निष्पत्ति तिथि-निष्पत्ति ओमरत्त (हीनरात्रि) नक्षत्र परिमाण चन्द्र-सूर्य-परिमाण नक्षत्र चन्द्र-सूर्य-गति नक्षत्रयोग मंडलविभाग अयन आवृत्ति मुहूर्तगति ऋतु, विषुवत् (अहोरात्रि-समत्व) व्यतिपात ताप दिवसवृद्धि, अमावस-पौर्णमासी प्रनष्टपर्व और पौरुषी ये इक्कीस पाहुड हैं।

संस्कृत और अपभ्रंश के पुराणों में जैसे हरिवंशपुराण महापुराण त्रिषष्ठि-शलाकापुरुष चरित्र तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार में भी त्रैलोक्य का वर्णन पाया जाता है। विशेषतः जिनसेन कृत संस्कृत हरिवंशपुराण (८ वीं शती) इसके लिये प्राचीनता व विषय-विस्तार की दृष्टि से उल्लेखनीय है। उसके चौथे से सातवें सर्ग तक क्रमशः अधोलोक तिर्यग्लोक ऊर्ध्वलोक और काल का विशद वर्णन किया गया है जो प्रायः तिलोय-पण्णत्ति से मेल खाता है।

चरणानुयोग-साहित्य

जैन साहित्य के चरणानुयोग विभाग में वे ग्रन्थ आते हैं जिनमें आचार धर्म का प्रतिपादन किया गया है। हम ऊपर देख चुके हैं कि द्वादशांग आगम के भीतर ही प्रथम आचारांग में मुनिधर्म का तथा सातवें अंग उपासकाध्ययन में गृहस्थों के आचार का वर्णन किया गया है। पश्चात्कालीन साहित्य में इन दोनों प्रकार के आचार पर नाना ग्रन्थ लिखे गये।

मुनिआचार प्राकृत

सर्वप्रथम कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों में हमें मुनि और श्रावक सम्बन्धी आचार का भिन्न-भिन्न निरूपण प्राप्त होता है। उनके प्रवचनसार का तृतीय श्रुतस्कंध यथार्थतः मुनिआचार सम्बन्धी एक स्वतंत्र रचना है जो सिद्धों तीर्थंकरों और श्रमणों के

नमस्कारपूर्वक श्रामण्य का निरूपण करता है। यहाँ ७५ गाथाओ द्वारा श्रमण के लक्षण, प्रवृज्या तथा उपस्थापनात्मक दीक्षा, अट्ठाईस मूलगुणो का निर्देश, छेद का स्वरूप, उत्सर्ग व अपवाद मार्ग का निरूपण, ज्ञानसाधना, शुभोपयोग, सयमविरोधी प्रवृत्तियो का निषेध तथा श्रामण्य की पूर्णता द्वारा मोक्ष तत्व की साधना का प्ररूपण कर अन्तिम गाथा मे यह कहते हुए ग्रन्थ समाप्त किया गया है कि जो कोई सागार या अनगार आचार से युक्त होता हुआ इस शासन को समझ जाय, वह अल्पकाल मे प्रवचन के सार को प्राप्त कर लेता है।

नियमसार मे १८७ गाथाए हैं। लेखक ने आदि मे स्पष्ट किया है कि जो नियम से किया जाय, वही नियम है और वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप है। 'सार' शब्द से उनका तात्पर्य है कि उक्त नियम से विपरीत बातो का परिहार किया जाय। तत्पश्चात् ग्रन्थ मे उक्त तीनो के स्वरूप का विवेचन किया है। गाथा ७७ से १५७ तक ८१ गाथाओ मे आवश्यको का स्वरूप विस्तार से समझाया है, जिसे उन्होने मुनियो का निश्चययात्मक चारित्र कहा है। यहाँ षड्ावश्यको का क्रम एव उनके नाम अन्यत्र से कुछ भिन्न है। जिन आवश्यको का यहाँ वर्णन हुआ है, वे हैं—प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, कायोत्सर्ग, सामायिक और परमभक्ति। उन्होंने कहा है—प्रतिक्रमण उसे कहते हैं जिसका जिनवर-निर्दिष्ट सूत्रो मे वर्णन है (गाथा ८९) और उसका स्वरूप वही है जो प्रतिक्रमण नामके सूत्र मे कहा गया है (गाथा ९४)। यहा आवश्यक निर्युक्ति का स्वरूप भी समझाया गया है। जो अपने वश अर्थात् स्वेच्छा पर निर्भर नही है वह अवश, और अवश करने योग्य कार्य आवश्यक है। युक्ति का अर्थ है उपाय, वही निरवयव अर्थात् समष्टि रूप से निर्युक्ति कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि लेखक के सम्मुख एक आवश्यक निर्युक्ति नाम की रचना थी और वे उसे प्रामाणिक मानते थे (गाथा १४२)। आवश्यक द्वारा ही श्रामण्य गुण की पूर्त्ति होती है। अतएव जो श्रमण आवश्यक से हीन है, वह चारित्र-भ्रष्ट होता है (१४७-४८)। आवश्यक करके ही पुराण पुरुष केवली हुए हैं (गाथा १५७)। इस प्रकार ग्रन्थ का बहुभाग आवश्यको के महत्व और उनके स्वरूप विषयक है। आगे की १०, १२ गाथाओ मे केवली के ज्ञानदर्शन तथा इनके क्रमश पर-प्रकाशकत्व और स्व-प्रकाशकत्व के विषय में आचार्य ने अपने आलोचनात्क विचार प्रकट किये हैं। यह प्रकारण षट्खडागम की धवला टीका मे ज्ञान और दर्शन के विवेचन विषयक प्रकरण से मिलान करने योग्य है। अत मे मोक्ष के स्वरूप पर कुछ विचार प्रकट कर नियमसार की रचना निजभावना निमित्त की गई है, ऐसा कह कर ग्रन्थ समाप्त किया गया है। इस ग्रन्थ

की १७ वीं गाथा में मनुष्य नारकी तिर्यंच व देवों का भेद-विस्तार लोकविभाग से जानना चाहिये ऐसा कहा है। इस उल्लेख के संबंध में विद्वानों में यह मतभेद है कि यहां लोक-विभाग नामक किसी विशेष रचना से तात्पर्य है, अथवा लोकविभाग संबंधी सामान्य शास्त्रों से। ग्रन्थ के टीकाकार मलधारिदेव ने तो यहां स्पष्ट कहा है कि पूर्वोक्त जीवों का भेद लोकविभाग नामक परमागममें देखना चाहिये (लोकविभागाभिधान-परमागमे द्रष्टव्य)। लोकविभाग नामक संस्कृत ग्रन्थ मिलता है, जिसके कर्ता सिंहसूरि ने उसमें सर्वनंदि द्वारा शक सं १८ (ई सं ४५८) में लिखित प्राकृत लोकविभाग का उल्लेख किया है। आश्चर्य नहीं जो यही लोक विभाग नियमसार के लेखक की दृष्टि में रहा हो। किसी बाधक प्रमाण के अभाव में इस काल को कुंदकुंद के काल की पूर्वावधि मानना अनुचित प्रतीत नहीं होता। –

नियमसार पर संस्कृत टीका 'तात्पर्यवृत्ति' पद्मप्रभ मलधारिदेव कृत पाई जाती है। इस टीका के आदि में तथा पांचवें श्रुतस्कंध के अन्त में कर्ता ने वीरनंदि मुनि की वन्दना की है। चालुक्यराज त्रिभुवनमल्ल सोमेश्वरदेवके समय शक सं ११ ७ के एक शिलालेख (एपी इन्डि १९१६ १७) में पद्मप्रभ मलधारिदेव और उनके गुरु वीरनंदि सिद्धान्तचक्रवर्ती का उल्लेख है। ये ही पद्मप्रभ इस टीका के कर्ता प्रतीत होते हैं।

नियमसार में गाथा १३४ से १४ तक परमभक्तिरूप आवश्यकक्रिया का निरूपण है जिसमें सम्यक्त्व ज्ञान व चरण में भक्ति निर्वाणभक्ति मोक्षगत पुरुषों की भक्ति एवं योगभक्ति का उल्लेख आया है, और अन्त में यह भी कहा गया है कि योगभक्ति करके ही ऋषभादि जिनेन्द्र निर्वाण-सुख को प्राप्त हुए (गा १४)। इस प्रसंगानुसार कुंदकुंद द्वारा स्वयं पृथक रूप से भक्तियां लिखा जाना भी सार्थक प्रतीत होता है। कुंदकुंद कृत उपलभ्य दशभक्तियों के नाम ये हैं —तीर्थंकर भक्ति (गा ८) सिद्धभक्ति (गा ११) चारित्रभक्ति (गा १२) अनगारभक्ति (गा २३) आचार्यभक्ति (गा १) निर्वाणभक्ति (गा २७) पंचपरमेष्ठिभक्ति (गा ७) नंदीश्वरभक्ति और शान्तिभक्ति। ये भक्तियां उनके नामानुसार वन्दनात्मक व भावनात्मक हैं। सिद्धभक्ति की गाथा-संख्या कुछ अनिश्चित है। अन्तिम दो अर्थात् नंदीश्वरभक्ति और शांतिभक्ति जिस रूप में मिलती हैं, उसमें केवल अन्तिम कुछ वाक्य प्राकृत में हैं। उनका पूर्ण प्राकृत पाठ अप्राप्य है। इनकी प्राचीन प्रतियां एकत्र कर संशोधन किये जाने की आवश्यकता है। ये भक्तियां प्रभाचन्द्र कृत संस्कृत टीका सहित *'क्रियाकलाप' नाम से प्रकाशित हुई हैं। (प्र शोलापुर १९२१)।*

धर्माचरण का मुख्य उद्देश्य है मोक्ष-प्राप्ति, और मोक्ष का मार्ग है सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र। इन्ही तीन का प्रतिपादन कुदकुद ने क्रमश अपने दर्शन, सूत्र व चारित्र पाहुडो मे किया है। उन्होने **दर्शन पाहुड** की १५ वी गाथा मे कहा है कि सम्यक्त्व (दर्शन) से ज्ञान और ज्ञान से सव भावो की उपलब्धि तथा श्रेय-अश्रेय का बोध होता है, जिसके द्वारा शील की प्राप्ति होकर अन्तत निर्वाण की उपलब्धि होती है। उन्होने छह द्रव्य और नौ पदार्थों तथा पाच अस्तिकायो और सात तत्वो के स्वरूप मे श्रद्धान करने वाले को व्यवहार से सम्यग्दृष्टि तथा आत्म श्रद्धानी को निश्चय सम्यग्दृष्टि कहा है (गाथा १९-२०)।

सूत्र पाहुड मे वतलाया गया है कि जिसके अर्थ का उपदेश अर्हत् (तीर्थंकर) द्वारा, एव ग्रथ-रचना गणधरो द्वारा की गई है, वही सूत्र है और उसी के द्वारा श्रमण परमार्थ की साधना करते हैं (गाथा १)। सूत्र को पकड कर चलने वाला पुरुष ही बिना भ्रष्ट हुए ससार के पार पहुच सकता है, जिस प्रकार कि सूत्र (धागा) से पिरोई हुई सुई सुरक्षित रहती है और बिना सूत्र के खो जाती है (गाथा ३-४)। आगे जिनोक्त सूत्र के ज्ञान से ही सच्ची दृष्टि की उत्पत्ति तथा उसे ही व्यवहार परमार्थ वतलाया गया है। सूत्रार्थपद से भ्रष्ट हुए साधक को मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये (गाथा ५-७)। सूत्र सबधी इन उल्लेखो से प्रमाणित होता है कि कुदकुद के सम्मुख जिनागम सूत्र थे, जिनका अध्ययन और तदनुसार वर्णन, वे मुनि के लिये आवश्यक समझते थे। आगे की गाथाओ मे उन्होंने मुनि के नग्नत्व व तिल-तुष मात्र परिग्रह से रहितपना बतलाकर स्त्रियो की प्रवृज्या का निषेध किया है, जिससे अनुमान होता है कि कर्ता के समय मे दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय भेद बद्धमूल हो गया था।

चरित्र पाहुड के आदि मे बतलाया गया है कि जो जाना जाय वह ज्ञान, जो देखा जाय वह दर्शन, तथा इन दोनो के सयोग से उत्पन्न भाव चारित्र होता है, तथा ज्ञान-दर्शन युक्त क्रिया ही सम्यक् चारित्र होता है। जीव के ये ही तीन भाव अक्षय और अनन्त है, और इन्ही के शोधन के लिये जिनेन्द्र ने दो प्रकार का चारित्र वतलाया है-एक दर्शनज्ञानात्मक सम्यक्त्व चारित्र और दूसरा सयम-चारित्र (गाथा ३-५)। आगे सम्यक्त्व के नि शकादिक आठ अग (गाथा ७) सयम चारित्र के सागार और अनगार रूप दो भेद (गाथा २१), दर्शन, व्रत आदि देशव्रती की ग्यारह प्रतिमाए (गाथा २२), अणुव्रत-गुणव्रत और शिक्षाव्रत, द्वारा वारह प्रकार का सागारधर्म (गाथा २३-२७) तथा पचेन्द्रिय सवर व पाच व्रत उनकी पच्चीस क्रियाओ सहित, पाच समिति और तीन गुप्ति रूप अनगार सयम का प्ररूपण किया है (गाथा २८ आदि)। वारह

श्रावक व्रतों के संबंध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहां दिशा-विदिशा प्रमाण अनर्थदंडवर्जन और भोगोपभोग-प्रमाण ये तीन गुणव्रत तथा सामायिक प्रोषध अतिथि पूजा और सल्लेखना ये चार शिक्षा-व्रत कहे गये हैं। यह निर्देश त सू (७ २१) में निर्दिष्ट व्रतों से तीन बातों में भिन्न है एक तो यहां भोगोपभोग-परिमाण को अनर्थदंड व्रत के साथ गुणव्रतों में लिया गया है, दूसरे यहां देशव्रत का कोई उल्लेख नहीं है और तीसरे शिक्षाव्रतों में सल्लेखना का निर्देश सर्वथा नया है। यहां यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि त सू (७-२१) में दिग्देशादि सात व्रतों का निर्देश एक साथ किया गया है, उसमें गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का पृथक् निर्देश नहीं है। इनका निर्देश हमें प्रथम बार कुंदकुंद के इसी पाहुड में दिखाई देता है। हरिभद्रकृत श्रावकप्रज्ञप्ति में गुणव्रतों का निर्देश कुंदकुंद के अनुकूल है, किन्तु शिक्षाव्रतों में यहां सल्लेखना का उल्लेख न होकर देशावकाशिक का ही निर्देश है। अनगार संयम के संबंध में उल्लेखनीय बात यह है कि यहां पंचविंशति क्रियाओं व तीन गुप्तियों का समावेश गया है तथा उसमें सोच आदि सात विशेष गुणों का निर्देश नहीं पाया जाता यद्यपि प्रवचनसार (गा० १ ८) में उन सातों का निर्देश है, किन्तु तीन गुप्तियों का उल्लेख नहीं है।

बोध पाहुड (गाथा ६२) में आयतन चैत्य-गृह, प्रतिमा दर्शन बिंब जिन मुद्रा ज्ञान देव तीर्थ अर्हत् और प्रव्रज्या इन ग्यारह के सच्चे स्वरूप का प्ररूपण किया गया है, और पंचमहाव्रतधारी महर्षि को सच्चा आयतन उसे ही चैत्य-गृह, वन्दनीय प्रतिमा सम्यक्त्व ज्ञान व संयम रूप मोक्षमार्ग का दर्शन करानेवाला सच्चा दर्शन उसी को तप और व्रतगुणों से युक्त सच्ची अर्हत मुद्रा उसके ही ध्यान योग में युक्त ज्ञान को सच्चा ज्ञान वही अर्थ धर्म काम व प्रव्रज्या को देनेवाला सच्चा देव और उसी के निर्मल धर्म सम्यक्त्व संयम तप व ज्ञान को सच्चा तीर्थ बतलाया है। जिसने जरा व्याधि जन्म मरण चतुर्गति-गमन पुण्य और पाप एवं समस्त दोषों और कर्मों का नाशकर अपने को ज्ञानमय बना लिया है, वही अर्हत् है, और जिसमें गृह और परिग्रह के मोह से मुक्ति बाईस परीषह व सोलहकषायों पर विजय तथा पापारंभ से विमुक्ति पाई जाती है, वही प्रव्रज्या है। इसमें शत्रु और मित्र प्रशंसा और निन्दा लाभ और अलाभ एवं तृण और कांचन के प्रति समताभाव पाया जाता है उत्तम या मध्यम दरिद्र या धनी के गृह से निरपेक्षभाव से पिंड (आहार) ग्रहण किया जाता है यथा जात (नग्न दिगम्बर) मुद्रा धारण की जाती है शरीर संस्कार छोड़ दिया जाता है एवं क्षमा मार्दव आदि भाव धारण किये जाते हैं। इस पाहुड को कर्ता ने षट्काय सुहंकरं (षट्काय जीवों के लिये सुखकर-हितकर) कहा है, और सम्भवतः यही इस पाहुड

का कर्ता द्वारा निर्दिष्ट नाम है, जिसे उन्होंने भव्यजनो के वोधनार्थ कहा है। इस पाहुड मे प्ररूपित उक्त ग्यारह विषयो के विवरण को पढकर ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय नाना प्रकार के आयतन माने जाते थे, नाना प्रकार के चैत्यो, मदिरो, मूर्त्तियो व विवो की पूजा होती थी, नाना मुद्राओ मे साधु दिखलाई देते थे, तथा देव, तीर्थ व प्रवृज्या के भी नाना रूप पाये जाते थे। अतएव कुदकुद ने यह आवश्यक समझा कि इन लोक-प्रचलित समस्त विषयो पर सच्चा प्रकाश डाला जाय। यही उन्होने इस पाहुड द्वारा किया है।

भावपाहुड (गाथा १६५)मे द्रव्यलिगी और भावलिगी श्रमणो मे भेद किया गया है और कर्ता ने इस वात पर वहुत जोर दिया है कि मुनि का वेप धारण कर लेने, व्रतो और तपो का अभ्यास करने, यहा तक कि शास्त्र ज्ञान प्राप्त कर लेने मात्र से आत्मा का कल्याण नही हो सकता। आत्मकल्याण तो तभी होगा जव परिणामो मे शुद्धि आ जाय, राग द्वेष आदि कपायभाव छूट जाय, और आत्मा का आत्मा मे रमण होने लगे (गा० ५६-५९)। इस सम्वन्ध मे उन्होंने अनेक पूर्वकालीन द्रव्य और भाव श्रमणो के उल्लेख किये हैं। वाहुवलि, देहादि से विरक्त होने पर भी मान कषाय के कारण दीर्घकाल तक सिद्धि प्राप्त नही कर सके (गाथा ४४)। मधुपिंग एव वशिष्ट मुनि आहारादि का त्याग कर देने पर भी चित्त मे निदान (शल्य) रहने से श्रमणत्व को प्राप्त नही हो सके (गाथा ४५-४६)। जिनलिंगी वाहु मुनि आभ्यन्तर दोष के कारण समस्त दडक नगर को भस्म करके रौरव नरक में गये (गाथा ४९)। द्रव्य श्रमण द्वीपायन सम्यग्-दर्शन-ज्ञान और चारित्र से भ्रष्ट होकर अनन्त ससारी हो गये। भव्यसेन वारह अग और चौदह पूर्व पढकर सकल श्रुतिज्ञानी हो गये, तथापि वे भावश्रमणत्व को प्राप्त न कर सके (गाथा ५२)। इनके विपरीत भावश्रमण शिवकुमार युवती स्त्रियो से घिरे होते हुए भी विशुद्ध परिणामों द्वारा ससार को पार कर सके, तथा शिवभूति मुनि तुष-माष की घोषणा करते हुए (जिसप्रकार छिलके से उसके भीतर का उडद भिन्न है, उसीप्रकार देह और आत्मा पृथक् पृथक हैं) भाव विशुद्ध होकर केवलज्ञानी हो गये। प्रसगवश १८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी, ६७ अज्ञानी, एव ३२ वैनयिक, इसप्रकार ३६३ पाषडो (मतो) का उल्लेख आया है (गा० १३७-१४२)। इस पाहुड मे साहित्यक गुण भी अन्य पाहुडो की अपेक्षा अधिक पाये जाते हैं। जिसका मति रूपी धनुष, श्रुत रूपी गुण और रत्नत्रयरूपी वाण स्थिर हैं, वह परमार्थ रूपी लक्ष्य से कभी नही चूकता (गा० २३)। जिनधर्म उसीप्रकार सव धर्मों मे श्रेष्ठ है जैसे रत्नो मे वज्र और वृक्षो मे चन्दन (गा० ८२)। राग-द्वेष रूपी पवन

के झकोरों से रहित ध्यान रूपी प्रदीप उसीप्रकार स्थिरता से प्रज्वलित होता है जिस प्रकार गर्भगृह में दीपक (गा० १२१)। जिसप्रकार बीज दग्ध हो जाने पर उसमें फिर अंकुर उत्पन्न नहीं होता उसीप्रकार भावश्रमण के कर्मबीज दग्ध हो जाने पर भव (पुनर्जन्म) रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता इत्यादि। इस पाहुड के अवलोकन से प्रतीत होता है कि कर्ता के समय में साधुलोग बाह्य वेष तथा जप तप व्रत आदि बाह्य क्रियाओं में अधिक रत रहते थे और यथार्थ आभ्यन्तर शुद्धि की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं देते थे। इसी बाह्याडम्बर से भावशुद्धि की ओर साधुओं की चित्तवृत्तियों को मोड़ने के लिये यह पाहुड लिखा गया। इसी अभिप्राय से उनका अगला लिंग पाहुड भी लिखा गया है।

लिंगपाहुड (गा २२) में मुनियों की कुछ ऐसी प्रवृत्तियों की निंदा की गई है जिनसे उनका श्रमणत्व सधता नहीं किन्तु दूषित होता है। कोई श्रमण नाचता गाता व बाजा बजाता है (गा ४)। कोई संचय करता है रखता है व आर्तध्यान में पड़ता है (गा ५)। कोई कलह वाद व द्यूत में अनुरक्त होता है (गा ६)। कोई विवाह जोड़ता है और कृषिकर्म व वाणिज्य द्वारा जीवघात करता है (गा ९)। कोई चोरों लम्पटों के वाद-विवाद में पड़ता है व चौपड़ खेलता है (गा १)। कोई भोजन में रस का लोलुपी होता व काम क्रीड़ा में प्रवृत्त होता है (गा १२)। कोई बिना दी हुई वस्तुओं को ले लेता है (गा १४) कोई ईर्यापथ समिति का उल्लंघन कर कूदता है गिरता है दौड़ता है (गा १५)। कोई सस्य (फसल) काटता है, वृक्ष का छेदन करता है या भूमि खोदता है (गा १६)। कोई महिला वर्ग को रिझाता है, कोई प्रव्रज्याहीन गृहस्थ अथवा अपने शिष्य के प्रति बहुत स्नेह प्रकट करता है (गा १८)। ऐसा श्रमण बड़ा ज्ञानी भी हो तो भी भाव-विनष्ट होने के कारण श्रमण नहीं है, और मरने पर स्वर्ग का अधिकारी न होकर नरक व तिर्यंच योनि में पड़ता है। ऐसे भाव-विनष्ट श्रमण को पासत्थ (पार्श्वस्थ) से भी निकृष्ट कहा है (गा २)। अन्त में भावपाहुड के समान इस लिंग पाहुड को सर्व बुद्ध (सर्वज्ञ) द्वारा उपदिष्ट कहा है। जान पड़ता है कर्ता के काल में मुनि सम्प्रदाय में उक्त दोष बहुलता से दृष्टिगोचर होने लगे थे जिससे कर्ता को इस रचना द्वारा मुनियों को उनकी ओर से सचेत करने की आवश्यकता हुई।

शीलपाहुड (गा ४४) भी एक प्रकार से भाव और लिंग पाहुडों के विषय का ही पूरक है। यहां धर्मसाधना में शील के ऊपर बहुत अधिक जोर दिया गया है, जिसके बिना विषयास ज्ञानकी प्राप्ति भी निष्फल है। यहां सच्चपुत्त (सात्यकिपुत्र)

का इस बात पर दृष्टान्त दिया गया है कि वह दश पूर्वों का ज्ञाता होकर भी विपयो की लोलुपता के कारण नरकगामी हुआ (गा० ३०-३१)। व्याकरण, छद, वैशेषिक, व्यवहार तथा न्यायशास्त्र के ज्ञान की सार्थकता तभी वतलाई है जव उसके साथ शील भी हो (गा० १६)। शील की पूर्णता सम्यगदर्शन के साथ ज्ञान, ध्यान, योग, विषयो से विरक्ति और तप के सावन मे भी वतलाई गई है। इसी शीलरूपी जल से स्नान करने वाले सिद्धालय को जाते हैं (गा० ३७-३८)।

कुदकुद की उक्त रचनाओ मे से वारह अणुवेक्खा तथा लिंग और शील पाहुडो को छोड, शेष पर **टीकायें** भी मिलती हैं। दर्शन आदि छह पाहुडो पर श्रुतसागर कृत सस्कृत टीका उपलब्ध है। इन्ही की एकत्र प्रतिया पाये जाने से उनका सामूहिक नाम **षट् प्राभृत** (छप्पाहुड) भी प्रसिद्ध हो गया है। श्रुतसागर देवेन्द्रकीर्ति के प्रशिष्य तथा विद्यानन्दि के शिष्य थे। अत उनका काल ई० सन् की १५-१६ वी शती सिद्ध होता है।

रयणसार (गा० १६२) मे श्रावक और मुनि के आचार का वर्णन किया गया है। आदि मे सम्यग्दर्शन की आवश्यकता वतला कर उसके ७० गुणो और ४४ दोषो का निर्देश किया गया है (गा० ७-८)। दान और पूजा गृहस्थ के लिये, तथा ध्यान और स्वाध्याय मुनि के लिये आवश्यक वतलाये गये हैं (गा० ११ आदि), तथा सुपात्रदान की महिमा वतलाई गई है (गा० १७ आदि)। आगे अशुभ और शुभ भावो का निरूपण किया है गुरूभक्ति पर जोर दिया गया है, तथा आत्म तत्व की प्राप्ति के लिये श्रुताभ्यास करने का आदेश दिया गया है। आगे स्वेच्छाचारी मुनियो की निंदा की गई है, व वहिरात्म भाव से वचने का उपदेश दिया गया है। अन्त मे गणगच्छ को ही रत्नत्रय रूप, सघ को ही नाना गुण रूप, और शुद्धात्मा को ही समय कहा गया है। इस पाहुड का अभी तक सावधानी से सम्पादन नही हुआ। उसके वीच मे एक दोहा व छह पद्य अपभ्रश भापा मे पाये जाते हैं, या तो ये प्रक्षिप्त हैं, या फिर यह रचना कुन्दकुन्द कृत न होकर किसी उत्तरकालीन लेखक की कृति है। गण-गच्छ आदि के उल्लेख भी उसको अपेक्षाकृत पीछे की रचना सिद्ध करते हैं।

वट्टकेर स्वामी कृत **मूलाचार** दिगम्वर सम्प्रदाय मे मुनिधर्म के लिये सर्वोपरि प्रमाण माना जाता है। कही कही यह ग्रथ कुदाकुदाचार्य कृत भी कहा गया है। यद्यपि यह वात सिद्ध नही होती, तथापि उससे इस ग्रथ के प्रति समाज का महान् आदरभाव प्रकट होता है। धवलाकार वीरसेन ने इसे **आचाराग** नाम से उद्धृत किया है। इसमे कुल १२४३ गाथाए हैं, जो मूलगुण, वृहत्प्रत्याख्यान, सक्षेप प्रत्याख्यान, सामाचार,

पंचाचार, पिंडशुद्धि, षडावश्यक, द्वादशानुप्रेक्षा, अनगारभावना, समयसार, शीलगुण प्रस्तार और पर्याप्ति इन बारह अधिकारों में विभाजित है। यह सब यथार्थतः मुनि के उन अट्ठाईस गुणों का ही विस्तार है जो प्रथम अधिकार के भीतर संक्षेप से निर्दिष्ट और वर्णित है। षडावश्यक अधिकार की कोई ८० गाथाएं आवश्यक निर्युक्ति और उसके भाष्य में ज्यों की त्यों मिलती हैं। इस पर वसुनंदि कृत टीका मिलती है। टीकाकार सम्भवतः वे ही हैं जिन्होंने प्राकृत उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) की रचना की है।

मुनि आचार पर एक प्राचीन रचना भगवती आराधना है, जिसके कर्ता शिवार्य हैं। इन्होंने ग्रंथ के अन्त में प्रगट किया है कि उन्होंने आर्य जिननंदिगणि सर्वगुप्तगणि और मित्रनंदि के पादमूल में सूत्र और उसके अर्थ का भले प्रकार ज्ञान प्राप्त कर, पूर्वाचार्य-निबद्ध रचना के आधार से अपनी शक्ति अनुसार इस आराधना की रचना की। इससे सुस्पष्ट है कि उनके सम्मुख इसी विषय की कोई प्राचीन रचना थी। कल्पसूत्र की स्थविरावली में एक शिवभूति आचार्य का उल्लेख आया है, तथा आवश्यक मूल भाष्य में शिवभूति को वीर निर्वाण से ६०९ वर्ष पश्चात् बोटिक (दिगम्बर) संघ का संस्थापक कहा है। कुंदकुंदाचार्य ने भावपाहुड में कहा है कि शिवभूति ने भाव-विशुद्धि द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया। जिनसेन ने अपने हरिवंश-पुराण में लोहार्य के पश्चाद्वर्ती आचार्यों में शिवगुप्त मुनि का उल्लेख किया है, जिन्होंने अपने गुणों से अर्हद्बलि पद को धारण किया था। आदिपुराण में शिवकोटि मुनीश्वर और उनकी चतुष्टय मोक्षमार्ग की आराधना रूप हितकारी वाणी का उल्लेख किया है। प्रभाचन्द्र के आराधना कथाकोष व देवचन्द्र कृत 'राजावली कथे' में शिव कोटि को स्वामी समन्तभद्र का शिष्य कहा गया है। आश्चर्य नहीं जो इन सब उल्लेखों का अभिप्राय इसी भगवती आराधना के कर्ता से हो। ग्रंथ सम्भवतः ई० की प्रारम्भिक शताब्दियों का है। एक मत यह भी है कि यह रचना यापनीय सम्प्रदाय की है, जिसमें दिगम्बर सम्प्रदाय का अचेलकत्व तथा श्वेताम्बर की स्त्री-मुक्ति मान्य थी। इस ग्रंथ में २१६६ गाथाएं हैं और उनमें बहुत विशदता व विस्तार से दर्शन ज्ञान चारित्र और तप इन्हीं चार आराधनाओं का वर्णन किया गया है, जिनका कुंदकुंद की रचनाओं में अनेक बार उल्लेख आया है। प्रसंगवश जैनधर्म संबंधी सभी बातों का इसमें संक्षेप व विस्तार से वर्णन आ गया है। मुनियों की अनेक साधनाएं व वृत्तियां ऐसी वर्णित हैं, जो दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में अन्यत्र नहीं पाई जातीं। गाथा १६२१ से १८९१ तक की २७१ गाथाओं में आर्त रौद्र धर्म और शुक्ल इन चार ध्यानों का

विस्तार से वर्णन किया गया है। आवश्यकनिर्युक्ति, वृहत्कल्पभाष्य व निशीथ आदि प्राचीन ग्रथो से इसकी अनेक गाथाए व वृत्तान्त मिलते हैं। इस पर दो टीकाए विस्तीर्ण और सुप्रसिद्ध हैं-एक अपराजित सूरि कृत **विजयोदया** और दूसरी प० आशाधर कृत **मूलाराधनादर्पण**। अपराजित सूरि का समय लगभग ७ वी, ८ वी शती ई०, तथा प० आशाधर का १३ वी शती ई० पाया जाता है। इस पर एक पजिका तथा भावार्थ-दीपिका नामकी दो टीकाए भी मिली हैं।

मुनि आचार पर श्वेताम्वर सम्प्रदाय मे हरिभद्रसूरि (८वी शती) कृत **पंववत्थुग** (पचवस्तुक) नामक ग्रन्थ उपलम्य है। इसमे १७१४ प्राकृत गाथाए हैं जो विपयानुसार निम्न पाच वस्तु नामक अविकारो मे विभक्त हैं—(१) मुनि-दीक्षा, (२) यतिदिनकृत्य, (३) गच्छाचार, (४) अनुज्ञा और (५) सल्लेखना। इनमे मुनि धर्म सवधी साधनाओ का विस्तार तथा ऊहापोह पूर्वक वर्णन किया गया है। (प्रकाशित १९२७, गुज० अनुवाद, रतलाम, १९३७)। इस ग्रथ पर स्वोपज्ञ टीका भी है। हरिभद्रकृत **सम्यक्त्व-सप्तति** मे १२ अधिकारो द्वारा सम्यक्त्व का स्वरूप समझाया गया है और सम्यक्त्व की प्रभावना वढानेवालो मे वज्रस्वामी, मल्लवादी, भद्रवाहु, पादलिप्त, सिद्धसेन आदि के चरित्र वर्णन किये गये हैं।

जीवानुशासन मे ३२३ गाथाओ द्वारा मुनिसघ, मासकल्प, वदना आदि मुनि चारित्र सवधी विषयो पर विचार किया गया है। प्रसगवश विम्व-प्रतिष्ठा का भी वर्णन आया है। इस ग्रथ की रचना वीरचद्र सूरि के शिष्य देवसूरि ने वि० स० ११६२ (११०५ ई०) मे की थी।

नेमिचन्द्रसूरि (१३वी शती) कृत **प्रवचनसारोद्धार** मे लगभग १६०० गाथाए हैं जो १७६ द्वारो मे विभाजित हैं। यहा वदन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, महाव्रत, परीषह आदि अनेक मुनिचारित्र सवधी विषयो का वर्णन किया गया है। पूजा-अर्चा के सवध मे तीर्थंकरो के लाछन, यक्ष-यक्षिणी, अतिशय, जिनकल्प और स्थविरकल्प आदि का विवरण भी यहा प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है। जैन क्रियाकाण्ड समझने के लिये यह ग्रथ विशेष रूप से उपयोगी है। इस पर देवभद्र के शिष्य सिद्धसेनसूरि (१३ वीशती) ने **तत्वज्ञानविकासिनी** नामक सस्कृत टीका लिखी है।

जिनवल्लभसूरि (११-१२वी शती) कृत **द्वादशकुलक** मे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का भेद तथा क्रोधादि कषायो के परित्याग का उपदेश पाया जाता है। इस पर जिनपालकृतवृत्ति है जो वि० स० १२९३ (वम्वई, सन् १२३६) मे पूर्ण हुई थी।

पंचाचार, पिंडशुद्धि, षडावश्यक, द्वादशानुप्रेक्षा, अनगारभावना, समयसार, शीलगुण प्रस्तार और पर्याप्ति, इन बारह अधिकारों में विभाजित है। यह सब यथार्थतः मुनि के उन अट्ठाईस मूलगुणों का ही विस्तार है जो प्रथम अधिकार के भीतर संक्षेप से निर्दिष्ट और वर्णित हैं। षडावश्यक अधिकार की कोई ८ गाथाएं आवश्यक निर्युक्ति और उसके भाष्य से ज्यों की त्यों मिलती हैं। इस पर वसुनंदि कृत टीका मिलती है। टीकाकार सम्भवतः वे ही हैं जिन्होंने प्राकृत उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) की रचना की है।

मुनि आचार पर एक प्राचीन रचना भगवती आराधना है, जिसके कर्ता शिवार्य हैं। इन्होंने ग्रंथ के अन्त में प्रगट किया है कि उन्होंने आर्य जिननंदिगणि, सर्वगुप्तगणि और मित्रनंदि के पादमूल में सूत्र और उसके अर्थ का भले प्रकार ज्ञान प्राप्त कर, पूर्वाचार्य-निबद्ध रचना के आश्रय से अपनी शक्ति अनुसार इस आराधना की रचना की। इससे सुस्पष्ट है कि उनके सन्मुख इसी विषय की कोई प्राचीन रचना थी। कल्पसूत्र की स्थविरावली में एक शिवभूति आचार्य का उल्लेख पाया है तथा आवश्यक मूल भाष्य में शिवभूति को वीर निर्वाण से ६०९ वर्ष पश्चात् बोटिक (दिगम्बर) संघ का संस्थापक कहा है। कुंदकुंदाचार्य ने भावपाहुड में कहा है कि शिवभूति ने भाव-विशुद्धि द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया। जिनसेन ने अपने हरिवंश-पुराण में लोहार्य के पश्चात्वर्ती आचार्यों में शिवगुप्त मुनि का उल्लेख किया है, जिन्होंने अपने गुणों से अर्हद्वलि पद को धारण किया था। आदिपुराण में शिवकोटि मुनीश्वर और उनकी चतुष्टय मोक्षमार्ग की आराधना रूप हितकारी वाणी का उल्लेख किया है। प्रभाचन्द्र के आराधना कथाकोश व देवचन्द्र कृत 'राजावली कथे' में शिव कोटि को स्वामी समन्तभद्र का शिष्य कहा गया है। आश्चर्य नहीं जो इन सब उल्लेखों का अभिप्राय इसी भगवती आराधना के कर्ता से हो। ग्रंथ सम्भवतः ई० की प्रारम्भिक शताब्दियों का है। एक मत यह भी है कि यह रचना यापनीय सम्प्रदाय की है, जिसमें दिगम्बर सम्प्रदाय का अचेलकत्व तथा श्वेताम्बर की स्त्री-मुक्ति मान्य थी। इस ग्रंथ में २१६६ गाथाएं हैं और उनमें बहुत विशदता व विस्तार से दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन्हीं चार आराधनाओं का वर्णन किया गया है जिनका कुंदकुंद की रचनाओं में अनेक बार उल्लेख आया है। प्रसंगवश जैनधर्म संबंधी सभी बातों का इसमें संक्षेप व विस्तार से वर्णन आ गया है। मुनियों की अनेक साधनाएं व वृत्तियां ऐसी वर्णित हैं, जैसी दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में अन्यत्र नहीं पाई जातीं। गाथा १६२१ से १८२१ तक की २०१ गाथाओं में आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चार ध्यानों का

विस्तार से वर्णन किया गया है। आवश्यकनिर्युक्ति, वृहत्कल्पभाष्य व निशीथ आदि प्राचीन ग्रथो से इसकी अनेक गाथाए व वृत्तान्त मिलते हैं। इस पर दो टीकाए विस्तीर्ण और सुप्रसिद्ध हैं-एक अपराजित सूरि कृत **विजयोदया** और दूसरी प० आशाधर कृत **मूलाराधनादर्पण**। अपराजित सूरि का समय लगभग ७ वी, ८ वी शती ई०, तथा प० आशाधर का १३ वी शती ई० पाया जाता है। इस पर एक पजिका तथा भावार्थ-दीपिका नामकी दो टीकाए भी मिली हैं।

मुनि आचार पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे हरिभद्रसूरि (८वी शती) कृत **पंववत्युग** (पचवस्तुक) नामक ग्रन्थ उपलम्य है। इसमे १७१४ प्राकृत गाथाए हैं जो विषयानुसार निम्न पाच वस्तु नामक अधिकारो में विभक्त हैं—(१) मुनि-दीक्षा, (२) यतिदिनकृत्य, (३) गच्छाचार, (४) अनुज्ञा और (५) सल्लेखना। इनमे मुनि धर्म सबधी साधनाओ का विस्तार तथा ऊहापोह पूर्वक वर्णन किया गया है। (प्रकाशित १९२७, गुज० अनुवाद, रतलाम, १९३७)। इस ग्रथ पर स्वोपज्ञ टीका भी है। हरिभद्रकृत **सम्यक्त्व-सप्तति** मे १२ अधिकारो द्वारा सम्यक्त्व का स्वरूप समझाया गया है और सम्यक्त्व की प्रभावना वढानेवालो में वज्रस्वामी, मल्लवादी, भद्रवाहु, पादलिप्त, सिद्धसेन आदि के चरित्र वर्णन किये गये हैं।

जीवानुशासन मे ३२३ गाथाओ द्वारा मुनिसघ, मासकल्प, वदना आदि मुनि चारित्र सवधी विषयो पर विचार किया गया है। प्रसगवश विम्व-प्रतिष्ठा का भी वर्णन आया है। इस ग्रथ की रचना वीरचद्र सूरि के शिष्य देवसूरि ने वि० स० ११६२ (११०५ ई०) मे की थी।

नेमिचन्द्रसूरि (१३वी शती) कृत **प्रवचनसारोद्धार** मे लगभग १६०० गाथाए हैं जो १७६ द्वारो में विभाजित हैं। यहा वदन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, महाव्रत, परीषह आदि अनेक मुनिचारित्र सवधी विषयो का वर्णन किया गया है। पूजा-अर्चा के सबध मे तीर्थकरो के लाछन, यक्ष-यक्षिणी, अतिशय, जिनकल्प और स्थविरकल्प आदि का विवरण भी यहा प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है। जैन क्रिया-काण्ड समझने के लिये यह ग्रथ विशेष रूप से उपयोगी है। इस पर देवभद्र के शिष्य सिद्धसेनसूरि (१३ वीशती) ने **तत्वज्ञानविकासिनी** नामक सस्कृत टीका लिखी है।

जिनवल्लभसूरि (११-१२वीं शती) कृत **द्वादशकुलक** में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का भेद तथा क्रोधादि कषायों के परित्याग का उपदेश पाया जाता है। इस पर जिनपालकृतवृत्ति है जो वि० स० १२९३ (वम्वई, सन् १२३६) मे पूर्ण हुई थी।

मुनिआचार—संस्कृत

प्रशमरति प्रकरण उमास्वाति कृत माना जाता है। इसमें ३१३ संस्कृत पद्यों में जैन तत्वज्ञान, कर्मसिद्धान्त, साधु व गृहस्थ आचार, अनित्यादि बारह भावनाओं, उत्तमक्षमादि दसधर्मों एवं धर्मध्यान, केवलज्ञान, अयोगी व सिद्धों का स्वरूप सरल और सुन्दर शैली में वर्णित पाया जाता है। टीकाकार हरिभद्र सूरि ने इसको विषय की दृष्टि से २२ अधिकारों में विभाजित किया है। (सटीक हिन्दी अनु० सहित प्रका० बम्बई, १९५०)

मुनि आचार पर एक चारित्रसार नामक संस्कृत ग्रन्थ है। ग्रन्थ की पुष्पिका में कहा गया है कि इस ग्रन्थ को अजितसेन भट्टारक के चरणकमलों के प्रसाद से चारों अनुयोगों रूप समुद्र के पारगामी धर्मविजय श्रीमद् चामुण्डराय ने बनाया। इस पुष्पिका से पूर्व श्लोक में कहा गया है कि इसमें अनुयोगवेदी रणरंगसिंह ने तत्वार्थ-सिद्धान्त, संभवत: तत्वार्थ (राजवार्तिक) महापुराण एवं आचार शास्त्रों में विस्तार से वर्णित चारित्रसार का संक्षेप से वर्णन किया है। कर्ता के संबंध में इस परिचय से सुस्पष्ट ज्ञात होता है कि इसकी रचना उन्हीं चामुण्डराय ने अथवा उनके नाम से किसी अन्य ने संग्रहरूप से की है जिनके द्वारा बाहुबलि की मूर्ति श्रवण बेलगोला में प्रतिष्ठित की गई थी तथा जिनके निमित्त से नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मटसार की रचना की थी। अत: इस ग्रन्थ का रचनाकाल ११ वीं शताब्दी निश्चित है। ग्रन्थ की उक्त पुष्पिका के अन्त में कहा गया है कि 'भावनासारसंग्रहे चारित्रसारे अनगारधर्म: समाप्त:' इस पर से ग्रन्थ का दूसरा नाम 'भावनासारसंग्रह' भी प्रतीत होता है।

आचार विषयक ग्रन्थों में अमृतचन्द्र सूरि कृत 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' (अपर नाम 'जिन प्रवचन-रहस्य-कोष') कई बातों में अपनी विशेषता रखता है। यहां २२६ संस्कृत पद्यों में रत्नत्रय का व्याख्यान किया गया है, जिसमें क्रमश: चारित्रविषयक अहिंसादि पांच व्रत सात शील (३ गुणव्रत ४ शिक्षाव्रत) सल्लेखना तथा सम्यक्त्व और सल्लेखना को मिलाकर चौदह व्रत-शीलों के ७० अतिचार, इनका स्वरूप सम झाया है, और १२ तप ६ आवश्यक ३ दंड ५ समिति १ धर्म १२ भावना और २२ परीषह, इन सब का निर्देश किया है। यहां हिंसा और अहिंसा के स्वरूप पर सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया गया है, जैसा अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता। यही नहीं किन्तु शेष व्रतों और शीलों में भी मूलत: अहिंसा की ही भावना स्थापित की है। आदि में आत्मा को ही पुरुष और परिणामी-नित्य बतलाकर उसके द्वारा समस्त

विवर्तों को पार कर पूर्ण स्व-चैतन्य की प्राप्ति को ही अर्थसिद्धि बतालाया है, और यही ग्रन्थ के नाम की सार्थकता है। ग्रन्थ के अन्त मे उन्होंने एक पद्य मे जैन अनेकान्त नीति को गोपी की उपमा द्वारा बडी सुन्दरता से स्पष्ट किया है। ग्रन्थ की शैली आदि से अन्त तक विशद और विवेचनात्मक है। इस ग्रन्थ के कोई ६०-७० पद्य जयसेनकृत धर्म-रत्नाकर मे उद्धृत पाये जाते हैं। धर्मरत्नाकर की रचना का समय स्वय उसी की प्रशस्ति के अनुसार वि० स० १०५५--ई० ६६८ है। अतएव यही पुरुषार्थसिद्धयुपाय के रचनाकाल की उत्तरावधि है।

वीरनदि कृत **आचारसार** मे लगभग १००० सस्कृत श्लोको मे मुनियो के मूल और उत्तर गुणो का वर्णन किया गया है। इसके १२ अधिकारो के विषय हैं-मूलगुण, सामाचार, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार, शुद्धयष्टक, षडावश्यक, ध्यान, जीवकर्म और दशधर्मशील। इसकी रचना वट्टकेर कृत प्राकृत मूलाचार के आधार से की गई प्रतीत होती है। ग्रन्थकर्ता ने अपने गुरु का नाम मेघचन्द्र प्रगट किया है। श्रवणवेलगोला के शिलालेख न० ५० में इन दोनो गुरु-शिष्यो का उल्लेख है, एव शिलालेख न० ४७ मे मेघचन्द्र मुनि के शक सवत् १०३७ (ई० १११५) में समाधिमरण का उल्लेख किया गया है। इस पर से प्रस्तुत ग्रन्थ का रचनाकाल उक्त तिथि के आसपास सिद्ध होता है। उक्त लेखो मे वीरनदि को सद्धात-वेदी और लोकप्रसिद्ध, अमलचरित, योगि-जनाग्रणी आदि उपाधियो से विभूषित किया गया है।

सोमप्रभ कृत **सिन्दूरप्रकर**, व **शृगार-वैराग्यतरगिणी** (१२वी-१३वी शती) ये दो नैतिक उपदेश पूर्ण रचनाए हैं। दूसरी रचना विशेष रूप से प्रौढ काव्यात्मक है और उसमे कामशास्त्रानुसार स्त्रियो के हाव-भाव व लीलाओ का वर्णन कर उनसे सतर्क रहने का उपदेश दिया गया है।

श्रावकाचार-प्राकृत

प्राकृत मे श्रावकधर्म विषयक सर्वप्रथम स्वतत्र रचना **सावयपण्णत्ति** है, जिसमे ४०१ गाथाओ द्वारा श्रावको के पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इन बारह व्रतो का प्ररूपण किया गया है। प्रथम व्रत अहिंसा का यहा सबसे अधिक विस्तार पूर्वक वर्णन १७६ के लेकर २५६ तक की गाथाओ मे किया गया है। इस ग्रथ के कर्तृत्व के सबध में मतभेद है। कोई इसे उमास्वातिकृत मानते हैं, और कोई हरिभद्रकृत। उमास्वाति-कर्तृत्व का समर्थन अभयदेवसूरि कृत पचाशकटीका के उस

उल्लेख से होता है जहाँ उन्होंने कहा है कि 'वाचकतिलकेन श्रीमदुमास्वातिवाचकेन श्रावकप्रज्ञप्तौ सम्यक्त्वादिः श्रावकधर्मो विस्तरेण प्रणीतः'। उमास्वाति कृत श्रावक प्रज्ञप्ति का उल्लेख यशोविजय के धर्मसंग्रह तथा मुनिचन्द्रसूरि कृत धर्मबिंदु-टीका में बारहवें व्रत के संबंध में आया है। किन्तु स्वयं अभयदेवसूरि ने हरिभद्रसूरि कृत पंचाशक की ही वृत्ति में प्रस्तुत ग्रंथ की सपत्तदंसणाइ-आदि दूसरी गाथा को हरिभद्रसूरि के ही निर्देशपूर्वक उद्धृत किया है। इससे प्रतीत होता है कि प्रस्तुत प्राकृत ग्रन्थ तो हरिभद्रकृत ही है। यदि उमास्वाति कृत कोई श्रावक प्रज्ञप्ति रही हो तो संभव है कि वह संस्कृत में रही होगी। यही बात प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तःपरीक्षण से भी सिद्ध होती है। इस ग्रन्थ में २८ से १२८ गाथाओं के बीच जो गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का निर्देश और क्रम पाया जाता है वह त. सूत्र के ७.२१ में निर्दिष्ट क्रम से भिन्न है। त. सूत्र में दिग्, देश और अनर्थ दंड ये तीन गुणव्रत तथा सामायिक प्रोषधोपवास भोगोपभोग-परिमाण और अतिथि-संविभाग ये चार शिक्षाव्रत निर्दिष्ट किये हैं। परन्तु यहाँ दिग्व्रत भोगोपभोग-परिमाण और अनर्थदंडविरति ये गुणव्रत तथा सामायिक देशावकाशिक प्रोषधोपवास एवं अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं, जो हरिभद्रकृत समराइच्चकहा के प्रथम भव में वर्णित व्रतों के क्रम से ठीक मिलते हैं। यही नहीं किन्तु समराइच्चकहा का उक्त समस्त प्रकरण श्रावक-प्रज्ञप्ति के प्ररूपण से बहुत समानता रखता है, यहाँ तक कि सम्यक्त्वोत्पत्ति के संबंध में जिस घंसण-घोलण निमित्त का उल्लेख श्रा. प्र. की ११ वीं गाथा में है, वही स. कहा के सम्यक्त्वोत्पत्ति प्रकरण में भी प्राकृत गद्य में प्रायः शब्दों का त्यों मिलता है। इससे यही सिद्ध होता है कि यह कृति हरिभद्रकृत ही है। इस पर उन्हीं की संस्कृत में स्वोपज्ञ टीका भी उपलब्ध है।

श्रावकधर्म का प्रारम्भ सम्यक्त्व की प्राप्ति से होता है और श्रावक-प्रज्ञप्ति के आदि (गाथा २) में ही श्रावक का लक्षण यह बतलाया है कि जो सम्यग्दर्शन प्राप्त करके प्रतिदिन यतिजनों के पास से सदाचारात्मक उपदेश सुनता है, वही श्रावक होता है। तत्पश्चात् सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति को विधिवत् समझाया गया है। हरिभद्र की एक अन्य कृति दंसणसत्तरि अपर नाम 'सम्मत्त-सत्तरि' या 'दंसण-सुद्धि' में भी ७ गाथाओं द्वारा सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझाया गया है। इस पर संघतिलक सूरि (१४ वीं शती) कृत टीका उपलब्ध है (प्रकाशित १९१९)। हरिभद्र की एक और प्राकृत रचना सावयधम्मविहि नामक है जिसमें १२ गाथाओं द्वारा श्रावकाचार का वर्णन किया गया है। इस पर मानदेवसूरि कृत विवृत्ति है (भावनगर १९२४)। हरिभद्रकृत

१९ प्रकरण ऐसे हैं, जिनमे प्रत्येक मे ५० गाथाए हैं, अतएव जो समष्टि रूप से **पचासग** कहलाते हैं। ये प्रकरण हैं- (१) श्रावकधर्म (२) दीक्षाविधान (३) वन्दनविधि (चैत्यवदन) (४) पूजाविधि (५) प्रत्याख्यानविधि (६) स्तवविधि (७) जिनभवन करण विधि (८) प्रतिष्ठाविधि (९) यात्राविधि (१०) उपासकप्रतिमा विधि (११) साधुधर्म (१२) सामाचारी (१३) पिंडविधि (१४) शीलाग विधि (१५) आलोचना विधि (१६) प्रायश्चित्त (१७) स्थितास्थित विधि (१८) साधु प्रतिमा और (१९) तपोविधि। इन प्रकरणो मे श्रावक और मुनि आचार सवधी प्राय समस्त विपयो का समावेश हो गया है। पचासग पर अभयदेवसूरि कृत शिष्यहिता नामक सस्कृत टीका है। (भावनगर १९१२, रतलाम १९४१)। पचासग के समान अन्य २० प्रकरण इस प्रकार के हैं जिनमे प्रत्येक मे २० गाथाए है। यह सग्रह **वीसवीसीओ** (विंशतिविंशिका) के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन विंशिकाओ के नाम इस प्रकार हैं—(१) अधिकार (२) अनादि (३) कुलनीति (४) चरमपरिवर्त (५) बीजादि (६) सद्धर्म (७) दान (८) पूजाविधि (९) श्रावकधर्म (१०) श्रावकप्रतिमा (११) यतिधर्म (१२) शिक्षा (१३) भिक्षा (१४) तदतरायशुद्धिलिंग (१५) आलोचना (१६) प्रायश्चित्त (१७) योगविधान (१८) केवलज्ञान (१९) सिद्धविभक्ति और (२०) सिद्धसुख। इन विंशिकाओ मे भी श्रावक और मुनिधर्म के सामान्य नियमो तथा नानाविधानो और साधनाओ का निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ पर आनन्दसागर सूरि द्वारा एक टीका लिखी गई है। १७ वी योगविधान नामक विंशिका पर श्री न्या० यशोविजयगणिकृत टीका भी है। (प्र० मूलमात्र, पूना, १९३२)

शान्तिसूरि (१२ वी शती) कृत **धर्मरत्न-प्रकरण** मे १८१ गाथाओ द्वारा श्रावक पद प्राप्ति के लिये सौम्यता, पापभीरुता आदि २१ आवश्यक गुणो का वर्णन किया है तथा भावश्रमण के लक्षणो और शीलो का भी निरूपण किया है। इस पर स्वोपज्ञ वृत्ति भी है।

प्राकृत गाथाओं द्वारा गृहस्थधर्म का प्ररूपण करनेवाला दूसरा ग्रन्थ वसुनदिकृत **उपासकाध्ययन** (श्रावकाचार) है, जिसमे ५४६ गाथाओ द्वारा श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओ अर्थात् दर्जो का विस्तार से वर्णन किया गया है। कर्ता ने अपना परिचय ग्रथ की प्रशस्ति मे दिया है, जिसके अनुसार उनकी गुरु-परम्परा कुदकुदाम्नाय मे क्रमश श्रीनदि, नयनदि, नेमिचन्द्र और वसुनदि, इसप्रकार पाई जाती है। उन्होने यह भी कहा है कि मैने अपने गुरु नेमिचन्द्र के प्रसाद से इस आचार्य-परम्परागत उपासकाध्ययन को वात्सल्य और आदरभाव से भव्यो के लिये रचा। ग्रथ के आदि मे उन्होंने यह भी कहा

है कि विपुलाचल पर्वत पर इन्द्रभूति ने जो श्रेणिक को उपदेश दिया था उसीको गुरु परिपाटी से कहे जानेवाले इस ग्रंथ को सुनिये। इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि द्वादशांगान्तर्गत सातवें श्रुतांग 'उपासक दशा' में हमें श्रावक की इन्हीं ग्यारह प्रतिमाओं का प्ररूपण मिलता है। भेद यह है कि वहां यह विषय आनंद श्रावक के कथानक के अन्तर्गत आया है, और यहां स्वतंत्र रूप से। इसमें की २९५ से ३१ तक की तथा इससे पूर्व की अन्य कुछ गाथाएं श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र से ज्यों की त्यों मिलती हैं। कुन्द कुन्दाचार्य कृत चारित्र पाहुड (गाथा २२) में ग्यारह प्रतिमाओं के नाम मात्र उल्लिखित हैं। उनका कुछ विस्तार से वर्णन कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३०५-३९१ तक ८६ गाथाओं में किया गया है। इन सब से भिन्न वसुनंदि ने विशेषता यह उत्पन्न की है कि उन्होंने रात्रिभोजन-त्याग को प्रथम दर्शन प्रतिमा में ही आवश्यक बतलाकर छठवीं प्रतिमा में उसके स्थान पर दिवा-ब्रह्मचर्य का विधान किया है। ग्रंथ की रचना का काल निश्चित नहीं है, तथापि इस ग्रन्थ की अनेक गाथाएं देवसेन कृत भावसंग्रह के आधार से लिखी गई प्रतीत होती हैं जिससे इसकी रचना की पूर्वावधि वि. सं. ९९० (ई. ९३३) अनुमान की जा सकती है। आशाधरकृत सागार-धर्मामृत टीका मे वसुनंदि का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। जिससे उनके काल की उत्तरावधि वि. सं. १२९६ (ई. १२३९) सिद्ध होती है। इन्हीं सीमाओं के बीच सम्भवतः ११ वीं १२वीं शती में यह ग्रन्थ लिखा गया होगा।

अपभ्रंश में श्रावकाचार विषयक ग्रन्थ 'सावयधम्मदोहा' है। इसमें २२४ दोहों द्वारा श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं व बारह व्रतों का स्वरूप समझाया गया है। बारह व्रतों के नाम कुंदकुंद के अनुसार हैं जिनमें देशव्रत सम्मिलित न होकर सल्लेखना का समावेश है। सप्तव्यसनों अभक्ष्यों एवं कुसंगति अन्याय चुगलखोरी झूठे व्यापार आदि दुर्गुणों के परित्याग का उपदेश दिया गया है। शैली बड़ी सरल सुन्दर, व काव्य गुणात्मक है। प्रायः प्रत्येक दोहे की एक पंक्ति में धर्मोपदेश और दूसरी में उसका कोई सुन्दर, हृदय में चुभने वाला दृष्टान्त दिया गया है। इस ग्रन्थ के कर्तृत्व के संबंध में कुछ विवाद है। प्रकाशित ग्रन्थ (कारंजा १९३२) की भूमिका में ऊहापोह पूर्वक इसके कर्ता दसवीं शताब्दी मे हुए देवसेन को सिद्ध किया गया है। किन्तु कुछ हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों में इसे योगीन्द्र कृत भी कहा गया है, और कुछ में लक्ष्मीचन्द्र कृत। श्रुतसागर कृत षट्पाहुड टीका में इस ग्रन्थ के कुछ दोहे उद्धृत पाये जाते हैं जिन्हें लक्ष्मीचन्द्र कृत कहा गया है। यदि पूर्ण ग्रन्थ के कर्ता लक्ष्मीचन्द्र हैं तो वह १२ वीं शती की रचना सिद्ध होती है। ग्रन्थ पर योगीन्द्र कृत परमात्म प्रकाश तथा देवसेन

कृत भावसग्रह का वहुत प्रभाव पाया जाता है। इसकी एक प्राचीन प्रति जयपुर के पाटोदी जैन मदिर मे वि० स० १५५५ (ई० सन् १४९८) की है, और इसकी पुष्पिका मे "इति उपासकाचारे आचार्य श्री लक्ष्मीचन्द्र-विरचिते दोहक-सूत्राणि समाप्तानि" ऐसा उल्लेख है।

श्रावकाचार-सस्कृत

रत्नकरड श्रावकाचार— सस्कृत मे श्रावक धर्म विषयक वडी सुप्रसिद्ध रचना है। इसके १५० श्लोको मे क्रमश सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का निरूपण किया गया है। चारित्र मे पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतो का विस्तार से वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् सल्लेखना का निरूपण किया गया है, और इसप्रकार कुदकुद के निर्देशानुसार (चारित्र पाहुड गा० २५-२६) सल्लेखना को भी श्रावक के व्रतो में स्वीकार कर लिया है। अन्त मे ग्यारह श्रावक-पदो (प्रतिमाओ) का भी निरूपण कर दिया गया है। इसप्रकार यहा श्रावक धर्म का प्ररूपण, निरूपण की दोनो पद्धतियो के अनुसार कर दिया गया है। ग्रन्थ कर्ता ने इस कृति मे अपना नाम प्रगट नही किया, किन्तु टीकाकार प्रभाचन्द्र ने इसे समन्तभद्र कृत कहा है, और इसी आधार पर यह उन्ही स्वामी समन्तभद्र कृत मान लिया गया है जिन्होंने आप्तमीमासादि ग्रन्थो की रचना की। किन्तु शैली आदि भेदो के अतिरिक्त भी इसमे आप्तमीमासा सम्मत आप्त के लक्षण से भेद पाया जाता है, दूसरे वादिराज के पार्श्वनाथ चरित्र की उत्थानिका मे इस रचना को स्पष्टत समन्तभद्र से पृथक् 'योगीन्द्र' की रचना कहा है, तीसरे इससे पूर्व इस ग्रन्थ का कोई उल्लेख नही मिलता, और चौथे स्वय ग्रन्थ के उपान्त्य श्लोक मे 'वीतकलक', 'विद्या' और 'सर्वार्थसिद्धि' शब्दो का उपयोग किया गया है जिससे अनुमान होता है कि अकलककृत राजवार्तिक, और विद्यानदि कृत श्लोकवार्तिक तथा पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि, इन तीनो टीकाओं से ग्रन्थकार परिचित और उपकृत थे। इसके अनुसार यह रचना विद्यानदि और वादिराज के कालो के वीच अर्थात् आठवी से दसवी-ग्यारहवी शती तक किसी समय हुई होगी।

सोमदेवकृत **यशस्तिलक चम्पू** के पाच से आठवें तक के चार आश्वासो मे चारित्र का वर्णन पाया जाता है। विशेषत इसके सातवें और आठवें आश्वासो मे श्रावक के वारह व्रतो का विस्तार से प्रौढ शैली मे वर्णन किया है। यह ग्रन्थ शक स० ८८१ (ई० सन् ९५९) मे समाप्त हुआ था।

अमितगति कृत **श्रावकाचार** लगभग १५०० सस्कृत पद्यों में पूर्ण हुआ है, और

यह १५ अध्यायों में विभाजित है, जिसमें धर्म का स्वरूप मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का भेद सप्त तत्व अष्ट मूलगुण बारह व्रत और उनके अतिचार, सामायिक आदि छह आवश्यक दान पूजा व उपवास एवं बारह भावनाओं का सुविस्तृत वर्णन पाया जाता है। अन्तिम अध्याय में ध्यान का वर्णन ११४ पद्यों में किया गया है, जिसमें ध्यान ध्याता ध्येय और ध्यानफल का निरूपण है। अमितगति ने अपने अनेक ग्रन्थों में उनके रचनाकाल का उल्लेख किया है, जिनमें वि० सं १ ५ से १०७३ तक के उल्लेख मिलते हैं। अतएव उक्त ग्रन्थ का रचनाकाल लगभग १० ई सिद्ध होता है।

आशाधर कृत सागारधर्मामृत लगभग ५ संस्कृत पद्यों में पूर्ण हुआ है, और उसमें आठ अध्यायों द्वारा श्रावकधर्म का सामान्य वर्णन अष्ट मूलगुण तथा ग्यारह प्रतिमाओं का निरूपण किया गया है। व्रत प्रतिमा के भीतर बारह व्रतों के अतिरिक्त श्रावक की दिनचर्या भी बतलाई गई है। अन्तिम अध्याय के ११० श्लोकों में समाधि मरण का विस्तार से वर्णन हुआ है। रचनाशैली काव्यात्मक है। ग्रन्थ पर कर्ता की स्वोपज्ञ टीका उपलब्ध है जिसमें उसकी समाप्ति का समय वि सं १२९६–ई १२३९ उल्लिखित है। (प्र बंबई, १९१५)

गुणभूषण कृत श्रावकाचार को कर्ता ने भव्यजन-चित्तवल्लभ श्रावकाचार कहा है। इसमें २९९ श्लोकों द्वारा दर्शन ज्ञान और श्रावकधर्म का तीन उद्देशों में सरल रीति से निरूपण किया गया है। इसका रचनाकाल निश्चित नहीं है, किन्तु उस पर रत्नकरंड वसुनंदि श्रावकाचार आदि की छाप पड़ी दिखाई देती है। अनुमानतः यह रचना १४वीं १५वीं शताब्दी की है।

श्रावकधर्म संबंधी रचनाओं की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती आई है जिसमें १७वी शताब्दी में अकबर के काल में राजमल्ल द्वारा रचित लाटी संहिता उल्लेखनीय है।

ध्यान व योग प्राकृत

मुनिचर्या मे तप का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। तप के दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। आभ्यन्तर तप के प्रायश्चित्तादि छह प्रभेदों मे अन्तिम तप का नाम ध्यान है। अर्द्धमागधी आगम ग्रन्थों मे और विशेषतः स्थानांग (अ ४ उ १) में आर्त रौद्र धर्म व शुक्ल इन चारों ध्यानों और उनके भेदोपभेदों का निरूपण किया गया है। इसी प्रकार निर्युक्तियों में और विशेषतः आवश्यक निर्युक्ति के कायोत्सर्ग अध्ययन (गा १४६२–८६) में ध्यानों के लक्षण व भेद-प्रभेद वर्णित पाये जाते हैं। इस

आगम-प्रणाली के अनुसार ध्यान का निरूपण जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अपनी ध्यानशतक नामक रचना मे किया है।

वैदिक परम्परा मे ध्यान का निरूपण योग दर्शन के भीतर पाया जाता है, जिसके आदि सस्थापक महर्षि पतञ्जलि (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) माने जाते है। पातजल 'योगसूत्र' मे जो योग का लक्षण 'चित्तवृत्तिनिरोध' किया है, और उसके प्रथम अग यम के अहिंसादि पाच भेद बतलाये हैं, इससे उस पर श्रमण परम्परा की सयम विधि की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। अष्टाग योग का सातवा अग ध्यान है जिसके द्वारा मुनि अपने चित्त को वाह्य विषयो से खीचकर आत्मचिन्तन मे लगाने का प्रयत्न करता है। इस प्रक्रिया का योग नाम से उल्लेख हमे कुन्दकुन्द कृत मोक्ष-पाहुड मे मिलता है।

मोक्षपाहुड (गाथा १०६) मे कुन्दकुन्द ने आदि मे ही अपनी कृति को परम योगियो के उस परमात्मरूप परमपद का व्याख्यान करनेवाली कहा है, जिसको जानकर तथा निरन्तर अपनी साधना मे योजित करके योगी अव्यावाध, अनन्त और अनुपम निर्वाण को प्राप्त करता है (गा० २–३)। यहा आत्मा के वहि, अतर और परम ये तीन भेद किये हैं, जिनके क्रमश इन्द्रिय परायणता, आत्म चेतना और कर्मों से मुक्ति, ये लक्षण हैं (गा० ५)। परद्रव्य मे रति मिथ्यादृष्टि है और उससे जीव की दुर्गति होती है, एव स्व-द्रव्य (आत्मा) मे रति सद्गति का कारण है। स्व-द्रव्य-रत श्रमण नियम से सम्यग्दृष्टि होता है। तप से केवल स्वर्ग ही प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु शाश्वत सुख रूप निर्वाण की प्राप्ति ध्यान योग से ही सम्भव है (गा० २३) कपायो, मान, मद, राग-द्वेष, व्यामोह, एव समस्त लोक-व्यवहार से मुक्त और विरक्त होकर आत्मध्यान में प्रवृत्त हुआ जा सकता है (गा० २७)। साधक को मन, वचन, काय से मिथ्यात्व, अज्ञान, पुण्य, और पाप का परित्याग कर मौनव्रत धारण करना चाहिए (गा० २८)। योग की अवस्था मे समस्त आस्रवो का निरोध होकर, सचित कर्मों का क्षय होने लगता है (गा० ३०)। लोक व्यवहार के प्रति सुपुप्ति होने पर ही आत्मजागृति होती है (गा० ३१)। पाच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति और रत्नत्रय से युक्त होकर मुनि को सदैव ध्यान का अभ्यास करना चाहिये (गा० ३३)। तभी वह सच्चा आराधक वनता है, आराधना के विधान को साध सकता है, और आराधना का केवलज्ञान रूप फल प्राप्त कर सकता है (गा० ३४)। किन्तु कितने ही साधक आत्मज्ञानी होकर भी पुन विषयविमोहित होकर सद्भाव से भ्रष्ट हो जाते हैं। जो विषय-विरक्त वने रहते हैं, वे चतुर्गति से मुक्त हो जाते हैं (गा० ६७–६८)।

सम्यक्त्वहीन चारित्रहीन अभव्य और अज्ञानी ही कहते हैं कि यह दुस्समकाल ध्यान करने का नहीं है (गा ७४-७६)। ध्यान दो प्रकार से किया जा सकता है, एक तो शुद्ध आत्म-चिन्तन जिसके द्वारा योगी अपने आप में सुरक्त हो जाता है। यह निश्चयात्मक ध्यानावस्था है। जिसमें यह योग्यता नहीं है वह आत्मा का पुरुषाकार रूप से ध्यान करे (गा ८१-८४)। यह ध्यान श्रमणों का है। श्रावकों को तत्वचिन्तन रूप सम्यक्त्व का निष्कंप रूप से ध्यान करना चाहिए (गा ८६)। ध्यानाभ्यास के बिना बहुत से शास्त्रों का पठन और नानाविध चारित्र का पालन बाल-श्रुत बाल चरण ही है (गा १)। अन्त में दो गाथाओं (१ ४ १ ५) में पंचपरमेष्ठि रत्नत्रय व तप की जिस आत्मा में प्रतिष्ठा है उसकी ही शरण संबंधी भावना का निरूपण कर ग्रन्थ समाप्त किया गया है। इस प्रकार इस पाहुड में हमें जैन योग विषयक अतिप्राचीन विचार दृष्टिगोचर होते हैं जिनका परवर्ती योग विषयक रचनाओं से तुलनात्मक अध्ययन करने योग्य है। यथार्थतः यह रचना योगशतक रूप से लिखी गई प्रतीत होती है और उसको 'योग-पाहुड' नाम भी दिया जा सकता है। पातंजल योग शास्त्र में योग के जिन यम नियमादि आठ अंगों का निरूपण किया गया है, उनमें से प्राणायाम को छोड़ शेष सात का विषय यहां स्फुटरूप से जैन परम्परानुसार वर्णित पाया जाता है।

बारस अणुवेक्खा (गा १-९१) में अध्रुव अशरण एकत्व अन्यत्व संसार, लोक अशुचित्व आस्रव संवर, निर्जरा धर्म और बोधि इन बारह भावनाओं का आरम्भ में निर्देश और फिर क्रमशः इनका स्वरूप संक्षेप में वर्णन किया गया है। ग्यारहवीं धर्मभावना के निरूपण में श्रावकों के दर्शन व्रतादि ग्यारह प्रतिमाओं (गा ६९) तथा मुनियों के उत्तम क्षमादि दश धर्मों का (गा ७) निर्देश किया गया है, और फिर एक एक गाथा में इन धर्मों का स्वरूप बतलाया गया है। अन्तिम ९१ वीं गाथा में कुन्दकुन्द मुनिनाथ का नामोल्लेख है किन्तु यह गाथा प्राचीन कुछ प्रतियों में नहीं मिलती। इसकी कुछ गाथाएं मूलाचार और सर्वार्थ सिद्धि में पाई जाती हैं। इस रचना में ऐसी कोई बात दिखाई नहीं देती जिसके कारण यह कुन्दकुन्द कृत मानी न जा सके। तत्वार्थसूत्रानुसार अनुप्रेक्षा धार्मिक साधना का एक आवश्यक अंग है जहां बारह अनुप्रेक्षाओं का निर्देश भी किया गया है। अतएव यह स्वाभाविक ही प्रतीत होता है कि जब कुन्दकुन्द ने चारित्र सम्बन्धी सभी विषयों पर लिखा तब उन्होंने *बारह अनुप्रेक्षाओं का निरूपण भी अवश्य किया होगा।*

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियों में कहीं संक्षेप और

कही विस्तार से श्रमणो और श्रावको के चारित्र सबधी प्राय सभी विषयो का निर्देश व निरूपण आ गया है। उनकी इन कृतियो का आगे की साहित्य रचनाओ पर पर्याप्त प्रभाव पडा दिखाई देता है, और उनमे उक्त विषयो को लेकर पल्लवित किया गया है।

कत्तिगेयाणुवेक्खा (कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा) मे ४९१ गाथाओ द्वारा उन्ही वारह अनुप्रेक्षाओ का विस्तार से वर्णन किया गया है, जिनका सक्षिप्त निरूपण हमे कुन्दकुन्द के वारस अणुवेक्खा मे प्राप्त होता है। किन्तु यहाँ उनका क्रम कुछ भिन्न प्रकार से पाया जाता है। यहा ससार भावना तीसरे, अशुचित्व छठे, और लोक दसवें स्थान मे पाई जाती हैं। लोकानुप्रेक्षा का वर्णन ११५ से २८३ तक की १६९ गाथाओ मे किया गया है, क्योकि उसके भीतर समस्त त्रैलोक्य का स्वरूप और उनके निवासी जीवो का, जीवादि छह द्रव्यो का, द्रव्यो से उत्पादादि पर्यायो का तथा मति श्रुति आदि पाच ज्ञानो का भी प्ररूपण किया गया है, और इस प्रकार वह प्रकरण त्रिलोक-प्रज्ञप्ति का सक्षिप्त रूप वन गया है। उसी प्रकार धर्मानुप्रेक्षा का वर्णन गा० ३०२ से गा० ४९७ तक की १८६गाथाओ मे हुआ है क्योकि यहा श्रावको की ग्यारह प्रतिमाओ व वारह व्रतो का (गा० ३०५-३९१), साधु के क्षमादि दश धर्मो का (गा० ३९२-४०४), सम्यक्त्व के आठ अगो का (गा० ४१४-४२२) एव अनशनादि वारह तपो का (गा० ४४१-४८७) वर्णन भी पर्याप्त रूप से किया गया है। बारह व्रतो के निरूपण मे गुण और शिक्षा-व्रतो का क्रम वही है, जो कुन्दकुन्द के चारित्रपाहुड (गा० २५-२६) मे पाया जाता है। भेद केवल इतना है कि यहा अतिम शिक्षाव्रत सल्लेखना नही, किन्तु देशावकाशिक ग्रहण किया गया है। यह गुण और शिक्षाव्रतो की व्यवस्था त० सू० से सख्या क्रम मे भिन्न है, और श्रावक-प्रज्ञप्ति की व्यवस्था से मेल खाता है। ग्रन्थ की अन्तिम तीन गाथाओ में कर्ता ने ग्रन्थ को समाप्त करते हुए केवल इतना ही कहा है कि स्वामिकुमार ने इन अनुप्रेक्षाओ की रचना परम श्रद्धा से, जिन-वचनो की भावना तथा चचल मन के अवरोध के लिये जिनागम के अनुसार की। अन्तिम गाथा मे उन्होने कुमारकाल मे तपश्चरण धारण करनेवाले वासुपूज्य, मल्लि और अन्तिम तीन अर्थात् नेमि, पार्श्व और महावीर की वन्दना की है। इस पर से ग्रन्थकर्ता के विषय मे इतना ही परिचय प्राप्त होता है कि वे स्वय (ब्रह्मचारी) थे और उनका नाम स्वामिकुमार (कार्त्तिकेय) था। ग्रन्थ के रचनाकाल के विषय मे अभी कोई अनुमान लगाना कठिन है। ग्रन्थ पर भट्टारक शुभचन्द्र कृत सस्कृत टीका (वि० स० १६१३-ई० १५५६) मे समाप्त हुई प्राप्त होती है।

कुंदकुंद के पश्चात् स्वतंत्ररूप से योग विषयक ग्रन्थकर्ता आ० हरिभद्र हैं, जिनकी योग विषयक स्वतंत्र तीन रचनाएं प्राप्त हैं—योगशतक (प्राकृत) योगबिन्दु (संस्कृत) और योगदृष्टिसमुच्चय (सं)। इनके अतिरिक्त उनकी विंशति विंशिका में एक (१७ वीं विंशिका) तथा षोडशक में १४ वां व १६ वां ये दो इसप्रकार तीन छोटे छोटे प्रकरण भी हैं। योगशतक में १०१ प्राकृत गाथाओं द्वारा सम्यग्दर्शन आदि रूप निश्चय और व्यवहार योग का स्वरूप योग के अधिकारी योगाधिकारी के लक्षण एवं ध्यान रूप योगावस्था का सामान्य रीति से प्रायः परम्परानुसार ही वर्णन किया गया है। योगविंशति की बीस गाथाओं में अतिसंक्षिप्त रूप से योग की विकसित अवस्थाओं का निरूपण किया गया है, जिसमें कर्ता ने कुछ नये पारिभाषिक शब्दों का उपयोग किया है। यहां उन्होंने योग के पांच भेदों या अनुष्ठानों को स्थान ऊर्णा अर्थ आलम्बन और अनालम्बन संज्ञाएं देकर (गा २) पहले दो को कर्मयोग रूप और शेष तीन को ज्ञानयोग रूप कहा है (गा ३)। तत्पश्चात् इन पांचों योग भेदों के इच्छा प्रवृत्ति स्थिरता और सिद्धि ये चार यम नामक प्रभेद किये हैं, और अन्त में इनकी प्रीति भक्ति वचन और असंग अनुष्ठान नामक चार चार अवस्थाएं स्थापित करके आलंबन और अनालंबन योग का स्वरूप समझाया है।

ध्यान व योग-अपभ्रंश

यहां अपभ्रंश भाषा की कुछ रचनाओं का उल्लेख भी उचित प्रतीत होता है, क्योंकि वे अध्यात्म विषयक हैं। योगीन्द्र कृत परमात्म प्रकाश ३४५ दोहों में तथा योगसार १ ७ दोहों में समाप्त हुए हैं। इन दोनों रचनाओं में कुंदकुंद कृत मोक्षपाहुड के अनुसार आत्मा के बहिरात्म अन्तरात्म और परमात्म इन तीन स्वरूपों का विस्तार से वर्णन किया गया है, और जीवों को संसार के विषयों से चित्त को हटाकर, उसे आत्मोन्मुख बनाने का नानाप्रकार से उपदेश दिया गया है। यह सब उपदेश योगीन्द्र ने अपने एक शिष्य भट्ट प्रभाकर के प्रश्नों के उत्तर में दिया है। इन रचनाओं का काल संपादक ने ई० की छठी शती अनुमान किया है (प्रकाशित बम्बई १९१७)। परमात्म प्रकाश के कुछ दोहे हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में उद्धृत पाये जाते हैं, जिससे इनकी रचना हेमचन्द्र से पूर्व काल की सुनिश्चित है।

रामसिंह मुनि कृत पाहुड दोहा में २२२ दोहे हैं, और इनमें योगी रचयिता ने बाह्य क्रियाकांड की निरर्थकता तथा आत्म-संयम और आत्मदर्शन में ही सच्चे कल्याण का उपदेश दिया है। झूठे जोगियों को बात में खूब फटकारा गया है। देह

को कुटी या देवालय और आत्मा को शिव तथा इन्द्रिय-वृत्तियो का शक्ति रूप से सबोधन अनेक जगह आया है। शैली मे यह रचना एक ओर बौद्ध दोहाकोशो और चर्यापदो से समानता रखती है, और दूसरी ओर कबीर जैसे सतो की वाणियो से। दो दोहो (९९-१००) मे देह और आत्मा अथवा आत्मा और परमात्मा का प्रेयसी और प्रेमी के रूपक मे वर्णन किया गया है, जो पीछे के सूफी सम्प्रदाय की काव्य-धारा का स्मरण दिलाता है। इसके ४,५ दोहे अत्यल्प परिवर्तन के साथ हेमचन्द्र कृत प्राकृत व्याकरण मे उद्धृत पाये जाते हैं। अतएव इस ग्रन्थ का रचनाकाल ई० ११०० से पूर्व सिद्ध होता है। (प्रकाशित, कारजा, १९३३)

ध्यान व योग-सस्कृत—कुदकुद के पश्चात् पूज्यपाद कृत योग विषयक दो सक्षिप्त सस्कृत रचनाए उल्लेखनीय हैं। एक **इष्टोपदेश** है, जिसमे ५१ श्लोक हैं। यहा योग-साधक की उन भावनाओ का निरूपण किया गया है, जिनके द्वारा साधक अपनी इन्द्रियों को सासारिक विषयो से पराड्-मुख करके मन को आत्मध्यान मे प्रवृत्त करता है, तथा उसमे ऐसी अध्यात्मवृत्ति जागृत हो जाती है कि वह समस्त जगत् को इन्द्र-जाल के समान देखने लगता है, एकान्तवास चाहता है, कार्यवश कुछ कहकर तुरन्त भूल जाता है, बोलता हुआ भी नही बोलता, चलता हुआ भी नही चलता, देखता हुआ भी नही देखता, यहा तक कि उसे स्वय अपने देह का भी भान नही रहता (श्लोक० ३९-४२)। इसप्रकार व्यवहार से दूर हटकर व आत्मानुष्ठान मे स्थित होकर योगी को परमानद प्राप्त होता है (श्लो० ४७)। इस योगावस्था का वर्णन जीवन्मुक्त की अवस्था से मेल खाता है।

पूज्यपाद की दूसरी रचना **समाधिशतक** है, जिसमे १०५ सस्कृत श्लोक हैं। इसमे बहिरात्म, अन्तरात्म और परमात्म का स्वरूप बतला कर, अन्तरात्मा द्वारा परमात्मा के ध्यान का स्वरूप बतलाया गया है। ध्यान-साधना मे अविद्या, अभ्यास व सस्कार के कारण, अथवा मोहोत्पन्न रागद्वेष द्वारा चित्त मे विक्षेप उत्पन्न होने पर साधक को प्रयत्नपूर्वक मन को खीचकर, आत्मतत्व मे नियोजित करने का उपदेश दिया गया है। साधक को अव्रतो का त्याग कर व्रतो मे निष्ठित होने, और आत्मपद प्राप्त करने पर उन व्रतो का भी त्याग करने को कहा गया है (श्लो० ८४) लिंग तथा जाति का आग्रह करने वालो को यहा परमपद प्राप्ति के अयोग्य बतलाया है (श्लोक० ८९)। आत्मा अपने से भिन्न आत्मा की उपासना करके उसी के समान परमात्मा बन जाता है, जिसप्रकार कि एक बाती अन्य दीपक के पास से ज्वाला ग्रहण कर उसीके सदृश भिन्न दीपक बन जाती है (श्शोक० ९७)। इस रचना के सबध में

यह बात ध्यान देने योग्य है कि विषय की दृष्टि से इसका कुंदकुंद कृत मोक्षपाहुड से बहुत कुछ साम्य के अतिरिक्त उसकी अनेक गाथाओं का यहाँ सम्पूर्ण अथवा किंचित् भेद सहित अनुवाद पाया जाता है, जैसा कि मोक्ष पा गा ५, ६ ८ ६, १ ११ २६, ३१ ३२, ४२, व ६२ और समाधि शतक श्लोक ५, ६, ७ १ ११ १२ १८ ७८ ४८ ८१ व १ २ का क्रमशः मिलान करने पर स्पष्ट पता लग जाता है।

आचार्य हरिभद्र कृत षोडशक के १४ वें प्रकरण में १६ संस्कृत पद्यों में योग साधना में बाधक खेद, उद्वेग क्षेप उत्थान भ्रान्ति अन्यमुद, रुग्, और आसंग इन आठ चित्त-दोषों का निरूपण किया गया है तथा १६ वें प्रकरण में उक्त आठ दोषों के प्रतिपक्षी अद्वेष जिज्ञासा सुश्रूषा श्रवण बोध मीमांसा प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति इन आठ चित्तगुणों का निरूपण किया है एवं योग साधना के द्वारा क्रमशः स्वानुभूति रूप परमानंद की प्राप्ति का निरूपण किया गया है।

योगबिंदु में ५२७ संस्कृत पद्यों में जैनयोग का विस्तार से प्ररूपण किया गया है। यहाँ 'मोक्ष प्रापक धर्मव्यापार' को योग और मोक्ष को ही उसका लक्ष्य बतलाकर, चरमपुद्गलपरावर्त काल में योग की संभावना अपुनर्बंधक भिन्नग्रंथि देशविरत और सर्वविरत (सम्यग्दृष्टि) ये चार योगाधिकारियों के स्तर, पूजा सदाचार, तप आदि अनुष्ठान अध्यात्म भावना ध्यान आदि योग के पांच भेद विष गरआदि पांच प्रकार के सद् वा असद् अनुष्ठान तथा आत्मा का स्वरूप परिणामी नित्य बतलाया गया है और प्रसंगानुसार सांख्य बौद्ध वेदान्त आदि दर्शनों का समालोचन भी किया गया है। पातंजल योग और बौद्ध सम्मत योगभूमिकाओं के साथ जैन योग की तुलना विशेष उल्लेखनीय है।

योगदृष्टिसमुच्चय में २२७ संस्कृत पद्यों में कुछ योगबिंदु में वर्णित विषय की संक्षेप में पुनरावृत्ति की गई है और कुछ नवीनता भी लाई गई है। यहाँ आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं का तीन प्रकार से वर्गीकरण किया गया है, एक मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा और परा नामक आठ योग-दृष्टियों द्वारा दूसरा इच्छायोग शास्त्रयोग सामर्थ्य योग इन तीन प्रकार के योग-भेदों द्वारा तथा तीसरा गोत्रयोगी कुलयोगी प्रवृत्तचक्रयोगी और सिद्धयोगी इन चार योगी भेदों द्वारा। प्रथम वर्गीकरण में निर्दिष्ट आठ योगदृष्टियों में ही १४ गुणस्थानों की योजना कर दी गई है। मुक्त तत्व की विस्तार से मीमांसा भी की गई है।

इन रचनाओं द्वारा हरिभद्र ने अपने विशेष चिन्तन नवीन वर्गीकरण तथा अपूर्व पारिभाषिक शब्दावली द्वारा जैन परम्परा के योगात्मक विचारों को कुछ नये

रूप मे प्रस्तुत किया है, और वैदिक तथा बौद्ध परम्परा सम्मत योगधाराओ से उसका मेल बैठाने का प्रयत्न किया है। योगदृष्टि-समुच्चय पर स्वय हरिभद्रकृत, तथा यशोविजयगणि कृत टीका उपलब्ध है। यही नही, किन्तु यशोविजय जी ने मित्रा तारादि आठ योगदृष्टियो पर चार द्वात्रिंशिकाए (२१-२४) भी लिखी है, और सक्षेप मे गुजराती मे एक छोटी सी सज्झाय भी लिखी है।

गुणभद्र कृत **आत्मानुशासन** मे २७ सस्कृत पद्यो द्वारा इन्द्रियो और मन की वाह्य वृत्तियो को रोककर आत्मध्यान परक बनने का उपदेश दिया गया है। और इस प्रकार इसे योगाभ्यास की पूर्व-पीठिका कह सकते हैं। यह कृति रचना मे काव्य गुण युक्त है। इसके कर्ता वे ही गुणभद्राचार्य माने जाते हैं जो धवला टीकाकार वीरसेन के प्रशिष्य और जिनसेन के शिष्य थे, तथा जिन्होंने उत्तरपुराण की रचना ९ वी शताव्दी के मध्यभाग मे पूर्ण की थी। अतएव प्रस्तुत रचना का भी लगभग यही काल सिद्ध होता है।

अमितगति कृत **सुभाषित-रत्न-सदोह** (१० वी, ११ वी शती) एक सुभाषितो का सग्रह है जिसमे ३२ अध्यायो के भीतर उत्तम काव्य की रीति से नैतिक व धार्मिक उपदेश दिये गये हैं। प्रसगवश यत्रतत्र अन्यधर्मी मान्यताओ पर आलोचनात्मक विचार भी प्रकट किये गये हैं। अमितगति की एक दूसरी रचना **योगसार** है, जिसके ९ अध्यायो मे नैतिक व आध्यात्मिक उपदेश दिये गये हैं।

सस्कृत मे आचार सम्बधी और प्रसगवश योग का भी विस्तार से वर्णन करनेवाला एक ग्रन्थ **ज्ञानार्णव** है। इसके कर्ता शुभचन्द्र हैं, जो राजाभोज के समकालीन ११ वी शताव्दी मे हुए माने जाते हैं। इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति पाटन भडार से स० १२४८ की लिखी प्राप्त हुई है। इस ग्रन्थ मे २००० से ऊपर श्लोक हैं, जो ४२ प्रकरणो मे विभाजित हैं। इनमे जैन सिद्धान्त के प्राय सभी विषयो का सक्षेप व विस्तार से वर्णन आ गया है। आचार सम्बन्धी व्रतो का और भावनाओ आदि का भी विस्तार से प्ररूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त आसन, प्राणायाम आदि योग की प्रक्रियाओ का, तथा ध्यान के आज्ञा, विपाक व सस्थान विचयो का वर्णन किया गया है। यहा ध्यान के निरूपण मे पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत सज्ञाओ का प्रयोग मौलिक है, और इन ध्यान-भेदो का स्वरूप भी अपूर्व है। इक्कीसवें प्रकरण मे शिवतत्व, गरुडतत्व और कामतत्व का वर्णन भी इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता है। ग्रन्थकर्ता ने प्राणायाम का निरूपण तो पर्याप्त किया है, किन्तु उसे ध्यान की सिद्धि मे साधक नही, एक प्रकार से बाधक कहकर उसके अभ्यास का निषेध किया

है। यह वर्णन संस्कृत गद्य में किया गया है और उस पर श्रुतसागर कृत एक संस्कृत टीका भी उपलब्ध है। इसमें वर्णित विषयों का इतना बाहुल्य है कि वे इसका ज्ञानार्णव नाम सार्थक सिद्ध करते हैं। दिगम्बर परम्परा में योग विषयक ध्यानसार और योग प्रदीप नामक दो अन्य संस्कृत पद्यबद्ध रचनाएं भी मिलती हैं।

हेमचन्द्र (१२ वीं शती ई०) कृत योगशास्त्र में लगभग १० ० संस्कृत श्लोक हैं। इसमें मुनि और श्रावक धर्मों का व तत्संबंधी व्रतों का क्रमवार निरूपण है। तत्पश्चात् यहां श्रावक की दिनचर्या कषाय जय द्वारा मनःशुद्धि तथा अनित्य आदि बारह भावनाओं का स्वरूप बतलाकर आसन प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा ध्यान के पिंडस्थ पदस्थ रूपस्थ व रूपातीत तथा आज्ञा-विचय अपाय-विचय आदि धर्मध्यान और शुक्लध्यान के चार भेद केवलि समुद्घात और मोक्षप्राप्ति का वर्णन किया गया है। यह प्रायः समस्त वर्णन स्पष्ट रूप से शुभचन्द्र कृत ज्ञानार्णव से कहीं शब्दशः और कहीं कुछ हेरफेर अथवा संकोच-विस्तार पूर्वक लिया गया है। यहाँ तक कि प्राणायाम का विस्तार पूर्वक कोई १ श्लोकों में प्ररूपण करने पर भी उसे ज्ञानार्णव के समान मोक्षप्राप्ति में बाधक कहा गया है। शुभचन्द्र और हेमचन्द्र के काल की दृष्टि से पूर्वापरत्व और एक पर दूसरे की छाप इतनी सुस्पष्ट है कि हेमचन्द्र को शुभचन्द्र का इस विषय में ऋणी न मानने का कोई अवकाश नहीं।

आशाधर कृत अध्यात्म-रहस्य हाल ही प्रकाश में आया है। इसमें ७२ संस्कृत श्लोकों द्वारा आत्मशुद्धि और आत्मदर्शन एवं अनुभूति का योग की भूमिका पर प्ररूपण किया गया है। आशाधर ने अपनी अनगारधर्मामृत की टीका की प्रशस्ति में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ की एक प्राचीन प्रति की अन्तिम पुष्पिका में इसे धर्मामृत का 'योगोद्दीपन' नामक अठारहवां अध्याय कहा है। इससे प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का दूसरा नाम योगोद्दीपन भी है और इसे कर्ता ने अपने धर्मामृत के अन्तिम उपसंहारात्मक अठारहवें अध्याय के रूप में लिखा था। स्वयं कर्ता के शब्दों में उन्होंने अपने पिता के आदेश से आरब्ध योगियों के लिये इस प्रसन्न गम्भीर और प्रिय शास्त्र की रचना की थी।

स्तोत्र साहित्य

जैन मुनियों के लिये जो छह आवश्यक क्रियाओं का विधान किया गया है, उनमें चतुर्विंशति-स्तव भी एक है। इस कारण तीर्थंकरों की स्तुति की परम्परा प्रायः उतनी ही प्राचीन है, जितनी जैन संघ की सुव्यवस्था। ये स्तुतियां पूर्व में

भक्त्यात्मक विचारो के प्रकाशन द्वारा की जाती थी, जैसाकि हम पूर्वोक्त कुदकुदाचार्य कृत प्राकृत व पूज्यपाद कृत सस्कृत भक्तियो मे पाते हैं। तत् पश्चात् इन स्तुतियो का स्वरूप दो धाराओ मे विकसित हुआ। एक ओर बुद्धिवादी नैयायिको ने ऐसी स्तुतिया लिखी जिनमे तीर्थंकरो की, अन्यदेवो की अपेक्षा, उत्कृष्टता और गुणात्मक विशेषता स्थापित की गई हैं। इस प्रकार की स्तुतिया आप्तमीमासादि समन्तभद्र कृत, द्वात्रिंशिकाएं सिद्धसेन कृत तथा हेमचन्द्र कृत अन्ययोग व अयोग-व्यवच्छेदिकाए आदि हैं, जिनका उल्लेख ऊपर जैन न्याय के प्रकरण मे किया जा चुका है।

दूसरी धारा का विकास, एक ओर चौबीसो तीर्थंकरो के नामोल्लेख और यत्र तत्र गुणात्मक विशेषणो की योजनात्मक स्तुतियो मे हुआ। इसप्रकार की अनेक स्तुतियाँ हमे पूजाओ की जयमालाओ के रूप मे मिलती है। क्रमश स्तोत्रो मे विशेषणो व पर्यायवाची नामो का प्राचुर्य बढा। इस शैली के चरम विकास का उदाहरण हमे जिनसेन (९ वी शती) कृत 'जिनसहस्रनाम स्तोत्र' मे मिलता है। इस स्तोत्र के आदि के ३४ श्लोको मे नाना विशेषणो द्वारा परमात्म तीर्थंकर को नमस्कार किया गया है, और फिर दश शतको मे सब मिलाकर जिनेन्द्र के १००८ नाम गिनाये गये हैं। इन नामो मे प्राय अन्य धर्मों के देवताओ जैसे ब्रम्हा, शिव, विष्णु, बुद्ध, बृहस्पति, इन्द्र आदि के नाम भी आ गये हैं। इसी के अनुसार प० आशाधर (१३ वी शती), देवविजयगणि (१६ वी शती), विनयविजय उपाध्याय (१७ वी शती) व सकलकीर्ति आदि कृत अनेक जिनसहस्रनाम स्तोत्र उपलब्ध हैं। सिद्धसेन दिवाकर कृत जिनसहस्रनामस्रोत्र का भी उल्लेख मिलता है।

दूसरी ओर काव्य प्रतिभाशाली स्तुतिकारो ने ऐसे स्तोत्र लिखे, जिनमे तीर्थंकरो का गुणानुवाद भक्ति भाव पूर्ण, छन्द, अलकार व लालित्य युक्त कविता मे पाया जाता है और इस प्रकार ये रचनायें जैन साहित्य मे गीति-काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं। प्राकृत मे इस प्रकार का अति प्राचीन **उवसग्गहर स्तोत्र** है, जो भद्रबाहु कृत कहा जाता है। इसमे पांच गाथाओ द्वारा पार्श्वनाथ तीर्थंकर की स्तुति की गई है। धनपाल कृत **ऋषभ पचाशिका** मे ५० पद्यो द्वारा प्रथम तीर्थंकर के जीवन चरित्र सबधी उल्लेख आये हैं। यह स्तुति कला और कल्पना पूर्ण है, और उसमे अलकारो की अच्छी छटा पायी जाती है। कवि के शब्दो मे जीवन एक महोदधि है, जिसमे ऋषभ भगवान् ही एक नौका हैं। जीवन एक चोर डाकुओ से व्याप्त वन है, जिसमे ऋषभ ही एक रक्षक हैं। जीवन मिथ्यात्व मय एक रात्रि है, जिसमे ऋषभ ही उदीयमान सूर्य हैं। जीवन वह रगमञ्च है जहा से प्रत्येक पात्र को अन्त मे प्रस्थान करना ही

पड़ता है, इत्यादि। इस पर प्रभाचन्द्र नेमिचन्द्र महीमेरु धर्मशेखर आदि कृत टीकाएं पाई जाती हैं। इसका क्लाट द्वारा जर्मन भाषा में अनुवाद भी हुआ है। नंदिषेण (९ वीं शती) कृत अजियसंतित्थव (अजित-शान्ति-स्तव) में द्वितीय व सोलहवें तीर्थंकरों की स्तुति की गई है, क्योंकि इन दो तीर्थंकरों ने एक प्राचीन मान्यतानुसार, शत्रुंजय पर्वत की गुफाओं में वर्षा काल व्यतीत किया था एवं टीकाकार के अनुसार, कवि इसी तीर्थ की यात्रा से इस स्तुति की रचना करने के लिये प्रोत्साहित हुआ था। इन्हीं दो तीर्थंकरों की स्तुति जिनवल्लभ (१२ वीं शती) ने उल्लासिक्कमथय द्वारा की है। सुमति गणि के अनुसार जिनवल्लभ पाणिनीय व्याकरण महाकाव्य अलंकार शास्त्र नाट्य साहित्य ज्योतिष व न्याय के महान् पंडित थे। वीर गणि ने भी एक अजियसंतित्थय स्तोत्र की रचना की है। अभयदेव (११ वीं शती) कृत जयतिहुयण स्तोत्र भी प्राकृत की एक लालित्य व भक्तिपूर्ण स्तुति है जिसके फलस्वरूप कहा जाता है, स्तुतिकर्ता को एक व्याधि से मुक्त होकर स्वास्थ्य लाभ हुआ था। नेमिजिनस्तव एक छोटा सा स्तोत्र है जिसमें ण और म के अतिरिक्त और किसी व्यंजन का उपयोग नहीं किया गया। प्राकृत में महावीरस्तव यमकालंकार का सुन्दर उदाहरण है जिसमें एक एक शब्द लगातार तीन तीन बार भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कुछ स्तुतियां ऐसी हैं जिनमें अनेक भाषाओं का प्रयोग किया गया है, जैसे धर्मवर्द्धन (१३ वीं शती) कृत पार्श्वजिनस्तवन, एवं जिनपद्म (१४ वीं शती) कृत शांतिनाथस्तवन। इनमें संस्कृत महाराष्ट्री मागधी शौरसेनी पैशाची और अपभ्रंश इन छह भाषाओं के पद्य समाविष्ट किये गये हैं। कहीं कहीं एक ही पद्य आधा संस्कृत और आधा प्राकृत में रचा गया है। धर्मघोष कृत इसिमंडल (ऋषिमंडल) स्तोत्र में जम्बूस्वामी स्वयंभव भद्रबाहु आदि आचार्यों की स्तुति की गई है। एक समवसरण स्तोत्र धर्मघोष कृत (२४ गाथाओं का) और दूसरा महाख्यकृत (५२ गाथाओं का) पाये जाते हैं।

संस्कृत में काव्य शैली की सर्व प्राचीन दो स्तुतियां समन्तभद्र कृत उपलब्ध हैं। एक बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि वह 'स्वयम्भुवा' शब्द से प्रारम्भ होता है। इसके भीतर २४ तीर्थंकरों की पृथक पृथक् स्तुतियां आ गई हैं। अधिकांश स्तव ५, ५ पद्यों के हैं, एवं समस्त पद्यों की संख्या १४३ है। इनमें वंशस्थ इन्द्रवज्रा वसंततिलका आदि १३,१६ प्रकार के छंदों का उपयोग हुआ है। अर्थ व शब्दालंकार भी खूब आये हैं। तात्त्विक दर्शन और नैतिक व धार्मिक उपदेश भी खूब आया है। इस पर प्रभाचन्द्रकृत संस्कृत टीका मिलती है।

समन्तभद्रकृत दूसरी स्तोत्रपरक रचना **स्तुतिविद्या** है, जिसके **जिनशतक** व जिनशतकालकार आदि नाम भी पाये जाते हैं। इसमे कवि का काव्य-कौशल अति उत्कृष्ट सीमा पर पहुचा दिखाई देता है। इसमे ११६ पद्य हैं, जो अलकारो व चित्र-काव्यो द्वारा कही कही इतने जटिल हो गये हैं कि बिना टीका के उनको भले प्रकार समझना कठिन है। इसपर वसुनदि कृत एक मात्र टीका पाई जाती है। इसी कोटि का पूज्यपाद देवनदि (छठी शती) कृत अलकार प्रचुर **सिद्धप्रिय स्तोत्र** है, जो २६ पद्यो मे पूरा हुआ है। इसमे चौवीस तीर्थकरो की स्तुति की गई है, व सिद्धप्रिय शब्द से प्रारम्भ होने के कारण उक्त नाम से प्रसिद्ध है।

सस्कृत मे मानतुगाचार्य (लगभग ५ वी ६ ठवी शती) कृत **'भक्तामर स्तोत्र'** बहुत ही लोकप्रिय और सुप्रचलित एव प्राय' प्रत्येक जैन की जिह्वा पर आरूढ पाया जाता है। दिग० परम्परानुसार इसमे ४८ तथा श्वेताम्बर परम्परा मे ५४ पद्य पाये जाते हैं। स्तोत्र की रचना सिंहोन्नता छद मे हुई हैं। इसमे स्वय कर्ता के अनुसार प्रथम जिनेन्द्र अर्थात् ऋषभनाथ की स्तुति की गई है। तथापि समस्त रचना ऐसी है कि वह किसी भी तीर्थंकर के लिये लागू हो सकती है। प्रत्येक पद्य मे बडे सुन्दर उपमा, रूपक आदि अलकारो का समावेश है। हे भगवन् आप एक अद्भुत जगत् प्रकाशी दीपक हैं, जिसमे न तेल है, न वाती और न धूम, एव जहा पर्वतो को हिलादेने वाले वायु के झोंके भी पहुच नही सकते, तथापि जिससे जगत् भर मे प्रकाश फैलता है। हे मुनीन्द्र, आपकी महिमा सूर्य से भी बढकर है, क्योकि आप न कभी अस्त होते, न राहुगम्य हैं, न आपका महान् प्रभाव मेघो से निरुद्ध होता, एव एक साथ समस्त लोको का स्वरूप सुस्पष्ट करते हैं। भगवन् आपही बुद्ध हैं, क्योकि आपके बुद्धि व बोध की विबुध जन अर्चना करते हैं। आप ही शकर है, क्योकि आप भुवनत्रय का शम् अर्थात् कल्याण करते हैं। और आप ही विधाता ब्रह्मा हैं, क्योकि आपने शिव मार्ग (मोक्ष मार्ग) की विधि का विधान किया है, इत्यादि। इसका सम्पादन व जर्मन भाषा मे अनुवाद डा० जैकोबी ने किया है। इस स्तोत्र के आधार से बडा विशाल साहित्य निर्माण हुआ है। कोई २०, २५ तो टीकाए लिखी गई हैं एव भक्तामर स्तोत्र कथा व चरित्र, छाया स्तवन, पचाग विधि, पादपूर्ति स्तवन, पूजा, मत्र, माहात्म्य, व्रतोद्यापन आदि रचनाए भी २०, २५ से कम नही हैं। प्राकृत मे भी मानतुग कृत **भयहर स्तोत्र** पार्श्वनाथ की स्तुति मे रचा गया पाया जाता है।

भक्तामर के ही जोड का और उसी छद व शैली मे, तथा उसी के समान लोक-प्रिय दूसरी रचना **कल्याण मदिर स्तोत्र** है। उसमे ४४ पद्य हैं। अन्तिम भिन्न छद के

पड़ता है, इत्यादि। इस पर प्रभाचन्द्र नेमिचन्द्र महीमेरु धर्मशेखर आदि कृत टीकाएं पाई जाती हैं। इसका क्लाट द्वारा जर्मन भाषा में अनुवाद भी हुआ है। नंदिषेण (९ वीं सदी) कृत अजियसतिथय (अजित-शान्ति-स्तव) में द्वितीय व सोलहवें तीर्थंकरों की स्तुति की गई है, क्योंकि इन दो तीर्थंकरों ने एक प्राचीन मान्यता नुसार, शत्रुंजय पर्वत की गुफाओं में वर्षा काल व्यतीत किया था एवं टीकाकार के अनुसार, कवि इसी तीर्थ की यात्रा से इस स्तुति की रचना करने के लिये प्रोत्साहित हुआ था। इन्हीं दो तीर्थंकरों की स्तुति जिनवल्लभ (१२ वीं शती) ने उल्लासि क्कमथय द्वारा की है। सुमति गणि के अनुसार जिनवल्लभ पाणिनीय व्याकरण महाकाव्य अलंकार शास्त्र नाट्य साहित्य ज्योतिष व न्याय के महान् पंडित थे। वीर गणि ने भी एक अजियसंतित्थय स्तोत्र की रचना की है। अभयदेव (११ वीं शती) कृत जयतिहुयण स्तोत्र भी प्राकृत की एक लालित्य व भक्तिपूर्ण स्तुति है जिसके फलस्वरूप कहा जाता है, स्तुतिकर्ता को एक व्याधि से मुक्त होकर स्वास्थ्य लाभ हुआ था। नेमिजिनस्तव एक छोटा सा स्तोत्र है जिसमें स और म के अतिरिक्त और किसी व्यंजन का उपयोग नहीं किया गया। प्राकृत में महावीरस्तव अर्थालंकार का सुन्दर उदाहरण है जिसमें एक एक शब्द लगातार तीन तीन बार भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कुछ स्तुतियां ऐसी है जिनमें अनेक भाषाओं का प्रयोग किया गया है, जैसे धर्मवर्द्धन (१३ वीं शती) कृत पार्श्वजिनस्तवन एवं जिनपद्म (१४ वी शती) कृत शांतिनाथस्तवन। इनमें संस्कृत महाराष्ट्री मागधी शौरसेनी पैशाची और अपभ्रंश इन छह भाषाओं के पद्य समाविष्ट किये गये हैं। कहीं कहीं एक ही पद्य आधा संस्कृत और आधा प्राकृत में रचा गया है। धर्मघोष कृत इसिमंडल (ऋषिमंडल) स्तोत्र में जम्बूस्वामी स्वयंभव भद्रबाहु आदि आचार्यों की स्तुति की गई है। एक समवसरण स्तोत्र धर्मघोष कृत (२४ गाथाओं का) और दूसरा महाप्पभाव (१२ गाथाओं का) पाये जाते हैं।

संस्कृत में काव्य शैली की सर्व प्राचीन दो स्तुतियां समन्तभद्र कृत उपलब्ध है। एक बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि वह 'स्वयम्भुवा' शब्द से प्रारम्भ होता है। इसके भीतर २४ तीर्थंकरों की पृथक पृथक् स्तुतियां आ गई हैं। अधिकांश स्तव ५, ५ पद्योंके हैं, एवं समस्त पद्यों की संख्या १४३ है। इसमें वंशस्थ इन्द्रवज्रा वसंततिलका आदि १५,१६ प्रकार के छंदों का उपयोग हुआ है। अर्थ व शब्दालंकार भी खूब आये हैं। तात्विक वर्णन और नैतिक व धार्मिक उपदेश भी खूब आया है। इस पर प्रभाचन्द्र कृत संस्कृत टीका मिलती है।

समन्तभद्रकृत दूसरी स्तोत्रपरक रचना **स्तुतिविद्या** है, जिसके **जिनशतक** व जिनशतकालकार आदि नाम भी पाये जाते हैं। इसमे कवि का काव्य-कौशल अति उत्कृष्ट सीमा पर पहुचा दिखाई देता है। इसमे ११६ पद्य हैं, जो अलकारो व चित्र-काव्यो द्वारा कही कही इतने जटिल हो गये हैं कि बिना टीका के उनको भले प्रकार समझना कठिन है। इसपर वसुनदि कृत एक मात्र टीका पाई जाती है। इसी कोटि का पूज्यपाद देवनदि (छठी शती) कृत अलकार प्रचुर **सिद्धप्रिय स्तोत्र** है, जो २६ पद्यो मे पूरा हुआ है। इसमे चौबीस तीर्थंकरो की स्तुति की गई है, व सिद्धप्रिय शब्द से प्रारम्भ होने के कारण उक्त नाम से प्रसिद्ध है।

सस्कृत मे मानतुगाचार्य (लगभग ५ वी ६ ठवी शती) कृत **'भक्तामर स्तोत्र'** बहुत ही लोकप्रिय और सुप्रचलित एव प्राय प्रत्येक जैन की जिह्वा पर आरूढ पाया जाता है। दिग० परम्परानुसार इसमे ४८ तथा श्वेताम्बर परम्परा मे ५४ पद्य पाये जाते हैं। स्तोत्र की रचना सिंहोन्नता छद मे हुई हैं। इसमे स्वय कर्ता के अनुसार प्रथम जिनेन्द्र अर्थात् ऋषभनाथ की स्तुति की गई है। तथापि समस्त रचना ऐसी है कि वह किसी भी तीर्थंकर के लिये लागू हो सकती है। प्रत्येक पद्य में बडे सुन्दर उपमा, रूपक आदि अलकारो का समावेश है। हे भगवन् आप एक अद्‌भुत जगत् प्रकाशी दीपक हैं, जिसमे न तेल है, न बाती और न धूम, एव जहा पर्वतो को हिलादेने वाले वायु के झोंके भी पहुच नही सकते, तथापि जिससे जगत् भर मे प्रकाश फैलता है। हे मुनीन्द्र, आपकी महिमा सूर्य से भी बढकर है, क्योकि आप न कभी अस्त होते, न राहुगम्य हैं, न आपका महान् प्रभाव मेघो से निरुद्ध होता, एव एक साथ समस्त लोको का स्वरूप सुस्पष्ट करते हैं। भगवन् आपही बुद्ध हैं, क्योकि आपके बुद्धि व बोध की विबुध जन अर्चना करते हैं। आप ही शकर है, क्योकि आप भुवनत्रय का शम् अर्थात् कल्याण करते हैं। और आप ही विधाता ब्रह्मा हैं, क्योकि आपने शिव मार्ग (मोक्ष मार्ग) की विधि का विधान किया है, इत्यादि। इसका सम्पादन व जर्मन भाषा मे अनुवाद डा० जैकोबी ने किया है। इस स्तोत्र के आधार से बडा विशाल साहित्य निर्माण हुआ है। कोई २०, २५ तो टीकाए लिखी गई हैं एव भक्तामर स्तोत्र कथा व चरित्र, छाया स्तवन, पचाग विधि, पादपूर्ति स्तवन, पूजा, मत्र, माहात्म्य, व्रतोद्यापन आदि रचनाए भी २०, २५ से कम नही हैं। प्राकृत मे भी मानतुग कृत **भयहर स्तोत्र** पार्श्वनाथ की स्तुति मे रचा गया पाया जाता है।

भक्तामर के ही जोड का और उसी छद व शैली मे, तथा उसी के समान लोक-प्रिय दूसरी रचना **कल्याण मदिर स्तोत्र** है। उसमे ४४ पद्य हैं। अन्तिम भिन्न छद के

एक पद्य में इसके कर्ता का नाम कुमुदचन्द्र सूचित किया गया है, जिसे कुछ लोग सिद्धसेन (लगभग ६ठी शती) का ही दूसरा नाम मानते हैं। दूसरे पद्य के अनुसार यह २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तुति में रचा गया है। भक्तामर के सदृश होते हुए भी यह स्तोत्र अपनी काव्य कल्पनाओं व शब्द योजना में मौलिक ही है। हे जिनेन्द्र आप उन भव्यों को संसार से कैसे पार कर देते हैं, जो अपने हृदय में आपका नाम धारण करते हैं? हां जाना जो एक मशक (दृति) भी जल में तैर कर निकल जाती है, वह उसके भीतर भरे हुए पवन का ही तो प्रभाव है। हे जिनेश आपके ध्यान से भव्य पुरुष क्षणमात्र में देह को छोड़कर परमात्म दशा को प्राप्त हो जाते हैं क्यों न हो तीव्र अग्नि के प्रभाव से नाना धातुएं अपने पाषाण भाव को छोड़कर शुद्ध सुवर्णत्व को प्राप्त कर लेती हैं। इस स्तोत्र का भी डा. जैकोबी ने सम्पादन व जर्मन भाषा में अनुवाद किया है। भक्तामर स्तोत्र के समान इस पर भी कोई २-२५ टीकाएं व छाया स्तोत्र पाये जाते हैं।

धनंजय (७वीं शती-८वीं शती) कृत विषापहार स्तोत्र में ४० इन्द्रवज्रा छंद के पद्य हैं। अन्तिम पद्य का छंद भिन्न है, और उसमें कर्ता ने अपना नाम सूचित किया है। स्तोत्र के द्वितीय पद्य में इस स्तुति को प्रथम तीर्थंकर वृषभ की कहा गया है। इसमें अन्य देवों से पृथक करने वाले तीर्थंकर के गुणों का वर्णन विशेष रूप से पाया है। हे देव जो यह कहकर आपका गुणानुवाद करते हैं कि आप अमुक के पुत्र हैं, अमुक के पिता हैं, व अमुक कुल के हैं, वे यथार्थतः अपने हाथ में आये हुए सुवर्ण को पत्थर समझकर फेंक देते हैं। हे देव मैं यह स्तुति करके आपसे दीनता पूर्वक कोई वर नहीं मांगता हूं क्योंकि आप उपेक्षा (मध्यस्थ भाव) रखते हैं। जो कोई छायापूर्ण वृक्ष का आश्रय लेता है, उसे छाया अपने आप मिलती ही है, फिर छाया मांगने से लाभ क्या? और हे देव यदि आपको मुझे कुछ देने की इच्छा ही है, और उसके लिये अनुरोध भी तो यही वरदान दीजिये कि मेरी आपमें भक्ति दृढ़ बनी रहे। स्तोत्र का नाम उसके १४ वें पद्य के आदि में आये हुए विषापहार शब्द पर से पड़ा है, जिसमें कहा गया है कि हे भगवन् लोग विषापहार मणि औषधियों मंत्र और रसायन की खोज में भटकते फिरते हैं वे यह नहीं जानते कि ये सब आपके ही पर्यायवाची नाम हैं। इस स्तोत्र पर नागचन्द्र और पार्श्वनाथ गोम्मट कृत टीकाएं हैं व एक अवचूरि तथा देवेन्द्रकीर्ति कृत विषापहार प्रत्योद्यापन नामक रचनाओं के उल्लेख मिलते हैं।

वादिराज (११ वीं शती) कृत एकीभाव स्तोत्र में २६ पद्य मन्दाक्रान्ता छन्द के हैं। अन्तिम भिन्न छन्दात्मक पद्य में कर्ता के नाम के साथ उन्हें एक उत्कृष्ट शाब्दिक

तार्किक काव्यकृत् और भव्यसहायक कहा गया है। इस स्तोत्र मे भक्त के मन, वचन और काय को स्वस्थ और शुद्ध करनेवाले तीर्थंकर के गुणो की विशेष रूप से स्तुति की गई है। हे भगवन्, जो कोई आपके दर्शन करता है, वचन रूपी अमृत का भक्ति रूपी पात्रसे पान करता है, तथा कर्मरूपी मनसे आप जैसे असाधारण आनन्द के धाम, दुर्वार काम के मदहारी व प्रसाद की अद्वितीय भूमिरूप पुरुष मे ध्यान द्वारा प्रवेश करता है, उसे क्रूराकार रोग और कटक कैसे सता सकते हैं? हे देव, न आपमे कोप का आवेश है, और न किसी के प्रति प्रसन्नता, एव आपका चित्त परम उपेक्षा से व्याप्त है। इतने पर भी भुवन मात्र आपकी आज्ञा के वश है, और आपके सामीप्य मात्र से वैर का अपहार हो जाता है, ऐसा भुवनोत्कृष्ट प्रभाव आपको छोडकर और किसमे है? इस स्तोत्र पर एक स्वोपज्ञ टीका, एक श्रुतसागर कृत टीका व एक अन्य टीका मिलती है, तथा जगत्कीर्ति कृत **व्रतोद्यापन** का भी उल्लेख मिलता है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक स्तोत्र लिखे गये हैं, जिनकी सख्या सैकडो पर पहुच जाती है, और जिनकी कुछ न कुछ छद, शब्द-योजना, अलकार व भक्तिभाव (१) बप्पभट्टिकृत सरस्वती स्तोत्र (९वी शती) (२) भूपालकृत जिनचतुर्विंशतिका, (३) हेमचन्द्र कृत वीतराग स्तोत्र (१२वी शती), सबधी अपनी अपनी विशेषता है। इनमे से कुछ के नाम ये हैं (४) आशाधर कृत सिद्धगुण स्तोत्र (१३ वी शती) स्वोपज्ञ टीका सहित, (५) धर्मघोष कृत यमक स्तुति व चतुर्विंशति जिन स्तुति, (६) जिनप्रभ सूरि कृत चतुर्विंशति जिनस्तुति (१४ वी शती,) (७) मुनिसुन्दर कृत जिन स्तोत्र रत्नकोष (१४वी शती), (८) सोमतिलक कृत सर्वज्ञ स्तोत्र, (९) कुमारपाल, (१०) सोमप्रभ, (११) जयानद, और (१२) रत्नाकर कृत पृथक्, पृथक्, 'साधारण जिन स्तोत्र', (१३) जिन वल्लभ कृत नदीश्वर स्तवन, (१४) शन्तिचन्द्रगणि (१६ वी शती) कृत ऋषभजिनस्तव' व 'अजितशान्ति स्तव' आदि। धर्मसिंह कृत सरस्वती भक्तामर स्तोत्र तथा भावरत्न कृत नेमिभक्तामर स्तोत्र विशेष उल्लेखनीय है, क्योंकि इनकी रचना भक्तामर स्तोत्र पर से समस्यापूर्ति प्रणाली द्वारा हुई है, और इनमे क्रमश सरस्वती व नेमि तीर्थंकर की स्तुति की गई है।

प्रथमानुयोग—प्राकृत पुराण

जैनागम के परिचय मे कहा जा चुका है कि बारहवें श्रुताग दृष्टिवाद के पाच भेदो मे एक भेद प्रथमानुयोग था, जिसमे अरहत व चक्रवर्ती आदि महापुरुषों का चरित्र वर्णन किया गया था। यही जैन कथा साहित्य का आदि स्त्रोत माना जाता

है। चौथे श्रुतांग समवायांग के भीतर २४६ से २७५वें सूत्र तक जो कुलकरों तीर्थंकरों चक्रवर्तियों बलदेवों वासुदेवों और प्रतिवासुदेवों का वर्णन आया है, उसका भी ऊपर निर्देश किया जा चुका है। समवायांग के इस वर्णन की अपनी निराली ही प्राचीन प्रणाली है। यहां पहले जम्बूद्वीप भरत क्षेत्र में वर्तमान अवसर्पिणी काल में चौबीसों तीर्थंकरों के पिता माता उनके नाम उनके पूर्वभव के नाम उनकी शिबिकाओं के नाम निष्क्रमण भूमियां तथा निष्क्रमण करने वाले अन्य पुरुषों की संख्या प्रथम भिक्षादाताओं के नाम दीक्षा से प्रथम आहार ग्रहण का कालान्तर, चैत्यवृक्ष व उनकी ऊंचाई तथा प्रथम शिष्य और प्रथम शिष्यनी इन सबकी नामावलियां मात्र क्रम से दी गई हैं। तीर्थंकरों के पश्चात् १२ चक्रवर्तियों के पिता माता स्वयं चक्रवर्ती और उनके स्त्रीरत्न क्रमशः गिनाये गये हैं। तत्पश्चात् ९ बलदेव और ९ वासुदेवों के पिता माता स्वयं उनके नाम उनके पूर्वभव के नाम व धर्माचार्य वासुदेवों की निदान भूमियां और निदान कारण (सू २६१) इनके नाम गिनाये गये हैं। विशेषता केवल बलदेवों और वासुदेवों की नामावली में यह है कि उनसे पूर्व उत्तमपुरुष प्रधान पुरुष तेजस्वी वर्चस्वी यशस्वी कान्त सौम्य सुभग आदि कोई सौ से भी ऊपर विशेषण लगाये गये हैं। तत्पश्चात् इनके प्रतिशत्रुओं (प्रतिवासुदेव) के नाम दिये गये हैं। इसके पश्चात् भविष्य काल के तीर्थंकर आदि गिनाये गये हैं। यहां यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि यद्यपि उक्त नामावलियों में त्रेसठ पुरुषों का वृत्तान्त दिया गया है तथापि उसस पूर्व ११२वें सूत्र में उत्तम पुरुषों की संख्या ५४ कही गई है, ६३ नहीं अर्थात् ९ प्रतिवासुदेवों को उत्तम पुरुषों में सम्मिलित नहीं किया गया।

यतिवृषभ कृत तिलोय पण्णत्ति के चतुर्थ महा अधिकार में भी उक्त महापुरुषों का वृत्तान्त पाया जाता है। इस अधिकार की गाथा ४२१ से ५०९ तक चौदह मनुओं या कुलकरों का उल्लेख करके क्रमशः १४११वीं गाथा तक उनका वही वर्णन किया गया है जो ऊपर बतलाया जा चुका है। किन्तु विशेषता यह है कि यहां अनेक बातों में अधिक विस्तार पाया जाता है, जैसे—तीर्थंकरों की जन्मतिथियां और जन्मनक्षत्र उनके वंशो का निर्देश जन्मान्तराल आयुप्रमाण कुमारकाल उत्सेध शरीर वर्ण राज्यकाल चिन्ह, राज्य पद वैराग्य कारण व भावना दीक्षा स्थान तिथि काल व नक्षत्र और वन तथा उपवासों के नाम-निर्देश दीक्षा के पूर्व की उपवास-संख्या पारणा के समय नक्षत्र और स्थान केवलज्ञान का अन्तरकाल समोसरण की रचना का विस्तार पूर्वक वर्णन (गाथा ७१ से ९११ तक) यक्ष-यक्षिणी केवलि-काल गणधरों की संख्या ऋद्धियों के भेद ऋषियों की संख्या सात गण आर्यिकाओं की संख्या मुख्य

अर्यिकाओ के नाम, श्रावको की सख्या, मुक्ति की तिथि, काल व नक्षत्र, तथा साथ मे मुक्त हुए जीवो की सख्या, मुक्ति से पूर्व का योग-काल, मुक्त होते समय के आसन, अनुबद्ध केवलियो की सख्या, अनुत्तर जानेवालो की सख्या, मुक्तिप्राप्त यति-गणो की सख्या, मुक्ति-प्राप्त शिष्यगणों का मुक्ति-काल, स्वर्ग-प्राप्त शिष्यो की सख्या, भाव श्रमणो की सख्या, आदि, और अन्तिम तीर्थंकरों का मुक्ति काल और परस्पर अन्तराल एव तीर्थ-प्रवर्तन काल। यह सब विस्तार १२७८वी गाथा मे समाप्त होकर तत्पश्चात् चक्रवर्तियो का विवरण प्रारम्भ होता है, जिसमे उनके शरीरोत्सेध, आयु, कुमारकाल, मडलीक-काल, दिग्विजय, विभव, राज्यकाल, सयमकाल और पर्यायान्तर प्राप्ति (पुनर्जन्म) का वर्णन गाथा १४१० तक किया गया है। इसके पश्चात् बलदेव, वासुदेव और उनके प्रतिशत्रुओं (प्रतिवासुदेवों)के नामो के अतिरिक्त वे किस-किस तीर्थंकर के तीर्थ मे हुए इसका निर्देश किया गया है, और फिर उनके शरीर-प्रमाण, आयु, कुमार काल और मडलीक काल, तथा शक्ति, धनुष आदि सात महारत्नों व मुसल आदि चार रत्नो के उल्लेख के पश्चात् गाथा १४३६ मे कहा गया है कि समस्त बलदेव निदान रहित होने से मरण के पश्चात् ऊर्ध्वगामी व सब नारायण निदान सहित होने से अधोगामी होते हैं। यह गाथा कुछ शाब्दिक हेर-फेर के साथ वही है जो समवायाग के २६३वें सूत्र के अन्तर्गत आई है। इसके पश्चात् उनके मोक्ष, स्वर्ग व नरक गतियो का विशेष उल्लेख है। गा० १४३७ मे यह भी निर्देश किया गया है कि अन्तिम बलदेव, कृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता, ब्रह्मस्वर्ग को गये हैं, और अगले जन्म मे वे कृष्ण तीर्थंकर के तीर्थ मे सिद्धि को प्राप्त होंगे। इसके पश्चात् ११ रुद्र, ६ नारद और २४ कामदेव, इनका वृत्तान्त गा० १४३६ से १४७२वीं गाथा तक दिया गया है। और तदनन्तर दुःषम काल का प्रवेश, अनुबुद्ध केवली, १४ पूर्वधारी, १० पूर्वधारी, ११ अग-धारी, आचाराग के धारक, इनका काल-निर्देश करते हुए, शक राजा की उत्पत्ति, उसके वश का राज्यकाल, गुप्तो और चतुर्मुख के राज्यकाल तक महावीर के निर्वाण से १००० वर्ष तक की परम्परा, तथा दूसरी ओर महावीर-निर्वाण की रात्रि मे राज्या-भिषिक्त हुए अवन्तिराज पालक, विजयवंश, मुरुण्ड वश, पुष्यमित्र, वसुमित्र, अग्निमित्र, गन्धर्व, नरवाहन, भृत्यान्ध्र और गुप्तवश तथा कल्कि चतुर्मुख के राज्यकाल की परम्परा द्वारा वीर-निर्वाण से वही १००० वर्ष का वृत्तान्त दिया गया है। बस यही पर तिलोय पण्णति का पौराणिक व ऐतिहासिक वृत्तान्त समाप्त होता है (गा० १४७६–१५१४)।

जैन साहित्य मे महापुरुषो के चरित्र को नवीन काव्य शैली मे लिखने का

प्रारम्भ विमलसूरि ने किया। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में आदि काव्य वाल्मीकि कृत रामायण माना जाता है, उसी प्रकार प्राकृत का आदि काव्य भी विमलसूरि कृत पउमचरिय (पद्मचरितम्) है। इस काव्य के अन्त की प्रशस्ति में इसके कर्ता व रचना-काल का निर्देश पाया जाता है। यहां कहा गया है कि स्व-समय और पर-समय अर्थात् अपने धर्म तथा अन्यधर्म के ज्ञायक राहु नामके आचार्य हुए। उनके शिष्य थे नाइल कुलवंशी विजय और विजय के शिष्य विमलसूरि ने पूर्वगत में से नारायण और सीरि (बलदेव) के चरित्र सुनकर इस काव्य की रचना की जिसकी समाप्ति महावीर के सिद्ध होने के उपरान्त दुषमाकाल के ५३० वर्ष व्यतीत होने पर हुई। तिलोय-पण्णत्ति आदि ग्रन्थों के अनुसार वीर निर्वाण से ३ वर्ष ८ मास और १ पक्ष व्यतीत होने पर दुषमाकाल का प्रारम्भ हुआ (ति प ४ १४७४)। अब यदि हम पहले कहे अनुसार महावीर का निर्वाण-काल ई पू ५२७ की कार्तिक कृष्ण अमावास्या को मानते हैं, तो पउमचरिय की समाप्ति का काल आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा सन् ७ ई सिद्ध होता है। किन्तु कुछ विद्वान जैसे जैकोबी ग्रन्थरचना के इस काल को ठीक नहीं मानते क्योंकि एक तो ग्रन्थ की भाषा अधिक विकसित है, और उसमें दीनार, लग्न आदि ऐसे शब्द आये हैं जो यूनान से लिये गये प्रतीत होते हैं। दूसरे उसमें कुछ ऐसे छंदों का उपयोग हुआ है जिनका आविष्कार संभवतः उस समय तक नहीं हुआ था। अतः विद्वान् इसका रचना-काल तीसरी-चौथी शती ई अनुमान करते हैं। यथार्थतः ये मत बहुत कुछ काल्पनिक व अपर्याप्त प्रमाणों पर आधारित हैं। वस्तुतः अभी तक ऐसा कोई प्रमाण सम्मुख नहीं लाया जा सका जिसके कारण ग्रन्थ में निर्दिष्ट समय पूर्णतः असिद्ध किया जा सके। यह बात अवश्य है कि इसकी भाषा में हमें महाराष्ट्री प्राकृत का प्रायः निखरा हुआ रूप दिखाई देता है और महाराष्ट्री के विकास का काल लगभग ई की दूसरी शताब्दी माना जाता है। दूसरी यह बात भी चिन्तनीय है कि जैन साहित्य में अन्य कोई इस शैली का प्राकृत काव्य छठी-सातवीं शती से पूर्व का नहीं मिलता।

पउमचरिय के कर्ता ने अपने ग्रन्थ विषयक आदि स्रोतों के विषय में यह सूचित किया है कि उन्होंने नारायण और बलदेव (लक्ष्मण और राम) का चरित्र पूर्वगत में से सुना था (उ ११८ गा ११८)। यद्यपि पूर्वों के प्राप्त परिचय में कथात्मक साहित्य का उल्लेख नहीं पाया जाता तथापि १२वें श्रुतांग दृष्टिवाद के भेदों में प्रथमानुयोग और पूर्वगत दोनों साथ साथ निर्दिष्ट हैं। पउमचरिय में यह भी कहा गया है कि जो पद्मचरित पहले नामावली निबद्ध और आचार्य परम्परागत था

उसे उन्होंने अनुपूर्वी से संक्षेप मे कहा है (१, ८)। यहा स्पष्टत कर्ता का सकेत उन नामावली-निवद्ध चरित्रो से है, जो समवायाग व तिलोयपण्णति मे पाये जाते है। वे नामावलिया यथार्थत स्मृति-सहायक मात्र हैं। उनके आधार से विशेष कथानक मौखिक गुरु-शिष्य परम्परा मे अवश्य प्रचलित रहा होगा, और इसी का उल्लेख कर्ता ने आचार्य-परम्परागत कहकर किया है। जिन सूत्रो के आधार पर यह गाथात्मक काव्य रचा गया है, उनका निर्देश ग्रन्थ के प्रथम उद्देश मे किया गया है। कवि को इस ग्रन्थ-रचना की प्रेरणा कहा से मिली, इसकी भी सूचना ग्रन्थ मे पाई जाती है। श्रेणिक राजा ने गौतम के सम्मुख अपना यह सन्देह प्रकट किया कि वानरो ने अतिप्रवल राक्षसो का कैसे विनाश किया होगा ? क्या सचमुच रावण आदि राक्षस और मास-भक्षी थे ? क्या सचमुच रावण का भाई कुम्भकर्ण छह महीने तक लगातार सोता था ? और निद्रा से उठकर भूखवश हाथी और भैंसे निगल जाता था ? क्या इन्द्र सग्राम मे रावण से पराजित हो सका होगा ? ऐसी विपरीत वातो से पूर्ण रामायण कवियों द्वारा रची गई है, क्या वह सच है ? अथवा तथ्य कुछ अन्य प्रकार है ? श्रेणिक के इस सन्देह के समाधानार्थ गौतम ने उन्हे यथार्थ रामायण का कथानक कहकर सुनाया (२, ३)। इस कथन से स्पष्ट है कि पउमचरिय के लेखक के सम्मुख वाल्मीकि कृत रामायण उपस्थित थी और उसी से प्रेरणा पाकर उन्होंने अपने पूर्व साहित्य व गुरु परम्परा से प्राप्त कथा-सूत्रो को पल्लवित करके प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण किया।

पउमचरिय मे स्वय कर्ता के कथनानुसार सात अधिकार हैं। स्थिति, वशोत्पत्ति, प्रस्थान, रण, लवकुश (लवणाकुश) उत्पत्ति, निर्वाण और अनेक भव। ये अधिकार उद्देशो मे विभाजित हैं, जिनकी सख्या ११८ है। समस्त रचना प्राकृत गाथाओ मे है, किन्तु उद्देशो के अन्त मे भिन्न भिन्न छन्दो का भी प्रयोग किया गया है। रचना प्राय सर्वत्र सरल, धारावाही कथा-प्रधान है, किन्तु यत्र-तत्र उपमा आदि अलकारो, सूक्तियो व रस-भावात्मक वर्णनो का भी समावेश पाया जाता है। इन विशेषताओ के द्वारा उसकी शैली भाषाभेद होने पर भी सस्कृत के रामायण महाभारत आदि पुराणो की शैली से मेल रखती है। इसमे काव्य का वह स्वरूप विकसित हुआ दिखाई नही देता जिसमे अलकारिक वर्णन व रस-भाव-निरूपण प्रधान, और कथा भाग गौण हो गया है। प्रथम २४ उद्देशो मे मुख्यत विद्याधर और राक्षस वशो का विवरण दिया गया है। राम के जन्म से लेकर, उनके लका से लौटकर राज्याभिषेक तक अर्थात्, रामायण का मुख्य भाग २५ मे ८५ तक के ६१ उद्देशो मे वर्णित है। ग्रन्थ के शेष भाग मे सीता-निर्वासन (उद्देश ९४), लवणाकुश-उत्पत्ति, देश-विजय व

समागम पूर्व भवों का वर्णन आदि विस्तार से करके अन्त में राम को केवलज्ञान की उत्पत्ति और उनकी निर्वाण-प्राप्ति के साथ ग्रन्थ समाप्त होता है। यहां राम का कथानक कई बातों में वाल्मीकि रामायण से अपनी विशेषता रखता है। यहां हनुमान सुग्रीव आदि वानर नहीं किन्तु विद्याधर थे जिनका ध्वज-चिन्ह वानर होने के कारण वे वानर कहलाते थे। रावण के दसमुख नहीं थे किन्तु उसके गले में पहनाये गये हार के मणियों में प्रतिबिम्बित भी अन्य मुखों के कारण वह दसमुख कहलाया। सीता जनक की ही औरस कन्या थी और उसका एक भाई भामंडल भी था। रामने बर्बरों द्वारा किये गये आक्रमण के समय जनक की सहायता की और उसी के उपलक्ष्य में जनक ने सीता का विवाह राम के साथ करने का निश्चय किया। सीता के भ्राता भामंडल को उसके बचपन में ही एक विद्याधर हर ले गया था। युवक होने पर तथा अपने सच्चे मातापिता से अपरिचित होने के कारण उसे सीता का चित्रपट देखकर उस पर मोह उत्पन्न हो गया था और वह उसी से अपना विवाह करना चाहता था। इसी विरोध के परिहार के लिये धनुष-परीक्षा का आयोजन किया गया जिसमें राम की विजय हुई। दशरथ ने जब वृद्धत्व आया जान राज्यभार से मुक्त हो वैराग्यधारण करने का विचार किया तभी गंभीर-स्वभावी भरत को भी वैराग्य भाव उत्पन्न हो गया। इस प्रकार अपने पति और पुत्र दोनों के एक साथ वियोग की आशंका से भयभीत होकर कैकेयी ने अपने पुत्र को गृहस्थी में बांधे रखने की भावना से उसे ही राज्य पद देने के लिये दशरथ से एक मात्र वर मांगा और राम दशरथ की आज्ञा से नहीं किन्तु स्वेच्छा से वन को गये। इस प्रकार कैकेयी को किसी दुर्भावना के कलंक से बचाया गया है। रावण के आधिपत्य को स्वीकार करने के प्रस्ताव को ठुकराकर बालि स्वयं अपने लघु भ्राता सुग्रीव को राज्य देकर प्रव्रजित हो गया था राम ने उसे नहीं मारा। रावण को यहां ज्ञानी और व्रती चित्रित किया गया है। वह सीता का अपहरण तो कर ले गया किन्तु उसने उसकी इच्छा के प्रतिकूल बलात्कार करने का कभी विचार या प्रयत्न नहीं किया और प्रेम की पीड़ा से वह घुलता रहा। जब स्वयं उसकी पत्नी मंदोदरी ने रावण के सुधारने का दूसरा कोई उपाय न देख सच्ची पत्नी के नाते उसे बलपूर्वक भी अपनी इच्छा पूर्ण कर लेने का सुझाव दिया तब उसने यह कहकर उस प्रस्ताव को ठुकरा दिया कि मैंने किसी स्त्री के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध कभी संभोग न करने का व्रत ले लिया है जिसे मैं कभी भंग न करूंगा। रावण के स्वयं अपने मुख से इस व्रत के उल्लेख द्वारा कवि ने न केवल उसके चरित्र को ऊंचा उठाया है, किन्तु सीता के अखंड पातिव्रत का भी एक निस्संदेह

प्रमाण उपस्थित कर दिया है। रावण की मृत्यु यहा राम के हाथ से नही, किन्तु लक्ष्मण के हाथ से कही गई है। राम के पुत्रो के नाम यहा लवण और अंकुश पाये जाते हैं। इस प्रकार की अनेक विशेषताए इस कथानक मे पाई जाती है, जिनका उद्देश्य कथा को अधिक स्वाभाविक वनाना, और मानव चरित्र को सभी परिस्थितियो मे ऊचा उठाये रखना प्रतीत होता है। कथानक के वीच मे प्रसगवश नाना अवान्तर कथाए व धर्मोपदेश भी गुथे हुए हैं। पउमचरिय के अतिरिक्त विमलसूरि की और कोई रचना अभी तक प्राप्त नही हुई, किन्तु शक सवत ७०० (ई० सन् ७७८) मे वनी कुवलयमाला मे उसके कर्ता उद्योतनसूरि ने कहा है कि—

वुहयण-सहस्स-दइय हरिवसुप्पत्ति-कारय पढम।
वदामि वदिय पि हु हरिवस चेव विमलपय॥

अर्थात् मै सहस्त्रो वुधजनो के प्रिय हरिवशोत्पति के प्रथम कारक अर्थात् रचयिता विमलपद हरिवश की ही वन्दना करता हू। इस उल्लेख पर से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवत विमलसूरि ने हरिवश-कथात्मक ग्रन्थ की भी रचना की थी।

ऊपर कहा जा चुका है कि समवायाग सूत्र मे यद्यपि नामावलिया समस्त त्रेसठ शलाका पुरुषो की निवद्ध की गई हैं, तथापि उनमे से ६ प्रतिवासुदेवो को छोडकर शेष ५४ को ही उत्तमपुरुष कहा है। इन्ही ५४ उत्तमपुरुषो का चरित्र शीलाकाचार्य ने अपने 'चउपन्नमहापुरिस-चरिय' मे किया है, जिसकी रचना वि० स० ९२५ ई०-सन् ८६८ मे समाप्त हुई। यह ग्रन्थ प्राकृत गद्य मे व यत्र तत्र पद्यो मे रचा गया है। तीर्थंकरो व चक्रवर्तियो का चरित्र यहा पूर्वोक्त नामावलियो के आधार से जैन परम्परानुसार वर्णन किया गया है। किन्तु विशेष तुलना के लिये यहा राम का आख्यान ध्यान देने योग्य है। अधिकाश वर्णन तो सक्षेप से विमलसूरि कृत पउमचरिय के अनुसार ही है, किन्तु कुछ वातो मे उल्लेखनीय भेद दिखाई देता है। जिस रावण की भगिनी को पउमचरिय में सर्वत्र चन्द्रनखा कहा गया है, उसका नाम यहा सूर्पनखा पाया जाता है। पउमचरिय मे रावण ने लक्ष्मण के स्वर मे सिंहनाद करके राम को धोखा देकर सीता का अपहरण किया, किन्तु यहा स्वर्णमयी मायामृग का प्रयोग पाया जाता है। पउमचरिय में वालि स्वय सुग्रीव को राज्य देकर प्रवृजित हो गया था, किन्तु यहा उसका राम के हाथ से वध हुआ कहा गया है। यहा सीता को अपहरण के पश्चात् सम्बोधन करने वाली त्रिजटा का उल्लेख आया है, जो पउमचरिय में नही है। इन भेदो से सुस्पष्ट है कि शीलाक की रचना मे वाल्मीकि कृत रामायण का प्रभाव अधिक पडा है, यद्यपि ग्रन्थ के अन्त में शीलाक ने स्पष्टत कहा है कि राम और लक्ष्मण का चरित्र जो पउमचरिय मे

विस्तार से वर्णित है उसे उन्होंने संक्षेप से कहा है।

महेश्वर कृत 'कहावलि' में त्रेसठ महापुरुषों का चरित्र वर्णित है। महेश्वर अभयदेव के गुरु थे। अभयदेव के शिष्य धापाक का समय लगभग ११११ ई० पाया जाता है अतएव यह रचना १२ वी शती के प्रारम्भ की सिद्ध होती है। समस्त रचना प्राकृत गद्य में लिखी गई है केवल यत्र तत्र पद्य पाये जाते हैं। ग्रन्थ में कोई अध्यायों का विभाग नहीं है किन्तु कथाओं का निर्देश 'रामकहा भण्णइ' 'वाणरकहा भण्णइ' इत्यादि रूपसे किया गया है। इस ग्रन्थ में रामायण की कथा विमलसूरि कृत 'पउम चरियं' के ही अनुसार है। जो थोड़ा-बहुत भेद यत्र-तत्र पाया जाता है, उसमें विशेष उल्लेखनीय सीता के निर्वासन का प्रसंग है। सीता गर्भवती है और उसे स्वप्न हुआ है कि वह दो पराक्रमी पुत्रों को जन्म देगी। सीता के इस सौभाग्य की बात से उसकी सपत्नियों को ईर्ष्या उत्पन्न होती है। उन्होंने सीता के साथ एक छल किया। उन्होंने सीता से रावण का चित्र बनाने का आग्रह किया। सीता ने यह कहते हुए कि मैने उसके मुखादि अंग तो देखे नहीं केवल उसके पैरों का चित्र बना दिया। इसे उन सपत्नियों ने राम को दिखाकर कहा कि सीता रावण में अनुरक्त हो गई है और उसी की चरण-वंदना किया करती है। राम ने इसपर जब तत्काल कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखाई तब उन सपत्नियों ने जनता में यह अपवाद फैला दिया जिसके परिणाम स्वरूप राम सीता का निर्वासन करने के लिये विवश हुए। रावण के चित्र का वृत्तान्त हेमचन्द्र ने अपने त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में भी निबद्ध किया है।

प्राकृत में तीर्थंकर चरित्र —

शीलांक कृत 'चउप्पन्नमहापुरिसचरियं' के पश्चात् आगामी तीन चार शताब्दियों में नाना तीर्थंकरों के चरित्र प्राकृत में कहीं पद्यात्मक कहीं गद्यात्मक और कहीं मिश्रित रूप से काव्यशैली में लिखे गये। प्रथम तीर्थंकर ऋषभ नाथ पर अभयदेव के शिष्य वर्द्धमान सूरि ने सन् ११ १ ई में ११   श्लोक प्रमाण आदिनाह-चरियं की रचना की। पांचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ का चरित्र १२ वीं शती के मध्य में सिंहसिंह के शिष्य सोमप्रभ द्वारा लगभग ९   गाथाओं में रचा गया। छठे तीर्थंकर पद्मप्रभ का चरित्र देवसूरि द्वारा १३ वीं शती में रचा गया। सातवें तीर्थंकर पर लक्ष्मण गणि कृत 'सुपासनाह-चरियं' एक सुविस्तृत और उत्कृष्ट कोटि की रचना है, जो वि सं ११९९ में समाप्त हुई है। इसमें लगभग ७ पद्य अपभ्रंश के भी समाविष्ट पाये जाते हैं। आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ पर यशोदेव कृत (सं ११७८) तथा श्रीचन्द्र के शिष्य

हरिभद्रकृत (स० १२२३), ११ वें **श्रेयांस** पर अजितसिंह कृत, और १२ वें **वासुपूज्य** पर चन्द्रप्रभ कृत चरित्र-ग्रन्थ पाये जाते हैं। १४ वें तीर्थंकर **अनन्तनाथ** का चरित्र नेमिचन्द्र द्वारा वि० स० १२१३ मे लिखा गया। १६ वें तीर्थंकर **शान्तिनाथ** का चरित्र देवचन्द्र सूरि द्वारा वि० स० ११६० मे तथा दूसरा मुनिभद्र द्वारा वि० स० १३५३ मे लिखा गया। देवसूरि कृत रचना लगभग १२००० श्लोक प्रमाण है। १९वें **मल्लिनाथ** तीर्थंकर के चरित्र पर दो रचनाए मिलती हैं, एक श्रीचन्द्र सूरि के शिष्य हरिभद्र द्वारा सर्वदेवगणि की सहायता से, और दूसरी जिनेश्वर सूरि द्वारा। १२ वी शती मे ही २० वें तीर्थंकर **मुनिसुव्रत** का चरित्र श्रीचन्द्र द्वारा लगभग ११००० गाथाओ मे लिखा गया। २२ वें **नेमिनाथ** पर भी तीन रचनायें उपलब्ध हैं, एक मलधारी हेमचन्द्र कृत, दूसरी जिनेश्वर सूरि कृत वि० स० ११७५ की, और तीसरी रत्नप्रभ सूरि कृत वि० सवत् १२२३ की। २३ वें तीर्थंकर **पार्श्वनाथ** का चरित्र अभयदेव के प्रशिष्य देवभद्र सूरि द्वारा वि०स० ११६८ मे रचा गया। रचना गद्य-पद्य मिश्रित है। अन्तिम तीर्थंकर पर 'महावीर-चरिय' नामक तीन रचनाए (प्रका० अमदाबाद १९४५) उपलब्ध हैं, एक सुमति वाचक के शिष्य गुणचन्द्र गणिकृत, दूसरी देवेन्द्रगणि अपर नाम नेमिचन्द्र, और तीसरी देवभद्र सूरिकृत। इन सबसे प्राचीन महावीर चरित्र आचाराग व कल्पसूत्र मे पाया जाता है। कल्पसूत्र मे वर्णित चरित्र अपनी काव्यात्मक शैली मे ललितविस्तर मे वर्णित बुद्धचरित से मिलता है। यह रचना भद्रबाहु कृत कही जाती है।

उक्त समस्त रचनाओ की भाषा व शैली प्राय एक सी है। भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है, किन्तु कही कही शौरसेनी की प्रवृतिया भी पाई जाती है। शैली प्राय पौराणिक है, किन्तु कवि की प्रतिभानुसार उनमे छद, अलकार, रस-भाव आदि काव्य गुणों का तरतम भाव पाया जाता है। प्रत्येक रचना मे प्राय चरित्रनायक के अनेक पूर्व भवो का वर्णन किया गया है, जो ग्रन्थ के एक-तृतीय भाग से कहीं कही अर्द्ध-भाग तक पहुच गया है। शेष भाग मे भी उपाख्यानो और उपदेशो की बहुलता पाई जाती है। नायक के चरित्र वर्णन मे जन्म-नगरी की शोभा, माता-पिता का वैभव, गर्भ और जन्म समय के देव-कृत अतिशय, कुमार-क्रीडा और शिक्षा-दीक्षा, प्रवृज्या और तपस्या की कठोरता, परिषहो और उपसर्गों का सहन, केवलज्ञानोत्पत्ति, समवशरण-रचना धर्मोपदेश, देश-प्रदेश बिहार, और अन्तत निर्वाण, इनका वर्णन कही संक्षेप से और कही विस्तार से, कही सरल रूप मे और कही कल्पना, लालित्य और अलकारो से भरपूर पाया जाता है।

प्राकृत में विशेष कथाग्रन्थ-पद्यात्मक—

तीर्थंकरों के चरित्रों के अतिरिक्त प्राकृत में अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें किसी व्यक्तिविशेष के जीवन-चरित्र द्वारा जैनधर्म के किसी विशेष गुण जैसे संयम उपवास पूजा विधि-विधान पात्र-दान आदि का माहात्म्य प्रकट किया गया है। ये रचनाएं अपनी शैली व प्रमाणादि की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त की जा सकती हैं। एक वे ग्रन्थ हैं जिनमें प्राकृत पद्यात्मक रचनाएं ही पाई जाती हैं, एवं जिनमें छंद अलंकार आदि का भी वैशिष्ट्य दिखाई देता है। अतएव इन्हें हम प्राकृत काव्य कह सकते हैं। दूसरी वे रचनाएं हैं जिनमें मुख्यतः प्राकृत गद्य शैली में किसी व्यक्ति विशेष का जीवन वृत्तान्त कहा गया है। तीसरे प्रकार के वे ग्रन्थ हैं जो बहुधा कथाकोष के नाम से प्रकट किये गये हैं और जिनमें कहीं पद्य और कहीं मिश्रित रूप से अपेक्षा कृत संक्षेप में धार्मिक स्त्री-पुरुषों के चरित्र वर्णित किये गये हैं।

सबसे अधिक प्राचीन प्राकृत काव्य पादलिप्तसूरि कृत तरंगवती कथा का उल्लेख अनेक प्राचीन ग्रन्थों जैसे अनुयोगद्वारसूत्र कुवलयमाला तिलकमंजरी आदि में मिलता है। 'विसेसनिसीह चूर्णि' में नरवाहनदत्त की कथा को लौकिक व तरंगवती और मगधसेना आदि कथाओं को लोकोत्तर कहा गया है। हालकृत गाथा-सप्तशती में पादलिप्त कृत गाथाओं का संकलन पाया जाता है। प्रभाचन्द्र कृत प्रभावक-चरित्र में (११ वीं शती) पादलिप्तसूरि का जीवनवृत्त पाया जाता है, जिसमें उनके विद्याधर कुल व नागहस्ति गुरु का उल्लेख है। इन उल्लेखों पर से इस रचना का काल ई० सन् ५ से पूर्व सिद्ध होता है। दुर्भाग्यतः यह ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हो सका किन्तु लगभग १२ वीं शती में वीरभद्र के शिष्य नेमिचन्द्र ने इसका संक्षेप तरंगलोला नाम से १६४२ गाथाओं में प्रस्तुत किया है, जो प्रकाश में आ चुका है। (नेमिविज्ञान ग्रन्थमाला वि० सं० २०००)। इसका जर्मन में प्रोफेसर लायमन द्वारा तथा गुजराती में नरसिंह भाई पटेल द्वारा किये हुए अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके हैं। तरंगलोलाकार ने स्पष्ट कहा है कि तरंगवती कथा देशी-वचनात्मक बड़ी विशाल और विचित्र थी जिसमें सुन्दर कुलकों कहीं गहन युगलों और कहीं दुर्गम षट्कलों का प्रयोग हुआ था। वह विद्वानों के ही योग्य थी जनसाधारण उससे लाभ नहीं उठा सकते थे। अतएव उस रचना की गाथाओं को संक्षेपरूप से यहां प्रस्तुत किया जाता है, जिससे उक्त कथा का लोप न हो। इस कथा में तरंगवती नामकी एक साध्वी जब भिक्षा के लिये नगर में गई तब एक सेठानी ने उसके रूप से आकृष्ट होकर उसका जीवन-वृत्तान्त पूछा। साध्वी ने बतलाया कि जब वह युवती थी तब एक चकवा पक्षी को देखकर

उसे अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया कि जब वह भी चकवी के रूप मे गगा के किनारे अपने प्रिय चकवे से साथ क्रीडा किया करती थी। वह एक व्याध के वाण से विद्ध होकर मर गया, तब मैंने भी प्राण परित्याग कर यह जन्म धारण किया। यह जाति-स्मरण होने पर मैंने अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्त का चित्रपट लिखकर कौमुदी महोत्सव के समय कौशाम्बी नगर के चौराहे पर रखवा दिया। इसे देख एक सेठ के पुत्र पद्मदेव को भी अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया। हम दोनो का प्रेम वढ़ा, किन्तु पिताने उस युवक से मेरा विवाह नही किया, क्योकि वह पर्याप्त धनी नही था। तव हम दोनो एक रात्रि नाव मे बैठकर वहा से निकल भागे। घूमते भटकते हम एक चोरो के दल द्वारा पकडे गये। चोरो ने कात्यायनी के सम्मुख हमारा वलिदान करना चाहा। किन्तु मेरे विलाप से द्रवित होकर चोरो के प्रधान ने हमे छुडवा दिया। हम कौशाम्बी वापिस आये, और धूमधाम से हमारा विवाह हो गया। कुछ समय पश्चात् मैं चन्दनवाला की शिष्या बन गई, और उन्ही के साथ विहार करती हुई यहा आ पहुची। इस जीवन-वृत्तान्त से प्रभावित होकर सेठानी ने भी श्रावक-व्रत ले लिये। इस कथानक की अनेक घटनाए सुबधु, वाण आदि सस्कृत कवियो की रचनाओ से मेल खाती हैं। नरवलि का प्रसग तो भवभूति के मालती-माधव मे वर्णित प्रसग से बहुत कुछ मिलता है।

हरिभद्रसूरि (८ वी शती)कृत **धूर्ताख्यान** मे ४८५ गथाए है, जो पाच आख्यानो मे विभाजित हैं। उज्जैनी के ममीप एक उद्यान था, जिसमे एक बार पाच धूर्तों के दल सयोग वश आकर एकत्र हो गए। वर्षा लगातार हो रही थी, और खाने-पीने का प्रवन्ध करना कठिन प्रतीत हो रहा था। पाचो दलो के नायक एकत्र हुए, और उनमे से एक मूलदेव ने यह प्रस्ताव किया कि हम पाचो अपने-अपने अनुभव की कथा कहकर सुनायें। उसे सुनकर दूसरे अपने कथानक द्वारा उसे सम्भव सिद्ध करें। जो कोई ऐसा न कर सके, और आख्यान को असम्भव बतलावे, वही उस दिन समस्त धूर्तों के भोजन का खर्च उठावे। मूलदेव, कडरीक, एलाषाढ़ और शश नामक धूर्तराजो ने अपने अपने असाधारण अनुभव सुनाये, जिनका समाधान पुराणो के अलौकिक वृत्तान्तो द्वारा दूसरो ने कर दिया। पाचवा वृत्तान्त खडपाना नामकी धूर्तनी का था। उसने अपने वृत्तान्त मे नाना असम्भव घटनाओ का उल्लेख किया, जिनका समाधान क्रमश. उन धूर्तों ने पौराणिक वृत्तान्तो द्वारा कर दिया, तथापि खडपाना ने उन्हें सलाह दी कि वे उसको अपनी स्वामिनी स्वीकार कर लें, तो वह उन्हें भोजन भी करावेगी और वे पराजय से भी वच जायेंगे। किन्तु अपनी यहां तक की विजय के उन्माद से

उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया और उसे अपना अन्तिम आख्यान सुनाने की चुनौती दी। खंडपाना ने प्रसंग मिलाकर कहा कि उसके जो वस्त्र हवा में उड़ गये थे व उसके चार नौकर भाग गये थे आप उसकी पहचान में आ गये। तुम चारों वे ही मेरे सेवक हो और मेरे उन्हीं वस्त्रों को पहने हुए हो। यदि यह सत्य है, तो मेरी चाकरी स्वीकार करो और यदि यह असत्य है, तो सबको भोजन कराओ। तब सब धूर्तों ने उसे अपनी प्रधान नायिका स्वीकार कर लिया और उसने स्वयं सब धूर्तों को भोजन कराना स्वीकार कर लिया। फिर वह श्मशान में गई और वहां से एक तत्काल मृतक बालक को लेकर नगरमें पहुंची। एक धनी सेठ से उसने सहायता मांगी और उसे उत्तेजित कर दिया। उसके नौकरों द्वारा ताड़ित होने पर वह चिल्ला उठी कि मेरे पुत्र को तुम लोगों ने मार डाला। सेठ ने उसे धन देकर अपना पीछा छुड़ाया। उस धन से खंडपाना ने सब धूर्तों को आहार कराया। यह रचना भारतीय साहित्य में अपने ढंग की अद्वितीय है और पुराणों की अतिरंजित घटनाओं की व्यंग्यात्मक कड़ी आलोचना है। इसी के अनुकरण पर अपभ्रंश में हरिषेण और श्रुतकीर्ति कृत तथा संस्कृत में अमितगति कृत धर्मपरीक्षा नामक ग्रन्थों की रचना हुई। (प्रका बम्बई, १९४४)।

जिनेश्वर सूरि के शिष्य धनेश्वर सूरि कृत 'सुरसुन्दरी-चरियं' १६ परिच्छेदों में तथा ४ गाथाओं में समाप्त हुआ है। इसकी रचना चन्द्रावती नगरी में वि सं १ ९५ में हुई थी। सुरसुंदरी कुशाग्रपुर के राजा नरवाहनदत्त की पुत्री थी। वह पढ़लिखकर बड़ी विदुषी युवती हुई। बुद्धिला नामक परिव्राजिका ने उसे नास्तिक कथा का पाठ पढ़ाना चाहा किन्तु सुरसुन्दरी के तर्क से पराजित और रुष्ट होकर उसने उज्जैन के राजा शत्रुंजय को उसका चित्रपट दिखाकर उभाड़ा। शत्रुंजय ने उसके पिता से विवाह की मांग की जो अस्वीकार कर दी गई। इस कारण दोनों राजाओं में युद्ध छिड़ गया। इसी बीच वैताढ्य पर्वत के एक खेचर ने सुरसुंदरी का अपहरण कर लिया और उसे ले जाकर एक कदलीगृह में रक्खा। सुरसुन्दरी ने आत्मघात की इच्छा से विषफल का भक्षण किया। दैवयोग से उसी बीच उसका उसके प्रेमी मकरकेतु ने वहां पहुंच कर उसकी रक्षा की तथा वहां से जाकर उसने शत्रुंजय का भी वध किया। किन्तु एक वैरी विद्याधर ने स्वयं उसका अपहरण कर लिया। बड़ी कठिनाइयों और नाना घटनाओं के पश्चात् सुरसुंदरी और मकरकेतु का पुनर्मिलन और विवाह हुआ। दीर्घ काल तक राज्य भोगकर दोनों ने दीक्षा ली एवं केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त किया। यथार्थतः नायिका का नाम व

वृत्तान्त ११ वें परिच्छेद से प्रारम्भ होता है। उससे पूर्व हस्तनापुर के सेठ धनदत्त का घटनापूर्ण वृत्तान्त, और अन्तत श्रीदत्ता से विवाह, और उसी घटनाचक्र के बीच विद्याधर चित्रवेग और कनकमाला, तथा चित्रगति और प्रियगुमजरी के प्रेमाख्यान समाविष्ट हैं। प्राय समस्त रचना गाथा छद मे है, किन्तु यत्र-तत्र अन्य नाना छदो का प्रयोग भी हुआ है। कवि प्रतिभावान् है, और समस्त रचना वडे सरस और भावपूर्ण वर्णनो से भरी हुई है। प्राकृतिक दृश्यो, पुत्रजन्म व विवाहादि उत्सवो, प्रात व सध्या, तथा वन एव सरोवरो आदि के वर्णन वडे कलापूर्ण और रोचक हैं। नृत्यादि के वर्णनो मे हरिभद्र की समरादित्य कथा की छाप दिखाई देती है।

महेश्वर सूरि कृत **'णाणपचमीकहा'** की रचना का समय ई० सन् १०१५ से पूर्व अनुमान किया जाता है। इस रचना मे स्वतत्र १० कथाए समाविष्ट हैं, जिनके नाम हैं—(१), जयसेन, (२) नद, (३) भद्रा, (४) वीर, (५) कमल, (६) गुणानुराग, (७) विमल, (८) धरण, (९) देवी, और (१०) भविष्यदत्त। प्रथम और अन्तिम कथाए कोई पाच-पाच सौ गाथाओ मे, और शेष कोई १२५ गाथाओ मे समाप्त हुई हैं। इस प्रकार समस्त गाथाओ की सख्या लगभग २००० है। दसो कथाए ज्ञानपचमी व्रत का माहात्म्य दिखलाने के लिये लिखी गई हैं। कथाए बडी सुन्दर, सरल और धारावाही रीति से वर्णित हैं। यथास्थान रसो और भावो एव लोकोक्तियो का भी अच्छा समावेश किया गया है, जिनसे इस रचना को काव्य पद प्राप्त होता है।

हेमचन्द्रकृत **'कुमारपाल-चरित'** आठ सर्गों मे समाप्त हुआ है। हेमचन्द्र का जन्म वि० स० ११४५ में और स्वर्गवास स० १२२९ में हुआ। अतएव इसी बीच प्रस्तुत काव्य का रचना-काल आता है। कुमारपाल हेमचन्द्र के समय गुजरात के चालुक्यवशी नरेश थे, और उन्ही के प्रोत्साहन से कवि ने अपनी अनेक रचनाओं का निर्माण किया था। प्रस्तुत ग्रन्थ अपनी एक बहुत वडी विशेषता रखता है। हेमचन्द्र ने अपना एक महान् शव्दानुशासन लिखा है, जिसके प्रथम सात अध्यायो मे सस्कृत के, एव अन्तिम अष्टम अध्याय में प्राकृत के व्याकरण का सूत्रो द्वारा स्वय अपनी वृत्ति सहित निरूपण किया है। इसी व्याकरण के नियमो के उदाहरणो के लिये उन्होंने द्वयाश्रय काव्य की रचना की है, जिसमे एक ओर कुमारपाल नरेश के वश का काव्य की रीति से वर्णन किया गया है, और साथ ही साथ अपने सम्पूर्ण व्याकरण के सूत्रो के उसी क्रम से उदाहरण उपस्थित किये गये हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ में अट्ठाईस सर्ग हैं, जिनमे प्रथम २० सर्गों मे कुमारपाल के वश व पूर्वजो का इतिहास, और सस्कृत व्याकरण के

उदाहरण हैं। शेष ८ सर्गों में राजा कुमारपाल का चरित्र और प्राकृत व्याकरण के उदाहरण हैं। यही भाग कुमारपाल-चरित्र के नामसे प्रसिद्ध है। इसके प्रथम ६ तथा सातवें सर्ग की ९२ वीं गाथा तक प्राकृत व्याकरण के आदि से लेकर चौथे अध्याय के २१९ वें सूत्र तक प्राकृत सामान्य के उदाहरण आयेहैं। फिर आठवें सर्ग की पांचवीं गाथा तक मागधी ११वीं तक पैशाची ११ वीं तक चूलिका पैशाची और तत्पश्चात् सर्ग के अन्तिम ८३ वें पद्य तक अपभ्रंश के उदाहरण दिये गये हैं। कथा की दृष्टि से प्रथम सर्ग में अनहिलपुर व राजा कुमारपाल की प्रातः क्रिया का वर्णन है। द्वितीय सर्ग में राजा के व्यायाम कुंजरारोहण जिनमंदिरगमन पूजन व गृहागमन का वर्णन है। तीसरे सर्ग में उद्यानक्रीड़ा का व चौथे में ग्रीष्म ऋतु का वर्णन है। पांचवें में वर्षा हेमन्त और शिशिर ऋतुओं का छठवें में चन्द्रोदय का सातवें में राजा के स्वप्न व परमार्थ-चिन्तन का तथा अष्टम सर्ग में सरस्वती देवी द्वारा उपदेश दिये जाने का वर्णन है। इस प्रकार काव्य में कथाभाग प्रायः नहीं के बराबर है किन्तु उक्त विषयों का वर्णन विशद और सुविस्तृत है। काव्य और व्याकरण की उक्त आवश्यकताओं की एक साथ पूर्ति बड़ा दुष्कर कार्य है। इस कठिन कार्य में कुछ कृत्रिमता और बोझलपन आजाना भी अनिवार्य है और इसे ही हेमचन्द्र ने अपनी इस कृति में बड़ी कुशलता से निबाहा है। इसकी उपमा संस्कृत साहित्य में एक भट्टीकाव्य में पाई जाती है, जिसमें कथा के साथ पाणिनीय व्याकरण के उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं। किन्तु उसमें वह पूर्णता और क्रम-बद्धता नहीं है, जो हमे हेमचन्द्र की कृति में मिलती है। (प्रका पूना १९३६)

प्राकृत मे एक और कुमारपाल-चरित पृथ्वीचन्द्र सूरि के शिष्य हरिश्चन्द्र कृत भी पाया जाता है जो ९२४ श्लोक प्रमाण है।

नेमिचन्द्र सूरि कृत 'महीपाल-कहा' लगातार १८ गाथाओं में पूर्ण हुई है। अन्त में कवि ने अपना इतना परिचय मात्र दिया है कि वे चन्द्र गच्छ के देवभद्र सूरि, उनके शिष्य सिद्धसेन सूरि, उनके शिष्य मुनिचन्द्रसूरि के शिष्य थे। उन्होंने अपने को पंडिततिलक उपाधि से विभूषित किया है। इस आचार्य-परम्परा का पूरा परिचय तो कहीं मिलता नहीं तथापि एक प्रतिमा-लेख में देवभद्र सूरि के शिष्य सिद्धसेन सूरि का उल्लेखमिलता है, जिसमें सं १२११ का उल्लेख है(पट्टा०समु पृ २ ५)संभव है सिद्धसेन और सिद्धसेन के पढ़नेमें भ्रान्ति हुई हो और वे एक ही व्यक्ति के नाम हों। इस आधार पर प्रस्तुत रचना का काल ई १२ वी शती अनुमान किया जा सकता है। इसी ग्रन्थ का संस्कृत रूपान्तर चारित्रसुन्दर कृत संस्कृत 'महीपाल-चरित्र' में मिलता है, जिसका रचनाकाल १५ वी शती का मध्य भाग अनुमान किया जाता है। उज्जैनी के राजा नरसिंह

ने अपने ज्ञानी और विनोदी मित्र महीपाल को देश से इस कारण निर्वासित कर दिया कि वह अपना पूरा समय राजा की सेवा मे न बिताकर, कुछ काल के लिये कलाओ की उपासाना के हेतु अन्यत्र चला जाता था। निर्वासित महीपाल ने नाना द्वीपो व नगरो का परिभ्रमण किया, अपने कौशल, विज्ञान व चातुर्य से नाना राजाओ व सेठो को प्रसन्न कर बहुत सा धन प्राप्त किया व अनेक विवाह किये। लौटकर आने पर पुन वह राजा का कृपापात्र बना, और अन्त मे दोनो ने मुनि-उपदेश सुनकर वैराग्य धारण किया। सम्पूर्ण कथा गाथा छद मे वर्णित है, और महीपाल के कला व चातुर्य के उपाख्यानो से भरपूर है। कथा-प्रसग कही बहुत नही टूटने पाया। भाषा सरल, धारावाही है। सरल अलकारो व सूक्तियो का समुचित प्रयोग दिखाई देता है। (प्रका० अमदाबाद, वि० स० १९९८)

देवेन्द्रसूरि कृत **'सुदसणाचरिय'** का दूसरा नाम **'शकुनिका-विहार'** भी है। कर्ता ने अपने विषय मे कहा है कि वे चित्रापालक गच्छ के भुवनचन्द्र गुरु, उनके शिष्य देवभद्र मुनि, उनके शिष्य जगच्चन्द्र सूरि के शिष्य थे। उनके एक गुरु-भ्राता विजयचन्द्र सूरि भी थे। तपागच्छ पट्टावली के अनुसार उक्त देवभद्र आदि मुनि वस्तुपाल मत्री के सम-सामयिक थे, एव वि० स० १३२३ मे देवभद्र सूरि ने विद्यानद को सूरि पद प्रदान किया था। अतएव इसी वर्ष के लगभग प्रस्तुत ग्रन्थ का रचनाकाल सिद्ध है। ग्रन्थ १६ उद्देशो मे समाप्त हुआ है, जिनमे स्वय ग्र थकार के अनुसार समस्त गाथाओ की सख्या ४००२ है, और धनपाल, सुदर्शन, विजयकुमार, शीलवती, अश्वावबोध, भ्राता, धात्रीसुत और धात्री, ये ८ अधिकार हैं। सुदर्शना सिहलद्वीप मे श्रीपुर नगर के राजा चन्द्रगुप्त और रानी चन्द्रलेखा की पुत्री थी। पढ़ लिखकर वह बडी विदुषी और कलावती निकली। एकबार उसने राजसभा मे ज्ञाननिधि पुरोहित के मत का खडन किया। धर्मभावना से प्रेरित हो वह भृगुकच्छ की यात्रा पर आई, और यहाँ उसने मुनिसुव्रत तीर्थंकर का मदिर तथा शकुनिका विहार नामक जिनालय निर्माण कराये, और अपना शेष जीवन धर्म ध्यान मे व्यतीत किया। सुदर्शना का यह चरित्र हिरण्यपुर के सेठ धनपाल ने रैवतक गिरि की वदना से लौटकर अपनी पत्नी धनश्री को सुनाया था, जैसा कि उसने रैवतक गिरि मे एक किन्नरी के मुख से सुना था। कथा मे प्रसगवश उक्त पुरुष-स्त्रियो तथा नाना अन्य घटनाओ के रोचक वृत्तान्त समाविष्ट हैं। दसवें उद्देश में ज्ञान व चरित्र के उदाहरण रूप मरुदेवी का तथा उनके पुत्र ऋषभप्रभु का चरित्र वर्णित है। उसी प्रकार नाना धार्मिक नियमों और उनके आदर्श दृष्टान्तो के वर्णन कथा के बीच गुथे हुए है। यत्र-तत्र कवि ने अपना रचना-चातुर्य भी

प्रदर्शित किया है। १६ में उपदेश में धनपाल ने नेमीश्वर की स्तुति पहले संस्कृत गद्य में की है जो समास प्रचुर है और फिर एक ऐसे अष्टक स्तोत्र द्वारा जिसके प्रत्येक पद्य का एक चरण संस्कृत में और दूसरा चरण प्राकृत में रखा गया है। सिद्धान्तात्मक उक्तियों व उपमाओं से तो समस्त रचना भरी हुई है। (प्रका० अमदाबाद, वि० सं १९८६)।

देवेन्द्रसूरि कृत कृष्णचरित्र ११६३ गाथाओं में पूर्ण हुआ है। यथार्थतः यह रचना कर्ता के श्राद्धदिनकृत्य नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत दृष्टान्त रूप से आई है और वहीं से उद्धृत कर स्वतंत्र रूप में प्रकाशित की गई है। (रतलाम, मालवा १९३८)। इसमें वसुदेव के पूर्वभवों के वर्णन से प्रारम्भ कर क्रमशः वसुदेव के कम भ्रमण कृष्ण जन्म कंस-वध द्वारिका-निर्माण प्रद्युम्न-हरण पांडव और द्रौपदी जरासंध-युद्ध, नेमिनाथ-चरित्र द्रौपदी-हरण द्वारिका-दाह बलदेव-दीक्षा नेमिनिर्वाण और कृष्ण के भावी तीर्थंकरत्व का वर्णन किया गया है। वसुदेव-भ्रमण के वृत्तान्त में प्रसंगवश चारुदत्त और वसन्तसेना का उल्लेख भी आया है। समस्त कथा का आधार वसुदेव हिंडी एवं जिनसेन कृत हरिवंशपुराण है। रचना आद्यन्त कथा-प्रधान है।

रत्नशेखर सूरि कृत श्रीपालचरित्र में १३४२ गाथाएं हैं। ग्रन्थ के अन्त में कहा गया है कि इसका संकलन वज्रसेन गणधर के पट्ट शिष्य व प्रभु हेमतिलक सूरि के शिष्य रत्नशेखर सूरि ने किया और उनके शिष्य हेमचन्द्र साधु ने वि० सं १४२८ में इसको लिपिबद्ध किया। यह कथा सिद्धचक्र के माहात्म्य को प्रकट करने के लिये लिखी गई है। उज्जैनी की राजकुमारी मदनसुंदरी ने अपने पिता की दी हुई समस्या की पूर्ति में अपना यह भाव प्रकट किया कि प्रत्येक को अपने पुण्य-पाप के अनुसार सुख-दुःख प्राप्त होता है इसमें दूसरे व्यक्तियों का कोई हाथ नहीं। पिता ने इसे पुत्री का अपने प्रति कृतघ्नता-भाव समझा और क्रुद्ध होकर उसका विवाह श्रीपाल नामक कुष्टरोगी से कर दिया। मदनसुंदरी ने अपनी पति-भक्ति तथा सिद्ध-चक्र पूजा के प्रभाव से उसे अच्छा कर लिया और श्रीपाल ने नाना देशों का भ्रमण किया तथा खूब धन और यश कमाया। ग्रन्थ के बीच बीच में अनेक अपभ्रंश पद्य भी आये हैं, व नाना पद्य छंदों में स्तुतियां निबद्ध हैं। रचना आदि से अंत तक रोचक है।

जिनमाणिक्य कृत कुम्मापुत्त चरियं छोटी सी कथा है जो १९८ गाथाओं में पूर्ण हुई है। कवि ने अपने गुरु का नाम हेमविमल प्रकट किया है। अतएव तपागच्छ पट्टावली के अनुसार वे १६ वीं सदी में हुए पाये जाते हैं। महावीर तीर्थंकर ने अपने उपदेश में दान तप शील और भावना इन चार धर्म के भेदों में भावना धर्म का आदर्श

उदाहरण कुम्मापुत्त का दिया, तथा इन्द्रभूति के पूछने पर उसका वृत्तान्त सुनाया। पूर्व जन्म मे वह दुर्लभ नाम का राजपुत्र था, जिसे एक यक्षिणी अपने पूर्व जन्म का पति पहचान कर पाताल लोक मे ले गई। वह अपनी अल्पायु समझकर दुर्लभ धर्मध्यान मे लग गया, और दूसरे जन्म मे राजगृह का राजकुमार हुआ। शास्त्र-श्रवण द्वारा उसे पूर्वजन्म का स्मरण हो आया, और वह ससार से विरक्त हो गया। तथापि माता-पिता को शोक न हो, इस विचार से प्रवृजित न होकर घर मे ही रहा, और भावकेवली होकर मोक्ष गया। पूर्वभव-वर्णन मे मनुष्य जीवन की चिन्तामणि के समान दुर्लभता के उदाहरण रूप एक आख्यान कहा गया है, जिसमे एक रत्नपरीक्षक पुरुष ने चिन्ता-मणि पाकर भी अपनी असावधानी से उसे समुद्र मे खो दिया। रचना सरल और सुन्दर है। (प्रका० पूना, १९३०)।

इन प्रकाशित पद्यात्मक प्राकृत कथाओ के अतिरिक्त अन्य भी अनेक रचनाए जैन शास्त्र भडारो की सूचियो मे उल्लिखित पाई जाती हैं, जिनमे जिनेश्वर सूरि कृत **निर्वाण लीलावती** का उल्लेख हमे अनेक ग्रथो मे मिलता है। विशेषत धनेश्वर कृत 'सुरसुन्दरी चरिय' (वि० स० १०९५) मे उसे अति सुललित, प्रसन्न, श्लेषात्मक व विविधालकार-शोभित कहा गया है। दुर्भाग्यत इस ग्रन्थ की प्रतिया दुर्लभ हो गई हैं, किन्तु उसका सस्कृत पद्यात्मक रूपान्तर ६००० श्लोको मे जिनरत्न (१३ वी शती) कृत पाया जाता है, जबकि मूल ग्रन्थ के १८००० श्लोक प्रमाण होने का उल्लेख मिलता है।

प्राकृत कथाए-गद्य-पद्यात्मक—

जैन कथा-साहित्य अपनी उत्कृष्ट सीमा पर उन रचनाओ मे दिखाई देता है जो मुख्यत गद्य मे, व गद्य-पद्य मिश्रित रूप मे लिखी गई हैं, अतएव जिन्हे हम चम्पू कह सकते हैं। इनमे प्राचीनतम ग्रन्थ है **वसुदेव हिंडी**, जो सौ लम्बको मे पूर्ण हुआ है। ये लम्बक दो भागो में विभक्त हैं। प्रथम खड मे २९ लम्बक हैं, और वह लगभग ११००० श्लोक-प्रमाण है। इसके कर्ता सघदासगणि वाचक हैं। दूसरे खड में ७१ लम्बक १७००० श्लोक प्रमाण हैं और इसके कर्ता धर्मसेन गणि हैं। ग्रन्थ का रचना-काल निश्चित नही है, तथापि जिनभद्रगणि ने अपनी विशेषणवती मे इसका उल्लेख किया है, जिससे इसका रचना-काल छठवी शती से पूर्व सिद्ध होता है। इस ग्रन्थ का अभी तक केवल प्रथम खड ही प्रकाश मे आया है। इसमे भी १९ और २० वें लम्बक अनुपलब्ध हैं तथा २८ वा अपूर्ण पाया जाता है। अधकवृष्णि के पुत्रों मे जेठे समुद्र

विजय और सबसे छोटे वसुदेव थे। समुद्रविजय के राजा होने पर वसुदेव नगर में घूमा करते थे किन्तु उनके अतिशय रूप व कला-माधुर्य के कारण नगर में अनर्थ होते देख राजा ने उनका बाहर जाना रोक दिया। इस पर वसुदेव गुप्त रूप से घर से निकलकर देश-विदेश भ्रमण करने लगे। इस भ्रमण में उन्हें नाना प्रकार के कष्ट भी हुए व अनेक लोमहर्षक घटनाओं का सामना करना पड़ा जिनके वैचित्र्य के वर्णन से सारा ग्रन्थ भरा हुआ है। प्रसंगवश इसमें महाभारत रामायण एवं अन्य विविध आख्यान आये हैं। यह ग्रंथ लुप्त बृहत्कथा के आधार व आदर्श पर रचित अनुमान किया जाता है। भाषा साहित्य इतिहास आदि अनेक दृष्टियों से यह रचना बड़ी महत्वपूर्ण है।

हरिभद्र कृत समराइच्च कहा (८ वीं सदी) में ९ 'भव' नामक प्रकरण हैं, जिनमें क्रमशः परस्पर विरोधी दो पुरुषों के साथ साथ चलने वाले ९ जन्मान्तरों का वर्णन किया गया है। ग्रन्थ की उत्थानिका में मंगलाचरण के पश्चात् कथावस्तु को दिव्य दिव्य-मानुष और मानुष के भेद से तीन प्रकार का बतलाया गया है। कथा वस्तु चार प्रकार की कथाओं द्वारा प्रस्तावित की जा सकती है अर्थ काम धर्म और संकीर्ण जिनके अधम मध्यम और उत्तम ये तीन प्रकार के श्रोता होते हैं। ग्रन्थ कर्ता ने प्रस्तुत रचना को दिव्य मानुष वस्तुगत धर्म-कथा कहा है, और पूर्वाचार्यों द्वारा कथित आठ चरित्र-संग्रहणी गाथाएं उद्धृत की हैं, जिनमें नायक-प्रतिनायक के नौ भवांतरों के नाम उनका परस्पर संबंध उनकी निवास-नगरियां एवं उनके मरण के पश्चात् प्राप्त स्वर्ग-नरकों के नाम दिये गये हैं। अन्तिम भव में नायक समराइच्च मोक्षगामी हुआ और प्रतिनायक गिरिसेन अनन्त संसार भ्रमण का भागी। प्रथम भव में ही उनके परस्पर वैर उत्पन्न होने का कारण यह बतलाया गया है कि राजपुत्र गुणसेन पुरोहित-पुत्र ब्राह्मण अग्नि-शर्मा की कुरूपता की हंसी उड़ाया करता था जिससे विरक्त होकर अग्निशर्मा ने दीक्षा ले ली और मासोपवास संयम का पालन किया। गुणसेन राजा ने तीन बार उसे आहार के लिये आमंत्रित किया किन्तु तीनों बार विशेष कारणों से मुनि को बिना आहार लौटना पड़ा जिससे क्रुद्ध होकर उसने मन में यह ठान लिया कि यदि मेरे तप का कोई फल हो तो मैं जन्म-जन्मान्तर में इस राजा को क्लेश दूं। इसी निदान-बंध के कारण उसकी उत्तरोत्तर अधोगति हुई, जब तक कि अन्त में उसे सम्बोधन नहीं हो गया। इन नौ ही भवों का वर्णन प्रतिभाशाली लेखक ने बड़ी उत्तम रीति से किया है, जिसमें कथा-प्रसंगों प्राकृतिक वर्णनों व भाव-चित्रण द्वारा कथानक को श्रेष्ठ रचना का पद प्राप्त हुआ है।

उद्योतन सूरि कृत **कुवलयमाला** की रचना ग्रन्थ के उल्लेखानुसार ही शक स० ७०० (ई० सन् ७७८) मे जावालिपुर (जालौर-राजस्थान) मे हुई थी। लेखक ने अपना विरुद् दाक्षिण्यचिन्ह भी प्रगट किया है। चरित्र-नायिका कुवलयमाला के वैचित्र्यपूर्ण जीवनचरित्र मे गुम्फित नाना प्रकार के उपाख्यान, घटनाए, सामाजिक व वैयक्तिक चित्रण, इस कृति की अपनी विशेषताए है, जिनकी समतोल अन्यत्र पाना कठिन है। प्राकृत भाषा के नाना देशी रूप व शैलियो के प्रचुर उदाहरण इस ग्रन्थ मे मिलते हैं। लेखक का ध्येय अपनी कथाओ द्वारा क्रोधादि कषायो व दुर्भावनाओ के दुष्परिणाम चित्रित करना है। घटना-वैचित्र्य व उपाख्यानो की प्रचुरता मे यह वसुदेव-हिंडी के समान है। यथास्थान अपनी प्रौढ़ शैली मे वह सुबधु और बाण की सस्कृत रचनाओ की समता रखती है। समरादित्य कथा का भी रचना मे बहुत प्रभाव दिखाई देता है। स्वय कर्ता ने हरिभद्र को अपना सिद्धान्त व न्याय का गुरु माना है, तथा उनकी समरमियका (समरादित्य) कथा का भी उल्लेख किया है।

देवेन्द्रगणि कृत **रयणचूडरायचरिय** मे कर्ता ने अपनी गुरु-परम्परा देवसूरि से लेकर उद्योतन सूरि द्वि०तक बतलाई है, और फिर कहा है कि वे स्वय उद्योतन सूरि के शिष्य उपाध्याय अम्बदेव के शिष्य थे, जिनका नाम नेमिचन्द्र भी था। उन्होने यह रचना डडिल पदनिवेश मे प्रारम्भ की थी, और चड्डावलि पुरी मे समाप्त की थी। नेमिचन्द्र, अपर नाम देवेन्द्र गणि, ने अपनी उत्तराध्ययन टीका वि० स० ११२९ मे तथा महावीर-चरिय वि० स० ११४० मे लिखे थे। अतएव प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना इसी समय के लगभग की सिद्ध होती है। कथा में राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर मे गौतम गणधर ने कचनपुर के बकुल नामक मालाकार के ऋषभ भगवान को पुष्प चढ़ाने के फलस्वरूप गजपुर मे कमलसेन राजा के पुत्र रत्नचूड की उत्पत्ति का वृत्तान्त सुनाया। रत्नचूड ने एक मदोन्मत्त गज का दमन किया, किन्तु वह एक विद्याधर निकला, और राजकुमार का अपहरण कर ले गया। रत्नचूड ने नाना प्रदेशो का भ्रमण किया, विचित्र अनुभव प्राप्त किये, अनेक सुन्दरियो से विवाह किया, और ऋद्धि प्राप्त की, जिसका वर्णन बडा रोचक है। अन्त मे वे राजधानी मे लौट आये, और मुनि का उपदेश पाकर धार्मिक जीवन व्यतीत करते हुए मरणोपरान्त स्वर्गगामी हुए। कथा मे अनेक उपाख्यानो का समावेश है। यह कथा 'नायाधम्मकहा' मे सूचित देव-पूजा आदि के धर्मफल के दृष्टान्त रूप रची गई है। (प्रका० अमदाबाद, १९४२)

कालकाचार्य की कथा सबसे प्राचीन निशीथचूर्णि, आवश्यक चूर्णि, बृहत्कल्प भाष्य आदि अर्द्धमागधी आगम की टीकाओ मे पाई जाती है। इस पर स्वतत्र रचनाएं

भी बहुत लिखी गई हैं। जैन ग्रंथावलि में प्राकृत में विनयचन्द्र भावदेव जयानंदि सूरि, धर्मप्रभ देवकल्लोल व महेश्वर तथा संस्कृत में कीर्तिचन्द्र और समयसुन्दर कृत कालकाचार्य कथाओं का उल्लेख किया गया है। किन्तु इन सबसे प्राचीन और साहित्यिक दृष्टि से अधिक सुन्दर कृति देवेन्द्रसूरि कृत कथानक-प्रकरण-वृत्ति में समाविष्ट पाई जाती है। इसका रचना काल वि सं० ११४६ है। कालक एक राजपुत्र थे किन्तु गुणाकर मुनि के उपदेश से वे मुनि हो गये। उनकी छोटी बहन सरस्वती भी आर्यिका हो गई। उस पर उज्जैनी का राजा गर्दभिल्ल मोहित हो गया और उसने उसे पकड़वाकर अपने अन्तःपुर में रखा। राजा को समझाकर अपनी बहन को छुड़ाने के प्रयत्न में असफल होकर कालकाचार्य शक देश को गये और गर्दभिल्ल को पकड़कर देश से निर्वासित कर दिया गया। कालकाचार्य ने सरस्वती को पुनः संयम में दीक्षित कर लिया। उज्जैन में एक राजवंश स्थापित होगया जिसका उच्छेद राजा विक्रमादित्य ने करके अपना संवत् चलाया। कथा में आगे चलकर कालकाचार्य के भरुकच्छ और वहां से प्रतिष्ठान की ओर विहार करने का वृत्तान्त है। उनकी राजा सातवाहन से भेंट हुई और उनके अनुरोध से उन्होंने भाद्रपद शुक्ला ४ से पर्यूषण मनाये जाने की अनुमति प्रदान कर दी क्योंकि भाद्रपद शुक्ला ५ को इन्द्रमहोत्सव मनाया जाता था। अपने शिष्यों का सम्बोधन करते हुए अन्त में कालकाचार्य ने संलेखना विधि से स्वर्गवास प्राप्त किया। इस कथा में शकों के आक्रमण और तत्पश्चात् उनके विक्रमादित्य द्वारा मूलोच्छेदन के वृत्तान्त में बहुत कुछ ऐतिहासिक तथ्य प्रतीत होता है। साहित्यिक दृष्टि से भी यह रचना सुन्दर है। (प्रका अहमदाबाद १९४९)

सुमतिसूरि कृत जिनदत्ताख्यान में कर्ता ने अपना इतना ही परिचय दिया कि पाडिच्छय गच्छ के कल्पद्रुम श्री नेमिचन्द्र सूरि हुए जिन्हें श्री सर्वदेव सूरि ने उत्तम पद पर स्थापित किया। उनके शिष्य सुमति गणि ने यह जिनदत्त महर्षि चरित्र रचा। ग्रन्थ का रचना काल निश्चित नहीं है तथापि एक प्राचीन प्रति में उसके अनहिलपाटन में सं १२४६ में लिखाये जाने का उल्लेख है, जिससे ग्रन्थ की रचना उससे पूर्व होनी निश्चित है। कथानायक सेठ द्यूतक्रीड़ा में अपना सब धन खोकर विदेश यात्रा को निकल पड़ा। दधिपुर में राजकन्या श्रीमती को व्याधि-मुक्त करके उससे विवाह किया। समुद्र यात्रा में उसे एक अन्य व्यापारी ने समुद्र में गिरा दिया और वह एक फलक के सहारे तट पर पहुंचा। वहां से रथनूपुर चक्रवाल में पहुंचकर वहां की राजकन्या से विवाह किया। अन्त में वह पुनः चम्पानगर को लौट आया और वहां की राजकन्या

रतिसुन्दरी से भी विवाह किया। तत्पश्चात् अनेक सुख भोगकर उसने दीक्षा धारण कर ली, और मरकर स्वर्ग प्राप्त किया। गद्य और पद्य दोनो मे भाषा सुपरिमार्जित पाई जाती है, और यत्र तत्र काव्य गुण भी दिखाई देते हैं।

एक और जिनदत्ताख्यान नामक रचना पूर्वोक्त ग्रन्थ के साथ ही प्रकशित हुई है (वम्बई, १९५३), जिसमे कर्ता का नाम नही मिलता। कथानक पूर्वोक्त प्रकार ही है, किन्तु उसकी अपेक्षा कुछ सक्षिप्त है। पूर्वोक्त कृति से यह प्राचीन हो, तो आश्चर्य नही। इसमे जिनदत का पूर्वभव अन्त मे वर्णित है, प्रारम्भ मे नहीं। इसकी हस्तलिखित प्रति मे उसके चित्रकूट मे मणिभद्र यति द्वारा स० ११८६ मे लिखे जाने का उल्लेख है।

रयणसेहरीकहा के कर्ता जिनहर्षगणि ने स्वय कहा है कि वे जयचन्द्र मुनि के शिष्य थे, और उन्होंने यह कथा चित्रकूट नगर मे लिखी। ग्रन्थ की पाटन भडार की हस्तलिखित प्रति वि० स० १५१२ की है, अतएव रचना उससे पूर्व की होनी निश्चित है। यह कथा सावत्सरिक, चातुर्मासिक एव चतुर्दशी, अष्टमी आदि पर्वानुष्ठान के दृष्टान्त रूप लिखी गई है। रतनपुर का राजा किन्नरो से रत्नावती के रूप की प्रशसा सुनकर उसपर मोहित हो गया। इस सुन्दरी का पता लगाने उनका मत्री निकला। एक सघन वन मे पहुचकर उसकी एक यक्ष-कन्या से भेंट हुई, जिसके निर्देश से वह एक जलते हुए धूपकुड मे कूदकर पाताल मे पहुचा और उस यक्ष-कन्या को विवाहा। यक्ष ने रत्नावली का पता वतलाया कि वह सिंहल के राजा जयसिंह की कन्या है। यक्ष ने उसे अपने विद्यावल से सिंहल मे पहुचा भी दिया। वहा वह योगिनी के वेष मे रत्नावली से मिला। रत्नावली ने यह प्रतिज्ञा की थी कि जव उसे अपना पूर्व मृग-जन्म का पति मिलेगा, तभी वह उससे विवाह करेगी। योगिनी ने भविष्य का विचार कर वतला दिया कि उसका वही पति उसे शीघ्र ही कामदेव के मदिर मे द्यूतक्रीडा करता हुआ मिलेगा। इस प्रकार रत्नावली को तैयार कर वह उसी यक्ष-विद्या द्वारा अपने राजा के पास पहुचा, और उसे साथ लाकर कामदेव के मदिर मे सिंहल राजकन्या से उसकी भेंट करा दी। दोनो मे विवाह हो गया। एक वार जव वे दोनो गीत काव्य कथादि विनोद मे आसक्त थे, तव एक सूआ राजा के हाथ पर आ वैठा, और एक शुकी रानी के हाथ पर। सूए की वाणी से राजा ने जान लिया कि वह कोई विशेष धार्मिक प्राणी है। विद्वत्तापूर्ण वार्तालाप करते हुए शुक और शुकी दोनो मूर्च्छित होकर मृत्यु को प्राप्त हुए। एक महाज्ञानी मुनि ने राजा को वतलाया कि वे उसके पूर्व पुरुष थे, जो अपना व्रत खडित करने के पाप से पक्षियोनि मे उत्पन्न हुए थे। उस

पाप से मुक्त होकर अब वे धरणेन्द्र और पद्मावती रूप देव-देवी हुए हैं। राजा रत्नशेखर और रानी रत्नावली धर्मपालन में उत्तरोत्तर दृढ़ होते हुये अन्त में मरकर स्वर्ग में देव-देवी हुए।

इस कथानक का विशेष महत्व यह है कि वह हिन्दी के सुप्रसिद्ध काव्य जायसी कृत पद्मावत की कथा का मूलाधार सिद्ध होता है। यहां नायक रत्नशेखर है, तो वहां रत्नसेन नायिका दोनों में सिंहल की राजकुमारी है परस्पर प्रेमासक्ति का प्रकार भी वही है। यहां मंत्री जोगिनी बनकर सिंहल जाता है, तो वहां स्वयं नायक ही जोगी बनता है। दोनों में मिलने का स्थान देवालय है। तोता भी दोनों कथाओं में आता है यद्यपि जायसी ने इसका उपयोग कथा के आदि से ही किया है। रत्नशेखरी के कर्ता चित्रकूट (चित्तौड़) के थे और जायसी के नायक ही चित्तौड़ के राजा थे। रत्नशेखरी में राजा द्वारा कलिंगराज को जीतने का उल्लेख है पद्मावत में कलिंग से जोगियों का जहाज रवाना होता है। दोनों कथानकों का रूपक व रहस्यात्मक भाव बहुत कुछ मिलता है। पद्मावत का रचनाकाल शेरशाह सुलतान के समय में होने से उक्त रचना से पीछे तो सिद्ध होता ही है क्योंकि शेरशाह का राज्य ई० सन् १५४० में प्रारम्भ हुआ था।

जम्बूसामिचरित्त उपर्युक्त समस्त प्राकृत चरित्रों से अपनी विशेषता रखता है क्योंकि उसकी रचना ठीक उसी प्रकार की अर्धमागधी प्राकृत में उसी गद्य-शैली से हुई है जैसी आगमों की यहां तक कि वर्णन के संक्षेप के लिये यहां भी तदनुसार ही 'जाव' 'जहा' आदि का उपयोग किया गया है। इस पर से यह रचना बलभी वाचना काल (५वीं शती) के आसपास की प्रतीत होती है जैसा कि सम्पादक ने अपने 'प्रवेशद्वार' में भी अनुमान किया है, (प्र० भावनगर, वि० २ ४)। किन्तु ग्रन्थ के अन्त में जो एक गाथा में यह कहा गया है कि इसे जिनदत्ता सूरीश्वर के आदेश से जिनविजय ने लिखा है, उस पर से उसका रचनाकाल वि० सं० १७७५ से १८ ९ के बीच अनुमान किया गया है, क्योंकि तपागच्छ पट्टावली के अनुसार ६४ वें युग जिनदत्ता सूरि का वही समय है। किन्तु संभव है यह उल्लेख ग्रन्थ की प्रतिलिपि कराने का हो ग्रन्थ रचना का नहीं विशेषतः जबकि ग्रन्थ के अन्त की पुष्पिका में पुनः प्रमाण से उसके लिखे जाने का काल सं० १८१४ निर्दिष्ट है। यदि आगे खोजशोध द्वारा अन्य प्राचीन प्रतियों के बल से यही रचनाकाल सिद्ध हो तो समझना चाहिये कि १८वीं शती में आगम शैली से यह ग्रन्थ लिखकर उक्त लेखक ने एक असाधारण कार्य किया।

कथानायक जम्बूस्वामी महावीर तीर्थंकर के साक्षात् शिष्य थे और उनके

निर्वाण से ६२ वर्ष पश्चात् तक जीवित रहे । जैन आगम की परम्परा मे उनका महत्वपूर्ण स्थान है, क्योकि उपलम्य द्वादशाग का बहुभाग सुधर्म स्वामी द्वारा उन्ही को उपदिष्ट किया गया है। प्रस्तुत रचनानुसार जम्बू का जन्म राजगृह मे हुआ था । उनकी वैराग्य-वृति को रोकने के लिये उनके आठ विवाह किये गये, तथापि उनकी धार्मिक प्रवृति रुकी नही, बढ़ती ही गई । उन्होंने अपनी पत्नियो का सबोधन कर, और उनकी समस्त तर्कों व युक्तियो का खडन कर दीक्षा ले ली, यहा तक कि जो प्रभव नामक बडा डाकू उनके घर मे चोरी के लिये घुसा था, वह भी चुपचाप उनका उपदेश सुनकर ससार से विरक्त हो गया ।

एक और **जम्बूचरिय** महाराष्ट्री प्राकृत मे है, जो अभी तक प्रकाशित नही हुआ । इसके कर्ता नाइलगच्छीय गुणपाल हैं, जो सभवत वे ही हैं जिनके प्राकृत **ऋषिदत्ता चरित्र** का उल्लेख जैनग्रन्थावली मे पाया जाता है, और उसका रचना काल वि० स० १२६४ अकित किया गया है। यह जम्बूचरित्र सोलह उद्देशो मे पूर्ण हुआ है। मुख्य कथा व अवान्तर कथाए भी प्राय वे ही हैं जो पूर्वोक्त कृतिमे भी अपेक्षाकृत सक्षेप रूप मे पाई जाती हैं। पद्मसुन्दर कृत **जम्बूचरित** अकबर के काल मे स० १६३२ मे रचा गया मिला है।

गुणचन्द्र सूरि कृत **णरविक्कमचरिय** यथार्थत ग्रन्थकार की पूर्वोक्त रचना 'महावीरचरिय' मे से उद्धृत कर पृथक् रूप से सस्कृत छाया सहित प्रकाशित हुआ है (नेमि विज्ञान ग्र० मा० २० वि०स० २००८)। छत्ता नगरी के जितशत्रु राजा के पुत्र नन्दन को उपदेश देते हुए पोट्टिल स्थाविर ने विषयासक्ति मे धर्मोपदेश द्वारा प्रवृज्या धारण करनेवाले राजा नरसिंह और उसके पुत्र नरवाहनदत्त का चरित्र वर्णन किया। कथा के गद्य और पद्य दोनों भाग रचना की दृष्टि से प्रौढ और काव्य गुणोंसे युक्त हैं।

इनके अतिरिक्त इसी प्रकार की अन्य अनेक प्राकृत रचायें उपलब्ध हैं, जो अभी तक प्रकाशित नही हुई । इनमे से कुछ के नाम इस प्रकार हैं— विजयसिंह कृत **भुवनसुन्दरी** (१० वी शती), वर्धमान कृत **मनोरमाचरिय** (११वी शती), **ऋषिदत्ता चरित** (१३ वी शती) **प्रद्युम्नचरित, मलयसुन्दरी कथा, नर्मदासुन्दरी कथा, धन्य सुन्दरी कथा** और **नरदेव कथा** । (देखिये जैन ग्रन्थावली)

प्राकृत कथाकोष—

धर्मोपदेश के निमित्त लघु कथाओ का उपदेश श्रमण-परम्परा में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। द्वादशाग आगम के **णायाधम्मकहाओ** मे इसका एक रूप

पाप से मुक्त होकर अब वे नरदोत्र और पद्मावती क्रम देव-देवी हुए हैं। राजा रत्नशेखर और रानी रत्नावती धर्मपालन में उत्तरोत्तर दृढ़ होते हुये अन्त में मरकर स्वर्ग में देव-देवी हुए।

इस कथानक का विशेष महत्व यह है कि वह हिन्दी के सुप्रसिद्ध काव्य जायसी कृत पद्मावत की कथा का मूलाधार सिद्ध होता है। वहां नायक रत्नशेखर है, तो वहां रत्नसेन नायिका दोनों में सिंहल की राजकुमारी है परस्पर प्रेमासक्ति का प्रकार भी वही है। यहां मंत्री योगिनी बनकर सिंहल जाता है, तो वहां स्वयं नायक ही योगी बनता है। दोनों में मिलने का स्थान देवालय है। तोता भी दोनों कथाओं में आता है यद्यपि जायसी ने इसका उपयोग कथा के आदि से ही किया है। रत्नशेखरी के कर्ता चित्रकूट (चित्तौड़) के थे और जायसी के नायक ही चित्तौड़ के राजा थे। रत्नशेखरी में राजा द्वारा कलिंगराज को जीतने का उल्लेख है पद्मावत में कलिंग से जोगियों का जहाज रवाना होता है। दोनों कथानकों का रूपक व रहस्यात्मक भाव बहुत कुछ मिलता है। पद्मावत का रचनाकाल शेरशाह सुलतान के समय में होने से उक्त रचना से पीछे तो सिद्ध होता ही है क्योंकि शेरशाह का राज्य ई० सन् १५४० में प्रारम्भ हुआ था।

जम्बूसामिचरित्त उपर्युक्त समस्त प्राकृत चरित्रों से अपनी विशेषता रखता है क्योंकि उसकी रचना ठीक उसी प्रकार की अर्धमागधी प्राकृत में उसी गद्य-शैली से हुई है जैसी आगमों की। यहां तक कि वर्णन के संक्षेप के लिये यहां भी तदनुसार ही 'जाव' 'जहा' आदि का उपयोग किया गया है। इस पर से यह रचना वलभी वाचना काल (५वीं शती) के आसपास की प्रतीत होती है जैसा कि सम्पादक ने अपने 'प्रवेशद्वार' में भी अनुमान किया है, (प्र० भावनगर, वि० २००४)। किन्तु ग्रन्थ के अन्त में जो एक गाथा में यह कहा गया है कि इसे विजयदया सूरीश्वर के आदेश से जिनविजय ने लिखा है, उस पर से उसका रचनाकाल वि० सं० १७८५ से १८०९ के बीच अनुमान किया गया है, क्योंकि तपागच्छ पट्टावली के अनुसार ६४ वें गुरु विजयदया सूरि का यही समय है। किन्तु संभव है यह उल्लेख ग्रन्थ की प्रतिलिपि कराने का हो ग्रन्थ रचना का नहीं विशेषतः जबकि ग्रन्थ के अन्त की पुष्पिका में पुनः अलग से उसके लिखे जाने का काल सं० १८१४ निर्दिष्ट है। यदि आगे खोजशोध द्वारा अन्य प्राचीन प्रतियों के बल से यही रचनाकाल सिद्ध हो तो समझना चाहिये कि १८वीं शती में आगम शैली से यह ग्रन्थ लिखकर उक्त लेखक ने एक असाधारण कार्य किया।

कथानायक जम्बूस्वामी महावीर तीर्थंकर के साक्षात् शिष्य थे और उनकी

जाती है। जिनेश्वरसूरि कृत **कथाकोष-प्रकरण** (वि० स० ११०८) मे ३० गाथाओ के आधार से लगभग ४० कथाए वर्णित हैं, जिनमे सरल भाषा द्वारा जिनपूजा, सुपात्रदान आदि के सुफल बतलाये गये हैं, और साथ ही राजनीति, समाज आदि का चित्रण भी किया गया है। जिनेश्वरकृत ६० गाथात्मक **उपदेशरत्नकोष** और उस पर २५०० श्लोक प्रमाण वृत्ति देवभद्रकृत भी मिलती है। देवेन्द्रगणिकृत **आख्यान मणिकोष** (११ वी शती), मलधारी हेमचन्द्र कृत **भवभावना** और **उपदेशमाला प्रकरण** (१२ वी शती) लघुकथाओ के इसी प्रकार के सग्रह हैं। सोमप्रभकृत **कुमारपाल-प्रतिबोध** (वि० स० १२४१) मे प्राकृत के अतिरिक्त कुछ आख्यान सस्कृत व अपभ्रश मे भी रचे गये हैं। इसमे कुल पाच प्रस्ताव हैं, जिनके द्वारा ग्रन्थकार के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र ने राजा कुमारपाल को जैनधर्मावलम्बी बनाया। पाचो प्रस्तावो मे सब मिलाकर ५४ कथानक हैं, जो बहुत सुन्दर और साहित्यिक हैं। मानतुग सूरि कृत **जयन्ती-प्रकरण** की रचना भगवती सूत्र के १२ वें शतक के दूसरे उद्देश के आधार से हुई है। तदनुसार श्रमणोपासिका जयन्ती कौशाम्बी के राजा शतानीक की बहिन थी। उसने तीर्थंकर महावीर से धर्म सम्बन्धी नाना प्रश्न किये थे। इसी आधार पर कर्ता ने २८ गाथायें रची हैं, और उनके शिष्य मलयप्रभ सूरि ने वि० स० १२६० के लगभग उस पर वृत्ति लिखी, जिसमे अनेक कथायें वर्णित है। उज्जैनी का राजा प्रद्योत राजा चेटक की पुत्री व राजा शतानीक की पत्नी मृगावती पर आसक्त था। इस पर तीर्थंकर महावीर ने उसे परस्त्रीत्याग का उपदेश दिया। अन्य कथाए शील, सुपात्रदान व तप आदि गुणो का फल दिखलाने वाली हैं, जिनमे ऋषभदेव, भरत व बाहुबली का वृत्तान्त भी आया है।

गुणचन्द्र कृत **कथारत्नकोष** (१२ वी शती) मे पचास कथानक हैं, जिनमे कही कही अपभ्रश का उपयोग किया गया है। अन्य कथाकोषो में चन्द्रप्रभ महत्तर कृत **विजयचन्द्र केवली** (११ वी शती), जिनचन्द्रसूरि कृत **सवेग-रगशाला** और आषाढ़ कृत **विवेक-मजरी** एव **उपदेश-कदली** (१२ वी शती), मुनिसुन्दर कृत **उपदेश-रत्नाकर** (१३ वी शती), सोमचन्द्र कृत **कथामहोदधि** और शुभवर्धनगणि कृत **वर्धमान-देशना** तथा **दशश्रावक-चरित्र** (१५ वी शती) उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त स्फुट अनेक लघुकथाए हैं, जिनमे विशेष व्रतो के द्वारा विशिष्ट फल प्राप्त करने वाले पुरुष स्त्रियो के चरित्र वर्णित हैं, जैसे **अजनासुन्दरी कथा, शीलवती, सर्वांग-सुन्दरी** आदि कथाए। इस प्रकार की कोई २०-२५ प्राकृत कथाओं का उल्लेख जैन-ग्रन्थावली मे किया गया है।

यह देखा जाता है कि एकाध गाथा में कोई उपदेशात्मक बात कही और उसके साथ ही उसके दृष्टान्त रूप उस नियम को अपने जीवन में चरितार्थ करने वाले व्यक्ति के जीवन का वृत्तान्त गद्य या पद्य में विस्तार से कह दिया। यही प्रणाली पालि की जातक कथाओं में भी पाई जाती है। संस्कृत के हितोपदेश पंचतंत्रादि प्राचीन लघुकथात्मक ग्रन्थों की भी यही शैली है।

आगमों के पश्चात् इस शैली की स्वतंत्र प्राकृत रचना धर्मदास गणी कृत उपदेशमाला प्रकरण पाई जाती है। इसमें ५४४ गाथाएं हैं जिनमें विनय शील व्रत संयम दया ज्ञान ध्यानादि विषयक सैकड़ों पुरुष-स्त्रियों के दृष्टान्त दिये गये हैं, व उनके चरित्र विस्तार से टीकाओं में लिखे गये हैं। टीकाएं १ वीं सदी से लेकर १८ वीं सदी तक अनेक लिखी गई हैं, और वे जैन लघु कथाओं के भंडार हैं। कुछ टीकाकारों के नाम हैं—जयसिंह और सिद्धर्षि (१ वीं सदी) जिनभद्र और रत्नप्रभ (१२ वीं सदी) उदयप्रभ (१३ वीं सदी) अभयचन्द्र (१५ वीं सदी) जयशेखर, रामविजय सर्वानन्द, वर्धमानन्द आदि। मूल गाथाओं का रचनाकाल निश्चित नहीं किन्तु उनका मुनि-समाज में इतना आदर और प्रचार है कि उनके कर्ता तीर्थंकर महावीर के समसामयिक माने जाते हैं। तथापि गाथाओं की भाषा पर से वे ५ वीं ६ वीं सदी से अधिक पूर्वकी प्रतीत नहीं होती। मूल कर्ता और उसके टीकाकारों के सन्मुख बौद्ध धम्मपद और उसकी बुद्धघोष कृत टीका का आदर्श रहा प्रतीत होता है, जिनमें क्रमशः ४२५ गाथाएं और ३११ कथानक पाये जाते हैं।

इसी शैली पर ८ वीं सदी में हरिभद्र ने अपने उपदेशपद लिखे जिनकी गाथा संख्या १०४ है। इस पर मुनिचन्द्रसूरि की सुखबोधनी टीका (१२ वीं सदी) और वर्धमान कृत वृत्ति (११ वीं सदी) पाई जाती हैं।

कृष्णमुनि के शिष्य जयसिंह ने वि० सं० ६१५ में धर्मदास की कृति के अनुकरण पर ६८ गाथाएं लिखी और उनपर स्वयं विवरण भी लिखा। उनकी पूरी रचना धर्मोपदेश-माला विवरण के नाम से प्रकाशित है (बम्बई, १९४९)। इसमें १५६ कथाएं समाविष्ट हैं, जिनमें शील दान आदि सद्गुणों का माहात्म्य तथा राग-द्वेषादि दुर्भावों के दुष्परिणाम से लेकर चोर, जुआड़ी धूर्तों तक सभी स्तरों के व्यक्ति हैं, जिनसे समाज का अच्छा चित्रण सामने आता है। प्राकृतिक भावात्मक व रसात्मक वर्णन भी सुन्दर और साहित्यिक हैं।

जयसिंह सूरि के शिष्य जयकीर्तिकृत शीलोपदेश-माला भी इसी प्रकार की ११६ गाथाओं की रचना है, जिसपर सोमतिलक कृत टीका (१४ वीं सदी) पाई

जाती है। जिनेश्वरसूरि कृत **कथाकोष-प्रकरण** (वि० स० ११०८) मे ३० गाथाओ के आधार से लगभग ४० कथाए वर्णित हैं, जिनमे सरल भाषा द्वारा जिनपूजा, सुपात्रदान आदि के सुफल बतलाये गये हैं, और साथ ही राजनीति, समाज आदि का चित्रण भी किया गया है। जिनेश्वरकृत ६० गाथात्मक **उपदेशरत्नकोष** और उस पर २५०० श्लोक प्रमाण वृत्ति देवभद्रकृत भी मिलती है। देवेन्द्रगणिकृत **आख्यान मणिकोष** (११ वी शती), मलधारी हेमचन्द्र कृत **भवभावना** और **उपदेशमाला प्रकरण** (१२ वी शती) लघुकथाओ के इसी प्रकार के सग्रह हैं। सोमप्रभकृत **कुमारपाल-प्रतिबोध** (वि० स० १२४१) मे प्राकृत के अतिरिक्त कुछ आख्यान सस्कृत व अपभ्रश में भी रचे गये हैं। इसमे कुल पाच प्रस्ताव हैं, जिनके द्वारा ग्रन्थकार के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र ने राजा कुमारपाल को जैनधर्मावलम्वी बनाया। पाचो प्रस्तावों में सब मिलाकर ५४ कथानक हैं, जो बहुत सुन्दर और साहित्यिक हैं। मानतुग सूरि कृत **जयन्ती-प्रकरण** की रचना भगवती सूत्र के १२ वें शतक के दूसरे उद्देश के आधार से हुई है। तदनुसार श्रमणोपासिका जयन्ती कौशाम्वी के राजा शतानीक की वहिन थी। उसने तीर्थंकर महावीर से धर्म सम्बन्धी नाना प्रश्न किये थे। इसी आधार पर कर्ता ने २८ गाथायें रची हैं, और उनके शिष्य मलयप्रभ सूरि ने वि० स० १२६० के लगभग उस पर वृत्ति लिखी, जिसमे अनेक कथायें वर्णित है। उज्जैनी का राजा प्रद्योत राजा चेटक की पुत्री व राजा शतानीक की पत्नी मृगावती पर आसक्त था। इस पर तीर्थंकर महावीर ने उसे परस्त्रीत्याग का उपदेश दिया। अन्य कथाए शील, सुपात्रदान व तप आदि गुणो का फल दिखलाने वाली हैं, जिनमे ऋषभदेव, भरत व वाहुवली का वृतान्त भी आया है।

गुणचन्द्र कृत **कथारत्नकोष** (१२ वी शती) मे पचास कथानक हैं, जिनमे कही कही अपभ्रश का उपयोग किया गया है। अन्य कथाकोषो मे चन्द्रप्रभ महत्तर कृत **विजयचन्द्र केवली** (११ वी शती), जिनचन्द्रसूरि कृत **सवेग-रगशाला** और आषाढ़ कृत **विवेक-मजरी** एव **उपदेश-कदली** (१२ वी शती), मुनिसुन्दर कृत **उपदेश-रत्नाकर** (१३ वी शती), सोमचन्द्र कृत **कथामहोदधि** और शुभवर्धनगणि कृत **वर्धमान-देशना** तथा **दशश्रावक-चरित्र** (१५ वी शती) उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त स्फुट अनेक लघुकथाए हैं, जिनमे विशेष व्रतो के द्वारा विशिष्ट फल प्राप्त करने वाले पुरुष स्त्रियो के चरित्र वर्णित हैं, जैसे **अजनासुन्दरी कथा, शीलवती, सर्वांग-सुन्दरी** आदि कथाए। इस प्रकार की कोई २०-२५ प्राकृत कथाओं का उल्लेख जैन-ग्रन्थावली मे किया गया है।

अपभ्रंश भाषा का विकास—

भारत में आर्यभाषा का विकास मुख्य तीन स्तरों में विभाजित पाया जाता है। पहले स्तर की भाषा का स्वरूप वेदों ब्राह्मणों उपनिषदों व रामायण महाभारत आदि पुराणों व काव्यों में पाया जाता है, जिसे भाषा-विकास का प्राचीन युग माना जाता है। ईसवी पूर्व छठवीं शती में महावीर और बुद्ध द्वारा जिन भाषाओं को अपनाया गया जो उस समय पूर्व भारत की लोक भाषायें थीं और जिनका स्वरूप हमें पालि त्रिपिटक व अर्धमागधी जैनागम में दिखाई देता है। तत्पश्चात् की जो शौरसेनी व महाराष्ट्री रचनायें मिलती हैं उनकी भाषा को मध्ययुग के द्वितीय स्तर की माना गया है, जिसका विकास-काल ईस्वी की दूसरी शती से पांचवीं शती तक पाया जाता है। तत्पश्चात् मध्ययुग का जो तीसरा स्तर पाया जाता है, उसे अपभ्रंश का नाम दिया गया है। भाषा के संबंध में सर्वप्रथम अपभ्रंश का उल्लेख पातंजल महाभाष्य (ई पू दूसरी शती) में मिलता है किन्तु वहां उसका अर्थ कोई विशेष भाषा न होकर शब्द का वह रूप है जो संस्कृत से अपभ्रष्ट विकृत या विकसित हुआ है, जैसे गौ का गावी गोणी गोपोतलिका आदि देशी रूप। इसी मतानुसार दण्डी (छठी शती) ने अपने काव्यादर्श में कहा है कि शास्त्र में संस्कृत से अन्य सभी शब्द अपभ्रंश कहलाते हैं किन्तु काव्य में आभीरों आदि की बोलियों को अपभ्रंश माना गया है। इससे स्पष्ट है कि दण्डी के काल अर्थात् ईसा की छठी शती में अपभ्रंश काव्य-रचना प्रचलित थी। अपभ्रंश का विकास दसवीं शती तक चला और उसके साथ आर्य भाषा के विकास का द्वितीय स्तर समाप्त होकर तृतीय स्तर का प्रादुर्भाव हुआ जिसकी प्रतिनिधि हिन्दी मराठी गुजराती बंगाली आदि आधुनिक भाषायें हैं। इसप्रकार अपभ्रंश एक ओर प्राचीन प्राकृतों और दूसरी ओर आधुनिक भाषाओं के बीच की कड़ी है। वस्तुतः अपभ्रंश से ही हिन्दी आदि भाषाओं का विकास हुआ है और इस दृष्टि से इस भाषा के स्वरूप का बड़ा महत्व है। प्राकृत की अपेक्षा अपभ्रंश का मुख्य लक्षण यह है कि जहां अकारान्त शब्दों के कर्त्ता कारक की विभक्ति संस्कृत में विसर्ग व प्राकृत में ओ पाई जाती है, और कर्म कारक में अम् दोनों भाषाओं में होता है, वहां अपभ्रंश में वह 'उ' के रूप में परिवर्तित हो गई जैसे संस्कृत का 'रामः वनं गतः' प्राकृत में 'रामो वणं गओ' व अपभ्रंश में 'रामु वणु गयउ' के रूप में दिखाई देता है। इसीलिये भरत मुनि ने इस भाषा को 'उकार-बहुल' कहा है। दूसरी विशेषता यह भी है कि अपभ्रंश में कुछ-कुछ परसर्गों का उपयोग होने लगा जिसके प्रतीक 'तण' और 'केर' बहुतायत से दिखाई देते हैं। भाषा यद्यपि अभी भी प्रधानतया योगात्मक है, तथापि अयोगात्मकता

की ओर उसकी प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। कारक विभक्तिया तीन-चार ही रह गई हैं, और क्रियाओ का प्रयोग बन्द सा हो गया है। उनके स्थान पर क्रियाओ से सिद्ध विशेषणो का उपयोग होने लगा है। व्याकरण की इन विशेषताओ के अतिरिक्त काव्य-रचना की बिलकुल नई प्रणालिया और नये छदो का प्रयोग पाया जाता है। दोहा और पद्धडिया छद अपभ्रश काव्य की अपनी वस्तु हैं, और इन्ही से हिन्दी के दोहो व चौपाइयो का आविष्कार हुआ है। इस भाषा का प्रचुर साहित्य जैन साहित्य की अपनी विशेषता है।

अपभ्रश पुराण—

जिसप्रकार प्राकृत मे प्रथमानुयोग काव्य का प्रारम्भ रामकथा से होता है, उसी प्रकार अपभ्रश मे भी। अबतक प्रकाश मे आये हुए अपभ्रश कथा-साहित्य मे स्वयम्भू कृत **पउमचरिउ** सर्वप्रथम है। इसमे विद्याधर, अयोध्या, सुन्दर, युद्ध और उत्तर, ये पाच काड हैं, जिनके भीतर की समस्त सधियो (परिच्छेदो) की सख्या ९० है। ग्रन्थ के आदि मे कवि ने अपने पूर्ववर्ती भरत, पिंगल, भामह और दडी, एव पाच महाकाव्य, इनका उल्लेख किया है। यह भी कहा है कि यह रामकथा रूपी नदी वर्द्धमान के मुख कुहर से निकली, और गणधर देवों ने उसे बहते हुए देखी। पश्चात् वह इन्द्रभूति आचार्य, फिर सुधर्म व कीर्तिधर द्वारा प्रवाहित होती हुई, रविषेणाचार्य के प्रसाद से कविराज (स्वयम्भू) को प्राप्त हुई। अपने वैयक्तिक परिचय मे कवि ने अपनी माता पद्मिनी और पिता मारुतदेव तथा अमृताम्बा और आदित्याम्बा, इन दो पत्नियो का उल्लेख किया है, और यह भी बतला दिया है कि वे शरीर से कृश और कुरूप थे, तथा उनकी नाक चपटी और दात विरल थे। उन्होंने अपने आश्रयदाता धनजय का भी उल्लेख किया है। पुष्पदत्त कृत महापुराण मे जहा स्वयभू का उल्लेख आया है, वहा पर प्राचीन प्रति मे '**सयभुहु पद्धडिबधकर्ता आपलीसघीयह**' ऐसा टिप्पण पाया जाता है, जिससे अनुमान होता है कि वे यापिनीयसघ के अनुयायी थे। कवि द्वारा उल्लिखित रविषेणाचार्य ने अपना पद्मचरित वीर नि० स० १२०३ अर्थात् ई० सन् ६७६ मे पूर्ण किया था, एव स्वयम्भूदेव का उल्लेख सन् ९५९ ई० में प्रारम्भ किये गये अपभ्रश महापुराण मे उसके कर्ता पुष्पदत ने किया है। अतएव पउमचरिउ की रचना इन दोनो अवधियो के मध्यकाल की सिद्ध होती है। उनकी कालावधि को और भी सीमित करने का एक आधार यह भी है कि जैसा उन्होंने अपने पउमचरिउ मे रविषेण का उल्लेख किया है, वैसा सस्कृत हरिवशपुराण व उसके कर्ता जिनसेन का

नहीं किया अतएव सम्भवत: वे संस्कृत हरिवंश के रचनाकाल अर्थात् ई. सन् ७८३ के पूर्व ही हुए होंगे। अत: प्रस्तुत ग्रन्थ का रचनाकाल ई. सन् ७ के लगभग सिद्ध होता है। स्वयम्भूदेव ने यह रचना ८२ या ८३ वीं संधि पर्यंत ही की है और सम्भवत: वहीं उन्होंने अपनी रचना को पूर्ण समझा था। किन्तु उनके सुपुत्र त्रिभुवन स्वयम्भू ने शेष रूप से सात-आठ और सर्ग रचकर उसे पद्मचरित में वर्णित विषयों के अनुसार पूर्ण किया। समस्त ग्रन्थ का कथाभाग संस्कृत पद्मचरित के ही समान है। हां इस रचना में वर्णन विशेषरूप से काव्यात्मक पाये जाते हैं। स्थान-स्थान पर छंदों का वैचित्र्य अलंकारों की छटा रसभाव-निरूपण आदि संस्कृत काव्यशैली की उत्कृष्ट रीति के अनुसार हुआ है।

स्वयम्भू की दूसरी अपभ्रंश कृति 'रिट्ठणेमि चरिउ' या 'हरिवंसपुराण' है। इसकी उत्थानिका में कवि ने भरत पिंगल भामह और दंडी के अतिरिक्त व्याकरण ज्ञान के लिये इन्द्र का अन-बन अलंकारज्ञान के लिये बाण का तथा पद्धडिया छंद के लिये चतुर्मुख का ऋण स्वीकार किया है। अन्तमें कथा की परम्परा को महावीर के पश्चात् गौतम सुधर्म विष्णु नंदिमित्र अपराजित गोवर्द्धन और भद्रबाहु से होती हुई संक्षेप में सून रूप सुनकर उन्होंने पद्धडिया बंध में मनोहरता से निबद्ध की ऐसा कहा है। ग्रन्थ में तीन कांड हैं — यादव कुरु और युद्ध और उनमें कुल ११२ संधियां हैं। इसकी भी प्रथम ९९ संधियां स्वयंभूकृत हैं और शेष उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभूकृत। इन अन्तिम संधियों में से चार की पुष्पिकाओं में मुनि यश:कीर्ति का भी नाम आता है जिससे अनुमान होता है कि उन्होंने भी इस ग्रन्थ में कुछ संशोधन परिवर्तन किया होगा। ग्रन्थ का कथाभाग प्राय: वही है जो जिनसेन कृत हरिवंश में पाया जाता है। यादव कांड में कृष्ण के जन्म बाल-क्रीडा विवाह आदि संबंधी वर्णन बड़ी काव्यरीति से किया गया है। इसीप्रकार कुरु-कांड में कौरवों-पांडवों के जन्म कुमारकाल शिक्षण परस्पर विरोध द्यूतक्रीडा व वनवास का वर्णन तथा युद्धकांड में कौरव-पांडवों के युद्ध का वर्णन रोचक व महाभारत के वर्णन से तुलनीय है।

अपभ्रंश में एक और हरिवंशपुराण धवल कवि कृत मिला है जो १२२ संधियों में समाप्त हुआ है। कवि विप्र वर्ण के थे और उनके पिता का नाम सूर, माता का केसुल्ल और गुरु का नाम अम्बसेन था। ग्रन्थ की उत्थानिका में उन्होंने अनेक आचार्यों और उनकी ग्रन्थ-रचनाओं का उल्लेख किया है, जिनमें महासेन कृत सुलोचनाचरित रविषेण कृत पद्मचरित जिनसेन कृत हरिवंश जटिलमुनि कृत

वरागचरित, असगकृत वीरचरित, जिनरक्षित श्रावक द्वारा विख्यापित जयधवल एव चतुर्मुख और द्रोण के नाम सुपरिचित, तथा कवि के काल-निर्णय मे सहायक होते हैं। उनमे काल की दृष्टि से सब मे अन्तिम असग कवि हैं, जिन्होने अपना वीरचरित शक सवत् ९१०, अर्थात् ई० सन् ९८८ मे समाप्त किया था। अतएव यही कवि के काल की पूर्वावधि है। उनकी उत्तरावधि निश्चित करने का कोई साधन प्राप्त नही है। सम्भवत इस रचना का काल १० वी, ११ वी शती होगा। विशेष उल्लेखनीय एक बात यह है कि अपने कवि-कीर्तन मे कवि ने महान् श्वेताम्बर कवि गोविन्द और उनके सनत्कुमार चरित का उल्लेख किया है (मणकुमार जें विरइउ मणहरु, कइ-गोविंदु पवरु सेयवरु)। अपने विषय वर्णन के लिये कवि ने जिनसेन कृत हरिवश पुराण का आश्रय लिया है, और इस ऋण का उन्होने स्पष्ट उल्लेख कर दिया है (जह जिणसेणेण कय, तह विरयमि किं पि उद्देस)। सधियो की सख्या सस्कृत हरिवश से दुगुनी से कुछ कम है, किन्तु निर्दिष्ट प्रमाण ठीक ड्योढा है, क्योकि सस्कृत हरिवश का प्रमाण १२ हजार श्लोक और इसका १८००० आका गया है। अधिक विस्तार वर्णन-वैचित्र्य के द्वारा हुआ प्रतीत होता है। अपभ्रश काव्य परम्परा-नुसार काव्य गुणो की भी इस ग्रन्थ मे अपनी विशेषता है। छद-वैचित्र्य भी बहुतायत से पाया जाता है।

अपभ्रश मे और भी अनेक कवियो द्वारा हरिवश पुराण की रचना की गई है। ऊपर स्वयम्भू कृत हरिवश पुराण के परिचय मे कहा जा चुका है कि उस ग्रन्थ की अन्तिम सधियों मे यश कीर्ति द्वारा भी कुछ सवर्द्धन किया गया है। यश कीर्ति कृत एक स्वतत्र **हरिवशपुराण** भी वि० सवत् १५०० या १५२० मे रचित पाया जाता है। यह योगिनीपुर (दिल्ली) मे अग्रवाल वशी व गर्गगोत्री दिउढा साहू की प्रेरणा से लिखा गया था। यह ग्रन्थ १३ सधियो या सर्गों में समाप्त हुआ है। कथानक का आधार जिनसेन व स्वयभू तथा पुष्पदत की कृतिया प्रतीत होती हैं। एक और हरिवश पुराण श्रुतिकीर्ति कृत मिला है, जो वि० स० १ ५५३ मे पूर्ण हुआ है। इसमे ४४ सधियो द्वारा पूर्वोक्त कथा-वर्णन पाया जाता ।

जिस प्रकार प्राकृत मे 'चउपन्न-महापुरुपचरित' की तथा सस्कृत में त्रेसठ शलाका पुरुष चरितो की रचना हुई, उसी प्रकार अपभ्रश मे महाकवि पुष्पदत द्वारा **'तिसट्ठि-महापुरिस-गुणालकारु'** महापुराण की रचना पाई जाती है। इसकी रचना शक स० ८८१ सिद्धार्थ सवत्सर से प्रारम्भ कर, ८८७ क्रोधन सवत्सर तक ६ वर्ष मे पूर्ण हुई थी। उस समय मान्यखेटमे राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (तृतीय) का राज्य था। उन्ही के मत्री

भरत की प्रेरणा से कवि ने इस रचना में हाथ लगाया था। महापुराण की एक संधि के प्रारम्भ में कवि ने मान्यखेट पुरी को धारानाथ द्वारा जलाये जाने का उल्लेख किया है। धनपाल कृत 'पाइय-लच्छी-नाममाला' के अनुसार धारानगरी धाराधीश हर्षदेव द्वारा वि० सं० १०२९ में लूटी और जलाई गई थी। इसप्रकार इस दुर्घटना का काल महापुराण की समाप्ति के छह-सात वर्ष पश्चात् सिद्ध होता है। अतएव अनुमानतः संधि के प्रारम्भ में उक्त संस्कृत श्लोक ग्रन्थ-रचना के पश्चात् निबद्ध किया गया होगा। इस ग्रन्थ में तथा अपनी अन्य रचनाओं में कवि ने बहुत कुछ अपना वैयक्तिक परिचय भी दिया है जिसके अनुसार उनके पिता का नाम केशव और माता का मुग्धा देवी था जो प्रारम्भ में शैव थे किन्तु पीछे जैन धर्मावलम्बी हो गये थे। कवि कहीं भ्रमण से भटकते हुए मान्यखेट पहुंचे और वहां भरत ने उन्हें आश्रय देकर काव्य-रचना के लिये प्रेरित किया। वे शरीर से कृश और कुरूप थे किन्तु उनकी कव्व-पिसल्ल (काव्य पिशाच) कवि कुल-तिलक, काव्यरत्नाकर, सरस्वती-निलय आदि उपाधियां उनकी काव्य प्रतिभा की परिचायक हैं जो उनकी रचना के सौन्दर्य और सौष्ठव को देखते हुए सार्थक सिद्ध होती हैं। समस्त महापुराण १०२ संधियों में पूर्ण हुआ है। प्रथम ३७ संधियों का कथाभाग उतना ही है जितना संस्कृत आदिपुराण का अर्थात् प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ और उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती का जीवन चरित्र। शेष संधियों में उत्तरपुराण के समान अन्य शलाका पुरुषों का जीवनचरित्र वर्णित है। संधि ६९ से ७९ तक की ११ संधियों में राम की कथा आई है, जिसमें उत्तरपुराण में वर्णित कथा का अनुसरण किया गया है। किन्तु यहां आदि में गौतम द्वारा रामायण के विषय में वे ही शंकाएं उठाई गई हैं जो प्राकृत पउमचरियं व संस्कृत पद्मपुराण तथा स्वयंभूकृत पउमचरिउ में पाई जाती हैं। संधि ८१ से ९२ तक की १२ संधियों में कृष्ण और नेमिनाथ एवं कौरव-पांडवों का वृत्तान्त संस्कृत हरिवंश पुराण के अनुसार वर्णित है। किन्तु यह समस्त वर्णन कवि की असाधारण काव्य प्रतिभा द्वारा बहुत ही सुन्दर, रोचक और सजीव बन गया है। इसमें आये हुए नगरों पर्वतों नदियों ऋतुओं सूर्य चन्द्र के अस्त व उदय युद्धों विवाहों वियोग से विलापों विवाहादि उत्सव एवं शृंगारादि रसों के वर्णन किसी भी संस्कृत व प्राकृत के उत्कृष्टतम काव्य से हीन नहीं ठहरते। कवि ने स्वयं एक संस्कृत पद्य द्वारा अपनी इस रचना के गुण प्रकट किये हैं, वे कहते हैं—

अत्र प्राकृत-लक्षणानि सकला नीतिः स्थितिश्छन्दसा
मर्थालंकृतयो रसाश्च विविधास्तत्त्वार्थनिर्णीतयः ॥

किंचान्यद्यदिहास्ति जैनचरिते नान्यत्र तद्विद्यते ।
द्वावेतौ भरतेशपुष्पदशनौ सिद्धं ययोरीदृशम् ॥

यहा कवि ने जो यह दावा किया है कि अन्यत्र ऐसी कोई वस्तु नही है, जो इस जैन चरित्र मे न आ गई हो, वह उनके विषय और काव्य की सीमाओ को देखते हुए असिद्ध प्रतीत नही होता है।

अपभ्रंश मे तीर्थंकर-चरित्र—

पुष्पदत कृत महापुराण के पश्चात् सस्कृत के समान अपभ्रश मे भी विविध तीर्थंकरो के चरित्र पर स्वतत्र काव्य लिखे गये। 'चंदप्पह-चरिउ' यश कीर्त्ति द्वारा हूमड कुल के सिद्धपाल की प्रार्थना से ११ सधियो मे रचा गया है। ये यश कीर्ति वे ही हैं, जिनके हरिवशपुराण का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। अतएव इसका रचना काल भी वही १५ वी शती ई० है। 'सातिनाह चरिउ' की रचना महीचन्द्र द्वारा वि० स० १५८७ मे योगिनीपुर (दिल्ली) मे बाबर बादशाह के राज्यकाल मे हुई। कवि ने अपनी गुरु-परम्परा मे माथुर सघ, पुष्करगण के यश कीर्ति, मलयकीर्ति और गुणभद्रसूरि का उल्लेख किया है, तथा अग्रवाल वश के गर्ग-गोत्रीय भोजराज के पौत्र, व ज्ञानचन्द्र के पुत्र 'साधारण' के कुल का विस्तार से वर्णन किया है। णेमिणाह चरिउ की रचना हरिभद्र ने वि० १२१६ मे की। इसका अभीतक केवल एक अश 'सनत्कुमार चरित' सुसपादित होकर प्रकाश मे आया है। एक और णेमिणाह-चरिउ लखमदेव (लक्ष्मणदेव) कृत पाया जाता है, जिसमे चार सधिया व ८३ कडवक हैं। कवि ने आरम्भ मे अपने निवास-स्थान मालव देश व गोनद नगर का वर्णन, और अपने पुरवाड वश का उल्लेख किया है। रचनाकाल का निश्चय नही है, किन्तु इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति वि० स० १५१० की मिली है, जिससे उसके रचनाकाल की उत्तरावधि सुनिश्चित हो जाती है। पासणाह-चरिउ की रचना पद्मकीर्ति ने वि० स० ९९२ मे १८ सधियो मे पूर्ण की थी। कवि ने अपनी गुरु-परम्परा मे सेन सघ के चन्द्रसेन, माधवसेन और जिनसेन का उल्लेख किया है। दूसरा पासणाह-चरिउ १२ सधियो मे कवि श्रीधर द्वारा वि०स० ११८९ मे रचा गया है। कवि के पिता का नाम गोल्ल और माता का नाम वील्हा था। वे हरियाणा से चलकर जमना पार दिल्ली आये, और वहा अग्रवाल वशी नट्टल साहू की प्रेरणा से उन्होंने यह रचना की। तीसरा पासणाह-चरिउ कवि असवाल कृत पाया जाता है, जो १३ सधियो मे समाप्त हुआ है। सधि के अन्त मे उल्लेख मिलता है कि यह ग्रन्थ सघाधिप सोनी (सोणिय?)

के कर्णाभरणरूप अर्थात् उनकी प्रेरणा से उन्हें सुनाने के लिये रचा गया था। इसका रचनाकाल अनुमानतः १२ वीं सदी या उसके आसपास होगा। अंतिम तीर्थंकर पर जयमित्र हल्ल कृत वड्ढमाणकव्व मिलता है जिसमें ११ संधियां हैं। यह काव्य देवराय के पुत्र संघाधिप होलिवर्म के लिये लिखा गया था। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि० सं० १५४५ की मिली है अतएव ग्रन्थ इससे पूर्व रचा गया है। इस काव्य की अंतिम ५ संधियों में राजा श्रेणिक का चरित्र वर्णित है, जो अपने रूप में पूर्ण है और पृथक् रूप से भी मिलता है। रयधू-कृत सम्मइजिणचरिउ दस संधियों में समाप्त हुआ है। इसमें कवि ने अपने गुरु का नाम यशःकीर्ति प्रकट किया है अतएव इसका रचनाकाल वि० सं० १५ के आसपास होना चाहिए। नरसेन कृत वड्ढमाणकहा वि० सं० १५१२ के लगभग लिखी गई है। जैन ग्रंथावली में जिनेश्वर सूरि के शिष्य द्वारा रचित अपभ्रंश महावीर-चरित्र का उल्लेख है।

अपभ्रंश चरितकाव्य—

तीर्थंकरों के चरितों के अतिरिक्त अपभ्रंश में जो अन्य चरित्र काव्य की रीति से लिखे गये वे निम्नप्रकार हैं —

'तिसट्ठि-महापुरिस-गुणालंकार' के महाकवि पुष्पदन्त कृत अन्य रचनाएं हैं— जसहर-चरिउ और णायकुमार-चरिउ। यशोधर का चरित्र जैन साहित्य में हिंसा के दोष और अहिंसा का प्रभाव दिखलाने के लिये बड़ा लोकप्रिय हुआ है, और उस पर संस्कृत में सोमदेव कृत यशस्तिलक चम्पू से लगाकर १७वीं शती तक लगभग ? ग्रन्थ रचे गये पाये जाते हैं। इनमें काव्यकला की दृष्टि से संस्कृत में सोमदेव की कृति और अपभ्रंश में पुष्पदंत कृत जसहर चरिउ सर्वश्रेष्ठ है। ये दोनों रचनाएं १ वीं शताब्दी में पांच-सात वर्ष के अन्तर से प्रायः एक ही समय की हैं। जसहरचरिउ चार संधियों में विभाजित है। यौधेय देश की राजधानी राजपुर में मारिदत्त राजा की एक कापालिकाचार्य भैरवानंद से भेंट हुई और उनके आदेशानुसार आकाशगामिनी विद्या प्राप्त करने के लिये राजा ने नरबलि यज्ञ का आयोजन किया। इसके लिये राजा के सेवक जैन मुनि सुदत्त के शिष्य अभयरुचि और उसकी बहन अभयमती को पकड़ लाये। राजा ने उनके रूप से प्रभावित होकर उनका वृत्तान्त पूछा। इस पर अभयरुचि ने अपने पूर्वजन्मों का वृत्तान्त कहना प्रारम्भ किया— अवन्ती देश में उज्जैनी के राजा यशोबंधुर का पौत्र व यशोर्ह का पुत्र मैं यशोधर नामका राजा था (१ सं०)। यशोधर ने अपनी रानी अमृतमति को एक कुबड़े से व्यभिचार करते देखा

और विरक्त होकर मुनिदीक्षा लेने का विचार किया, किन्तु उसकी मा ने उसे रोका। अमृतमति ने दोनो को विष देकर मार डाला। तत्पश्चात् मा-बेटो ने नाना पशु-योनियो मे परिभ्रमण किया, जिनमे स्वय उसके पुत्र जसवइ व व्यभिचारिणी पत्नी ने उनका घात किया (२ स०)। अनेक पशुयोनियो मे दु खभोग कर अन्त मे वे दोनो जसवइ के पुत्र और पुत्री रूप से उत्पन्न हुए। एक बार जसवइ आखेट करने वन मे गया था, वहा उसे सुदत्त मुनि के दर्शन हुए, और उसने उन पर अपने कुत्ते छोडे। किन्तु मुनि के प्रभाव से कुत्ते उनके सम्मुख विनीतभाव से नमन करने लगे। एक सेठ ने राजा को मुनि का माहात्म्य समझाया, तब राजा को सम्बोधन हुआ। मुनि को अवधिज्ञानी जान राजा ने उनसे अपने पूर्वभूत माता-पिता व मातामही का वृत्तान्त पूछा। मुनि ने उनके भव-भ्रमण का सब वृत्तान्त सुनाकर बतला दिया कि उसका पिता और उसकी मातामही ही अब अभयरुचि और अभयमति के रूप मे उसके पुत्र-पुत्री हुए हैं (३ स०)। यह वृत्तान्त सुनकर और ससार की विचित्रता एव असारता को समझकर जसवइ ने दीक्षा ले ली। उसके पुत्र-पुत्रियो को भी अपने पूर्वभवो का स्मरण हो आया, और वे क्षुल्लक के व्रत लेकर सुदत्त मुनि के साथ विहार करते हुए मारिदत्त के राजपुरुषो द्वारा पकड कर वहा लाये गये। यह वृत्तान्त सुनकर राजा मारिदत्त, उनकी देवी चडमारी व पुरोहित भैरवानद आदि सभी को वैराग्य हो गया, और उन्होंने सुदत्त मुनि से दीक्षा ले ली (स० ४)। इस कथानक को पुष्पदत ने बड़े काव्य-कौशल के साथ प्रस्तुत किया है। (कारजा, १९३२)

णायकुमार-चरिउ मे पुष्पदत ने श्रुत-पचमी कथा के माहात्म्य को प्रगट करने के लिये कामदेव के अवतार नागकुमार का चरित्र ९ सधियो मे वर्णन किया है। मगधदेश के कनकपुर नगर मे राजा जयधर और रानी विशालनेत्रा के श्रीधर नामक पुत्र हुआ। पश्चात् राजा ने सौराष्ट्र देश मे गिरिनगर की राजकुमारी पृथ्वीदेवी का चित्र देख, और उस पर मोहित हो, उसे भी विवाह लिया (स० १)। यथासमय पृथ्वीदेवी ने भी एक पुत्र को जन्म दिया, जो शैशव मे जिनमदिर की वापिका मे गिर पडा। वहा नागो ने उसकी रक्षा की, और उसीसे उसका नाम नागकुमार रखा गया (स० २)। नागकुमार नाना विद्याए सीखकर यौवन को प्राप्त हुआ। उस पर मनोहरी और किन्नरी नामक नर्तकिया मोहित हो गई, और उसने उन्हें विवाह लिया। उसकी माता और विमाता में विद्वेष बढा, और उसका सौतेला भाई श्रीधर भी उससे द्वेष करके उसे मरवा डालने का प्रयत्न करने लगा। इसीसमय एक मदोन्मत्त हाथी के आक्रमण से समस्त नगर व्याकुल हो उठा। श्रीधर उसे दमन

करने में असफल रहा किन्तु नागकुमार ने अपने पराक्रम द्वारा उसे वश में कर लिया। इससे दोनों का विद्वेष और अधिक बढ़ा (सं० ३)। नागकुमार के पराक्रम की ख्याति बढ़ी और मथुरा का राजकुमार व्याल एक भविष्य वाणी सुनकर उसका अनुचर बन गया। श्रीधर ने अब नागकुमार को अपना परमशत्रु समझ मार डालने की चेष्टा की। पिता ने संकट-निवारणार्थ नागकुमार को कुछ काल के लिये देशान्तर गमन का आदेश दे दिया (सं० ४)। नागकुमार राजधानी से निकलकर मथुरा पहुंचा जहां उसने कान्यकुब्ज के राजा विनयपाल की कन्या शीलवती को बंदीगृह से छुड़ा कर उसके पिता के पास भिजवा दिया। वहां से चलकर वह काश्मीर गया जहां उसने राजा नंद की पुत्री त्रिभुवनरति को वीणावाद्य में पराजित करके विवाहा। वहां से वह रम्यक वन में गया और वहां कालगुफावासी भीमासुर ने उसका स्वागत किया (सं ५)। अपने पथ-प्रदर्शक शबर की सहायता से वह कांचन गुफा में पहुंचा वहां उसने नाना विद्याएं प्राप्त कीं व काल-वैतालगुफा से राजा जितशत्रु द्वारा संचित विशाल धनराशि प्राप्त की। तत्पश्चात् उसकी भेंट गिरिशिखर के राजा वनराज से हुई जिसकी पुत्री लक्ष्मीमति से उसने विवाह किया। वहां मुनि श्रुतिधर से उसने सुना कि वनराज किरात नहीं किन्तु पुण्ड्रवर्द्धन के राजवंश का है जहां से तीन पीढ़ी पूर्व उसके पूर्वजों को उनके एक दायाद ने निकाल भगाया था। नागकुमार के आदेश से व्याल पुण्ड्रवर्द्धन गया और वनराज पुनः वहां का राजा बना दिया गया (सं ६)। तत्पश्चात् नागकुमार ऊर्जयन्त पर्वत की ओर गया। बीच में गिरिनगर पर सिंध के राजा चंडप्रद्योत के आक्रमण का समाचार पाकर वहां गया और वहां उसने अपने मामा की शत्रु से रक्षा की एवं उसकी पुत्री गुणवती से विवाह किया। वहां से निकलकर उसने अंतरपुर के अत्याचारी राजा सुकंठ का वध किया और उसकी पुत्री रुक्मिणी को विवाहा। वहां से चलकर वह दन्तपुर आया और वहां राजा अभिचन्द्र की पुत्री चन्द्रा से विवाह किया (सं ७)। महा व्याल के द्वारा उज्जैन की अद्वितीय राजकन्या का समाचार पाकर नागकुमार वहां आया और उस राजकन्या से विवाह किया। वहां से वह फिर किष्किन्धमलय को गया जहां मृदंग वाद्य में राजकन्या को पराजित कर विवाहा। वहां से वह तोयावली द्वीप को गया और अपनी विद्याओं की सहायता से वहां की बंदिनी कन्याओं को छुड़ाया (सं ८)। पांड्य देश से निकलकर नागकुमार आन्ध्रदेश के दन्तीपुर में आया और वहां की राजकन्या से विवाह किया। फिर उसकी भेंट मुनि पिहितास्रव से हुई जिनके मुख से उसने अपने व अपनी प्रिय पत्नी लक्ष्मीमति के पूर्वभव की कथा तथा

श्रुतपचमी व्रत के उपवास के फल का वर्णन सुना। इसी समय उसके पिता का मत्री नयँघर उसे लेने आया। उसके भ्राता श्रीधर ने दीक्षा ले ली थी। माता-पिता भी नागकुमार को राजा बनाकर दीक्षित हो गये। नागकुमार ने दीर्घकाल तक राज्य किया। अन्त मे अपने पुत्र देवकुमार को राज्य देकर उसने व्याल आदि सुभटो सहित दिगम्बरी दीक्षा ली, और मरकर स्वर्ग प्राप्त किया (स० ६)। पुष्पदत ने इस जटिल कथानक को नाना वर्णनो, विविध छद-प्रयोगो एव रसो और भावो के चित्रणो सहित अत्यन्त रोचक बनाकर उपस्थित किया है।(कारजा, १९३३)

भविसयत्त-कहा (भविष्यदत्त कथा) के कर्त्ता धनपाल वैश्य जाति के धक्कड वश मे उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम माएसर (महेश्वर ?) और माता का नाम धनश्री था। इनके समय का निश्चय नही, किन्तु दसवी शती अनुमान किया जाता है। यह कथा २२ सधियो मे विभाजित है। चरित्रनायक भविष्यदत्त एक वणिक् पुत्र है। वह अपने सौतेले भाई बधुदत्त के साथ व्यापार हेतु परदेश जाता है, धन कमाता है, और विवाह भी कर लेता है। किन्तु उसका सौतेला भाई उसे बार-बार धोखा देकर दुःख पहुचाता है, यहा तक कि उसे एक द्वीप मे अकेला छोडकर उसकी पत्नी के साथ घर लौट आता है, और उससे विवाह करना चाहता है। किन्तु इसी बीच भविष्यदत्त भी एक यक्ष की सहायता से घर लौट आता है, अपना अधिकार प्राप्त करता, और राजा को प्रसन्न कर राजकन्या से विवाह करता है। अन्त मे मुनि के द्वारा धर्मोपदेश व अपने पूर्व भव का वृत्तान्त सुनकर, विरक्त हो, पुत्र को राज्य दे, मुनि हो जाता है। यह कथानक भी श्रुतपचमी व्रत का माहात्म्य प्रकट करने के लिये लिखा गया है। ग्रन्थ के अनेक प्रकरण बडे सुन्दर और रोचक हैं। बालक्रीडा, समुद्र-यात्रा, नौका-भग, उजाड नगर, विमान-यात्रा, आदि वर्णन पढ़ने योग्य हैं। कवि के समय मे विमान हो या न हो, किन्तु उसने विमान का वर्णन बहुत सजीव रूप मे किया है। (गायकवाड ओरि सीरीज, बडौदा)

करकंडचरिउ के कर्त्ता मुनि कनकामर ने अपना स्वय परिचय दिया है कि वे द्विजवशी व चन्द्रर्षि गोत्रीय थे। वे वैराग्य से दिगम्बर हो गये थे, उनके गुरु का नाम बुध मगलदेव था, तथा उन्होंने आसाई नगरी मे एक राजमत्री के अनुराग से यह चरित्र लिखा। राजमत्री के विषय में उन्होंने यह भी कहा है कि वह विजयपाल नराधिप का स्नेहभाजन, नृपभूपाल या निजभूपाल का मनमोहक व कर्णनरेन्द्र का आशयरजक था, उसके आहुल,रल्हु और राहुल,ये तीन पुत्रभी मुनिके चरणोंके भक्त थे। सम्भवत मुनि द्वारा उल्लिखित कर्ण उस नामका कलचुरि वशीय राजा व विजयपाल

उसका सम-सामयिक चंदेल वंशीय राजा था। तदनुसार इस ग्रन्थ का रचनाकाल १०५ ई के लगभग सिद्ध होता है। कवि ने जो स्वयम्भू और पुष्पदंत का उल्लेख किया है, उससे उनका ई० सन् ९६५ के पश्चात् होना निश्चित है। यह रचना १० संधियों में पूर्ण हुई है। कथानायक करकंड जैन व बौद्ध परम्परा में एक प्रत्येकबुद्ध माने गये हैं। वे अंग देश में चंपानगरी के राजा धाड़ीवाहन और रानी पद्मावती के पुत्र थे किन्तु एक दुष्ट हाथी द्वारा रानी के अपहरण के कारण उनका जन्म दंतीपुर के समीप श्मशान-भूमि में हुआ था। उसका परिपालन व शिक्षण एक मातंग के द्वारा हुआ। दन्तीपुर के राजा के मरने पर दैवयोग से वह वहां का राजा बनाया गया। चंपा के राजा धाड़ीवाहन ने उसके पास अधीनता स्वीकार करने का प्रस्ताव भेजा जिसे ठुकरा कर उसने चंपापुर पर आक्रमण किया। पिता-पुत्र के बीच जब घमासान युद्ध हो रहा था तब उसकी माता पद्मावती ने प्रकट होकर युद्ध का निवारण और पिता-पुत्र की पहचान कराई। अब करकंडु चंपापुर का राजा बन गया। उसने दक्षिण के चोल चेर व पांड्य देशों की विजय के लिये यात्रा की। मार्ग में तेरापुर के समीप की पहाड़ी पर एक प्राचीन जैन गुफा का पता लगाया व एक दो नये लयण बनवाये। फिर उन्होंने सिंहल द्वीप तक विजय की और नाना राजकुमारियों से विवाह किया। अंत में शीलगुप्त मुनि से धर्म श्रवण कर, तपस्या धारण की और मोक्ष प्राप्त किया। इस कथानक में अनेक छोटी-छोटी उपकथाएं करकंडु के शिक्षण के लिये मातंग द्वारा सुनाई गई हैं। तीन अवान्तर कथाएं इतनी बड़ी बड़ी हैं कि वे पूर्ण एक एक संधि को घेरे हुए हैं। पांचवीं संधि में तेरापुर की प्राचीन गुफा बनने व पहाड़ी पर जिनमूर्ति के स्थापित किये जाने का वृत्तान्त है। छठी संधि में करकंड की प्रिय पत्नी मदनावली का एक दुष्ट हाथी द्वारा अपहरण होने पर उनकी वियोग-पीड़ा के निवारणार्थ राजा नरवाहनदत्त का आख्यान कहा गया है, एवं आठवीं संधि में करकंड की पत्नी रतिवेगा को उसके पतिवियोग में संबोधन के लिये देवी द्वारा अरिदमन और रत्नलेखा के वियोग और पुनर्मिलन का आख्यान सुनाया गया है। ग्रन्थ में श्मशान का, गंगानदी का, प्राचीन जिनमूर्ति के भूमि से निकलने का एवं रतिवेगा के विलाप आदि का वर्णन बहुत सुन्दर बन पड़ा है। (कारंजा १९३४)

पउमसिरि-चरिउ (पद्मश्री चरित) के कर्ता धाहिल ने अपने विषय में इतना बतलाया है कि उनके पिता का नाम पार्श्व व माता का महासती सूराई (सूरादेवी?) था और वे शिशुपाल काव्य के कर्ता माघ के वंश में उत्पन्न हुए थे। समय का निश्चय नहीं किन्तु इस कृति की जो एक प्राचीन प्रति वि० सं० ११९१ की लिखी है, उससे

इस रचना की उत्तरावधि भी निश्चित हो जाती है। यह रचना चार संधियो मे पूर्ण हुई है। नायिका पदमश्री अपने पूर्व जन्म में एक सेठ की पुत्री थी, जो वाल विधवा होकर अपना जीवन अपने दो भाइयो और उनकी पत्नियो के वीच एक ओर ईर्ष्या और सन्ताप, तथा दूसरी ओर धर्मसाधना मे विताती रही। दूसरे जन्म मे पूर्व पुण्य के फल से वह राजकुमारी हुई। किन्तु जो पापकर्म शेष रहा था, उसके फलस्वरूप उसे पति द्वारा परित्याग का दुख भोगना पडा। तथापि सयम और तपस्या के वल से अन्त में उसने केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पाया। काव्य मे देशो व नगरो का वर्णन, हृदय की दाह का चित्रण, सन्ध्या व चन्द्रोदय आदि प्राकृतिक वर्णन वहुत सुन्दर हैं। (सिंघी जैन सीरीज, वम्वई)

सणकुमार-चरिउ (सनत्कुमार चरित) के कर्ता हरिभद्र श्रीचन्द्र के शिष्य व जिनचन्द्र के प्रशिष्य थे, और उन्होंने अपने णेमिणाह-चरिउ की रचना वि० स० १२१६ मे समाप्त की थी। प्रस्तुत रचना उसी के ४४३ से ७८५ तक के ३४३ रड्डा छदात्मक पद्यो का काव्य है, जो पृथक्रूप से सुसपादित और प्रकाशित हुआ है। कथा-नायक सनत्कुमार गजपुर नरेश अश्वसेन के पुत्र थे। वे एक वार मदनोत्सव के समय वेगवान् अश्व पर सवार होकर विदेश मे जा भटके। राजधानी मे हाहाकार मच गया। उनके मित्र खोज मे निकले और मानसरोवर पर पहुचे। वहा एक किन्नरी के मुख से अपने मित्र का गुणगान सुनकर उन्होने उनका पता लगा लिया। इसी वीच सनत्कुमार ने अनेक सुन्दर कन्याओ से विवाह कर लिया था। मित्र के मुख से माता पिता के शोक-सताप का समाचार पाकर वे गजपुर लौट आये। पिता ने उन्हे राज्य सौंपकर दीक्षा ले ली। सनत्कुमार ने अपने पराक्रम और विजय द्वारा चक्रवर्तीपद प्राप्त किया व अन्त मे तपस्या धारण कर ली। इसी सामान्य कथानक को कर्ता ने अपनी काव्य-प्रतिभा द्वारा खूव चमकाया है। यहा ऋतुओं आदि का वर्णन वहुत अच्छा हुआ है। (डॉ जैकोवी द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित, जर्मनी)

इन प्रकाशित चरित्रो के अतिरिक्त अनेक अपभ्रंश चरित ग्रन्थ हस्तलिखित प्रतियो के रूप मे नाना जैन शास्त्रभडारो मे सुरक्षित पाये जाते हैं, और सपादन प्रकाशन की वाट जोह रहे हैं। इनमे कुछ विशेष रचनाए इसप्रकार हैं। वीर कृत **जवूस्वामि-चरिउ** (वि० स० १०७६), नयनंदि कृत **'सुदसण-चरिउ'** (वि स० ११००), श्रीधर कृत **सुकुमाल-चरिउ** (वि० स० १२०८), देवसेन गणि कृत **सुलोचना-चरित,** सिंह (या सिद्ध)कृत **पज्जुण्ण-चरिउ** (१२वी-१३वीशती), लक्ष्मणकृत **जिनदत्त-चरिउ** (वि० स० १२७५), धनपाल कृत **वाहुवलि-चरिउ** (वि० स० १४५४), रयधू कृत

सुकोसल-चरिउ धनकुमार-चरिउ, मेहेसर-चरिउ और श्रीपाल-चरिउ (१५ वीं शती) नरसेन कृत सिरिवाल-चरिउ (अ० सं १५७६) व धम्मकुमार च (वि सं १५७१) तथा भगवतीदास कृत ससिलेहा या मृगांकलेखा-चरिउ (वि सं० १७००) उल्लेखनीय हैं। हरिदेव कृत मयण-पराजय और जिनप्रभसूरि कृत मोहराज-विजय ऐसी कविताएं हैं जिनमें तप संयम आदि भावों को मूर्तिमान् पात्रों का रूप देकर मोहराज और जिनराज के बीच युद्ध का चित्रण किया गया है।

अपभ्रंश लघुकथाएं—

जैसा पहले कहा जा चुका है, ये चरित-काव्य किसी न किसी जैन व्रत के माहात्म्य को प्रकट करने के लिये लिखे गये हैं। इसी उद्देश्य से अनेक लघु कथाएं भी लिखी गई हैं। विशेष लघुकथा-लेखक और उनकी रचनाएं ये हैं:—नयनंदि कृत 'सकलविधिविधानकहा' (वि० सं ११) श्रीचन्द्र कृत कथाकोष और रत्नकरंड शास्त्र (वि० सं ११२३) अमरकीर्ति कृत छक्कम्मोवएसु (वि सं १२४७) लक्ष्मण कृत अणुवय-रयण-पईव (वि सं १३१३) तथा रइधू कृत पुण्णासवकहाकोसो (१५ वीं शती)। इनके अतिरिक्त अनेक व्रतकथाएं स्फुट रूप से भी मिलती हैं जैसे बालचन्द्र कृत सुगंधदहमीकहा एवं णिद्दुहसत्तमीकहा, विनयचन्द्र कृत णिज्झरपंचमी कहा यशःकीर्ति कृत जिणरत्तिविहाणकहा व रविवउकहा तथा अमरकीर्ति कृत पुरंदरविहाणकहा इत्यादि। इनमें से कुछ जैसे विनयचन्द्र कृत णिज्झर-पंचमी-कहा अपभ्रंश में गीतिकाव्य के बहुत सरस और सुन्दर उदाहरण हैं।

एक अन्य प्रकार की अपभ्रंश कथाएं भी उल्लेखनीय हैं। हरिभद्र ने प्राकृत में धूर्ताख्यान नामसे जो कथाएं लिखी हैं, उनमें अनेक पौराणिक अतिरंजित बातों पर व्यंगात्मक आख्यान लिखे हैं। इसके अनुकरण पर अपभ्रंश में हरिषेण ने धम्मपरिक्खा नामक ग्रन्थ ११ संधियों में लिखा है, जिसकी रचना वि सं १ ४४ में हुई है। इसी के अनुसार श्रुतकीर्ति ने भी धम्मपरिक्खा नामक रचना १५ वी शती में की।

प्रथमानुयोग-संस्कृत—

जिसप्रकार प्राकृत में कथात्मक साहित्य का प्रारम्भ रामकथा से होता है उसीप्रकार संस्कृत में भी पाया जाता है। रविषेण कृत पद्मचरित की रचना स्वयं ग्रन्थ के उल्लेखानुसार वीर निर्वाण के १२ ३ वर्ष पश्चात् अर्थात् ई सन् ६७६ में हुई। यह ग्रन्थ विमलसूरि कृत पउमचरियं को सम्मुख रखकर रचा गया प्रतीत होता

है। इसकी रचना प्राय अनुष्टुप् श्लोकों मे हुई है। विषय और वर्णन प्राय ज्यों का त्यो अध्याय-प्रतिअध्याय और वहुतायत से पद्य-प्रतिपद्य मिलता जाता है। हा, वर्णन-विस्तार कहीं कही पद्मचरित मे अधिक दिखाई देता है, जिससे उसका प्रमाण प्राकृत पउमचरियं से डयौढ़े से भी अधिक हो गया है। (हिन्दी अनुवाद सहित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, से प्रकाशित)

पद्मचरित के पश्चात् सस्कृत मे दूसरी पौराणिक रचना जिनसेन कृत हरिवंश पुराण है, जो शक स० ७०५ अर्थात् ई० सन् ७८३ मे समाप्त हुई थी, जवकि उत्तर भारत मे इन्द्रायुध, दक्षिण मे कृष्ण का पुत्र श्रीवल्लभ, पूर्व मे अवन्ति नृप तथा पश्चिम मे वत्सराज, एव सौरमंडल मे वीरवराह राजाओ का राज्य था। इसमे ६६ सर्ग हैं, जिनका कुल प्रमाण १२००० श्लोक है। यहा भी सामन्यत अनुष्टुप छद का प्रयोग हुआ है। किन्तु कुछ सर्गो के अन्त मे द्रुतविलम्वित, वसन्ततिलका, शार्दूल-विक्रीडित आदि छदो का प्रयोग भी हुआ है । ग्रन्थ का मुख्य विषय हरिवश में उत्पन्न हुए २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित्र वर्णन करना है। किन्तु इसके प्रस्तावना रूप से ग्रन्थमे अन्य सभी शलाका पुरुषो का कीर्तन किया गया है, तथा त्रैलोक्य व जीवादि द्रव्यो का वर्णन भी आया है। हरिवश की एक शाखा यादवो की थी। इस वश मे शौरीपुर के एक राजा वसुदेव की रोहिणी और देवकी नामक दो पत्नियो से क्रमश वलदेव और कृष्ण का जन्म हुआ। वसुदेव के भ्राता समुद्रविजय की शिवा नामक भार्या ने अरिष्टनेमि को जन्म दिया। युवक होने पर इनका विवाह-सम्वन्ध राजीमती नामक कन्या से निश्चित हुआ। विवाह के समय यादवो के मास भोजन के लिये एकत्र किये गये पशुओ को देखकर करुणा से नेमिनाथ का हृदय विह्वल और ससार से विरक्त हो गया, और विना विवाह कराये ही उन्होने प्रवृज्या धारण कर ली। ये ही केवलज्ञान प्राप्त करके २२ वें तीर्थंकर हुए। प्रसगवश कौरवो और पाण्डवो का, तथा वलराम और कृष्ण के वशजो का भी वृत्तान्त आया है। ग्रथ मे वसुदेव के भ्रमण का वृत्तान्त विस्तार से आया है, जो वसुदेव-हिंडी का स्मरण कराता है। किन्तु नेमिनाथ के चरित्र का वर्णन इससे पूर्व अन्यत्र कही स्वतत्र ग्रन्थ के रूप मे दिखाई नही देता। उत्तरा-ध्ययन सूत्र के 'रहनेमिज्ज' नामक २२ वें अध्ययन मे अवश्य यह चरित्र वर्णित पाया जाता है, किन्तु वह अति सक्षिप्त केवल ४६ गाथाओं मे है। विमलसूरि कृत पउमचरिय के परिचय में ऊपर कहा जा चुका है कि सम्भवत उसी ग्रथकार की एक रचना 'हरिवश चरित्र' भी थी, जो अव अप्राप्य है। यदि वह रही हो तो प्रस्तुत रचना उस पर आधारित अनुमान की जा सकती है। ग्रथ मे जो चारुदत्त और वसन्तसेना का

वृत्तान्त विस्तार से आया है, आश्चर्य नहीं यही मृच्छकटिक नाटक का आधार रहा हो। (हिन्दी अनुवाद सहित भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से प्रकाशित)

सकलकीर्ति (वि० सं० १४९८ १५१०) कृत हरिवंश पुराण ३९ सर्गों में समाप्त हुआ है। इसके १५ से अन्त तक के सर्ग उनके शिष्य जिनदास द्वारा लिखे गये हैं। इसमें रविषेण और जिनसेन का उल्लेख है और उन्हीं की कृतियों के आधार से यह ग्रंथ-रचना हुई प्रतीत होती है। शुभचन्द्र कृत पाण्डवपुराण (१५५१ ई०) जैन महाभारत भी कहलाता है, और उसमें जिनसेन व गुणभद्र कृत पुराणों के आधार से कथा वर्णन की गई है।

मलधारी देवप्रभसूरि कृत पाण्डव-चरित्र (ई० १२०० के लगभग) में १८ सर्ग हैं, और उनमें महाभारत के १८ पर्वों का कथानक संक्षेप में वर्णित है। छठे सर्ग में द्यूत क्रीड़ा का वर्णन है और यहां विदुर द्वारा द्यूत के दुष्परिणाम के उदाहरण रूप नल-कूबर (नल-दमयन्ती) की कथा कही गई है। कूबर नल का भाई था। १६ वें सर्ग में अरिष्टनेमि तीर्थंकर का चरित्र आया है, और १८वें में उनके व पाण्डवों के निर्वाण तथा बलदेव के स्वर्ग-गमन का वृत्तान्त है। इस पुराण का गद्यात्मक रूपान्तर रत्नविजय सूरि के शिष्य देवविजय गणी (१६०३ ई०) कृत पाया जाता है। इसमें यत्र-तत्र देवप्रभ की कृति से तथा अन्यत्र से कुछ पद्य भी उद्धृत किये गये हैं।

संस्कृत में तीसरी महत्वपूर्ण पौराणिक रचना महापुराण है। इसके दो भाग हैं—एक आदिपुराण और दूसरा उत्तरपुराण। आदिपुराण में ४७ पर्व या अध्याय हैं जो समस्त १२ श्लोक प्रमाण हैं। इसमें के ४२ पर्व और ४३ वें पर्व का कुछ भाग जिनसेन कृत है, और शेष आदि पुराण तथा उत्तरपुराण की रचना उनके शिष्य गुणभद्र द्वारा की गई है। यह समस्त रचना शक संवत् ८२ से पूर्व समाप्त हो चुकी थी। आदिपुराण की उत्थानिका में पूर्वगामी सिद्धसेन समन्तभद्र श्रीदत्त प्रभाचन्द्र शिवकोटि जटाचार्य काणभिक्षु, देव (देवनंदि पूज्यपाद) भट्टाकलंक श्रीपाल पात्रकेसरि, वादीभसिंह, वीरसेन जयसेन और कवि परमेश्वर, इन आचार्यों की स्तुति की गई है। गुणाढ्य कृत बृहत्कथा का भी उल्लेख आया है। आदिपुराण पूरा ही प्रथम तीर्थंकर आदि-नाथ के चरित्र-वर्णन में ही समाप्त हो गया है। इसमें समस्त वर्णन बड़े विस्तार से हुए हैं तथा भाषा और शैली के सौष्ठव एवं अलंकारादि काव्य गुणों से परिपूर्ण हैं। जैनधर्म संबंधी प्रायः समस्त जानकारी यहां निबद्ध कर दी गई है, जिसके कारण ग्रंथ एक ज्ञानकोष ही बन गया है। शेष तेईस तीर्थंकर आदि शलाका पुरुषों का चरित्र उत्तरपुराण में अपेक्षाकृत संक्षेप से वर्णित है। इस प्रकार सर्वप्रथम

इस ग्रथ मे त्रेसठ शलाका पुरुषो का चरित्र विधिवत् एक साथ वर्णित पाया जाता है। उत्तर पुराण के ६८ वें पर्व मे राम का चरित्र आया है, जो विमलसूरि कृत पउमचरिय के वर्णन से बहुत बातो मे भिन्न है। **उत्तरपुराण** के अनुसार राजा दशरथ काशी देश मे वाराणसी के राजा थे, और वही राम का जन्म रानी सुबाला से तथा लक्ष्मण का जन्म कैकेयी के गर्भ से हुआ था। सीता मदोदरी के गर्भ से उत्पन्न हुई थी, किन्तु उसे अनिष्टकारिणी जान रावण ने मजूषा मे रख कर मरीचि के द्वारा मिथिला मे जमीन के भीतर गडवा दिया, जहा से वह जनक को प्राप्त हुई। दशरथ ने पीछे अपनी राजधानी अयोध्या मे स्थापित कर ली थी। जनक ने यज्ञ मे निमन्त्रित करके राम के साथ सीता का विवाह कर दिया। राम के वनवास का यहा कोई उल्लेख नही। राम अपने पूर्व पुरुषो की भूमि बनारस को देखने के लिये सीता सहित वहा आये, और वहा के चित्रकूट वन से रावण ने सीता का अपहरण किया। यहा सीता के आठ पुत्रो का उल्लेख है,किन्तु उनमे लव-कुश का कहीं नाम नही। लक्ष्मण एक असाध्य रोग से पीडित होकर मृत्यु को प्राप्त हुए, तब राम ने उन्ही के पुत्र पृथ्वीसुन्दर को राजा तथा अपने पुत्र अजितजय को युवराज बनाकर सीतासहित जिन दीक्षा धारण कर ली। इसप्रकार इस कथा का स्रोत पउमचरिय से सर्वथा भिन्न पाया जाता है। इसकी कुछ बातें बौद्ध व वैदिक परम्परा की रामकथाओ से मेल खाती हैं, जैसे पालि की दशरथ जातक मे भी दशरथ को वाराणसी का राजा कहा गया है। अद्भुत रामायण के अनुसार भी सीता का जन्म मदोदरी के गर्भ से हुआ था। किन्तु यह गर्भ उसे रावण की अनुपस्थिति मे उत्पन्न होने के कारण, छुपाने के लिये वह विमान मे बैठकर कुरुक्षेत्र गई, और उस गर्भ को वहा जमीन मे गडवा दिया। वही से वह जनक को प्राप्त हुई। उत्तरपुराण की अन्य विशेष बातो के स्रोतो का पता लगाना कठिन है। इस रचना मे सभव जितने महापुरुषो के नाम वैदिक पुराणो के अनुसार ही हैं, और नाना सस्कारो की व्यवस्था पर भी उस परम्परा की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। जयधवला की प्रशस्ति मे जिनसेन ने अपना बडा सुन्दर वर्णन दिया है। उनका कर्ण-छेदन ज्ञान की शलाका से हुआ था। वे शरीर से कृश थे, किन्तु तप से नही। वे आकार से बहुत सुन्दर नही थे, तो भी सरस्वती उनके पीछे पडी थी, जैसे उसे अन्यत्र कही आश्रय न मिलता हो। उनका समय निरन्तर ज्ञान की आराधना मे व्यतीत होता था, और तत्वदर्शी उन्हे ज्ञान का पिंड कहते थे। इत्यादि। (हिन्दी अनुवाद सहित,भारतीय ज्ञान-पीठ, काशी, से प्रकाशित)

इसके पश्चात् हेमचन्द्र द्वारा **त्रिषष्ठिशलाका-पुरुष-चरित** नामक पुराण-काव्य

की रचना हुई। यह गुजरात नरेश कुमारपाल की प्रार्थना से लिखा गया था और ई० सन् ११६० व ११७२ के बीच पूर्ण हुआ। इसमें दस पर्व हैं, जिनमें उक्त चौबीस तीर्थंकरादि त्रेसठ महापुरुषों का चरित्र वर्णन किया गया है। ग्रन्थ के सातवें पर्व में राम-कथा वर्णित है, जिसमें प्राकृत 'पउमचरियं' तथा संस्कृत पद्मपुराण का अनुसरण किया गया है। दसवें पर्व में महावीर तीर्थंकर का जीवन चरित्र वर्णित है, जो स्वतंत्र प्रतियों के रूप में भी पाया जाता है। इसमें सामान्यतः आचारांग व कल्पसूत्र में वर्णित वृत्तान्त समाविष्ट किया गया है। हां कुछ घटनाओं का विस्तार व काव्यत्व हेमचन्द्र का अपना है। यहां महावीर के मुख से वीर निर्वाण से १६६९ वर्ष पश्चात् होनेवाले आदर्श नरेश कुमारपाल के संबंध की भविष्य वाणी कराई गई है। इसमें राजा श्रेणिक पुत्र अभय एवं रौहिणेय चोर आदि की उपकथाएं भी अनेक आई हैं। इस ग्रन्थ का अन्तिम भाग परिशिष्ट पर्व यथार्थतः एक स्वतंत्र ही रचना है, और वह ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है। इसमें महावीर के पश्चात् उनके केवली शिष्यों तथा दशपूर्वी आचार्यों की परम्परा पाई जाती है। इस भाग को 'स्थविरावली चरित' भी कहते हैं। यह केवल आचार्यों की नामावली मात्र नहीं है, किन्तु यहां उनसे संबद्ध नाना लम्बी लम्बी कथाएं भी कही गई हैं, जो उनसे पूर्व आगमों की निर्युक्ति भाष्य चूर्णि आदि टीकाओं से और कुछ सम्भवतः मौखिक परम्परा पर से संकलित की गई हैं। इसमें स्थूलभद्र और कोशा वेश्या का उपाख्यान, कुबेरसेना नामक गणिका के कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता नामक पुत्र-पुत्रियों में परस्पर प्रेम की कथा, आर्य स्वयम्भव द्वारा अपने पुत्र मनक के लिये दशवैकालिक सूत्र की रचना का वृत्तान्त तथा आगम के संकलन से संबंध रखनेवाले उपाख्यान नंद राजवंश संबंधी कथानक एवं चाणक्य और चन्द्रगुप्त द्वारा उस राजवंश के मूलोच्छेद का वृत्तान्त आदि अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। ग्रन्थकर्ता ने अपने इस पुराण को महाकाव्य कहा है। यद्यपि रचना का बहुभाग कथात्मक है, और पुराणों की स्वाभाविक सरल शैली का अनुसरण करता है, तथापि उसमें अनेक स्थलों पर रस भाव व अलंकारों का ऐसा समावेश है, जिससे उसका महाकाव्य पद भी प्रमाणित होता है।

तेरहवीं शती में मालवा के सुप्रसिद्ध जैन पंडित आशाधर कृत त्रिषष्टि-स्मृति-शास्त्र' में भी उपर्युक्त ६३ शलाका पुरुषों का चरित्र अपेक्षाकृत संक्षेप से वर्णन किया गया है, जिसमें प्रधानतः जिनसेन और गुणभद्र कृत महापुराण का अनुसरण पाया जाता है।

वायडगच्छीय जिनदत्तसूरि के शिष्य अमरचन्द्र कृत चतुर्विंशति-जिनचरित

(१३ वी शती) में १८०२ श्लोक २४ अध्यायो मे विभाजित है, और उनमे क्रमश. २४ तीर्थंकारों का चरित्र वर्णन किया गया है। अमरचन्द्र की एक और रचना बालभारत भी है (प्र० वम्बई, १६२६) ।

मेरुतुग कृत **महापुराण-चरित** के पाच सर्गो मे **ऋषभ, शाति, नेमि, पार्श्व** और **वर्द्धमान**, इन पाच तीर्थंकरो का चरित्र वर्णित है। इस पर एक टीका भी है, जो सम्भवत स्वोपज्ञ है और उसमे उक्त कृति को **'काव्योपदेश शतक'** व **'धर्मोपदेश शतक'** भी कहा गया है। मेरुतुग की एक अन्य रचना **प्रबन्ध-चिन्तामणि** १३०६ ई० में पूर्ण हुई थी, अतएव वर्तमान रचना भी उसी समय के आसपास लिखी गई होगी। पद्मसुन्दर कृत **रायमल्लाभ्युदय** (वि० स० १६१५) अकवर के काल मे चौधरी रायमल्ल की प्रेरणा से लिखा गया है, और उसमे २४ तीर्थंकरों का चरित्र वर्णित है। एक दामनन्दि कृत **पुराणसार-सग्रह** भी अभी दो भागों मे प्रकाशित हुआ है, जिसमें शलाका पुरुषो का चरित्र अतिसक्षेप मे सस्कृत पद्यो मे कहा गया है। तीर्थंकरो के जीवन-चरित सबधी कुछ पृथक्-पृथक् सस्कृत काव्य इस प्रकार हैं —प्रथम तीर्थंकर **आदिनाथ** का जीवनचरित्र **चतुर्विंशति-जिनचरित** के कर्ता अमरचन्द्र ने अपने **पद्मानद काव्य** में १६ सर्गो में लिखा है। काव्य को उक्त नाम देने का कारण यह है कि वह पद्म नामक मत्री की प्रार्थना से लिखा गया था। काव्य में कुल ६२८१ श्लोक हैं। (प्र० बडौदा, १६३२)आठवें तीर्थंकर **चन्द्रप्रभ** पर वीरनदि, **वासुपूज्य** पर वर्द्धमान सूरि, और **विमलनाथ** पर कृष्णदास रचित काव्य मिलते हैं। १५ वें तीर्थंकर धर्मनाथ पर हरिचन्द्र कृत **'धर्मशर्माभ्युदय'** एक उत्कृष्ट सस्कृत काव्य है, जो सुप्रसिद्ध सस्कृत काव्य माघकृत 'शिशुपाल वध' का अनुकरण करता प्रतीत होता है, तथा उस पर प्राकृत काव्य 'गउडवहो' एव सस्कृत 'नैषधीय चरित' का भी प्रभाव दिखाई देता है। यह रचना ११ वी-१२ वी शती की अनुमान की जाती है । १६ वें तीर्थंकर **शान्तिनाथ** का चरित्र असग कृत (१० वी शती), देवसूरि (१२८२ ई०) के प्रशिष्य अजितप्रभ कृत, माणिक्यचद्र कृत (१३ वी शती) सकलकीर्ति कृत (१५ वी शती), तथा श्रीभूपण कृत (वि० स० १६५६) उपलब्ध हैं। विनयचन्द्र कृत **मल्लिनाथ चरित** ४००० से अधिक श्लोकप्रमाण पाया जाता है। २२ वें तीर्थंकर **नेमिनाथ का चरित्र** सूराचार्य कृत (११ वी शती) और मलधारी हेमचद्र कृत (१३ वी शती) पाये जाते हैं। वाग्भट्ट कृत **नेमि-निर्वाण काव्य** (१२ वी शती) एक उत्कृष्ट रचना है, जो १५ सर्गो मे समाप्त हुई है। सगन के पुत्र विक्रम कृत **नेमिदूतकाव्य** एक विशेष कलाकृति है, जिसमें राजीमती के विलाप का वर्णन किया

गया है। यह एक समस्यापूर्ति काव्य है, जिसमें कालिदास कृत मेघदूत की पंक्तियां प्रत्येक पद्य के अन्तचरण में निबद्ध कर दी गई हैं। पार्श्वनाथ पर प्राचीन संस्कृत काव्य जिनसेन कृत (९ वीं शती) पार्श्वाभ्युदय है। इसमें उत्तम काव्य रीति से समस्त मेघदूत के एक-एक या दो-दो चरण प्रत्येक पद्य में समाविष्ट कर लिये गये हैं। पार्श्वनाथ का पूर्ण चरित्र वादिराजकृत (१ २५ ई०) पार्श्वनाथ चरित में पाया जाता है। इसी चरित्र पर १३ वीं व १४ वीं शती में दो काव्य लिखे गये एक माणिक्यचन्द्र द्वारा (१२१९ ई) और दूसरा भावदेव सूरि द्वारा (१३५५ ई)। भावदेव कृत चरित का अनुवाद अंग्रेजी में भी हुआ है। १५ वीं शती में सकलकीर्ति ने व १६ वीं शती में पद्मसुन्दर और हेमविजय ने संस्कृत में पार्श्वनाथ चरित्र बनाये। १६ वीं शती में ही श्रीभूषण के शिष्य चन्द्रकीर्ति ने पार्श्वपुराण की रचना की। विनयचन्द्र और उदयवीरगणी कृत पार्श्वनाथ चरित्र मिलते हैं। इनमें से उदयवीर की रचना संस्कृत गद्य में हुई है। महावीर के चरित्र पर १८ सर्गों का सुन्दर संस्कृत काव्य वर्धमान चरित्र (शक ९१) असग कृत पाया जाता है। गुणभद्र कृत उत्तरपुराण में तथा हेमचन्द्र कृत त्रिषष्ठि शलाका पुरुष च. के दसवें पर्व में जो महावीर चरित्र वर्णित है, वह स्वतंत्र प्रतियों में भी पाया और पढ़ा जाता है। सकलकीर्ति कृत वर्धमान पुराण (वि सं० १५१८) १९ सर्गों में है। पद्मनन्दि कायस्थ और वाणीवल्लभ कृत वर्धमान पुराण भी पाये जाते हैं।

जैन तीर्थंकरों के उपर्युक्त चरित्रों में से अधिकांश संस्कृत महाकाव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उनकी विषयात्मक रूप-रेखा का विवरण उनके प्राकृत चरित्रों के प्रकरण में दिया जा चुका है। भाव और शैली में वे उन सब गुणों से संयुक्त पाये जाते हैं जो कालिदास भारवि माघ आदि महाकवियों की कृतियों में पाये जाते हैं, तथा जिनका निरूपण काव्यादर्श आदि साहित्य-शास्त्रों में किया गया है जैसे उनका सर्गबन्ध होना आदि नमस्क्रिया या वस्तुनिर्देश पूर्वक उनका प्रारम्भ किया जाना तथा उनमें नगर, वन पर्वत नदियों तथा ऋतुओं आदि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन जन्म विवाहादि सामाजिक उत्सवों एवं रतों शृंगारात्मक हाव भाव विलासों तथा संपत्ति विपत्ति में व्यक्ति के सुख-दुखों के चढ़ाव-उतार का कलात्मक हृदयग्राही चित्रण का समावेश किया जाना। विशेषता इन काव्यों में इतनी और है कि उनमें यथास्थान धार्मिक उपदेश का भी समावेश किया गया है। तीर्थंकरों के चरित्रों के अतिरिक्त नाना अन्य सामाजिक महापुरुषों व स्त्रियों को चरित्र-चित्रण के नायक-नायिका बनाकर व यथासंभव भाषा शैली व भावों में काव्यत्व की रक्षा करते हुए जो अनेक

रचनायें जैन साहित्य मे पाई जाती हैं, वे कुछ पूर्णरूप से पद्यात्मक हैं, कुछ गद्य और पद्य दोनो के उपयोग सहित चम्पू की शैली के हैं, और कुछ वहुलता से गद्यात्मक हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है —

सोमदेव सूरि कृत **यशस्तिलक चम्पू** (शक ८८१) उत्कृष्ट संस्कृत गद्य-पद्यात्मक रचना है। इसका कथानक गुणभद्र कृत उत्तरपुराण से लिया गया है, और पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश-जसहर चरिउ के परिचय मे दिया जा चुका है। अन्तिम तीन अध्यायो मे गृहस्थ धर्म का सविस्तर निरूपण है, और उपासकाध्ययन के नाम से एक स्वतन्त्र रचना वन गई है। इसी कथानक पर वादिराज सूरि कृत **यशोधर चरित** (१०वी शती) चार सर्गात्मक काव्य, तथा वासवसेन (१३वी शती) सकलकीर्ति (१५वी शती) सोमकीर्ति (१५वी शती) और पद्मनाभ (१६-१७वी शती) कृत काव्य पाये जाते हैं। माणिक्यसूरि (१४वी शती) ने भी यशोधर-चरित संस्कृत पद्य मे रचा है, और अपनी कथा का आधार हरिभद्र कृत कथा को वतलाया है। क्षमाकल्याण ने यशोधर-चरित की कथा को संस्कृत गद्य मे संवत् १८३९ मे लिखा और स्पष्ट कहा है कि यद्यपि इस चारित्र को हरिभद्र मुनीन्द्र ने प्राकृत मे तथा दूसरो ने संस्कृत-पद्य मे लिखा है, किन्तु उनमे जो विपमत्व है, वह न रहे, इसलिये मैं यह रचना गद्य मे करता हू। हरिभद्र कृत प्राकृत यशोधर चरित के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि कर्ता के सम्मुख वह रचना थी, किन्तु आज वह अनुपलभ्य है। हरिचन्द्र कृत **जीवधर चम्पू** (१५वी शती) मे वही कथा काव्यात्मक संस्कृत गद्य-पद्य मे वर्णित है, जो गुणभद्र कृत उत्तरपुराण (पर्व ७५), पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश पुराण (संधि ९८), तथा ओडेयदेव वादीभसिह कृत **गद्यचिन्तामणि** एवं वादीभसिंह कृत **क्षत्रचूडामणि** मे पाई जाती है। इस अन्तिम काव्य के अनेक श्लोक प्रस्तुत रचना मे प्राय ज्यो के त्यो भी पाये जाते हैं। अन्य वातो मे भी इस पर उसकी छाप स्पष्ट दिखाई देती है। क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणि के कर्ता दोनो वादीभसिंह एक ही व्यक्ति हैं या भिन्न, यह अभी तक निश्चयत नही कहा जा सकता। इस सम्वन्ध मे कुछ ध्यान देने योग्य वात यह है कि इसमे कर्ता के नाम के साथ ओडेयदेव का व गुरुपुष्पसेन का उल्लेख नही है। रचनाशैली व शब्द-योजना भी दोनों ग्रंथो की भिन्न है। गद्यचिन्तामणि की भाषा ओजपूर्ण है, जवकि क्षत्र चूडामणि की वहुत सरल, प्रसादगुणयुक्त है, और प्राय प्रत्येक श्लोक के अर्धभाग मे कथानक और द्वितीयार्ध मे नीति का उपदेश रहता है।

विजयकीर्ति के शिष्य शुभचन्द्र कृत **जीवधर-चरित्र** (वि० सं० १५९६) पाया

गया है। यह एक समस्यापूर्ति काव्य है, जिसमें कालिदास कृत मेघदूत की पंक्तियां प्रत्येक पद्य के अन्तचरण में निबद्ध कर ली गई हैं। पार्श्वनाथ पर प्राचीन संस्कृत काव्य जिनसेन कृत (९ वीं शती) पार्श्वाभ्युदय है। इसमें उत्तम काव्य रीति से समस्त मेघदूत के एक-एक या दो-दो चरण प्रत्येक पद्य में समाविष्ट कर लिये गये हैं। पार्श्वनाथ का पूर्ण चरित्र वादिराजकृत (१०२५ ई) पार्श्वनाथ चरित में पाया जाता है। इसी चरित्र पर १३ वीं व १४ वीं शती में दो काव्य लिखे गये एक माणिक्यचन्द्र द्वारा (१२१९ ई) और दूसरा भावदेव सूरि द्वारा (१३५५ ई)। भावदेव कृत चरित का अनुवाद अंग्रेजी में भी हुआ है। १५ वीं शती में सकलकीर्ति ने व १६ वीं शती में पद्मसुन्दर और हेमविजय ने संस्कृत में पार्श्वनाथ चरित्र बनाये। १६ वीं शती में ही श्रीभूषण के शिष्य चन्द्रकीर्ति ने पार्श्वपुराण की रचना की। विनयचन्द्र और उदयवीरगणी कृत पार्श्वनाथ चरित्र मिलते हैं। इनमें से उदयवीर की रचना संस्कृत गद्य में हुई है। महावीर के चरित्र पर १८ सर्गों का सुन्दर संस्कृत काव्य वर्धमान चरित्र (शक ९१) असग कृत पाया जाता है। गुणभद्र कृत उत्तरपुराण में तथा हेमचन्द्र कृत त्रिषष्ठि शलाका पुरुष च के दसवें पर्व में जो महावीर चरित्र वर्णित है, वह स्वतंत्र प्रतियों में भी पाया और पढ़ा जाता है। सकलकीर्ति कृत वर्धमान पुराण (वि सं १५१८) १९ सर्गों में है। पद्मनन्दि केशव और वाणीवल्लभ कृत वर्धमान पुराण भी पाये जाते हैं।

जैन तीर्थंकरों के उपर्युक्त चरित्रों में से अधिकांश संस्कृत महाकाव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उनकी विषयात्मक रूप रेखा का विवरण उनके प्राकृत चरित्रों के प्रकरण में दिया जा चुका है। भाव और शैली में वे उन सब गुणों से संयुक्त पाये जाते हैं जो कालिदास भारवि माघ आदि महाकवियों की कृतियों में पाये जाते हैं तथा जिनका निरूपण काव्यादर्श आदि साहित्य-शास्त्रों में किया गया है जैसे उनका सर्गबद्ध होना आदि नमस्क्रिया या वस्तुनिर्देश पूर्वक उनका आरम्भ किया जाना तथा उनमें नगर, वन पर्वत नदियों तथा ऋतुओं आदि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन जन्म विवाहादि सामाजिक उत्सवों एवं रसों शृंगारात्मक हाव भाव विलासों तथा संपत्ति विपत्ति में व्यक्ति के सुख-दुखों के चढ़ाव-उतार का कलात्मक हृदयग्राही चित्रण का समावेश किया जाना। विशेषता इन काव्यों में इतनी और है कि उनमें यथास्थान धार्मिक उपदेश का भी समावेश किया गया है। तीर्थंकरों के चरित्रों के अतिरिक्त नाना अन्य सामाजिक महापुरुषों व स्त्रियों को चरित्र-चित्रण के नायक-नायिका बनाकर व यथासंभव भाषा शैली व भावों में काव्यत्व की रक्षा करते हुए जो अनेक

रचनायें जैन साहित्य मे पाई जाती हैं, वे कुछ पूर्णरूप से पद्यात्मक हैं, कुछ गद्य और पद्य दोनों के उपयोग सहित चम्पू की शैली के हैं, और कुछ बहुलता से गद्यात्मक हैं, जिनका सक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है —

सोमदेव सूरि कृत **यशस्तिलक चम्पू** (शक ८८१) उत्कृष्ट सस्कृत गद्य-पद्यात्मक रचना है। इसका कथानक गुणभद्र कृत उत्तरपुराण से लिया गया है, और पुष्पदन्त कृत अपभ्रश-जसहर चरिउ के परिचय में दिया जा चुका है। अन्तिम तीन अध्यायो मे गृहस्थ धर्म का सविस्तर निरूपण है, और उपासकाध्ययन के नाम से एक स्वतन्त्र रचना बन गई है। इसी कथानक पर वादिराज सूरि कृत **यशोधर चरित** (१०वीं शती) चार सर्गात्मक काव्य, तथा वासवसेन (१३वीं शती) सकलकीर्ति (१५वी शती) सोमकीर्ति (१५वी शती) और पद्मनाभ (१६-१७वीं शती) कृत काव्य पाये जाते हैं। माणिक्यसूरि (१४वी शती) ने भी यशोधर-चरित सस्कृत पद्य मे रचा है, और अपनी कथा का आधार हरिभद्र कृत कथा को बतलाया है। क्षमाकल्याण ने यशोधर-चरित की कथा को सस्कृत गद्य मे सवत् १८३९ मे लिखा और स्पष्ट कहा है कि यद्यपि इस चारित्र को हरिभद्र मुनीन्द्र ने प्राकृत मे तथा दूसरो ने सस्कृत-पद्य मे लिखा है, किन्तु उनमे जो विषमत्व है, वह न रहे, इसलिये मै यह रचना गद्य मे करता हू। हरिभद्र कृत प्राकृत यशोधर चरित के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि कर्ता के सम्मुख वह रचना थी, किन्तु आज वह अनुपलभ्य है। हरिचन्द्र कृत **जीवधर चम्पू** (१५वीं शती) मे वही कथा काव्यात्मक सस्कृत गद्य-पद्य मे वर्णित है, जो गुणभद्र कृत उत्तरपुराण (पर्व ७५), पुष्पदन्त कृत अपभ्रश पुराण (सधि ९८), तथा ओडेयदेव वादीभसिंह कृत **गद्यचिन्तामणि** एव वादीभसिंह कृत **क्षत्रचूडामणि** मे पाई जाती है। इस अन्तिम काव्य के अनेक श्लोक प्रस्तुत रचना मे प्राय ज्यो के त्यो भी पाये जाते हैं। अन्य बातो मे भी इस पर उसकी छाप स्पष्ट दिखाई देती है। क्षत्रचूडा-मणि और गद्यचिन्तामणि के कर्ता दोनो वादीभसिंह एक ही व्यक्ति हैं या भिन्न, यह अभी तक निश्चयत नही कहा जा सकता। इस सम्बन्ध मे कुछ ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसमे कर्ता के नाम के साथ ओडेयदेव का व गुरुपुष्पसेन का उल्लेख नही है। रचनाशैली व शब्द-योजना भी दोनो ग्रथो की भिन्न है। गद्यचिन्तामणि की भाषा ओजपूर्ण है, जबकि क्षत्र चूडामणि की बहुत सरल, प्रसादगुणयुक्त है, और प्राय प्रत्येक श्लोक के अर्धभाग मे कथानक और द्वितीयार्ध मे नीति का उपदेश रहता है।

विजयकीर्ति के शिष्य शुभचन्द्र कृत **जीवधर-चरित्र** (वि० स० १५९६) पाया

जाता है। देवेन्द्र सूरि के शिष्य श्रीचन्द्र सूरि कृत सनत्कुमार-चरित्र (वि० सं० १२१४) में उन्हीं चक्रवर्ती का चरित्र वर्णित है जिसका उल्लेख उक्त नाम की प्राकृत रचना के सम्बन्ध में किया जा चुका है। इसी नाम का एक और संस्कृत काव्य जिनचन्द्र सूरि के प्रशिष्य तथा जिनपतिसूरि के शिष्य जिनपाल कृत प्रकाश में आ चुका है। मलधारी देवप्रभ कृत मृगावती-चरित्र (१३वीं शती) संस्कृत पद्यात्मक रचना है और उसमें उदयन-वासवदत्ता का कथानक वर्णित है। मृगावती उदयन की माता तथा चेटक की पुत्री थी और महावीर तीर्थंकर की उपासिका थी। उसकी ननद जयन्ती ने तो महावीर से नाना प्रश्न किये थे और अन्त में प्रव्रज्या ले ली थी। जिसका वृत्तान्त भगवती के १२ वें शतक के दूसरे उद्देश में पाया जाता है उक्त कथा के सम्बन्ध से प्रस्तुत ग्रंथ में नाना उपकथाएं वर्णित हैं। मलधारी देवप्रभ पाण्डव-चरित्र के भी कर्ता हैं। जिनपति के शिष्य पूर्णभद्र कृत धन्य-शालिभद्र चरित्र (वि सं १२८५) ६ परिच्छेदों व १४६ श्लोकों में समाप्त हुआ है। इस रचना में कवि को सर्वदेवसूरि ने सहायता की थी। इस काव्य में धन्य और शालिभद्र के चरित्रों का वर्णन किया गया है। धन्य-शालि चरित्र भद्रगुप्त कृत (वि सं १४२८) जिन कीर्ति कृत (१५वी शती) व दयावर्द्धन कृत (१५वीं शती) भी पाये जाते हैं। धर्म कुमार कृत शालिभद्र-चरित्र (१२७७ ई) में ७ सर्ग हैं। कथानक हेमचन्द्र के महावीरचरित्र में से लिया गया है, और काव्य की रीति से छन्द व अलंकारों के वैशिष्ट्य सहित वर्णित है। लेखक की कृति को प्रद्युम्न सूरि ने संशोधित करके उसके काव्य-गुणों को और भी अधिक चमका दिया है। शालिभद्र महावीर तीर्थंकर के समय का राजगृह-निवासी धनी गृहस्थ था जो प्रत्येक बुद्ध हुआ। चन्द्रगच्छीय हरिभद्रसूरि के शिष्य बालचन्द्रसूरि कृत वसन्त-विलास (वि सं १२९६) १४ सर्गों में समाप्त हुआ है, और इसमें गुजरात नरेश वीरधवल के मन्त्री वस्तुपाल का चरित्र वर्णन किया गया है (बड़ौदा १९१७)। इसी के साथ भीतिलकसूरि के शिष्य राजशेखर कृत वस्तुपाल-तेजपाल प्रबन्ध भी प्रकाशित है। वस्तुपाल मन्त्री और उनके भ्राता तेजपाल ने आबू के मन्दिर बनवा कर, तथा अन्य अनेक जैनधर्म के उत्थान सम्बन्धी कार्यों द्वारा अपना नाम जैन सम्प्रदाय में अमर बना लिया है। उक्त रचनाओं के द्वारा उनके चरित्र पर जयचन्द्र के शिष्य जिनहर्ष गणि कृत (वि सं १४९७ प्रका भावनगर, १९७४) तथा वर्तमान सिद्धकवि कीर्तिविजय आदि कृत रचनाएं भी मिलती हैं। इनके अतिरिक्त उनकी संस्कृत प्रशस्तियां जयसिंह, बालचन्द्र नरेन्द्रप्रभ आदि द्वारा रचित मिलती हैं।

जिनेश्वर सूरि के शिष्य चन्द्रतिलक कृत **अभयकुमार-चरित्र** (वि० स० १३१२) नौ सर्गों मे समाप्त हुआ है। कवि के उल्लेखानुसार उन्हें सूरप्रभ ने विद्यानन्द व्याकरण पढ़ाया था। (प्र० भावनगर, १९१७)।

सकलकीर्ति कृत **अभयकुमार-चरित** का भी उल्लेख मिलता है। धनप्रभ सूरि के शिष्य सर्वानन्द सूरि कृत **जगडु-चरित्र** (१३वी शती) ७ सर्गों का काव्य है, जिसमे कुल ३८८ पद्य हैं। इस काव्य का विशेष महत्व यह है कि उसमे वीसलदेव राजा का उल्लेख है, तथा वि० स० १३१२-१५ के गुजरात के भीषण दुर्भिक्ष का वर्णन किया गया है। रचना उस काल के समीप ही निर्मित हुई प्रतीत होती है।

कृष्णर्षि गच्छीय महेन्द्रसूरि के शिष्य जयसिंहसूरि कृत (वि० स० १४२२) **कुमारपाल-चरित्र** १० सर्गों में समाप्त हुआ है, और उसमे उन्ही गुजरात के राजा कुमारपाल का चरित्र व धार्मिक कृत्यो का वर्णन किया गया है, जिन पर हेमचन्द्र ने अपना कुमारपाल चरित नामक द्वयाश्रय प्राकृत काव्य लिखा। सस्कृत मे अन्य कुमारपाल चरित रत्नसिह सूरि के शिष्य चारित्रसुन्दर गणि कृत (वि० स० १४८७), धनरत्नकृत (वि० स० १५३७) तथा सोमबिमल कृत और सोमचन्द्र गणि कृत भी पाये जाते हैं। मेरुतुंग के शिष्य माणिक्यसुन्दर कृत **महीपाल-चरित्र** (१५ वी शती) एक १५ सर्गात्मक काव्य है जिसमे वीरदेवगणी कृत प्राकृत **महिवालकहा** के आधार पर उस ज्ञानी और कलाकुशल महीपाल का चरित्र वर्णन किया गया है, जिसने उज्जैनी से निर्वासित होकर नाना प्रदेशो मे अपनी रत्न-परीक्षा, वस्त्र-परीक्षा व पुरुष-परीक्षा मे निपुणता के चमत्कार दिखा कर धन और यश प्राप्त किया। वृत्तान्त रोचक और शैली सरल, सुन्दर और कलापूर्ण है।

भक्तिलाभ के शिष्य चारुचद कृत **उत्तमकुमार-चरित्र** ६८६ पद्यों का काव्य है, जिसमे एक धार्मिक राजकुमार की नाना साहसपूर्ण घटनाओं और अनेक अवान्तर कथानको का वर्णन है। इसके रचना-काल का निश्चय नही हो सका। इसी विषय की दो और पद्यात्मक रचनायें मिलती हैं। एक सोमसुन्दरसूरि के शिष्य जिनकीर्ति कृत और दुसरी सोमसुन्दर के प्रशिष्य व रत्नशेखर के शिष्य सोममडन गणी कृत। ये आचार्य तपागच्छ के थे। पट्टावली के अनुसार सोमसुन्दर को वि० स० १४५७ मे सूरिपद प्राप्त हुआ था। एक और इसी विषय की काव्यरचना शुभशीलगणी कृत पाई जाती है। चारुचन्द्र कृत **उत्तमकुमार-कथा** का एक गद्यात्मक रूपान्तर भी है। वेबर ने इसका सम्पादन व जर्मन भाषा मे अनुवाद सन् १८८४ मे किया है।

कृष्णर्षि गच्छ के जयसिंहसूरि की शिष्य-परम्परा के नयचन्द्रसूरि (१५ वीं

शती) कृत हम्मीर-काव्य १४ सर्गों में समाप्त हुआ है और उसमें उस हम्मीर वीर का चरित्र वर्णन किया गया है जो सुलतान अलाउद्दीन से युद्ध करता हुआ सन् १३०१ में वीरगति को प्राप्त हुआ। काव्य लिखने का कारण स्वयं कवि ने यह बतलाया है कि तोमर वीरम की सभा में यह कहा गया था कि प्राचीन कवियों के समान काव्य-रचना की शक्ति अब किसी में नहीं है। इसी बात के खंडन के लिये कवि ने शृंगार, वीर और अद्भुत रसों से पूर्ण तथा अमरचन्द्र के सदृश लालित्य व सौंदर्य की भंगिमा से युक्त यह काव्य लिखा। जिनदत्तसूरि के शिष्य अमरचन्द्र सूरि कृत चतुर्विंशति-जिन-चरित पद्मानन्द-काव्य और बाल-भारत का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

ब्रह्मनेमिदत्त कृत श्रीपाल-चरित (सन् १५२८ ई०) में ९ सर्गों में राजकुमारी मदनसुन्दरी के कुष्ट व्याधि से पीड़ित श्रीपाल के साथ विवाह, और सिद्धचक्र विधान के माहात्म्य से उसके निरोग होने की कथा है जिसका परिचय उसी नामके प्राकृत काव्य के संबंध में दिया जा चुका है। श्रीपाल का कथानक जैन समाज में इतना लोकप्रिय हुआ है कि इस पर प्राकृत अपभ्रंश और संस्कृत की कोई १०-४ रचनायें मिलती हैं। (देखिये जिनरत्नकोश डॉ वेलंकर कृत)

मानेन्द्र गच्छीय विजयसेन सूरि के शिष्य उदयप्रभ कृत धर्माभ्युदय चौदह सर्गों का महाकाव्य है, जिसमें गुजरात के राजा वीरधवल के सुप्रसिद्ध मंत्री वस्तुपाल के चरित्र का सुन्दरता से वर्णन किया गया है। सिद्धर्षि कृत उपमितिभव-प्रपंचकथा (९०६ ई०) संस्कृत गद्य की एक अनुपम रचना है, जिसमें भावात्मक संज्ञाओं को मूर्तिमान् स्वरूप देकर धर्मकथा व नाना अवान्तर कथाएं कही गई हैं। उदाहरण के लिये-यहां नगर मनजपुर व निर्मुविपुर है राजा कर्मपरिणाम रानी काल-परिणति साधु सदागम व अन्य व्यक्ति संसारी मिथ्यात्व आदि। इसे पढ़ते हुए अंग्रेजी की वनि बनयन कृत 'पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस' का स्मरण हो आताहै, जिसमें रूपक की रीति से धर्मबुद्धि और उसमें आनेवाली विघ्न-बाधाओं की कथा कही गई है। इस कृति का जैन संसार में बड़ा आदर व प्रचार हुआ और उसके सार रूप अनेक रचनाएं निर्मित हुईं, जैसे वर्धमानसूरि कृत उपमिति-भवप्रपंचा-सार-समुच्चय (११ वीं शती) देवेन्द्रकृत व सारोद्धार (१३ वीं शती) हंसरत्नसूरि कृत सारोद्धार आदि।

संस्कृत गद्यात्मक आख्यानों में धनपाल कृत तिलकमंजरी (९७० ई०) की भाषा व शैली बड़ी ओजस्विनी है। अमरसुन्दर कृत मंत्रकचरित्र बड़ी विलक्षण कथा है। कथानायक मंत्र पीवर्मी है और मंत्र-तंत्र के बल से गोरखा देवी द्वारा

निर्दिष्ट सात दुष्कर कार्य सम्पन्न कर दिखाता, ३२ सुन्दरियो से विवाह करता और अपार धन व राज्य पाता है। अतत उपदेश पाकर वह जैन धर्म मे दीक्षित और प्रवृजित होकर सल्लेखना विधि से मरण करता है। अवड नाम के तान्त्रिक का नाम ओवाइय उपाग मे आता है, किन्तु उक्त कथानक इसी कर्ता की कल्पना है। अमरसुन्दर का नाम वि० स० १४५७ मे सूरिपद प्राप्त करनेवाले सोमसुन्दर गणी के शिष्यो मे आता है, और वहा उन्हें 'सस्कृत-जल्प-पटु' कहा गया है। इस कथानक का जर्मन अनुवाद चार्लस क्राउस ने किया है। यही कथा हर्ष समुद्र वाचक (१६ वी शती) व जयमेरु कृत भी मिलती है।

ज्ञानसागर सूरि कृत रत्नचूड कथा (१५ वी शती) का यद्यपि देवेन्द्रसूरि कृत प्राकृत कथा से नामसाम्य है, तथापि यह कथा उससे सर्वथा भिन्न है। यहा अनीतपुर के अन्यायी राजा और दुर्बुद्धि मत्री का वृत्तान्त है। उस नगरी मे चोरो और धूर्तों के सिवाय कोई धार्मिक व्यक्ति नही रहते। कथा मे नाना उपकथानक भरे हैं। रोहक अपनी विलक्षण बुद्धि द्वारा जैसे दुष्कर कार्य करके दिखलाता है, उनसे पालि की महा-उम्मग्ग जातक मे वर्णित महोसध नामक पुरुष के अद्भुत कारनामो का स्मरण हो आता है। रत्नचूड के विदेश के लिये प्रस्थान करते समय उसके पिता के द्वारा दिये गये उपदेशो मे एक ओर व्यवहारिक चातुरी, और दूसरी ओर अन्धविश्वासो का मिश्रण है। महापुरुष के ३२ चिहृन भी इसमे गिनाये गये हैं।

अघटकुमार-कथा मे जिनकीर्ति कृत चम्पक-श्रेष्ठि-कथानक के सदृश पत्र-विनिमय द्वारा नायक के मृत्यु से बचने की घटना आई है। इसका जर्मन अनुवाद चार्लीस क्राउस ने किया है। इसके दो पद्यात्मक सस्करण भी मिलते हैं, किन्तु किसी के भी कर्ता का नाम नही मिलता, और रचना काल भी अनिश्चित है। यह अनुमानत १५-१६ वी शती की रचना है।

जिनकीर्ति कृत **चम्पकश्रेष्ठिकथानक** (१५ वी शती) का आख्यान सुप्रसिद्ध है। इसमे ठीक समय पर पत्र मिल जाने से सौभाग्यशाली नायक मृत्यु के मुख मे से बच जाता है। कथा के भीतर तीन और सुन्दर उपाख्यान हैं। यह कथा मेरुतुग की प्रबन्ध चिन्तामणि व अन्य कथाकोषो मे भी मिलती है। इसका सम्पादन व प्रकाशन अंग्रेजी मे हर्टेल द्वारा हुआ है। जर्मन अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।

जिनकीर्ति की इसीप्रकार की दूसरी रचना **पाल-गोपालकथानक** है, जिसमें उक्त नाम के दो भ्राताओ के परिभ्रमण व नानाप्रकार के साहसों व प्रलोभनो को पार कर, अन्त मे धार्मिक जीवन व्यतीत करने का रोचक वृत्तान्त है। माणिक्यसुन्दर कृत

महाबल-मलयसुन्दरी कथा (१५ वीं शती) संस्कृत गद्य में लिखी गई है और उपाख्यानों का भंडार है।

जयविजय के शिष्य मानविजय कृत पापबुद्धि-धर्मबुद्धि-कथा का दूसरा नाम कामघट कथा है। इस संस्कृत पद्यात्मक कथानक के रचयिता हीरविजय सूरि द्वारा स्थापित विजयशाखा में हुए प्रतीत होते हैं अतएव उनका काल १६-१७ वीं शती अनुमान किया जा सकता है। इसके कथानायक सिद्धर्षिकृत उपमिति भव प्रपंच कथा के अनुसार भावात्मक व कल्पित हैं। वे क्रमशः राजा और मंत्री हैं। राजा धन और ऐश्वर्य को ही सब कुछ समझता है, और मंत्री धर्म को। अन्ततः मुनि के उपदेश से वे सम्बोधित और प्रव्रजित होते हैं। यह कथानक यथार्थतः कर्ता की बड़ी रचना धर्म-परीक्षा का एक खंडमात्र है। इसका सम्पादन व इटैलियन अनुवाद लोवरिनी ने किया है।

कुछ रचनाएं पृथक् उल्लेखनीय हैं क्योंकि उनमें तीर्थ आदि स्थानों व पुरुषों के सम्बन्ध में कुछ ऐतिहासिक वृत्तान्त भी पाया जाता है जो प्राचीन इतिहास-निर्माण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। ऐसी कुछ कृतियां निम्नप्रकार हैं :—

धनेश्वरसूरि कृत शत्रुंजय-माहात्म्य (७-८ वीं शती) स्वयं कर्ता के अनुसार सौराष्ट्र नरेश शीलादित्य के अनुरोध से वलभी में लिखा गया था। इसमें १४ सर्ग हैं, और वैदिक परम्परा के पुराणों की शैली पर शत्रुंजय तीर्थ का माहात्म्य वर्णन किया गया है। लोक-वर्णन के पश्चात् तीर्थंकर ऋषभ व उनके भरत और बाहुबली पुत्रों का तथा भरत द्वारा मन्दिरों की स्थापना का वृत्तान्त है। ६ वें सर्ग में रामकथा व १ से १२ वें सर्ग तक पांडवों, कृष्ण और नेमिनाथ का चरित्र और १४ वें में पार्श्व और महावीर का चरित्र आया है। यहां भीमसेन के संबंध का बहुत सा वृत्तान्त ऐसा है, जो महाभारत से सर्वथा भिन्न और नवीन है।

प्रभाचन्द्र कृत प्रभावक-चरित्र (१२७७ ई.) में २२ जैन आचार्यों व कवियों के चरित्र वर्णित हैं, जिनमें हरिभद्र, सिद्धर्षि, बप्पभट्टि, मानतुंग, शान्तिसूरि और हेमचन्द्र भी सम्मिलित हैं। इस प्रकार यह हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व की पूरक रचना कही जा सकती है, और ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी है। इस का भी संशोधन प्रद्युम्न सूरि द्वारा किया गया था।

प्रभाचन्द्र के प्रभावक-चरित्र की परम्परा को मेरुतुंग ने अपने प्रबन्ध-चिन्तामणि (१३ ६ ई.) तथा राजशेखर ने प्रबन्धकोश (१३४९ ई.) द्वारा प्रचलित रखा। इनमें बहुभाग तो काल्पनिक है, तथापि कुछ महत्वपूर्ण ऐतिहासिक बातें भी पाई

जाती हैं, विशेषत लेखको के समीपवर्ती काल की। राजशेखर की कृति मे २४ व्यक्तियो के चरित्र वर्णित हैं, जिनमे राजा श्रीहर्ष और आचार्य हेमचन्द्र भी हैं। जिसप्रकार प्रभाचन्द्र, मेरुतुग और राजशेखर के प्रवन्धों मे हमे ऐतिहासिक पुरुषो का चरित्र मिलता है, उसी प्रकार जिनप्रभसूरि कृत **तीर्थकल्प** या **कल्पप्रदीप** और **राज-प्रासाद** (लगभग १३३० ई०) मे जैन तीर्थों के निर्माण, उनके निर्माता व दानदाताओ आदि का वृत्तान्त मिलता है। रचना में सस्कृत व प्राकृत का मिश्रण है।

जैन लघुकथाओ का सग्रह वहुलता से कथा-कोषो में पाया माता है, और उनमे पद्य, गद्य या मिश्ररूप से किसी पुरुप-स्त्री का चरित्र सक्षेप से वर्णित कर, उसके सासारिक सुख-दुखो का कारण उसके स्वय कृत पुण्य-पापो का परिणाम सिद्ध किया गया है। ऐसे कुछ कथाकोष ये हैं —

हरिषेण कृत **कथाकोष** (शक ८५३) सस्कृत पद्यो मे रचा गया है, और उपलभ्य समस्त कथाकोषो मे प्राचीन सिद्ध होता है। इसमे १५७ कथायें हैं जिनमें चाणक्य, शकटाल, भद्रवाहु, वररुचि, स्वामि कार्तिकेय आदि ऐतिहासिक पुरुषो के चरित्र भी हैं। इस कथा के अनुसार भद्रवाहु उज्जैनी के समीप भाद्रपद (भदावर ?) मे ही रहे थे, और उनके दीक्षित शिष्य राजा चन्द्रगुप्त, अपरनाम विशाखाचार्य, सघ सहित दक्षिण के पुन्नाट देश को गये थे। कथाओ मे कुछ नाम व शब्द, जैसे मेदज्ज (मेतार्य), विज्जदाढ (विद्युद्दष्ट्र) प्राकृत रूप मे प्रयुक्त हुए हैं, जिससे अनुमान होता है कि रचयिता कथाओ को किसी प्राकृत कृति के आधार से लिख रहा है। उन्होने स्वय अपने कथाकोष को 'आराधनोद्धृत' कहा है, जिससे अनुमानत भगवती-आराधना का अभिप्राय हो। हरिषेण उसी पुन्नाट गच्छ के थे, जिसके आचार्य जिनसेन, और उन्होने उसी वर्धमानपुर मे अपनी ग्रथ-रचना की थी, जहा हरिवशपुराण की रचना जिनसेन ने शक ७०५ मे की थी। इससे सिद्ध होता है कि वहा पुन्नाट सघ का आठवी शताब्दी तक अच्छा केन्द्र रहा। यह कथाकोष बृहत्कथाकोप के नाम से प्रसिद्ध है। अनुमानत. उसके पीछे रचे जानेवाले कथाकोपो से पृथक् करने के लिये यह विशेपण जोडा गया है।

अमितगति कृत **धर्मपरीक्षा** की शैली का मूल स्रोत यद्यपि हरिभद्र कृत प्राकृत धूर्ताख्यान है, तथापि यहा अनेक छोटे-वडे कथानक सर्वथा स्वतत्र व मौलिक हैं। ग्रथ का मूल उद्देश्य अन्य धर्मों की पौराणिक कथाओ की असत्यता को उनसे अधिक कृत्रिम, असभव व ऊटपटाग आख्यान कह कर सिद्ध करके, सच्चा धार्मिक श्रद्धान उत्पन्न करना है। इनमे धूर्तता और मूर्खता की कथाओ का वाहुल्य है।

प्रभाचन्द्र कृत कथाकोष (११ वीं शती) संस्कृत गद्य में लिखा गया है। इसमें भद्रबाहु-चन्द्रगुप्त के अतिरिक्त समन्तभद्र और अकलंक के चरित्र भी वर्णित हैं। नेमिदत्त कृत आराधना कथाकोष (१६ वीं शती) पद्यात्मक है और प्रभाचन्द्र कृत कथाकोष का कुछ विस्तृत रूपान्तर है। इसी प्रकार का एक अन्य संग्रह रामचन्द्र मुमुक्षु कृत पुण्यास्रव कथाकोष है।

राजशेखर कृत अन्तर्कथा-संग्रह (१४ वीं शती) की कथाओं का संकलन आगम की टीकाओं पर से किया गया है। इसकी ८ कथाएं पुल्ले द्वारा इटालियन भाषा में अनुवादित हुई हैं। इसकी एक कथा का 'जजमेंट आफ सोलोमन' नाम से टैसीटोरी ने अंग्रेजी अनुवाद किया है। (इं० एन्टी० ४२)। उसके साथ नन्दिसूत्र की मलयगिरि टीका की कथा भी है, और बतलाया है कि उक्त कथा का ही यूरोप की कथाओं में रूपान्तर हुआ है।

लक्ष्मीसागर के शिष्य शुभशीलगणी (१५ वीं शती) कृत पंचशती प्रबोध-सम्बन्ध में लगभग ६ धार्मिक कथाएं हैं जिनमें नन्द, सातवाहन, भर्तृहरि, भोज, कुमारपाल, हेमसूरि आदि ऐतिहासिक पुरुषों के चरित्र भी हैं। इसी कर्ता का एक अन्य कथाकोष 'भरतादिकथा' नामक है।

जिनकीर्ति कृत दानकल्पद्रुम (१५ वीं शती) में दान की महिमा बतलाने वाली रोचक और विनोदपूर्ण अनेक लघु कथाओं का संस्कृत पद्यों में संग्रह है। उदय धर्म कृत धर्मकल्पद्रुम (१५ वीं शती) में पद्यात्मक कथाएं हैं।

सम्यक्त्व-कौमुदी लघु कथाओं का एक कोष है। अर्हद्दास सेठ अपनी आठ पत्नियों को सुनाता है कि उसे किसप्रकार सम्यक्त्व प्राप्त हुआ और वे फिर पति को अपने अनुभव सुनाती हैं। इस चौखट्टे के भीतर बहुत से कथानक गूंथे गये हैं। सम्यक्त्व-कौमुदी नामकी अनेक रचनायें उपलब्ध हैं जैसे जयचन्द्रसूरि के शिष्य जिनहर्ष गणी कृत (वि सं० १४८७) गुणाकरसूरि कृत (वि सं १५ ४) मल्लिभूषण कृत (वि सं १५४४ के लगभग) सिंहदत्तसूरि के शिष्य सोमदेवसूरि कृत (वि सं १५७३) धर्मचन्द्र कृत (वि सं १६८ के लगभग) एवं अज्ञात समय की वत्सराज, धर्मकीर्ति, मंगरस, यश:कीर्ति व वादिभूषण कृत।

हेमविजय कृत कथा-रत्नाकर (१६ ई) में २५८ कथानक हैं जिनमें अधिकांश उत्तम गद्य में और कुछ थोड़े से पद्य में वर्णित हैं। जब-तब प्राकृत और अपभ्रंश पद्य भी पाये जाते हैं। इस रचना की विशेषता यह है कि प्राय: आदि अन्त में धार्मिक उपदेश की कमी जोड़नेवाले पद्यों के अतिरिक्त कथाओं में जैनत्व

को उल्लेख नही पाया जाता। कथाए व नीति वाक्य पचतत्र के ढाचे के हैं।

नाटक—

जैन मुनियो के लिये नाटक आदि विनोदो मे भाग लेना निषिद्ध है, और यही कारण है कि जैन साहित्य में नाटक की कृतिया बहुत प्राचीन नही मिलती। पश्चात् जब उक्त मुनि-चर्या का बधन उतना दृढ नही रहा, अथवा गृहस्थ भी साहित्य-रचना में भाग लेने लगे, तब १३ वी शती से कुछ सस्कृत नाटको का सर्जन हुआ, जिनका कुछ परिचय निम्नप्रकार है —

रामचन्द्रसूरि (१३ वी शती) हेमचन्द्र के शिष्य थे। कहा जाता है कि उन्होंने १०० प्रकरणो (नाटको) की रचना की, जिनमे से **निर्भय-भीम-व्यायोग, नलविलास,** और **कौमुदी-मित्रानन्द** प्रकाशित हो चुके हैं। **रघुविलास** नाटक की प्रतिया मिली हैं, तथा **रोहिणीमृगाक** व **बनमाला** के उल्लेख कर्ता की एक अन्य रचना **नाट्यदर्पण** मे मिलते हैं। **निर्भय-भीम-व्यायोग** एक ही अक का है, और इसमे भीम द्वारा बक के वध की कथा है। **नलविलास** १० अको का प्रकरण है, जिसमे नल-दमयन्ती का चरित्र-चित्रण किया गया है। तीसरे नाटक मे नायिका कौमुदी और उसके पति मित्रानन्द सेठ के साहसपूर्ण भ्रमण का कथानक है। यह मालती-माधव के जोड का प्रकरण है।

हस्तिमल्ल कृत (१३वी शती) चार नाटक प्रकाशित हो चुके हैं—**विक्रान्तकौरव, सुभद्रा, मैथिलीकल्याण,** और **अजनापवनजय**। कवि ने प्रस्तावना मे अपना परिचय दिया है, जिसके अनुसार वे वत्सगोत्री ब्राह्मण थे, किन्तु उनके पिता गोविन्द, समन्तभद्र कृत देवागमस्तोत्र (आप्तमीमासा) के प्रभाव से, जैनधर्मी हो गये थे। कवि ने अपने समय के पाण्ड्य राजा का उल्लेख किया है, पर नाम नहीं दिया। इतना ही कहा है कि वे कर्नाटक पर शासन करते थे। प्रथम दो नाटक महाभारत और शेष दो रामायण पर आधारित हैं, तथा कथानक गुणभद्र कृत उत्तरपुराण के चरित्रानुसार है। हस्तिमल्ल के **उदयनराज, भरतराज, अर्जुनराज** और **मेघेश्वर**, इन चार अन्य नाटको के उल्लेख मिलते हैं।

जिनप्रभ सूरि के शिष्य रामभद्र (१३ वीं शती) द्वारा रचित **प्रबुद्ध-रौहिणेय** के छह अको मे नायक की चौर-वृत्ति व उपदेश पाकर धर्म मे दीक्षित होने का वृत्तान्त चित्रित किया गया है। यह नाटक चाहमान (चौहान) नरेश समरसिंह द्वारा निर्मापित ऋषभ जिनालय मे उत्सव के समय खेला गया था।

यशःपाल कृत **मोहराज-पराजय** (१३ वी शती) मे भावात्मक पात्रो के

अतिरिक्त राजा कुमारपाल भी आते हैं। राजा धर्मपरिवर्तन द्वारा जैन धर्म में दीक्षित व कृपासुन्दरी से विवाहित होकर राज्य में अहिंसा की घोषणा तथा निस्संतान व्यक्तियों के मरने पर उनके धन के अपहरण का निषेध कर देता है। राजा का विवाह कराने वाले पुरोहित हेमचन्द्र हैं। यह नाटक शाकंभरी के चौहान राजा अजयदेव के समय में रचा गया है।

वीरसूरि के शिष्य जयसिंह सूरि कृत हम्मीरमदमर्दन के पांच अंकों में राजा वीरधवल द्वारा म्लेच्छ राजा हम्मीर (अमीर-शिकार-सुल्तान शमसुद्दुनिया) की पराजय का और साथ ही वस्तुपाल और तेजपाल मंत्रियों के चरित्र का वर्णन है। इसमें राजनीति का घटनाचक्र मुद्राराक्षस जैसा है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि० सं० १२८६ की मिली है, अतः रचनाकाल इससे कुछ पूर्व का सिद्ध होता है।

पद्मचन्द्र के शिष्य यशश्चन्द्र कृत मुद्रित-कुमुदचन्द्र नाटक में पांच अंक हैं, जिनमें अणहिलपुर में जयसिंह चालुक्य की सभा में (वि सं ११८१) श्वेताम्बराचार्य देवसूरि व दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र के बीच शास्त्रार्थ कराया गया है। वाद के अन्त में कुमुदचन्द्र का मुख मुद्रित हो गया। रचनाकाल का निश्चय नहीं। संभवतः कर्ता के गुरु वे ही पद्मचन्द्र हैं, जिनका नाम लघु पट्टावली (पट्टावली-समुच्चय पृ २४) में आया है, और जिनका समय अनुमानतः १४ १५ वी शती है।

मुनिसुन्दर के शिष्य रत्नशेखर सूरि कृत प्रबोध चन्द्रोदय नाटक में भावात्मक पात्रों द्वारा चित्रण किया गया है। यह इसी नामके कृष्ण मिश्र रचित नाटक (११ वीं शती) का अनुकरण प्रतीत होता है इसमें प्रबोध विद्या विवेक आदि नामक पात्र उपस्थित किये गये हैं।

मेघप्रभाचार्य कृत धर्माभ्युदय स्वयं कर्ता के उल्लेखानुसार एक छाया नाट्य प्रबन्ध है, जो पार्श्वनाथ जिनालय में महोत्सव के समय खेला गया था। इसमें दशार्णभद्र मुनि का वृत्तान्त चित्रित किया गया है। इसका जर्मन भाषा में भी अनुवाद हुआ है।

हरिभद्र के शिष्य बालचन्द्र कृत करुणावज्रायुध नाटक में वज्रायुध नृप द्वारा श्येन को अपने शरीर का मांस देकर कपोत की रक्षा करने की कथा चित्रित है, जैसा कि हिन्दू पुराणों में राजा शिबि की कथा में पाया जाता है।

साहित्य-शास्त्र —

साहित्य के आनुषंगिक शास्त्र हैं व्याकरण छंद और कोश। जैन परम्परा में इन शास्त्रों पर भी महत्वपूर्ण रचनाएं पाई जाती हैं।

व्याकरण-प्राकृत —

महर्षि पतजलि ने अपने महाभाष्य मे यह प्रश्न उठाया है कि जब लोक-प्रचलित भाषा का ज्ञान लोक से स्वयं प्राप्त हो जाता है, तब उसके लिये शब्दानुशासन लिखने की क्या आवश्यकता ? इस प्रश्न के उत्तर मे उन्होने बतलाया है कि बिना शब्दानुशासन के शब्द और अपशब्द मे भेद स्पष्टत समझ मे नही आता, और इसके लिये शब्दानुशासन शास्त्र की आवश्यकता है। जैन साहित्य का निर्माण आदित जनभाषा मे हुआ, और बहुत काल तक उसके अनुशासन के लिये स्वभावत किसी व्याकरण शास्त्र की आवश्यकता प्रतीत नही हुई। साहित्य मे वचन-प्रयोगो के लिये इतना ही पर्याप्त था कि वैसे प्रयोग लोक मे प्रचलित हो। धीरे-धीरे जब एक ओर बहुतसा साहित्य निर्माण हो गया, और दूसरी ओर नाना देशो मे प्रचलित नाना प्रकार के प्रयोग सम्मुख आये, तथा कालानुक्रम से भी प्रयोगो मे भेद पडता दिखाई देने लगा, तब उसके अनुशासन की आवश्यकता प्रतीत हुई।

प्राकृत के उपलभ्य व्याकरणो मे चड (चन्द्र) कृत **प्राकृत-लक्षण** सर्व-प्राचीन सिद्ध होता है। इसका सम्पादन रॉडल्फ हार्नले साहब ने करके बिबलिओथिका-इडिका मे १८८० ई० मे छपाया था, और उसे एक जैन लेखक की कृति सिद्ध किया था। तथापि कुछ लोगो ने इसके सूत्रो को वाल्मीकि कृत माना है, जो स्पष्टत असम्भव है। ग्रन्थ के आदि मे जो वीर (महावीर) तीर्थंकर को प्रणाम किया गया है, व वृत्तिगत उदाहरणो मे अर्हन्त (सू० ४६ व २४), जिनवर (सू० ४८), का उल्लेख आया है, उससे यह नि सदेह जैन कृति सिद्ध होती है। ग्रन्थ के सूत्रकार और वृत्तिकार अलग-अलग हैं, इसके कोई प्रमाण नही। मगलाचरण में जो वृद्धमत के आश्रय से प्राकृत व्याकरण के निर्माण की सूचना दी गई है, उससे यह अभिप्राय निकालना कि सूत्रकार और वृत्तिकार भिन्न-भिन्न हैं, सर्वथा निराधार है। अधिक से अधिक उसका इतना ही अभिप्राय प्रतीत होता है कि प्रस्तुत रचना के समय भी सूत्रकार के सम्मुख कोई प्राकृत व्याकरण अथवा व्याकरणात्मक मतमतान्तर थे, जिनमे से कर्ता ने अपने नियमो मे प्राचीनतम प्रणाली की रक्षा करने का प्रयत्न किया है।

यद्यपि **प्राकृत-लक्षण** के रचना-काल संबधी कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नही है, तथापि ग्रथ के अन्त परीक्षण से उसका कुछ अनुमान किया जा सकता है। इसमे कुल सूत्रो की सख्या ९९ या १०३ है, और इस प्रकार यह उपलभ्य व्याकरणो मे सक्षिप्ततम है। प्राकृत सामान्य का जो निरूपण यहा पाया जाता है, वह अशोक की धर्मलिपियो की भाषा और वररुचि द्वारा '**प्राकृत-प्रकाश**' में वर्णित प्राकृत के बीच का

प्रतीत होता है। यह अधिकांश अश्वघोष व अंशतः भास के नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतों से मिलता हुआ पाया जाता है, क्योंकि इसमें मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों की बहुलता से रक्षा की गई है, और उनमें से प्रथम वर्णों में केवल क व तृतीय वर्णों में ग के लोप का एक सूत्र में विधान किया गया है, और इस प्रकार च ट त प वर्णों की शब्द के मध्य में भी रक्षा की प्रवृत्ति सूचित की गई है। इस आधार पर प्राकृतलक्षण का रचना-काल ईसा की दूसरी-तीसरी शती अनुमान करना अनुचित नहीं।

प्राकृत-लक्षण ४ पादों में विभक्त है। आदि में प्राकृत शब्दों के तीन रूप सूचित किये गये हैं तद्भव तत्सम और देशी तथा संस्कृतवत् तीनों लिंगों और विभक्तियों का विधान किया गया है। तत्पश्चात् इसमें व्यत्यय की चौथे सूत्र में सूचना करके प्रथम पाद के अन्तिम ३५ वें सूत्र तक संज्ञाओं और सर्वनामों के विभक्ति रूपों का विधान किया गया है। इनमें अद् और इदम् के षष्ठी का रूप 'से' और अहम् का कर्ता कारक 'हुं' ध्यान देने योग्य है। जैसा कि हम जानते हैं हुं अपभ्रंश भाषा का विशेष रूप माना जाता है, किन्तु सूत्रकार के समय में इसका प्रयोग तो प्रचलित हो गया था फिर भी वह अभी तक अपभ्रंश का विशेष लक्षण नहीं बना था। द्वितीय पाद के २९ सूत्रों में प्राकृत में स्वर-परिवर्तनों शब्दादेशों व अव्ययों का वर्णन किया गया है। यहां यो का यावी आदेश व पूर्वकालिक रूपों के लिये केवल तु, ता च्च ट्टु तु, तूण ओ और प्पि विभक्तियों का विधान किया गया है। तूण त्तूण व य का यहां निर्देश नहीं है। तीसरे पाद के ३५ सूत्रों में व्यंजनों के विपरिवर्तनों का विधान है। इनमें ध्यान देने योग्य नियम है—प्रथम वर्ण के स्थान में तृतीय का आदेश जैसे एकं=एगं पिशाची=बिसाजी कृतं=कदं प्रतिसिद्धं=पडिसिद्धं। पाद के अन्तिम सूत्र में कह दिया गया है कि शिष्टप्रयोगात् व्यवस्था अर्थात् शेष व्यवस्थाएं शिष्ट प्रयोगानुसार समझनी चाहिये। इस पाद के अन्त में सूत्रों की संख्या ९९ पूर्ण हो जाती है, और हार्नले साहब द्वारा निर्दिष्ट एक प्राचीन प्रति के आदि में ग्रन्थ में ९९ सूत्रों की ही सूचना मिलती है। सम्भव है मूल व्याकरण यहीं समाप्त हुआ हो। किन्तु अन्य प्रतियों में ४ सूत्रात्मक चतुर्थ पाद भी मिलता है, जिसके एक-एक सूत्र में क्रमशः अपभ्रंश का लक्षण अधोरेफ का लोप न होना पैशाची में र् और ण् के स्थान पर ल् और न् का आदेश मागधिका में र् और स् के स्थान पर ल् और श् आदेश तथा शौरसेनी में त् के स्थान पर विकल्प से द् का आदेश बतलाया गया है। प्राकृत-लक्षण का पूर्वोक्त स्वरूप निश्चयतः उसके विस्तार, रचना व भाषा-स्वरूप की दृष्टि से उसे उपलभ्य समस्त प्राकृत व्याकरणों में प्राचीनतम सिद्ध

करता है। इस व्याकरण का आगामी समस्त प्राकृत व्याकरणो पर बडा गभीर प्रभाव पडा है, और रचनाशैली व विषयानुक्रम मे वहा इसी का अनुसरण किया गया है। चड ने प्राकृत व्याकरणकारो के लिये मानो एक आदर्श उपस्थित कर दिया। वररुचि, हेमचन्द्र आदि व्याकरणकारो ने जो सस्कृतभाषा मे प्राकृत व्याकरण लिखे, आदि में प्राकृत के सामान्य लक्षण दिये, और अन्त मे शौरसैनी आदि विशेष प्राकृतो के एक-एक के विशेष लक्षण बतलाये, वह सब चड का ही अनुकरण है। हेमचन्द्र ने तो चड के ही अनुसार अपने व्याकरण को चार पादो मे ही विभक्त किया है, और चूलिका पैशाची को छोड शेष उन्ही चार प्राकृतो का व्याख्यान किया है, जिनका चड ने किया, और चड के समान स्वय सूत्रो की वृत्ति भी लिखी।

प्राकृत-लक्षण के पश्चात् दीर्घकाल तक का कोई जैन प्राकृत व्याकरण नही मिलता। समन्तभद्र कृत प्राकृत व्याकरण का उल्लेख मिलता है, किन्तु यह ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नही हो सका। समन्तभद्र की एक व्याकरणात्मक रचना का उल्लेख देवनदि पूज्यपाद कृत जैनेन्द्र व्याकरण मे भी पाया जाता है, जिससे उनके किसी सस्कृत व्याकरण का अस्तित्व सिद्ध होता है। आश्चर्य नही जो समन्तभद्र ने ऐसा कोई व्याकरण लिखा हो, जिसमे क्रमश सस्कृत और प्राकृत दोनो भाषाओ का अनुशासन किया गया हो, जैसा कि आगे चलकर हेमचन्द्र की कृति मे पाया जाता है।

हेमचन्द्र (१२ वी शती) ने **शब्दानुशासन** नामक व्याकरण लिखा, जिसके प्रथम सात अध्यायो मे सस्कृत, तथा आठवें अध्याय मे प्राकृत व्याकरण का निरूपण किया गया है। यह व्याकरण उपलभ्य समस्त प्राकृत व्याकरणो मे सबसे अधिक पूर्ण और सुव्यवस्थित स्वीकार किया गया है। इसके चार पाद हैं। प्रथम पाद के २७१ सूत्रो मे सधि, व्यजनान्त शब्द, अनुस्वार, लिंग, विसर्ग, स्वर-व्यत्यय और व्यजन-व्यत्यय, इनका क्रमसे निरूपण किया गया है। द्वितीय पाद के २१८ सूत्रो मे सयुक्त व्यजनो के विपरिवर्तन, समीकरण, स्वरभक्ति, वर्ण-विपर्यय, शब्दादेश तद्धित, निपात और अव्यय, एव तृतीय पाद के १८२ सूत्रो मे कारक-विभक्तियो तथा क्रिया-रचना सबधी नियम बतलाये गये हैं। चौथे पाद मे ४४८ सूत्र हैं, जिनमे से प्रथम २५९ सूत्रो मे धात्वादेश और फिर शेष मे क्रमश शौरसैनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रश भाषाओ के विशेष लक्षण बतलाये गये हैं। अन्त के २ सूत्रो मे यह भी कह दिया गया है कि प्राकृतो मे उक्त लक्षणो का व्यत्यय भी पाया जाता है, तथा जो बात यहा नही बतलाई गई, वह सस्कृतवत् सिद्ध समझनी चाहिये। सूत्रो के अतिरिक्त उसकी वृत्ति भी स्वय हेमचन्द्र कृत ही है, और इसके द्वारा उन्होंने सूत्रगत लक्षणों को

बड़ी विशदता से उदाहरण दे-देकर समझाया है। आदि के प्रास्ताविक सूत्र अथ प्राकृतम् की वृत्ति विशेष महत्वपूर्ण है। इसमें ग्रन्थकार ने प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति यह दी है कि प्रकृति संस्कृत है, और उससे उत्पन्न व आगत प्राकृत। स्पष्टतः यहां उनका अभिप्राय यह है कि प्राकृत शब्दों का अनुशासन संस्कृत के रूपों को आदर्श मानकर किया गया है। उन्होंने यहां प्राकृत के तत्सम तद्भव व देशी इन तीन प्रकार के शब्दों को भी सूचित किया है, और उनमें से संस्कृत और देश्य को छोड़कर तद्भव शब्दों की सिद्धि इस व्याकरण के द्वारा बतलाने की प्रतिज्ञा की है। उन्होंने तृतीय सूत्र में व अन्य अनेक सूत्रों की वृत्ति में आर्ष प्राकृत का उल्लेख किया है और उसके उदाहरण भी दिये हैं। आर्ष से उनका अभिप्राय उस अर्द्धमागधी प्राकृत से है जिसमें जैन आगम लिखे गये हैं।

हेमचन्द्र से पूर्वकालीन चंडकृत प्राकृत-लक्षण और वररुचि कृत प्राकृत प्रकाश नामक व्याकरणों से हेमव्याकरण का मिलान करने पर दोनों की रचनाशैली व विषयक्रम प्रायः एकसा ही पाया जाता है। तथापि 'हैम' व्याकरण में प्रायः सभी प्रक्रियाएं अधिक विस्तार से बतलाई गई हैं और उनमें अनेक नई विधियों का समावेश किया गया है, जो स्वाभाविक है क्योंकि हेमचन्द्र के सम्मुख वररुचि की अपेक्षा लगभग पांच-छह शतियों का भाषात्मक विकास और साहित्य उपस्थित था जिसका उन्होंने पूरा उपयोग किया है। चूलिका-पैशाची और अपभ्रंश का उल्लेख वररुचि ने नहीं किया। हेमचन्द्र ने इन प्राकृतों के भी लक्षण बतलाये हैं तथा अपभ्रंश भाषा का निरूपण अन्तिम ११८ सूत्रों में बड़े विस्तार से किया है और इससे भी बड़ी विशेषता यह है कि इन नियमों के उदाहरणों में उन्होंने अपभ्रंश के पूरे पद्य उद्धृत किये हैं, जिनसे उस काल तक के अपभ्रंश साहित्य का भी अनुमान किया जा सकता है।

हेमचन्द्र के पश्चात् त्रिविक्रम श्रुतसागर और शुभचन्द्र द्वारा लिखित प्राकृत व्याकरण पाये जाते हैं। किन्तु ये सब रचना शैली व विषय की अपेक्षा हेमचन्द्र से आगे नहीं बढ़ सके। अपभ्रंश का निरूपण तो उतनी पूर्णता से कोई भी नहीं कर पाया। हां उदाहरणों की अपेक्षा त्रिविक्रम कृत व्याकरण में कुछ मौलिकता पाई जाती है।

व्याकरण-संस्कृत—

जैन साहित्य में उपलभ्य संस्कृत व्याकरणों में सबसे अधिक प्राचीन जैनेन्द्र व्याकरण है, जिसके कर्ता देवनन्दि पूज्यपाद कदम्बवंशी राजा दुर्विनीत के समकालीन

अतएव ५ वी-६ वी शती में हुए सिद्ध होते हैं। यह व्याकरण पाच अध्यायो मे विभक्त है, और इस कारण पचाध्यायी भी कहलाता है। इसमे एकशेष प्रकरण न होने के कारण, कुछ लेखको ने उसका **अनेकशेष व्याकरण** नाम से भी उल्लेख किया है। पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि, अकलककृत तत्वार्थराजवार्तिक और विद्यानन्दि-कृत श्लोकवार्तिक मे इस व्याकरण के सूत्र उल्लिखित पाये जाते हैं। प्रत्येक अध्याय चार पादो मे विभक्त है, जिनमे कुल मिलाकर ३००० सूत्र पाये जाते हैं। इसकी रचना-शैली और विषयक्रम पाणिनि की अष्टाध्यायी व्याकरण के ही समान है। जिस प्रकार पाणिनि ने **पूर्वत्रासिद्धम्** सूत्र द्वारा अपने व्याकरण को सपाद-सप्ताध्यायी और त्रिपादी, इन दो भागो मे विभक्त किया है, उसी प्रकार उसी सूत्र (५-३-२७) के द्वारा यह व्याकरण भी **सार्धद्विपाद-चतुराध्यायी** और **सार्धैकपादी** मे विभाजित पाई जाती है। तथापि इस व्याकरण मे अपनी भी अनेक विशेषताए हैं। इसमे वैदिकी और स्वर प्रकिया इन दो प्रकरणो को छोड दिया गया है। परन्तु पाणिनि के सूत्रो मे जो अपूर्णता थी, और जिसकी पूर्ति कात्यायन व पतजलि ने वार्तिको व भाष्य द्वारा की थी उसकी यहा सूत्रपाठ मे पूर्ति कर दी गई है। अनेक सज्ञाए भी नयी प्रविष्ट की गई हैं, जैसे पाणिनीय व्याकरण की प्रथमा, द्वितीया आदि कारक-विभक्तियो के लिये यहा वा, इप् आदि, निष्ठा के लिये त, आमनेपद के लिये द, प्रगृह्यके लिये दि, उत्तरपद के लिये द्य आदि एक ध्वन्यात्मक नाम नियत किये गये हैं। इन बीजाक्षरो द्वारा सूत्रो मे अल्पाक्षरता तो अवश्य आ गई है, किन्तु साथ ही उनके समझने मे कठिनाई भी वढगई है।

जैनेन्द्र व्याकरण पर स्वभावत बहुत सा **टीका-साहित्य** रचा गया। श्रुतकीर्ति कृत **पचवस्तु-प्रक्रिया** (१३ वी शती) के अनुसार यह व्याकरण रूपी प्रासाद सूत्ररूपी स्तभो पर खडा है, **न्यास** इसकी रत्नमय भूमि है, **वृत्ति** रूप उसके कपाट हैं, **भाष्य** इसका शय्यातल हैं, और **टीकायें** इसके माले (मजिलें) हैं, जिनपर चढने के लिये यह पचवस्तुक रूपी सोपन-पथ निर्मित किया जाता है। पंचवस्तु-प्रक्रिया के अतिरिक्त इस व्याकरण पर अभयनन्दि कृत **महावृत्ति** (८ वी शती), प्रभचन्द कृत **शब्दाम्भोज-भास्कर** न्यास (११ वी शती), और नेमिचन्द्रकृत **प्रक्रियावतार** पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त और कोई टीका-ग्रथ इस पर नही मिलते, किन्तु भाष्य और प्राचीन टीकाए होना अवश्य चाहिये। महाचन्द्रकृत **लघुजैनेन्द्र**, वशीधर कृत **जैनेन्द्र-प्रक्रिया** व प० राजकुमार कृत **जैनेन्द्रलघुवृत्ति** हाल ही की कृतिया हैं। उपलम्य टीकाओ मे अभय-नन्दि कृत **महावृत्ति** बारह हजार श्लोक-प्रमाण हैं, और बहुत महत्वपूर्ण हैं। उसमें

अनेक नये उदाहरण पाये जाते हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। इनमें शालिभद्र समन्तभद्र सिंहनन्दि व सिद्धसेन अभयकुमार, श्रेणिक आदि नामों का समावेश करके ग्रन्थ में जैन वातावरण निर्माण कर दिया गया है। उन्होंने श्रीदत्त का नाम जो सूत्र में भी आया है बारंबार इस प्रकार लिया है जिससे वे उनसे पूर्व के कोई महान् और सुविख्यात वैयाकरण प्रतीत होते हैं। विद्यानन्दि ने अपने तत्वार्थ श्लोक-वार्तिक में श्रीदत्त कृत जल्पनिर्णय का उल्लेख किया है जिसमें जल्प के दो प्रकार बतलाये गये थे। जिनसेन ने आदिपुराण में भी उन्हें 'तपःश्रीदीप्तमूर्ति' व 'वादीभकण्ठीरव' कहकर नमस्कार किया है।

जैनेन्द्र व्याकरण का परिवर्धित रूप गुणनन्दि कृत शब्दार्णव में पाया जाता है, जिसमें १७ सूत्र अर्थात् मूल से ७० अधिक सूत्र हैं। जैनेन्द्र सूत्रों में जो अनेक कमियां थीं उनकी पूर्ति अभयनन्दि ने अपनी महावृत्ति के वार्तिकों द्वारा की। गुणनन्दि ने अपने संस्करण में उन सब के भी सूत्र बनाकर जैनेन्द्र व्याकरण को अपने काल तक के लिये अपने-आप में पूर्ण कर दिया है। यहां वह एकशेष प्रकरण भी जोड़ दिया गया है, जिसके अभाव के कारण चन्द्रिका टीका के कर्ता ने मूल ग्रंथ को 'अनेकशेष व्याकरण' कहा है। यद्यपि गुणनन्दि नाम के बहुत से मुनि हुए हैं तथापि शब्दार्णव के कर्ता वे ही गुणनन्दि प्रतीत होते हैं जो श्रवण बेल्गोल के अनेक शिलालेखों के अनुसार बलाकपिच्छ के शिष्य तथा गृध्रपिच्छ के प्रशिष्य थे एवं तर्क व्याकरण और साहित्य के महान् विद्वान थे। वादिराजसूरि ने अपने पार्श्व-चरित में इनका स्मरण किया है। आदिपंप के गुरु देवेन्द्र इनके शिष्य थे। इनका समय कर्णाटक-कवि-चरित के अनुसार वि सं ९५७ ठीक प्रतीत होता है।

शब्दार्णव की अभी तक दो टीकायें प्राप्त हुई हैं—एक सोमदेव मुनि कृत शब्दार्णव-चन्द्रिका है जो शक सं ११२७ में शिलाहार वंशीय राजा भोजदेव द्वि के काल के अर्जुरिका नामक ग्राम के जिन मन्दिर में लिखी गई थी। लेखक के कथनानुसार उन्होंने इसे मेघचन्द्र के शिष्य नागचन्द्र (भुजंगसुधाकर) और उनके शिष्य हरिचन्द्र यति के लिये रचा था।

दूसरी टीका शब्दार्णव-प्रक्रिया है, जो भ्रम-वश जैनेन्द्रप्रक्रिया के नाम से प्रकाशित हुई है। इसमें कर्ता ने अपना नाम प्रकट नहीं किया किन्तु अपने को श्रुतकीर्तिदेव का शिष्य सूचित किया है। अनुमानतः ये श्रुतकीर्ति वे ही हैं जिनकी श्रवणबेल्गोला के १ ८ वें शिलालेख में बड़ी प्रशंसा की गई है, और जिनका समय वि सं ११८ माना गया है। अनुमानतः इनके शिष्य चारुकीर्ति पंडिताचार्य ही शब्दार्णव-प्रक्रिया के

कर्ता हैं। उपर्युक्त पचवस्तुप्रक्रिया के कर्ता श्रुतकीर्ति भी इस कर्ता के गुरु हो सकते हैं। इसमे प० नाथूराम जी प्रेमी ने केवल यह आपत्ति प्रकट की है कि प्रस्तुत प्रक्रिया के कर्ता ने अपने गुरु को कविपति बतलाया है, व्याकरणज्ञ नही। किन्तु यह कोई बडी आपत्ति नही।

देवनन्दि के पश्चात् दूसरे सस्कृत के महान् जैन वैयाकरण शाकटायन हुए जिन्होंने **शब्दानुशासन** की रचना राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के समय मे की, और जिसका रचना-काल शक स० ७३६ व ७८६ के बीच सिद्ध होता है। एक टीकाकार तथा पार्श्वनाथचरित के कर्ता वादिचन्द्र ने इस व्याकरण के कर्ता का पाल्यकीर्ति नाम भी सूचित किया है। यह नाम उन्होंने सभवत इस कारण लिया जिससे पाणिनि द्वारा स्मृत प्राचीन वैयाकरण शाकटायन से भ्रान्ति न हो। इस शब्दानुशासन मे कर्ता ने उन सब कमियो व त्रुटियो की पूर्ति कर दी है, जो मूल जैनेन्द्रव्याकरण मे पाई जाती थी। अनेक बातें यहा मौलिक भी हैं। उदाहरणार्थ, आदि मे ही इसके प्रत्याहार सूत्र पाणिनीय-परम्परा से कुछ भिन्न हैं। ऋलृक् के स्थान पर केवल ऋक् पाठ है, क्योकि ऋ और लृ मे अभेद स्वीकार किया गया है। हयवरट् और लण् को मिलाकर, व् ट् को हटाकर यहा एक सूत्र बना दिया गया है, तथा उपान्त्य सूत्र श ष स र् मे विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का भी समावेश कर दिया गया है, इत्यादि। जैनेन्द्र-सूत्र व महावृत्ति में 'प्रत्याहार' सूत्र पाणिनीय ही स्वीकार करके चला गया है, किन्तु जैनेन्द्र परम्परा की शब्दार्णवचन्द्रिका मे ये शाकटायन 'प्रत्याहार' सूत्र स्वीकार किये गये हैं। जैनेन्द्र का टीकासाहित्य शाकटायन की कृति से बहुत उपकृत हुआ पाया जाता है, और जान पडता है इस अधिक पूर्ण व्याकरण के होते हुए भी उन्होंने जैनेन्द्र की परम्परा को अक्षुण्ण रखने के हेतु उसे इस आधार से अपने कालतक सपूर्ण बनाना आवश्यक समझा है।

शाकटायन ने स्वय अपने सूत्रो पर वृत्ति भी लिखी है, जिसे उन्होने अपने समकालीन अमोघवर्ष के नामसे **अमोघवृत्ति** कहा है। इस वृत्ति का प्रमाण १८००० श्लोक माना गया है। इसका ६००० श्लोक प्रमाण सक्षिप्त रूप यक्षवर्मा कृत **चिन्तामणि** नामक लघीयसीवृत्ति मे मिलता है। इसके विषय मे कर्ता ने स्वय यह दावा किया है कि इन्द्र, चन्द्रादि-शाब्दो ने जो भी शब्द का लक्षण कहा है, वह सब इसमे है, और जो यहा नही है, वह कही भी नही। इसमें गणपाठ, धातुपाठ, लिगानुशासन, उणादि आदि नि शेष प्रकरण हैं। इस नि शेष विशेषण द्वारा सभवत उन्होंने अनेकशेष जैनेन्द्र व्याकरण की अपूर्णता की ओर सकेत किया है। यक्षवर्मा का यह भी दावा है कि

उनकी इस वृत्ति के अभ्यास से बालक व अबला जन भी निश्चय से एक वर्ष में समस्त वाङ्मय के वेत्ता बन सकते हैं। इस चिन्तामणि वृत्ति पर अजितसेन कृत मणिप्रकाशिका नामक टीका है। मूल सूत्रों पर लघुकौमुदी के समान एक छोटी टीका दयापाल मुनि कृत रूपसिद्धि है। कर्ता के गुरु मतिसागर पार्श्वनाथ-चरित्र के कर्ता वादिराज सूरि के समसामयिक होने से ११ वी शती के सिद्ध होते हैं। एक सिद्धान्त कौमुदी के ढंग की 'प्रक्रिया-संग्रह' अभयचन्द्र कृत प्रकाश में आ चुकी है (बम्बई १९०७)। एक और टीका है वादिपर्वतवज्र भावसेन त्रैविद्यदेवकृत शाकटायन टीका। इसके कर्ता अनुमानतः वे ही हैं जिन्होंने कातंत्र की रूपमाला नामक टीका लिखी है तथा जिनका एक विश्वतत्त्वप्रकाश नामक ग्रन्थ भी पाया जाता है। अमोघवृत्ति पर प्रभाचन्द्र कृत न्यास भी है, किन्तु अभी तक इसके केवल दो अध्याय प्राप्त हुए हैं। सार्वभौम धातुवृत्ति में इसके तथा समन्तभद्रकृत चिन्तामणि-विषमपद-टीका के अवतरण मिलते हैं। एक और मंगरसकृत प्रतिपद नामक टीका के भी उल्लेख मिलते हैं।

एक तीसरी व्याकरण-परम्परा सर्ववर्माकृत कातंत्र व्याकरण सूत्र से प्रारंभ हुई पाई जाती है। इसके रचनाकाल का निश्चय नहीं। किन्तु है यह अति प्राचीन और शाकटायन से भी पूर्व की है, क्योंकि इसकी टीकाओं की परम्परा दुर्गसिंह से प्रारंभ होती है जो लगभग ८ ई० में हुए माने जाते हैं। कच्चायन पालि-व्याकरण की रचना में कातंत्र का उपयोग किया गया है। इसकी रचना में नाना विशेषताएं हैं, और परिभाषाओं में भी यह पाणिनि से बहुत कुछ स्वतंत्र है। इसकी सूत्र-संख्या १४ से कुछ अधिक है। दुर्गसिंह की वृत्ति पर त्रिलोचनदास कृत वृत्ति विवरण पंजिका और उस पर जिनेश्वर के शिष्य जिनप्रबोध कृत 'वृत्तिविवरणपंजिका-दुर्गपद प्रबोध' (वि० सं० १३३१ से पूर्व) पाये जाते हैं। अन्य उपलब्ध टीकायें हैं धुंक के पुत्र महादेव कृत शब्दसिद्धि वृत्ति (वि० सं० १३४ से पूर्व) महेन्द्रप्रभ के शिष्य मेरुतुंगसूरि कृत बालबोध (वि० सं० १४४४) वर्धमान कृत विस्तार (वि० सं० १४५८ से पूर्व) भावसेन त्रैविद्यकृत रूपमाला-वृत्ति बालहृष्णकृत चतुष्कवृत्ति मोक्षेश्वर कृत आख्यात-वृत्ति व पृथ्वीचन्द्रसूरि कृत वृत्ति। एक 'कालापक-विशेष-व्याख्यान' भी मिलता है जिससे मूलग्रन्थ का नाम कालापक भी प्रतीत होता है। एक पद्यात्मक टीका ११ श्लोक प्रमाण कौमार-समुच्चय नाम की भी है। कातंत्र-विभ्रम और विद्यानन्दसूरिकृत कातन्त्रोत्तर नामक टीकायें भी पाई गई हैं और कुछ अन्य भी जिनमें कर्त्ता का नाम नहीं। इन कृतियों में कुछ के कर्त्ता अजैन विद्वान् भी प्रतीत होते हैं। इन सब रचनाओं से इस व्याकरण का अच्छा प्रचार रहा सिद्ध होता है। इसका

एक कारण यह भी है कि यह जैनेन्द्र व शाकटायन की अपेक्षा बहुत सक्षिप्त है।

चौथे महान् जैन वैयाकरण हैं हेमचन्द्र, जिनका शब्दानुशासन अपनी सर्वांग परिपूर्णता व नाना विशेषताओ की दृष्टि से अद्वितीय पाया जाता है। इसकी रचना उन्होने गुजरात के चालुक्यवशी राजा सिद्धराज जयसिंह के प्रोत्साहन से की थी, और उसी के उपलक्ष्य मे उन्होने उसका नाम सिद्ध-हैम-शब्दानुशासन रखा। सिद्धराज का राज्यकाल वि० स० ११५१ से ११९९ तक पाया जाता है, और यही इस रचना की कालावधि है। हैम शब्दानुशासन पाणिनि के अष्टाध्यायी के समान ४-४ पादो वाले आठ अध्यायो मे लिखा गया है। आठवा अध्याय प्राकृत-व्याकरण विषयक है, जिसका परिचय ऊपर दिया जा चुका है। प्रथम सात अध्यायो मे सस्कृत व्याकरण सबधी ३५६६ सूत्र हैं, जिनमे क्रमश सज्ञा, सधि, कारक, समास, आख्यात, कृदन्त और तद्धित का प्ररूपण किया गया है। सूत्रो के साथ अपने गणपाठ, धातुपाठ, उणादि और लिंगानुशासन भी जुडे हुए हैं, जिससे यह व्याकरण पचागपूर्ण है। सूत्र-रचना मे शाकटायन का विशेष अनुकरण प्रतीत होता है। यो उसपर अपने से पूर्व की प्राय सभी जैन व अजैन व्याकरणो की कुछ न कुछ छाप है। इस पर कर्ता ने स्वय छह हजार श्लोक प्रमाण **लघुवृत्ति** लिखी है, जो प्रारभिक अध्येताओ के बडे काम की है, और दूसरी अठारह हजार श्लोकप्रमाण **बृहद्-वृत्ति** भी लिखी है, जो विद्वानो के लिये हैं। इसमे अनेक प्राचीन वैयाकरणो के नाम लेकर उनके मतो का विवेचन भी किया है। इन पूर्व वैयाकरणो मे देवनन्दि (जैनेन्द्र) शाकटायन व दुर्गसिंह (कातन्त्रवृत्तिकार) भी हैं, और यास्क, गार्ग्य, पाणिनि, पतजलि, भर्तृहरि, वामन, जयादित्य, क्षीरस्वामी भोज आदि भी। उदाहरणो मे भी बहुत कुछ मौलिकता पाई जाती है। विधि-विधानो मे कर्ता ने इसमे अपने काल तक के भाषात्मक विकास का समावेश करने का प्रयत्न किया है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से भी बडा महत्वपूर्ण है। उणादि सूत्रों पर भी कर्ता का **स्वोपज्ञ विवरण** है, और लिंगानुशासन की पद्यात्मक रचना पर भी। कर्ता ने स्वय एक लघु और दूसरा बृहत् **न्यास** भी लिखे थे, जिनकी भी प्रतिया मिलती हैं। **बृहत्-न्यास** का प्रमाण नौ हजार श्लोक कहा जाता है। किन्तु वर्तमान में यह केवल भिन्न-भिन्न ८-९ पादो पर ३४०० श्लोक प्रमाण मिलता है। यह समस्त व्याकरण सवा लाख श्लोक प्रमाण आका जाता है। बीसो अन्य महाकाय ग्रथो के रचयिता की एक इतनी विशाल रचना को देखकर हमारे जैसे सामान्य मनुष्यो की बुद्धि चकित हुए विना नही रहती, और यही इस व्याकरण-सामग्री की समाप्ति नही होती। हेमचन्द्र ने अपने **द्वयाश्रयकाव्य** के प्रथम बीस सर्गों मे इस व्याकरण के क्रमबद्ध उदाहरण भी

उपस्थित किये हैं। ऐसी रचना पर अन्य लेखकों द्वारा टीका-टिप्पणी के लिये अवकाश शेष नहीं रहता। फिर भी इसपर मुनिशेखरसूरि कृत लघुवृत्तिढुंढिका धनप्रभकृत न्यास पर दुर्गपदव्याख्या विद्याकरकृत बृहद्-वृत्तिदीपिका अभयचन्द्र कृत लघुवृत्ति-अवचूरि, धनचन्द्र कृत बृहद्वृत्ति-अवचूरि एवं जिनसागर कृत दीपिका आदि कोई दो दर्जन नाना प्रकरणों की टीकायें उपलब्ध हैं, जिनसे इस कृति की रचना के प्रति विद्वानों का आदर व लोकप्रचार और प्रसिद्धि का अनुमान किया जा सकता है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक संस्कृत व्याकरण लिखे गये हैं जैसे मलयगिरि कृत शब्दानुशासन अपर नाम मुष्टिव्याकरण स्वोपज्ञ टीका सहित दानविजय कृत शब्दभूषण आदि। किन्तु उनमें पूर्वोक्त ग्रन्थों का ही अनुकरण किया गया है, और कोई रचना या विषय संबंधी मौलिकता नहीं पाई जाती।

छंदशास्त्र प्राकृत—

जैन परम्परा में उपलब्ध छंदशास्त्र विषयक रचनाओं में नन्दिताढ्य कृत गाथा-लक्षण प्राकृत व्याकरण में चण्डकृत प्राकृत-लक्षण के समान सर्वप्राचीन प्रतीत होता है। ग्रन्थ में कर्ता के नाम के अतिरिक्त समयादि संबंधी कोई सूचना नहीं पाई जाती और न अभी तक किसी पिछले लेखकों द्वारा उनका नामोल्लेख सम्मुख आया जिससे उनकी कालावधि का कुछ अनुमान किया जा सके। तथापि कर्ता के नाम उनकी प्राकृत भाषा ग्रन्थ के विषय व रचना शैली पर से वे अति प्राचीन अनुमान किये जाते हैं। प्रारंभ में गाथा के मात्रा गण आदि सामान्य गुणों का विधान किया गया है जिसमें चर आदि संज्ञाओं का प्रयोग पिंगल विरहांक आदि छंदशास्त्रियों से भिन्न पाया जाता है। तत्पश्चात् गाथा के पथ्या विपुला और चपला तथा चपला के तीन प्रभेद और फिर उनके उदाहरण दिये गये हैं। फिर एक अन्य प्रकार से वर्णों के ह्रस्वदीर्घत्व के आधार पर गाथा के विप्रा क्षत्रिया वैश्या और शूद्रा ये चार भेद और उनके उदाहरण बतलाये हैं। इसके पश्चात् अक्षर-संख्यानुसार गाथा के छब्बीस भेदों के कमला आदि नाम गिनाकर फिर उनके लक्षण दिये गये हैं, और गाथा के लघु गुरुत्व तीन प्रस्तार, संख्या नष्ट-उद्दिष्ट आदि प्रत्यय बतलाये गये हैं। अन्त में गाथा में मात्राओं की कमीबढ़ी से उत्पन्न होने वाले उसके गाथा विगाथा उग्गाथा गाहिनी और स्कंधक इन प्रभेदों को समझाया गया है। ये प्रथम तीन नाम हेमचन्द्र आदि द्वारा प्रयुक्त उपगीति उद्गीति और गीति नामों की अपेक्षा अधिक प्राचीन प्रतीत होते हैं।

ग्रन्थ का इतना विषय उसका अभिन्न और मौलिक अश प्रतीत होता है जो लगभग ७० गाथाओ में पूरा आ गया है। किन्तु डा० वेलकर द्वारा सम्पादित पाठ मे ९६ गाथाए हैं। अधिक गाथाओ मे गाथा के कुछ उदाहरण, तथा ७५ वी गाथा से आगे के पद्धडिया आदि अपभ्रश छदो के लक्षण और उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें विद्वान् सम्पादक ने मूल ग्रन्थ के अश न मानकर, सकारण पीछे जोडे गये सिद्ध किया है। किन्तु उन्होंने जिन दो गाथाओ को मौलिक मानकर उन पर कुछ आश्चर्य किया है, उनका यहा विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। ३८ वें पद्य मे गाथा के दश भेद गिनाये गये हैं, किन्तु यथार्थ मे उपर्युक्त भेद तो नौ ही होते हैं। दसवा मिश्र नामका भेद वहा बनता ही नही है। उसका जो उदाहरण दिया गया है, वह मिश्र का कोई उदाहरण नही, और उसे सम्पादक ने ठीक ही प्रक्षिप्त अनुमान किया है। मेरे मतानुसार दस भेदो को गिनाने वाली गाथा भी प्रक्षिप्त ही समझना चाहिये। जब ऊपर नौ भेद लक्षणो और उदाहरणो द्वारा समझाये जा चुके, तब यहा उन्हें पुन गिनाने की और उनमे भी एक अप्रासगिक भेद जोड देने की कोई आवश्यकता नही रह जाती। कर्ता की सक्षेप रचना-शैली मे उसके लिये कोई अवकाश भी नही रह जाता। उक्त भेदो का मिश्र रूप भी कुछ होता ही होगा, इस भ्रान्त धारणा से किसी पाठक ने उसे जोड कर ग्रन्थ को पूरा कर देना उचित समझा, और उसका मनचाहा, भले ही अयुक्त, वह उदाहरण दे दिया होगा।

गाथा ३१ मे कहा गया है कि जैसे वैश्याओ के स्नेह, और कामीजनो के सत्य नही होता, वैसे ही नन्दिताढ्य द्वारा उक्त प्राकृत में जिह, किह, तिह, नही हैं। स्वय ग्रन्थकार द्वारा अपने ऊपर ही इस अनुचित उपमा पर डा० वेलकर ने स्वभावत आश्चर्य प्रकट किया है, तथापि उसे ग्रन्थ का मौलिक भाग मानकर अनुमान किया है कि ग्रन्थकार जैन यति होता हुआ आगमोक्त गाथा छद का पक्षपाती था, और अपभ्रश भाषा व छदो की ओर तिरस्कार दृष्टि रखता था। किन्तु मेरा अनुमान है कि यह गाथा भी ग्रन्थ का मूलाश नही, और वह अपभ्रश का तिरस्कार करने वाले द्वारा नही, किन्तु उसके किसी विशेष पक्षपाती द्वारा जोडी गई है, जिसे अपने काल के लोकप्रिय और वास्तविक अपभ्रश रूपो का इस रचना मे अभाव खटका, और उसने कर्ता पर यह व्यग मार दिया कि उनका प्राकृत एक वेश्या व कामुक के सदृश उक्त प्रयोगो की प्रियता और सत्यता से हीन पाया जाता है। इस प्रकार उक्त पद्य का अनौचित्य दोष पुष्टार्थता गुण मे परिवर्तित हो जाता है, और ग्रन्थकर्ता अपभ्रश के प्रति अनुचित और अप्रासगिक विद्वेष के अपराध से बच जाते हैं। इस ग्रन्थ की दो टीकाए मिली हैं, एक

रत्नचन्द्रकृत और दूसरी अज्ञातकर्तृक अवचूरि। इन दोनों में समस्त प्रक्षिप्त अनुमान की जाने वाली गाथाएं स्वीकार की गई हैं, जिससे प्रतीत होता है कि वे उनसे पूर्व समाविष्ट हो गई थीं। अन्य प्राचीन प्रतियों की बड़ी आवश्यकता है।

प्राकृत में छंदशास्त्र का कुछ सर्वांगीण निरूपण करने वाले सुप्राचीन कवि स्वयंभू पाये जाते हैं, जिनके पउमचरिउ और हरिवंशचरिउ नामक अपभ्रंश पुराणों का परिचय पहले कराया जा चुका है, और जिसके अनुसार उनका रचनाकाल ७-८ वीं शती सिद्ध होता है। स्वयंभूछंदस् का पता हाल ही में चला है, और उस एक मात्र हस्तलिखित प्रति में आदि के २२ पत्र न मिल सकने से ग्रन्थ का उतना भाग अनुपलब्ध है। यह ग्रन्थ मुख्यतः दो भागों में विभाजित है, एक प्राकृत और दूसरा अपभ्रंश विषयक। *प्राकृत छंदों का निरूपण तीन परिच्छेदों में किया गया है मातिविधि* अर्धसम और विषमवृत्त तथा अपभ्रंश का निरूपण उच्छाहादि छप्पयजाति चउप्पय दुवय धुव द्विपदी और उत्थक्क आदि। इस प्रकार इसमें कुल ८ परिच्छेद हैं। प्राकृत छंदों में प्रथम परिच्छेद के भीतर शक्वरी आदि ११ प्रकार के ६१ छंदों का निरूपण किया गया है, जिनमें १४ अक्षरों से लेकर २६ अक्षरों तक के चार चरण होते हैं। १ से १३ अक्षरों तक के वृत्तों का स्वरूप अप्राप्त ग्रंथ में रहा होगा। इससे अधिक अक्षरों के वृत्त दण्डक कहे गये हैं। दूसरे परिच्छेद में केतुमती आदि अर्धसम वृत्तों का निरूपण किया गया है,जिनके प्रथम और द्वितीय चरण परस्पर भिन्न व तीसरे और चौथे के अनुरूप होते हैं। तीसरे परिच्छेद में उद्गतादि विषम वृत्तों का वर्णन है, जिनके चारों चरण परस्पर भिन्न होते हैं। अपभ्रंश छंदों में पहले उत्साह, दोहा और उसके भेद, मात्रा रड्डा आदि १२ वृत्तों का फिर पांचवें परिच्छेद में छह पदों वाले ध्रुवक जाति उपजाति आदि २४ छंदों का छठे में सौ अर्धसम और आठ सर्वसम ऐसे १२ चतुष्पदी ध्रुवक छंदों का सातवें में ४० प्रकार की द्विपदी का आठवें में चार से दस मात्राओं तक की शेष दस द्विपदियों का और अन्त में उत्थक्क ध्रुवक छड्डणिका और घत्ता आदि वृत्तों का निरूपण किया गया है।

स्वयम्भू-छंदस् की अपनी अनेक विशेषताएं हैं। एक तो उसकी समस्त रचना और समस्त उदाहरण प्राकृत-अपभ्रंशात्मक हैं। दूसरे,उन्होंने मात्रा गणों के लिये अपनी मौलिक संज्ञाएं जैसे च त प आदि प्रयुक्त की हैं। तीसरे, उन्होंने अक्षर और मात्रा गणों में कोई भेद नहीं किया तथा संस्कृत के अक्षर-गण वृत्तों को भी प्राकृत के व मात्रा-गण के रूप में बतलाया है। चौथे स्वयंभू ने पाद के बीच यति के सम्बन्ध में जो परम्पराओं का उल्लेख किया है, जिनमें से मांडव्य भरत काश्यप और सैतव ने यति

नही मानी। स्वयभू ने अपने को इसी परम्परा का प्रकट किया है। और पाचवें, उन्होंने जो उदाहरण दिये हैं, वे उनके समय के प्राकृत लोक-साहित्य मे से, विना किसी धार्मिक व साम्प्रदायिक भेद भाव के लिये हैं, और अधिकाश के साथ उनके कर्ताओ का भी उल्लेख कर दिया है। कुल उदाहरणात्मक पद्यो की सख्या २०६ है, जिनमे से १२८ प्राकृत के, और शेष अपभ्रश के हैं। उल्लिखित कवियो की सख्या ५८ है, जिनमे सबसे अधिक पद्यो के कर्ता सुद्धसहाव (शुद्धस्वभाव) और सुद्धसील पाये जाते हैं। आश्चर्य नही, वे दोनो एक ही हो। शेष मे कुछ परिचित नाम हैं—कालिदास, गोविन्द, चउमुह, मयूर, वेताल, हाल आदि। दो स्त्री कवियो के नाम राहा और विज्जा ध्यान देने योग्य हैं। अपभ्रश के उदाहरणो मे गोविन्द और चतुर्मुख की कृतियो की प्रधानता है, और उन पर से उनकी क्रमश हरिवश और रामायण विषयक रचनाओ की सभावना होती है। उपर्युक्त प्रत्येक परिच्छेद के अन्तिम पद्य मे स्वयभू ने अपनी रचना को पचससारभूतं कहा है, जिससे उनका अभिप्राय है कि उन्होंने अपनी इस रचना मे गणो का विधान द्विमात्रिक से लेकर छह मात्रिक तक पाच प्रकार से किया है।

कविदर्पण नामक प्राकृत छद-शास्त्र के कर्ता का नाम अज्ञात है। इसका सम्पादन एक मात्र ताडपत्र प्रति पर से किया गया है, जिसके आदि और अन्त के पत्र अप्राप्त होने से दोनो ओर का कुछ भाग अज्ञात है। कर्ता का भी प्राप्त अश से कोई पता नही चलता। साथ मे सस्कृत टीका भी मिली है, किन्तु उसके भी कर्ता का कोई पता नही। तथापि नन्दिषेणकृत अजित-शान्तिस्तव के टीकाकार जिनप्रभ सूरि ने इस ग्रन्थ का जो नामोल्लेख व उसके ३४ पद्य उद्धृत किये हैं, उस पर से इतना निश्चित है कि उसका रचनाकाल वि० स० १३६५ से पूर्व है। ग्रन्थ मे रत्नावली के कर्ता हर्षदेव, हेमचन्द्र, सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल आदि के नाम आये हैं, जिनसे ग्रन्थ की पूर्वावधि १३ वी शती निश्चित हो जाती है। अर्थात् यह ग्रन्थ ईस्वी सन् ११७२ और १३०८ के बीच कभी लिखा गया है। ग्रन्थ मे छह उद्देश हैं। प्रथम उद्देश मे मात्रा और वर्ण गणो का, दूसरे में मात्रा छदों का, तीसरे मे वर्ण-वृत्तो का, चौथे मे २६ जातियो का, पाचवें मे वैतालीय आदि ११ उभयछदो का और छठे मे छह प्रत्ययो का वर्णन किया गया है। इस प्रकार कुल मिलाकर २४ सम, १५ अर्धसम और १३ मिश्र अर्थात् ५२ प्राकृत छदो का यहा निरूपण है, जो स्पष्ट ही अपूर्ण है, विशेषत जब कि इसकी रचना स्वयभू और हेमचन्द्र की कृतियो के पश्चात् हुई है। तथापि लेखक का उद्देश्य सपूर्ण छदो का नही, किन्तु उनके कुछ सुप्रचलित रूपो मात्र का प्ररूपण करना प्रतीत होते हैं। उदाहरणों की सख्या ६९ है, जो सभी स्वय ग्रन्थकार

के स्वनिर्मित प्रतीत होते हैं। टीका में अन्य ११ उदाहरण पाये जाते हैं जो अन्यत्र से उद्धृत हैं। द्वितीय उद्देश अन्तर्गत मात्रावृत्तों का निरूपण बहुत कुछ तो हेमचन्द्र के अनुसार है किन्तु कहीं कहीं कुछ मौलिकता पाई जाती है।

छंदकोश के कर्ता रत्नशेखर नागपुरीय तपागच्छ के हेमतिलकसूरि के शिष्य थे जिनका जन्म पट्टावली के अनुसार, वि सं १३७२ में हुआ था तथा जिनकी अन्य दो रचनायें श्रीपालचरित्र (वि सं १४२८) और गुणस्थान क्रमारोह (वि सं० १४४७) प्रकाशित हो चुकी हैं। ग्रन्थ में कुल ७४ प्राकृत व अपभ्रंश पद्य हैं और इनमें क्रमशः लघु-गुरु अक्षरों व अक्षर गणों का पाठ वर्णवृत्तों का, मात्रा वृत्तों का और अन्त में गाथा व उसके भेदप्रभेदों का निरूपण किया गया है। प्राकृत-पिंगल में जो ४ मात्रावृत्त पाये जाते हैं, उनसे प्रस्तुत ग्रन्थ के १२ वृत्त सर्वथा नवीन हैं। इनके लक्षण व उदाहरण सब अपभ्रंश में हैं व एक ही पद्य में दोनों का समावेश किया गया है। गाथाओं के लक्षण आदि प्राकृत गाथाओं में हैं। अपभ्रंश छंदों के निरूपक पद्यों में बहुत से पद्य अन्यत्र से उद्धृत किये हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनके साथ उनके कर्ताओं के नाम जैसे गुल्ह, अर्जुन पिंगल आदि जुड़े हुए हैं। इनमें पिंगल के नाम पर से सहज ही अनुमान होता है कि छंदकोष के कर्ता ने ये पद्य उपलभ्य प्राकृतपिंगल में से लिये होंगे किन्तु बात ऐसी नहीं है। ये पद्य इस प्राकृत पिंगल में नहीं मिलते। कुछ पद्य ऐसे भी हैं जो यहां गुल्ह कवि कृत या बिना किसी कर्ता के नाम के पाये जाते हैं और वे ही पद्य प्राकृत पिंगल में पिंगल के नाम-निर्देश सहित विद्यमान हैं। इससे विद्वान् सम्पादक डा वेलणकर ने यह ठीक ही अनुमान किया है कि यथार्थतः दोनों ने ही उन्हें अन्यत्र से लिया है किन्तु रत्न शेखर ने उन्हें सचाई से ज्यों का त्यों रहने दिया है और पिंगल ने पूर्व कर्ता का नाम हटाकर अपना नाम समाविष्ट कर दिया है। पिंगल की वर्तमान रचना में से रत्न शेखर द्वारा अवतरण लिये जाने की यों भी संभावना नहीं रहती क्योंकि पिंगल में रत्नशेखर से पश्चात्कालीन घटनाओं का भी उल्लेख पाया जाता है। अतएव सिद्ध होता है कि पिंगल की जिस रचना का छन्दकोष में उपयोग किया गया है, वह वर्तमान प्राकृत पिंगल से पूर्व की कोई भिन्न ही रचना होगी जैसा कि अन्य अनेक पिंगल सम्बन्धी उल्लेखों से भी प्रमाणित होता है।

संस्कृत में रचित हेमचन्द्र कृत छन्दोनुशासन (१२ वीं शती) का उल्लेख छंद चूड़ामणि नाम से भी पाया जाता है। यह रचना आठ अध्यायों में विभक्त है और उसपर स्वोपज्ञ टीका भी है। इस रचना में हेमचन्द्र ने जैसा उन्होंने अपने व्याकरणादि ग्रन्थों

मे किया है, यथाशक्ति अपने समय तक आविष्कृत तथा पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित समस्त सस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रश छदो का समावेश कर देने का प्रयत्न किया है, भले ही वे उनके समय मे प्रचार मे रहे हो या नही। भरत और पिंगल के साथ उन्होने स्वयभू का भी आदर से स्मरण किया है। माण्डव्य, भरत, काश्यप, सैतव, जयदेव, आदि प्राचीन छद शास्त्र प्रणेताओ के उल्लेख भी किये हैं। उन्होंने छदो के लक्षण तो सस्कृत मे लिखे हैं, किन्तु उनके उदाहरण उनके प्रयोगानुसार सस्कृत, प्राकृत या अपभ्रश मे दिये हैं। उदाहरण उनके स्वनिर्मित हैं, कही से उद्धृत किये हुए नही। हेमचन्द्र ने अनेक ऐसे प्राकृत छदो के नाम, लक्षण और उदाहरण भी दिये हैं, जो स्वयभू-छदस् मे नही पाये जाते। स्वयभू ने जहा १ से २६ अक्षरो तक के वृत्तो के लगभग १०० भेद किये हैं, वहा हेमचन्द्र ने उनके २८६ भेद-प्रभेद बतलाये हैं, जिनमें दण्डक सम्मिलित नही हैं। सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के समस्त प्रकार के छदो के शास्त्रीय लक्षणो व उदाहरणो के लिये यह रचना एक महाकोष है।

छद शास्त्र-सस्कृत—

सस्कृत मे अन्य भी अनेक छद विषयक ग्रन्थ पाये जाते हैं, जैसे नेमि के पुत्र वाग्भट्ट कृत ५ अध्यायात्मक **छदोनुशासन,** जिसका उल्लेख काव्यानुशान मे पाया जाता है, जयकीर्ति कृत **छदोनुशासन** जो वि० स० ११६२ की रचना है। जिनदत्त के शिष्य अमरचन्द्र कृत **छदो-रत्नावली, रत्नमजूषा** अपरनाम **छदों-विचिति** के कुल १२ अध्यायो मे आठ अध्यायो पर टीका भी मिलती है, आदि। इन रचनाओ मे भी अपनी कुछ विशेताए हैं, तथापि शास्त्रीय दृष्टि से उनके सम्पूर्ण विषय का प्ररूपण पूर्वोक्त ग्रथो मे समाविष्ट पाया जाता है।

कोश-प्राकृत —

प्राकृत कोषो मे सर्वप्राचीन रचना धनपाल कृत **पाइयलच्छी-नाममाला** है, जो उसकी प्रशस्ति के अनुसार कर्ता ने अपनी कनिष्ठ भगिनी सुन्दरी के लिये धारा-नगरी मे वि० स० १०२६ मे लिखी थी, जबकि मालव नरेन्द्र द्वारा मान्यखेट लूटा गया था। यह घटना अन्य ऐतिहासिक प्रमाणो से भी सिद्ध होती है। धारानरेश हर्षदेव के एक शिलालेख मे उल्लेख है कि उसने राष्ट्रकूट राजा खोटिगदेव की लक्ष्मी का अपहरण किया था। इस कोष मे अमरकोष की रीति से प्राकृत पद्यों मे लगभग १००० प्राकृत शब्दो के पर्यायवाची शब्द कोई २५० गाथाओ मे दिये गये हैं। प्रारभ में कमलासनादि

१८ नाम-पर्याय एक-एक गाथा में फिर लोकाग्र आदि १६७ तक नाम आधी-आधी गाथा में तत्पश्चात् १९७ तक एक-एक चरण में और शेष छिन्न अर्थात् एक गाथा में कहीं चार, कहीं पांच और कहीं छह नाम कहे गये हैं। ग्रन्थ के ये ही चार परिच्छेद कहे जा सकते हैं। अधिकांश नाम और उनके पर्याय तद्भव हैं। सच्चे देशी शब्द अधिक से अधिक पंचमांश होंगे।

दूसरा प्राकृत कोष हेमचन्द्र कृत *देशी-नाम-माला* है। यथार्थतः इस ग्रन्थ का नाम स्वयं कर्ता ने कृति के आदि व अन्त में स्पष्टतः देशी-शब्द-संग्रह सूचित किया है, तथा अन्त की गाथा में उसे रत्नावली नाम से कहा है। किन्तु ग्रन्थ के प्रथम सम्पादक डा. पिशैल ने कुछ हस्तलिखित प्रतियों के आधार से उक्त नाम ही अधिक सार्थक समझकर स्वीकार किया है, और पीछे प्रकाशित समस्त संस्करणों में इसका यही नाम पाया जाता है। इस कोष में अपने ढंग की एक परिपूर्ण क्रम-व्यवस्था का पालन किया गया है। कुल गाथाओं की संख्या ७८३ है, जो आठ वर्गों में विभाजित है, और उनमें क्रमशः स्वरादि कवर्गादि चवर्गादि टवर्गादि तवर्गादि पवर्गादि यकारादि और सकारादि शब्दों को ग्रहण किया गया है। सातवें वर्ग के आदि में कोषकार ने कहा है कि इस प्रकार की नाम-व्यवस्था व्याकरण में प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु ज्योतिष शास्त्र में प्रसिद्ध है और उसी का यहां आदर किया गया है। इन वर्गों के भीतर शब्द पुनः उनकी अक्षर-संख्या अर्थात् दो, तीन चार, व पांच अक्षरों वाले शब्दों के क्रम से रखे गये हैं, और उक्त संख्यात्मक शब्दों के भीतर भी अकारादि वर्णानुक्रम का पालन किया गया है। इस क्रम से एकार्थवाची शब्दों का आख्यान हो जाने पर फिर उन्हीं अकारादि खंडों के ही भीतर इसी क्रम से अनेकार्थवाची शब्दों का आख्यान किया गया है। इस क्रमपद्धति को पूर्णता से समझने के लिये प्रथम वर्ग का उदाहरण लीजिये। इसमें आदि की छठी गाथा तक दो १६ तक तीन १७ तक चार और ४९ वीं गाथा तक पांच अक्षरों वाले अकारादि शब्द कहे गये हैं। फिर ६ तक अकारादि शब्दों के दो अक्षरादि क्रम से उनके अनेकार्थ शब्द संगृहीत हैं। फिर ७२ तक एकार्थवाची और ७६ तक अनेकार्थवाची आकारादि शब्द हैं। फिर इसी प्रकार ८१ तक इकारादि ८४ में ईकारादि ११२ तक उकारादि १४१ में ऊकारादि १४८ तक एकारादि, और अन्तिम १७४ वीं गाथा तक ओकारादि शब्दों के क्रम से एकार्थ व अनेकार्थवाची शब्दों का चयन किया गया है। यही क्रम शेष सब वर्गों में भी पाया जाता है। स्फुट पत्रक प्रणाली (कार्डिंग सिस्टेम) के बिना यह क्रम-परिपालन असंभव सा प्रतीत होता है अतएव यह पद्धति ज्योतिष शास्त्रियों और हेमचन्द्र व उनकी प्रणाली के आदर

व्याकरणो मे अवश्य प्रचलित रही होगी।

देशीनाममाला मे शब्दो का चयन भी एक विशेष सिद्धान्तानुसार किया गया है। कर्ता ने आदि मे कहा है कि—

जे लक्खणे ण सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु।
ण य गउडलक्खणासत्तिसभवा ते इह णिबद्धा ॥३॥

अर्थात् जो शब्द न तो उनके सस्कृत-प्राकृत व्याकरण के नियमो द्वारा सिद्ध होते, न सस्कृत कोषो मे मिलते, और न अलकार-शास्त्र-प्रसिद्ध गौडी लक्षणा शक्ति से अभीष्ट अर्थ देते, उन्हे ही देशी मानकर इस कोष में निबद्ध किया है। इस पर भी यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या देश-देश की नाना भाषाओ मे प्रचलित व उक्त श्रेणियो मे न आने वाले समस्त शब्दो के सग्रह करने की यहा प्रतिज्ञा की गई है? इसका उत्तर अगली गाथा मे ग्रन्थकार ने दिया है कि—

देसविसेसपसिद्धीइ भण्णमाणा अणतया हुति।
तम्हा अणाइ-पाइय-पयट्ट-भासाविसेसओ देसी ॥४॥

अर्थात् भिन्न भिन्न देशो मे प्रसिद्ध शब्दो के आख्यान मे लग जाय, तब तो वे शब्द अनन्त पाये जाते हैं। अतएव यहा केवल उन्ही शब्दो को देशी मानकर ग्रहण किया गया है जो अनादिकाल से प्रचलित व विशेषरूप से प्राकृत कहलाने वाली भाषा मे पाये जाते हैं। इससे कोषकार का देशी से अभिप्राय स्पष्टत उन शब्दो से है जो प्राकृत साहित्य की भाषा और उसकी बोलियो मे प्रचलित हैं, तथापि न तो व्याकरणो से या अलकार की रीति से सिद्ध होते, और न सस्कृत के कोषो मे पाये जाते हैं। इस महान् कार्य मे उद्यत होने की प्रेरणा उन्हे कहा से मिली, उसका भी कर्ता ने दूसरी गाथा और उसकी स्वोपज्ञ टीका मे स्पष्टीकरण कर दिया है। जब उन्होंने उपलभ्य नि शेष देशी शास्त्रो का परिशीलन किया, तब उन्हें ज्ञात हुआ कि कोई शब्द है तो साहित्य का, किन्तु उसका प्रचार मे कुछ और ही अर्थ हो रहा है, किसी शब्द मे वर्णों का अनुक्रम निश्चित नही है, किसी के प्राचीन और वर्तमान देश-प्रचलित अर्थ मे विसवाद (विरोध) है, तथा कही गतानुगति से कुछ का कुछ अर्थ होने लगा है। तब आचार्य को यह आकुलता उत्पन्न हुई कि अरे, ऐसे अपभ्रष्ट शब्दो की कीचड में फसे हुए लोगो का किस प्रकार उद्धार किया जाय? बस, इसी कुतूहलवश वे इस देशी शब्द-सग्रह के कार्य मे प्रवृत्त हो गये।

देशी शब्दो के सबध की इन सीमाओ का कोषकार ने बडी सावधानी से पालन किया है, जिसका कुछ अनुमान हमे उनकी स्वय बनाई हुई टीका के अवलोकन

१८ नाम-पर्याय एक-एक गाथा में फिर लोकाग्र आदि १६७ तक नाम आधी-आधी गाथा में तत्पश्चात् २२७ तक एक-एक चरण में और शेष छिन्न अर्थात् एक गाथा में कहीं चार, कहीं पांच और कहीं छह नाम कहे गये हैं। ग्रन्थ के ये ही चार परिच्छेद कहे जा सकते हैं। अधिकांश नाम और उनके पर्याय तद्भव हैं। सच्चे देशी शब्द अधिक से अधिक पंचमांश होंगे।

दूसरा प्राकृत कोष हेमचन्द्र कृत देशी-नाम-माला है। यथार्थतः इस ग्रन्थ का नाम स्वयं कर्ता ने कृति के आदि व अन्त में स्पष्टतः देशी-शब्द-संग्रह सूचित किया है, तथा अन्त की गाथा में उसे रत्नावली नाम से कहा है। किन्तु ग्रन्थ के प्रथम सम्पादक डा॰ पिशैल ने कुछ हस्तलिखित प्रतियों के आधार से उक्त नाम ही अधिक सार्थक समझकर स्वीकार किया है, और पीछे प्रकाशित समस्त संस्करणों में इसका यही नाम पाया जाता है। इस कोष में अपने ढंग की एक परिपूर्ण क्रम-व्यवस्था का पालन किया गया है। कुल गाथाओं की संख्या ७८३ है, जो आठ वर्गों में विभाजित है, और उनमें क्रमशः स्वरादि कवर्गादि चवर्गादि टवर्गादि तवर्गादि पवर्गादि यकारादि और सकारादि शब्दों को ग्रहण किया गया है। सातवें वर्ग के आदि में कोषकार ने कहा है कि इस प्रकार की नाम-व्यवस्था व्याकरण में प्रसिद्ध नहीं है किन्तु ज्योतिष शास्त्र में प्रसिद्ध है और उसी का यहां आदर किया गया है। इन वर्गों के भीतर शब्द पुनः उनकी अक्षर-संख्या अर्थात् दो तीन चार, व पांच अक्षरों वाले शब्दों के क्रम से रखे गये हैं, और उक्त क्रमात्मक शब्दों के भीतर भी अकारादि वर्णानुक्रम का पालन किया गया है। इस क्रम से एकार्थवाची शब्दों का आख्यान हो जाने पर फिर उन्हीं अकारादि क्रमों के ही भीतर इसी क्रम से अनेकार्थवाची शब्दों का आख्यान किया गया है। इस क्रमपद्धति को पूर्णता से समझने के लिये प्रथम वर्ग का उदाहरण लीजिये। इसमें आदि की छठी गाथा तक दो १६ तक तीन १७ तक चार और ४६ वीं गाथा तक पांच अक्षरों वाले अकारादि शब्द कहे गये हैं। फिर ६ तक अकारादि शब्दों के दो अक्षरादि क्रम से उनके अनेकार्थ शब्द संगृहीत हैं। फिर ७२ तक एकार्थवाची और ७६ तक अनेकार्थवाची आकारादि शब्द हैं। फिर इसी प्रकार ८२ तक इकारादि ८४ में ईकारादि ११६ तक उकारादि १४१ में ऊकारादि १४८ तक एकारादि और अन्तिम १७४ वीं गाथा तक ओकारादि शब्दों के क्रम से एकार्थ व अनेकार्थवाची शब्दों का चयन किया गया है। यही क्रम शेष सब वर्गों में भी पाया जाता है। स्फुट पत्रक प्रणाली (कार्डिंग सिस्टेम) के बिना यह क्रम-परिपालन असंभव सा प्रतीत होता है अतएव यह पद्धति ज्योतिष शास्त्रियों और हेमचन्द्र व उनकी प्रणाली के व्यापक

वहुत कुछ मशोवित रूप उपस्थित किया है, किन्तु अनेक गाथाओ के सशोधन की अभी भी आवश्यकता है। कोप मे सग्रहीत नामो की सख्या प्रोफे० वनर्जी के अनुसार ३९७८ है, जिनमे वे यथार्थ देशी केवल १५०० मानते हैं। शेप मे १०० तत्सम, १८५० तद्भव और ५२८ सशयात्मक तद्भव शव्द वतलाते हैं। उक्त देशी शव्दो मे उनके मतानुसार ८०० शव्द तो भारतीय आर्य भापाओ मे किसी न किसी रूप मे पाये जाते हैं, किन्तु शेप ७०० के स्रोत का कोई पता नही चलता।

कोश-सस्कृत—

सस्कृत के प्राचीनतम जैन कोपकार धनजय पाये जाते हैं। इनकी दो रचनाए उपलव्ध हैं एक **नाममाला** और दूसरी **अनेकार्थनाममाला**। इनकी वनाई हुई नाममाला के अन्त मे कवि ने अकलक का प्रमाण, पूज्यपाद का लक्षण (व्याकरण) और द्विसधान कर्ता अर्थात् स्वय का काव्य, इस रत्नत्रय को अपूर्व कहा है। इस उल्लेख पर से कोष के रचनाकाल की पूर्वावधि आठवी शती निश्चित हो जाती है। अनेकार्थ नाममाला का 'हेतावेव प्रकारादि' श्लोक वीरसेन कृत धवला टीका मे उद्धृत पाया जाता है, जिसका रचनाकाल शक स० ७३८ है। इस प्रकार इन कोपो का रचनाकाल ई० सन् ७८०-८१६ के वीच सिद्ध होता है। नाममाला मे २०६ श्लोक हैं, और इनमे सग्रहीत एकार्थवाची शव्दो की सख्या लगभग २००० है। कोपकार ने अपनी सरल और सुन्दर शैली द्वारा यथासम्भव अनेक शव्द-समूहो की सूचना थोडे से शव्दो द्वारा कर दी है। उदाहरणार्थ, श्लोक ५ और ६ मे भूमि आदि पृथ्वी के २७ पर्यायवाची नाम गिनाये हैं, और फिर सातवें श्लोक मे कहा है—

तत्पर्यायधर शैल तत्पर्यायपतिर्नृप।
तत्पर्यायरुहो वृक्ष· शव्दमन्यच्च योजयेत्॥

इस प्रकार इस एक श्लोक द्वारा कोपकार ने पर्वत, राजा, और वृक्ष, इनके २७-२७ पर्यायवाची ८१ नामो की सूचना एक छोटे से श्लोक द्वारा कर दी है। इसी प्रकार १५वें श्लोक मे जल के १८ पर्यायवाची नाम गिनाकर १६वें श्लोक मे उक्त नामो के साथ चर जोडकर मत्स्य, द जोडकर धन, ज जोडकर पद्म और धर जोडकर समुद्र, इनके १८-१८ नाम वना लेने की सूचना कर दी है। अनेकार्थ-नाममाला मे कुल ४६ श्लोक हैं, जिनमे लगभग ६० शव्दो के अनेक अर्थों का निरूपण किया गया है।

जैन साहित्य के इस सक्षिप्त परिचय से ही स्पष्ट हो जायगा कि उसके द्वारा

पर से होता है। उदाहरणार्थ ग्रन्थ के प्रारंभ में ही 'अज्ज' शब्द ग्रहण किया है और उसका प्रयोग 'जिन' के अर्थ में बतलाया है। टीका में प्रश्न उठाया है कि 'अज्ज' तो स्वामी का पर्यायवाची आर्य शब्द से सिद्ध हो जाता है? इसका उत्तर उन्होंने यह दिया कि उसे यहां ग्रन्थ के आदि में मंगलवाची समझकर ग्रहण कर लिया है। १८ वीं गाथा में 'अविणयवर' शब्द जार के अर्थ में ग्रहण किया गया है। टीका में कहा है कि इस शब्द की व्युत्पत्ति 'अविनय-वर' से होते हुए भी संस्कृत में उसका यह अर्थ प्रसिद्ध नहीं है, और इसलिये उसे यहां देशी मान्य गया है। १७ वीं गाथा में 'आरणाल' का अर्थ कमल बतलाया गया है। टीका में कहा गया है कि उसका कांजिक अर्थ यहां इसलिये नहीं ग्रहण किया क्योंकि वह संस्कृतोद्भव है। 'आसियय' लोहे के घड़े के अर्थ में बतलाकर टीका में कहा है कि कुछ लोग इसे अयस् से उत्पन्न आयसिक का अपभ्रंश रूप भी मानते हैं, इत्यादि। इन टिप्पणों पर से कोषकार के अपने पूर्वोक्त सिद्धान्त के पालन करने की निरन्तर चिन्ता का आभास मिल जाता है। उनकी संस्कृत टीका में इस प्रकार से शब्दों के स्पष्टीकरण व विवेचन के अतिरिक्त गाथाओं के द्वारा उक्त देशी शब्दों के प्रयोग के उदाहरण भी दिये हैं। ऐसी कुल गाथाओं की संख्या ६३४ पाई जाती है। इनमें ७२ प्रतिशत गाथाएं शृंगारात्मक हैं। लगभग ९५ गाथाएं कुमारपाल की प्रशंसा विषयक हैं, और शेष अन्य। ये सब स्वयं हेमचन्द्र की बनाई हुई प्रतीत होती हैं। शब्द विवेचन के संबंध में अभिमानचिन्ह, अवन्तिसुन्दरी गोपाल देवराज द्रोण धनपाल पादोद्भूत पादलिप्ताचार्य राहुलक शाम्ब शीलांक और सातवाहन इन १२ शब्दकारों तथा सारतरदेशी और अभिमानचिन्ह इन दो देशी शब्दों के सूत्र-पाठों के उल्लेख मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि देशी शब्दों के अनेक कोष ग्रन्थकार के सन्मुख उपस्थित थे। आदि की दूसरी गाथा की टीका में लेखक ने बतलाया है कि पादलिप्ताचार्य आदि द्वारा विरचित देशी शास्त्रों के होते हुए भी उन्होंने किस प्रयोजन से यह ग्रन्थ लिखा। उपर्युक्त नामों में से धनपाल कृत 'पाइय-लच्छी-नाममाला' कोष तो मिलता है, किन्तु शेष का कोई पता नहीं चलता। टीका में कुछ अवतरण ऐसे भी हैं जो धनपाल कृत कहे गये हैं किन्तु वे उनकी उपलभ्य कृति में नहीं मिलते। मृच्छकटिक के टीकाकार लाला दीक्षित ने 'देशी-प्रकाश' नामक देशी कोष का अवतरण दिया है, तथा कृष्णलीलाशुक ने अपने संक्षिप्त-सार में 'देशीसार' नामक देशी कोष का उल्लेख किया है। किन्तु दुर्भाग्यतः ये सब महत्वपूर्ण ग्रन्थ अब नहीं मिलते। देशी-नाममाला के प्रथम सम्पादक डा॰ पिशल ने इस कोष की उदाहरणात्मक गाथाओं के भ्रष्ट पाठों की बड़ी शिकायत की थी। प्रो॰ मुरलीधर बनर्जी ने अपने संस्करण में पाठों का

वहुत कुछ सशोधित रूप उपस्थित किया है, किन्तु अनेक गाथाओ के सशोधन की अभी भी आवश्यकता है। कोप मे सग्रहीत नामो की सख्या प्रोफे० वनर्जी के अनुसार ३९७८ है, जिनमे वे यथार्थ देशी केवल १५०० मानते है। शेप मे १०० तत्सम, १८५० तद्भव और ५२८ सशयात्मक तद्भव शब्द वतलाते हैं। उक्त देशी शब्दो मे उनके मतानुसार ८०० शब्द तो भारतीय आर्य भापाओ मे किसी न किसी रूप मे पाये जाते हैं, किन्तु शेप ७०० के स्रोत का कोई पता नही चलता।

कोश-सस्कृत—

सस्कृत के प्राचीनतम जैन कोपकार धनजय पाये जाते हैं। इनकी दो रचनाए उपलब्ध हैं एक **नाममाला** और दूसरी **अनेकार्थनाममाला**। इनकी वनाई हुई नाममाला के अन्त मे कवि ने अकलक का प्रमाण, पूज्यपाद का लक्षण (व्याकरण) और द्विसधान कर्ता अर्थात् स्वय का काव्य, इस रत्नत्रय को अपूर्व कहा है। इस उल्लेख पर से कोप के रचनाकाल की पूर्वावधि आठवी शती निश्चित हो जाती है। अनेकार्थ नाममाला का 'हेतावेव प्रकारादि' श्लोक वीरसेन कृत धवला टीका मे उद्धृत पाया जाता है, जिसका रचनाकाल शक स० ७३८ है। इस प्रकार इन कोपो का रचनाकाल ई० सन् ७८०-८१६ के वीच सिद्ध होता है। नाममाला मे २०६ श्लोक हैं, और इनमे सग्रहीत एकार्थवाची शब्दो की सख्या लगभग २००० है। कोपकार ने अपनी सरल और सुन्दर शैली द्वारा यथासम्भव अनेक शब्द-समूहो की सूचना थोडे से शब्दो द्वारा कर दी है। उदाहरणार्थ, श्लोक ५ और ६ मे भूमि आदि पृथ्वी के २७ पर्यायवाची नाम गिनाये हैं, और फिर सातवें श्लोक मे कहा है—

तत्पर्यायधर शैल तत्पर्यायपतिर्नृप।
तत्पर्यायरुहो वृक्ष शब्दमन्यच्च योजयेत्॥

इस प्रकार इस एक श्लोक द्वारा कोपकार ने पर्वत, राजा, और वृक्ष, इनके २७-२७ पर्यायवाची ८१ नामो की सूचना एक छोटे से श्लोक द्वारा कर दी है। इसी प्रकार १५वें श्लोक मे जल के १८ पर्यायवाची नाम गिनाकर १६वें श्लोक मे उक्त नामो के साथ चर जोडकर मत्स्य, द जोडकर घन, ज जोडकर पद्म और धर जोडकर समुद्र, इनके १८-१८ नाम वना लेने की सूचना कर दी है। अनेकार्थ-नाममाला मे कुल ४६ श्लोक हैं, जिनमे लगभग ६० शब्दो के अनेक अर्थों का निरूपण किया गया है।

जैन साहित्य के इस सक्षिप्त परिचय से ही स्पष्ट हो जायगा कि उसके द्वारा

भारतीय साहित्य की किस प्रकार परिपुष्टि हुई है। उसका शेष भारतीय धारा से मेल भी है, और भाषा विषय व शैली संबंधी अपना महान् वैशिष्ट्य भी है जिसको जाने बिना हमारा ज्ञान अधूरा रह जाता है। जैन साहित्य अभी भी न तो पूरा-पूरा प्रकाश में आया और न प्रचलित हुआ। शास्त्र-भंडारों में सैकड़ों आश्चर्य नहीं सहस्रों ग्रंथ अभी भी ऐसे पड़े हैं जो प्रकाशित नहीं हुए, न जिनके नाम का भी पता नहीं है। प्रकाशित साहित्य के भी आलोचनात्मक अध्ययन अनुवादादि के क्षेत्र में विद्वानों के प्रयास के लिये पर्याप्त अवकाश है।

जिन प्राकृत भाषाओ—अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री और अपभ्रश-का उल्लेख जैन साहित्य के परिचय मे यथास्थान किया व स्वरूप समझाया गया है उनके कुछ साहित्यिक अवतरण अनुवाद सहित यहा प्रस्तुत किये जाते हैं ।

अवतरण—१

अर्धमागधी प्राकृत

पुच्छिसु ण समणा माहणा य अगारिणो य परतित्थिया य ।
से केइ नेगन्तहिय धम्ममाहु अणेलिस साहु समिक्खयाए ॥१॥
कह च नाण कह दसण से सील कह नायसुयस्स आसि ।
जाणासि ण भिक्खु जहातहेण अहासुय बूहि जहा निसत ॥२॥
खेयन्नए से कुसलासुपन्ने अनन्तनाणी य अनन्तदसी ।
जससिणो चक्खुपहे ठियस्स जाणाहि धम्म च घिइ च पेहि ॥३॥
उढ्ढ अहे य तिरिय दिसासु तसा य जे थावर जे य पाणा ।
से निच्चनिच्चेहि समिक्ख पन्ने दीवे व धम्म समिय उदाहु ॥४॥
से सव्वदसी अभिभूयनाणी निरामगधे धिइम ठियप्पा ।
अणुत्तरे सव्वजगसि विज्ज गथा अईए अभए अणाऊ ॥५॥
से भूइपन्ने अणिएअचारी ओहतरे वीरे अणतचक्खू ।
अणुत्तर तप्पइ सूरिए वा वइरोयणिदे व तम पगासे ॥६॥

(सूयगड, १, ६, १-६)

(अनुवाद)

श्रमण ब्राह्मण गृहस्थ तथा अन्यधर्मावलंबियों ने (गणधर स्वामी से) पूछा— वे कौन हैं जिन्होंने सुन्दर समीक्षा पूर्वक इस सम्पूर्ण हितकारी असाधारण धर्म का उपदेश दिया है ? इस धर्म के उपदेष्टा ज्ञातपुत्र (महावीर) का कैसा ज्ञान था कैसा दर्शन और कैसा शील था ? हे भिक्षु, तुम यथार्थ रूप से जानते हो । जैसा सुना हो और जैसा धारण किया हो वैसा कहो । इसपर गणधर स्वामी ने कहा—वे भगवान् महावीर खेदज्ञ (अर्थात् आत्मा और विश्व को जानने वाले) थे कुशल आशुप्रज्ञ अनंतज्ञानी व अनंत दर्शी थे । उन यशस्वी साक्षात् अरहंत अवस्था में स्थित भगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्म और धृति (संयम में रति) को देख लो और जान लो । ऊर्ध्व अधः एवं उत्तर-दक्षिण आदि तिर्यक दिशाओं में जो भी त्रस या स्थावर जीव हैं, उन सबके नित्य-अनित्य गुणधर्मों की समीक्षा करके उन ज्ञानी भगवान् ने सम्यक प्रकार से दीपक के समान धर्म को प्रकट किया है । वे भगवान् सर्वदर्शी ज्ञानी निरामगंध (निष्पाप) धृतिमान् स्थितात्मा सर्व जगत् में अद्वितीय विद्वान्, ग्रंथातीत (अर्थात् परिग्रह रहित निग्रन्थ) अभय और अनायु (पुनर्जन्म रहित) थे । वे भूतिप्रज्ञ (द्रव्य-स्वभाव को जानने वाले) अनिकेतचारी (गृहत्याग कर विहार करने वाले) संसार समुद्र के तरने वाले धीर, अनंतचक्षु (अनंतदर्शी) असाधारण रूप से उसी प्रकार तप्यमान व अंधकार में प्रकाश वाले हैं, जैसे सूर्य वैरोचन (अग्नि) व इन्द्र ।

अवतरण—२

अर्धमागधी—प्राकृत

कम्मसंगेहिं सम्मूढा दुक्खिया बहुवेयणा ।
अमाणुसासु जोणीसु विणिहम्मंति पाणिणो ॥१॥
कम्माणं तु पहाणाए आणुपुब्वी कयाइ उ ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता आययंति मणुस्सयं ॥२॥
माणुस्सं विग्गहं लद्धुं सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं ॥३॥
आहच्च सवणं लद्धुं सद्धा परमदुल्लहा ।
सोच्चा नेआउयं मग्गं बहवे परिभस्सई ॥४॥

सुइ च लद्धुं सद्ध च वीरिय पुण दुल्लह ।
वहवे रोयमाणा वि नो य ज पडिवज्जए ॥५॥
माणुसत्तम्मि आयाउ जो धम्म सोच्च सद्दहे ।
तपस्सी वीरिय लद्धुं सवुडे निद्धुणे रय ॥६॥
सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई ।
निव्वाण परम जाइ घयसित्ति व्व पावए ॥७॥
(उत्तराध्ययन, ३-६-१२)

(अनुवाद)

कर्मों के ससर्ग से मोहित हुए प्राणी दुखी व वहुत वेदनाओ से युक्त होते हुए अमानुषिक (पशु-पक्षी आदि तिर्यच) योनियो मे पडते हैं। कदाचित् अनुपूर्वी मे कर्मो की क्षीणता होने पर जीव शुद्धि प्राप्त कर मनुष्यत्व ग्रहण करते हैं। मनुष्य शरीर पाकर भी ऐसा धर्म-श्रवण पाना दुर्लभ है, जिसको सुनकर (जीव) क्षमा,अहिंसा व तप का ग्रहण करते हैं। यदि किसी प्रकार धर्म-श्रवण मिल भी गया, तो उसमे श्रद्धा होना परम दुर्लभ है, और इसलिए वहुत से लोग उद्धार करने वाले मार्ग (धर्म) को सुनकर भी भ्रष्ट हो जाते हैं। धर्म-श्रवण पाकर व श्रद्धा प्राप्त होने पर भी वीर्य (धर्माचरण मे पुरुषार्थ) दुर्लभ है। वहुत से जीव रुचि (श्रद्धा) रखते हुए भी सदा-चरण नही करते। मनुष्य-योनि मे आकर जो धर्म का श्रवण करता है और श्रद्धान रखता है, एव तपस्वी हो पुरुषार्थ लाभ करके आत्म-सवृत्त होता है, वह कर्म-रज को झडा देता है। सरल-स्वभावी प्राणी को ही शुद्धि प्राप्त होती है और शुद्ध प्राणी के ही धर्म स्थिर होता है। वही परम निर्वाण को जाता है, जैसे घृत से सीची जाने पर अग्नि (ऊपर को जाता है)।

अवतरण—३

शौरसेनी प्राकृत

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा कणय ॥१॥

अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं ॥२॥
णागफणीए मूलं णाइणि-तोएण गब्भणागेण ।
णागं होइ सुवण्णं धम्मंत भच्छवाएण ॥३॥
कम्मं हवेइ किट्टं रागादी कालिया अह विभाओ ।
सम्मत्तणाणचरणं परमोसहमिदि वियाणाहि ॥४॥
झाणं हवेइ अग्गी तवयरणं भत्तली समक्खादो ।
जीवो हवेइ लोहं धमियव्वो परमजोईहिं ॥५॥
भुञ्जतस्स वि दव्वे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये विविहे ।
संखस्स सेदभावो णवि सक्कदि किण्हगो कादु ॥६॥
तह णाणिस्स दु विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे ।
भुञ्जतस्स वि णाणं णवि सक्कदि रागदो(णाणदो) णेदुं ॥७॥

(कुन्दकुन्द: समयसार २२९ २३५)

(अनुवाद)

ज्ञानी सब द्रव्यों के राग को छोड़कर कर्मों के मध्य में रहते हुए भी कर्मरज से लिप्त नहीं होता जैसे कर्दम के बीच सुवर्ण। किन्तु अज्ञानी समस्त द्रव्यों में रक्त हुआ कर्मों के मध्य पहुँच कर कर्म-रज से लिप्त होता है, जैसे कर्दम में पड़ा लोहा। नागफणी का मूल नागिनी तोय गर्भनागसे मिश्रित कर (लोहे को) भस्त्रिका की धौंकने अग्नि में तपाने पर शुद्ध सुवर्ण बन जाता है। कर्म कीट है, और रागादि विभाव उसकी कालिमा। इसको दूर करने के लिये सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र ही परम औषधि जानना चाहिये। ध्यान अग्नि है तपश्चरण धौंकनी (भस्त्रिका) कहा गया है। जीव लोहा है जो परम योगियों द्वारा धौंका जाता है, (और इस प्रकार परमात्मा रूपी सुवर्ण–बना लिया जाता है)। सचित्त अचित्त व मिश्ररूप नाना प्रकार के द्रव्यों के संयोग से भी शंख की सफेदी काली नहीं की जा सकती। उसी प्रकार ज्ञानी के सचित्त, अचित्त व मिश्र रूप विविध द्रव्यों का उपभोग करते पर भी राग द्वारा उसके ज्ञान स्वभाव का अपहरण नहीं किया जा सकता (अर्थात् ज्ञान को अज्ञान रूप परिणत नहीं किया जा सकता)।

अवतरण—४

शौरसेनी प्राकृत

जीवो णाणसहावो जह अग्गी उण्हवो सहावेण ।
अत्थतर-भूदेण हि णाणेण ण सो हवे णाणी ॥१॥
जदि जीवादो भिण्ण सव्व-पयारेण हवदि त णाण ।
गुण-गुणि-भावो य तहा दूरेण पणस्सदे दुण्ह ॥२॥
जीवस्स वि णाणस्स वि गुणि-गुण-भावेण कीरए भेओ ।
ज जाणदि त णाण एव भेओ कह होदि ॥३॥
णाण भूय-वियार जो मण्णदि सो वि भूद-गहिदव्वो ।
जीवेण विणा णाण कि केण वि दीसदे कत्थ ॥४॥
सच्चेयण-पच्चक्ख जो जीव णेव मण्णदे मूढो ।
सो जीव ण मुणतो जीवाभाव कह कुणदि ॥५॥
जदि ण य हवेदि जीवो ता को वेदेदि सुक्ख-दुक्खाणि ।
इदिय-विसया सव्वे को वा जाणदि विसेसेण ॥६॥
सकप्प-मओ जीवो सुह-दुक्खमय हवेइ सकप्पो ।
त चिय वेददि जीवो देहे मिलिदो वि सव्वत्थ ॥७॥
देह-मिलिदो हि जीवो सव्व-कम्माणि कुव्वदे जम्हा ।
तम्हा पवट्टमाणो एयत्त बुज्झदे दोण्ह ॥८॥

(कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, १७८-१८५)

(अनुवाद)

जीव ज्ञान स्वभावी है, जैसे अग्नि स्वभाव से ही उष्ण है। ऐसा नही है कि किसी पदार्थान्तर रूप ज्ञान के सयोग से जीव ज्ञानी वना हो। यदि ज्ञान सर्वप्रकार से जीव से भिन्न है, तो उन दोनो का गुणगुणी भाव सर्वथा नष्ट हो जाता है (अर्थात् उनके वीच गुण और गुणी का सबध नही वन सकता)। जीव और ज्ञान के वीच यदि गुणी और गुण के भाव से भेद किया जाय, तो जव जो जानता है वही ज्ञान है, यह ज्ञान का स्वरूप होने पर दोनो में भेद कैसे वनेगा? जो ज्ञान को भूत-विकार (जडतत्त्व का

रूपान्तर) मानता है, वह स्वयं भूत-गृहीत (पिशाच से आविष्ट) है ऐसा समझना चाहिये। क्या किसी ने कहीं जीव के बिना ज्ञान को देखा है? जीव के स्वसंवेदन (स्वसंवेदन) प्रत्यक्ष होने पर भी जो मूर्ख उसे नहीं मानता वह जीव नहीं है, ऐसा विचार करता हुआ जीव का अभाव कैसे स्थापित कर सकता है? (अर्थात् वस्तु के सद्भाव या अभाव का विचार करना यही तो जीव का स्वभाव है)। यदि जीव नहीं तो सुख और दुःख का वेदन कौन करता है, एवं समस्त इन्द्रियों के विषयों को विशेष रूप से कौन जानता है? जीव संकल्पमय है और संकल्प सुख-दुःख मय है। उसी को सर्वत्र देह से भिन्न हुआ जीव वेदन करता है। क्योंकि देह से मिला हुआ जीव ही समस्त कर्म करता है, इसीकारण दोनों में प्रवर्तमान एकत्व दिखाई देता है।

अवतरण—५

महाराष्ट्री प्राकृत

एए रिवू महाजस जिणमि अहं न एत्थ संदेहो।
वच्च तुमं अइतुरिओ कन्तापरिरक्खणं कुणसु ॥१॥
एव भणिओ नियत्तो तूरन्तो पाविओ तमुद्देसं।
न य पेच्छइ जणयसुयं सहसा ओमुच्छिओ रामो ॥२॥
पुणरवि य समासत्थो दिट्ठी निक्खिवइ तत्थ तरुयहणे।
घणपेम्माउलहियओ भणइ तओ राहवो वयणं ॥३॥
एहेहि इओ सुन्दरि वाया मे देहि मा चिरावेहि।
दिट्ठा सि रुक्खगहणे किं परिहासं चिरं कुणसि ॥४॥
कन्ताविओगदुहिओ तं रण्णं राहवो गवेसन्तो।
पेच्छइ तओ जडागिं कोंकायन्तं महिं पडियं ॥५॥
पक्खिस्स कण्णजावं देइ मरन्तस्स सुहयजोएणं।
मोत्तूण पूइदेहं तत्थ जडाऊ सुरो जाओ ॥६॥
पुणरवि सरिऊण पियं मुच्छा गन्तूण तत्थ आसत्थो।
परिभमइ गवेसन्तो सीयाधीयाकउस्साहो ॥७॥

भो भो मत्त महागय, एत्थारण्णे तुमे भमन्तेण ।
महिला सोमसहावा, जइ दिट्ठा किं न साहेहि ॥८॥
तरुवर तुम पि वच्चसि, दूरुन्नयवियडपत्तलच्छाय ।
एत्थ अपुव्वविलया, कह ते नो लक्खिया रण्णे ॥९॥
सोऊण चक्कवाई, वाहरमाणी सरस्स मज्झत्था ।
महिलासकाभिमुहो, पुणो वि जाओ च्चिय निरासो ॥१०॥

(पउमचरिय, ४४, ५०-५९)

(अनुवाद)

(रावण के सिंहनाद को लक्ष्मण का समझकर जब राम खरदूषण की युद्ध भूमि में पहुचे, तब उन्हे देख लक्ष्मण ने कहा)—हे महायश, इन शत्रुओ को जीतने के लिये तो मैं ही पर्याप्त हू, इसमे सदेह नही, आप अतिशीघ्र लौट जाइये और सीता का परिरक्षण कीजिये। लक्ष्मण के इस प्रकार कहने पर राम वहा से लौटे, और जल्दी-जल्दी अपनी कुटी पर आये, किन्तु उन्हें वहा जनक-सुता दिखाई न दी। तब वे सहसा मूर्च्छित हो गये। फिर चेतना जागृत होने पर वे वृक्षो के वन मे अपनी दृष्टि फेंकने लगे, और सघन प्रेम से व्याकुल हृदय हो कहने लगे—हे सुदरी, जल्दी यहा आओ, मुझसे बोलो, देर मत करो, मैंने तुम्हे वृक्षो की वीहड मे देख लिया है, अब देर तक परिहास क्यो कर रही हो ? कान्ता के वियोग में दुखी राघव ने उस अरण्य मे ढूढ़ते-ढूढते जटायु को देखा, जो पृथ्वी पर पडा तडफडा रहा था। राम ने उस मरते हुए पक्षी के कान मे णमोकार मत्र का जाप सुनाया। उस शुभयोग से जटायु अपने उस अशुचि देह को छोडकर देव हुआ। राम फिर भी प्रिया का स्मरण कर मूर्च्छित हो गये, व आश्वस्त होने पर—हाय सीता, हाय सीता, ऐसा प्रलाप करते हुए उनकी खोज मे परिभ्रमण करने लगे। हाथी को देखकर वे कहते हैं—हे मत्त महागज, तुमने इस अरण्य मे भ्रमण करते हुए एक सौम्य-स्वभाव महिला को यदि देखा है, तो मुझे बतलाते क्यों नही ? हे तरुवर, तुम तो खूब उन्नत हो, विकट हो और पत्रो की छाया युक्त हो, तुमने यहा कही एक अपूर्व स्त्री को देखा हो तो मुझे कहो ? राम ने सरोवर के मध्य से चकवी की ध्वनि सुनी, वे वहा अपनी पत्नी की शका (आशा) से उस ओर बढे, किन्तु फिर भी वे निराश ही हुए।

अवतरण—९

महाराष्ट्री प्राकृत

अत्थ घुसुक्क–निवास परिमल-जम्मो असो कुसुम-दामं ।
नहमिव सब्व-गभा दिस रमणीण सिराईं सुरहेइ ॥१॥
सब्व-वयाण मज्झिम-वयं व सुमणाण जाइ-सुमणं व ।
धम्माण मुत्ति-धम्म व पुहइ-नयराण जं सेयं ॥२॥
धम्मं जाण न मच्छी णाणं मच्छीईं लाए वि मुणीण ।
विम्हसन्ति जस्स नयणा किं पुण अन्नाण नयणाइं ॥३॥
गुरुणो वयणा वयणाइं ताव माहप्पमवि म माहप्पो ।
ताव गुणाइं पि गुणा जाव न जस्सि बुहे निअइ ॥४॥
हरि-हर विहिणो देवा जत्थमाईं वसन्ति देवाई ।
एयाए महिमाए हरिओ महिमा सुर-पुरीए ॥५॥
वत्थब्भासिणा कणय रयणाईं वि मब्भमीइ देइ जणो ।
कणय-निही धक्खीणो रयण-निही मक्समा तह वि ॥६॥
तत्थ सिरि-कुमारवालो वाहाए सव्वमो वि भरिम-मरो ।
सुपरिट्ठ-परीवारो सुपइट्ठो आसि राइन्दो ॥७॥

(कुमारपाल चरित १ २२ २८)

(अनुवाद)

उस अणहिलपुर नगर में चालुक्य-वंशी राजाओं का यश आकाश की समस्त दिशाओं में ऐसा फैल रहा था जैसे मानों दिशा रूपी रमणियों के मस्तकों को उनके जूड़े की पुष्पमाला का परिमल सुगंधित कर रहा हो। जैसे सब वयों में मध्यम-वय (यौवन) पुष्पों में चमेली का पुष्प व गुणों में मोक्ष का गुण श्रेष्ठ माना गया उसी प्रकार पृथ्वी भर के नगरों में अणहिलपुर श्रेष्ठ था। जिनके चर्म चक्षु नहीं हैं केवल ज्ञान रूपी आंखें हैं ऐसे मुनियों के नेत्र भी उस नगर को देखने के लिये विकसित हो उठते थे दूसरों के नेत्रों की तो बात ही क्या ? गुरु (बृहस्पति) के वचन तभी तक वचन थे माहात्म्य भी तभी तक माहात्म्य था और गुण भी तभी तक गुण थे जब तक किसी ने इस नगरी के विद्वानों को नहीं देखा। यहां विष्णु, महादेव ब्रह्मा एवं

अन्य भी अनेक देवता निवास करते थे,जिससे इसकी महिमा ने (एकमात्र इन्द्रदेव् वाली) सुर-पुरी की महिमा को तिरस्कृत किया था। यहा लोग अजलि भरभर कर सुवर्ण और रत्न दान करते थे, तो भी उनके सुवर्ण और रत्नो की निधिया अक्षय बनी हुई थी। ऐसे उस अनहिलपुर नगर मे अपने बाहु पर समस्त धरा को धारण किये हुए सुप्रतिष्ठ परिवार सहित राजेन्द्र श्री कुमारपाल सुप्रतिष्ठित थे।

अवतरण—७

अपभ्रश

सहु दोहिं मि गेहरिगहिं तुरगें सहु वीरेग तेग मायगें।
गउ झसचिधु गवर कस्सीरहो कस्सीरय-परिमिलियसमीरहो।
कस्सीरउ पट्टणु सपाइउ चामरछत्तभिच्चरह - राइउ।
गदु राउ सवडमुहु आइउ गारिहे पेम्मजरुल्लउ लाइउ।
का वि कत झूरवइ दुचित्ती का वि अगगपलोयगे रत्ती।
पाए पडइ मूढ जामायहो धोयइ पाय घए घरु आयहो।
घिवइ तेल्लु पागिउ मण्णेप्पिणु कुट्टु देइ छुडु दारु भगेप्पिणु।
अइ अण्णमग डिभु चितेप्पिणु गय मज्जारयपिल्लउ लेप्पिणु।
धूवइ खीरु का वि जलु मथइ का वि असुत्तउ मालउ गु थइ।
ढोयइ सुहयहो सुहइ जगेरी भासइ हउ पिय दासि तुहारी।

(गायकुमारचरिउ-५, ८, ६-१५)

(अनुवाद)

नागकुमार अपनी दोनो गृहिणियो, घोडे, और उस व्याल नामक वीर के साथ उस काश्मीर देश को गया जहा का पवन केशर की गध से मिश्रित था। काश्मीर-पट्टग मे पहुचने पर वहा का राजा नद चवर,छत्र, सेवक व रथादि से विराजमान स्वागत के लिए सम्मुख आया। उधर नगर-नारियो को प्रेम का ज्वर चढा। कोई कान्ता दुविधा मे पडी झूरने लगी, और कोई उस कामदेव के अवतार नागकुमार के दर्शन मे तल्लीन हो गई। कोई मूढ़ अवस्था मे अपने घर आये हुए जामाता के पाव पडकर उन्हें घृत से धोने लगी। पानी के धोखे पीने के लिये तेल ले आई, और पान मे कत्थे

की जगह मकड़ी का पुराना जाल लिया । कोई अति अन्यमनस्कता बालक समझकर बिल्ली के पिल्ले को उठाकर ले चली । कोई मट्ठा समझकर दूध को ही घुमाने लगी थी । कोई जल को ही दूध समझकर मथने लगी और कोई बिना सूत के माला गूंथने लगी । कोई सुमन नागकुमार के पास जाकर सुख की इच्छा से कहने लगी—हे प्रिय मैं तुम्हारी दासी हूं ।

अवतरण—८

अपभ्रंश

त पेक्खइ धणकंचणपउरु दिट्ठु कुमारिं वरणयरु ।
सियवंतु वियणु णिज्झायवि णं विणु णीरि कमलसरु ॥
तं पुरं पविस्समाणएण तेण दिट्ठयं ।
तं ण तित्थु किं पि जं ण लोयणाण इट्ठयं ॥१॥
माविकूवसुप्पहूवसुप्पसण्णवण्णाय ।
मढविहारदेहुरेहिं सुट्ठु तं रवण्णयं ॥२॥
देवमंदिरेसु तेसु अंतर णिअच्छए ।
सो ण तित्थु जो कयाइ पुज्जिऊण पिच्छए ॥३॥
सुरहिगंधपरिमलं पसूणएहिं फंसए ।
सो ण तित्थु जो करेण गिण्हिऊण वासए ॥४॥
पिक्कसालिछण्णयं पणट्ठयम्मि ताणए ।
सो ण तित्थु जो घरम्मि छेवि तं पराणए ॥५॥
सरवरम्मि पंकयाइं भमिरभमरकंदिरे ।
सो ण तित्थु जो खुडेवि णेइ ताइं मंदिरे ॥६॥
हत्थगिज्झवरफलाइं विमएण पिक्खए ।
जेण कारणेण को वि तोडिउं ण भक्खए ॥७॥
णिच्छिऊण परभयाइं झुम्मए ण झुम्मए ।
अप्पणम्मि अप्पए वियप्पए पुणिवए ॥८॥
(भविसयत्तकहा ४ ७)

(अनुवाद)

भविष्यदत्त कुमार ने उस धनकचन से पूर्ण समृद्ध नगर को निर्जन होने के कारण ऐसा शोभाहीन देखा, जैसे मानो जलरहित कमल-सरोवर हो। कुमार ने नगर मे प्रवेश किया, और देखा कि वहा ऐसी कोई वस्तु नही है जो लोचनो को इष्ट न हो। वापी और कूप वहा खूब स्वच्छ जल से पूर्ण थे। मठों, विहारो व देवगृहो से नगर खूब रमणीक था। उसने देवालयो मे प्रवेश किया, किन्तु वहा उसे ऐसा कोई नही दिखाई दिया जो पूजा करना चाहता हो। फूलो की खूब सुगध आ रही थी, किन्तु वहा ऐसा कोई नही था,जो उन्हे हाथसे तोडकर सूघना चाहे। पकाहुआ शालिधान्य खेतोंमेही नष्ट हो रहा था, कोई उन्हे बचाकर घर ले जाने वाला वहा नही था। सरोवर में भौंरो के भ्रमण और गुजार से युक्त कमल विद्यमान थे, किन्तु वहा कोई ऐसा नही था, जो उन्हे तोडकर मदिर मे ले जावे। उसने विस्मय से देखा कि वहा उत्तम फल लगे हैं, जो हाथ मे ही तोडे जा सकते हैं, किन्तु न जाने किस कारण से कोई उन्हे तोडकर नही खाता। वहा पराये धन को देखकर क्षुब्ध या लुब्ध होने वाला कोई नही था। नगर की ऐसी निर्जन अवस्था देखकर कुमार अपने आप मे विकल्प और चिन्तन करने लगा।

व्याख्यान - ३

जैन दर्शन

व्याख्यान—३

जैन दर्शन

तत्व-ज्ञान—

समस्त जैनदर्शन का परिचय सक्षेप मे इस प्रकार दिया जा सकता है। विश्व के मूल मे जीव और अजीव ये दो मुख्य तत्व हैं। इनका परस्पर सपर्क पाया जाता है, और इस सपर्क के द्वारा ऐसे बन्धनो या शक्तियो का निर्माण होता है, जिनके कारण जीव को नाना प्रकार की दशाओ का अनुभव होता है। यदि यह सपर्क की धारा रोक दी जाय, और उत्पन्न हुए बन्धनो को जर्जरित या विनष्ट कर दिया जाय, तो जीव अपनी शुद्ध, बुद्ध व मुक्त अवस्था को प्राप्त हो सकता है। ये ही जैन दर्शन के सात तत्व हैं, जिनके नाम हैं-जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष। जीव और अजीव, इन दो प्रकार के तत्वो का निरूपण जैन तत्वज्ञान का विषय है। आस्रव और बध का विवेचन जैन कर्म-सिद्धान्त मे आता है, और वही उसका मनोविज्ञान-शास्त्र है। सवर और निर्जरा चारित्र विषयक हैं, और यही जैन धर्म गत आचार-शास्त्र कहा जा सकता है, तथा मोक्ष जैन-धर्मानुसार जीवन की वह सर्वोत्कृष्ट अवस्था है जिसे प्राप्त करना समस्त धार्मिक क्रिया व आचरण का अन्तिम ध्येय है। यहा जैन दर्शन की इन्ही मुख्य शाखाओ का क्रमश परिचय व विवेचन करने का प्रयत्न किया जाता है।

जीव तत्व—

ससार में नाना प्रकार की वस्तुओ और उनकी अगणित अवस्थाओ का दर्शन होता है। दृश्यमान समस्त पदार्थों को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता

व्याख्यान—३

जैन दर्शन

तत्व-ज्ञान—

समस्त जैनदर्शन का परिचय सक्षेप मे इस प्रकार दिया जा सकता है। विश्व के मूल मे जीव और अजीव ये दो मुख्य तत्व हैं। इनका परस्पर सपर्क पाया जाता है, और इस सपर्क के द्वारा ऐसे बन्धनो या शक्तियो का निर्माण होता है, जिनके कारण जीव को नाना प्रकार की दशाओ का अनुभव होता है। यदि यह सपर्क की धारा रोक दी जाय, और उत्पन्न हुए बन्धनो को जर्जरित या विनष्ट कर दिया जाय, तो जीव अपनी शुद्ध, बुद्ध व मुक्त अवस्था को प्राप्त हो सकता है। ये ही जैन दर्शन के सात तत्व हैं, जिनके नाम हैं-जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष। जीव और अजीव, इन दो प्रकार के तत्वो का निरूपण जैन तत्वज्ञान का विषय है। आस्रव और बध का विवेचन जैन कर्म-सिद्धान्त मे आता है, और वही उसका मनोविज्ञान-शास्त्र है। सवर और निर्जरा चारित्र विषयक हैं, और यही जैन धर्म गत आचार-शास्त्र कहा जा सकता है, तथा मोक्ष जैन-धर्मानुसार जीवन की वह सर्वोत्कृष्ट अवस्था है जिसे प्राप्त करना समस्त धार्मिक क्रिया व आचरण का अन्तिम ध्येय है। यहा जैन दर्शन की इन्ही मुख्य शाखाओ का क्रमश परिचय व विवेचन करने का प्रयत्न किया जाता है।

जीव तत्व—

ससार मे नाना प्रकार की वस्तुओ और उनकी अगणित अवस्थाओ का दर्शन होता है। दृश्यमान समस्त पदार्थो को दो वर्गो मे विभाजित किया जा सकता

है—चेतन और अचेतन। पदार्थों की चेतनता का कारण उनमें व्याप्त किन्तु इन्द्रियों के अगोचर, वह तत्त्व है, जिसे जीव या आत्मा कहा गया है। प्राणियों के अचेतन तत्त्व से निर्मित शरीर के भीतर, उससे स्वतंत्र इस आत्मतत्त्व के अस्तित्व की मान्यता यथार्थतः *भारतीय तत्त्वज्ञान की अत्यन्त प्राचीन और मौलिक शोध है* जो प्रायः समस्त वैदिक व अवैदिक दर्शनों में स्वीकार की गई है, और यह मान्यता समस्त भारतीय संस्कृति में प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से सुप्रतिष्ठित पाई जाती है। केवल एकमात्र चार्वाक या बार्हस्पत्य दर्शन ऐसा मिलता है जिसमें जीव या आत्मा की शरीरात्मक भौतिक तत्त्वों से पृथक सत्ता नहीं मानी गई। इस दर्शन के अनुसार पृथ्वी जल अग्नि वायु, जैसे जड़ पदार्थों के संयोग-विशेष से ही वह शक्ति उत्पन्न होती है जिसे चैतन्य कहा जाता है। यथार्थतः प्राणियों में इन जड़ तत्त्वों के सिवाय और कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो कोई अपनी पृथक सत्ता रखती हो प्राणियों की उत्पत्ति के समय कहीं अन्यत्र से आती हो अथवा शरीरात्मक भौतिक संतुलन के बिगड़ने से उत्पन्न होनेवाली अचेतनात्मक मरणावस्था के समय शरीर से निकलकर कहीं अन्यत्र जाती हो। इस दर्शन के अनुसार जगत् में केवल एकमात्र अजीव तत्त्व ही है। किन्तु भारतवर्ष में इस जड़वाद की परम्परा कभी पनप नहीं सकी। इसका पूर्णरूप से प्रतिपादन करनेवाला कोई प्राचीन ग्रन्थ भी प्राप्त नहीं हुआ। केवल उसके नाना *अवतरण व उल्लेख हमें आत्मवादी दार्शनिकों की कृतियों में खंडन के लिये ग्रहण* किये गये प्राप्त होते हैं तथा तत्त्वोपप्लवसिंह जैसे कुछ प्रकरण ऐसे भी मिलते हैं जिनमें इस अनात्मदर्शन की पुष्टि की गई है।

बौद्धदर्शन आत्मवादी है या अनात्मवादी यह प्रश्न विवादग्रस्त है। बुद्ध के वचनों से लेकर पिछले बौद्धाचार्यों की रचनाओं तक में दोनों प्रकार की विचार धाराओं के पोषक विचार प्राप्त होते हैं। इसमें एक ओर आत्मवाद अर्थात् जीव की सत्ता की स्वीकृति को मिथ्यादृष्टि कहा गया है जीवन की प्रधारा को नदी की धारा के समान घटना-प्रवाह रूप बतलाया गया है एवं निर्वाण की अवस्था को दीपक की उस लौ की अवस्था द्वारा समझाया गया है, जो आकाश या पाताल तथा किसी दिशा-विदिशा में न जाकर केवल बुझकर समाप्त हो जाती है।

यथा—दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
जीवो तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥

दूसरी ओर यह भी स्वीकार किया गया पाया जाता है कि जीवन मे ऐसा भी कोई तत्व है जो जन्म-जन्मान्तरो मे से होता हुआ चला आता है, जो शरीररूपी घर का निर्माण करता है, शरीर-धारण को दु खमय पाता है, और उससे छूटने का उपाय सोचता और प्रयत्न करता है; चित्त को सस्कार रहित बनाता और तृष्णा का क्षय कर निर्वाण प्राप्त करता है, यथा—

अनेक-जाति-सखार सधाविस्स अनिब्बिस।
गहकारक गवेसतो दुक्खा जाति पुनप्पुन ॥
गहकारक दिट्ठोसि पुन गेह न काहिसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूट विसखित।
विसखारगत चित्त तण्हा मे खयमज्झगा ॥ (धम्मपद, १५३-५४)

यहा स्पष्टत भौतिक शरीर के अतिरिक्त आत्मा जैसे किसी अन्य अनादि अनन्त तत्व की स्वीकृति का प्रमाण मिलता है।

जैन दर्शन मे जीव तत्त्व—

जैन सिद्धान्त मे जीव का मुख्य लक्षण उपयोग माना गया है। उपयोग के दो भेद हैं—दर्शन और ज्ञान। दर्शन शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों मे किया जाता है। सामान्य भाषा मे दर्शन का अर्थ होता है—किसी पदार्थ को नेत्रो द्वारा देखने की क्रिया। शास्त्रीय दृष्टि से दर्शन का अर्थ है—जीवन व प्रकृति सम्बन्धी व्यवस्थित ज्ञान, जैसे साख्य, वेदान्त या जैन व बौद्ध दर्शन। किन्तु जैन सिद्धान्त मे जीव के दर्शन रूप गुण का अर्थ होता है—आत्म-चेतना। प्रत्येक जीव मे अपनी सत्ता के अनुभवन की शक्ति का नाम दर्शन है, व बाह्य पदार्थों को जानने समझने की शक्ति का नाम है ज्ञान। जीव के इन्ही दो अर्थात् दर्शन और ज्ञान, अथवा स्वसवेदन व पर-सवेदन रूप गुणो को उपयोग कहा गया है। जिन पदार्थों मे यह उपयोग-शक्ति है, वहा जीव व आत्मा विद्यमान हैं, और जहा इस उपयोग गुण का सर्वथा अभाव है, वहा जीव का अस्तित्व नही माना गया। इस प्रकार जीव का निश्चित लक्षण चैतन्य है। इस चैतन्य-युक्त जीव की पहचान व्यवहार मे पाच इन्द्रियो, मन, वचन व काय रूप तीन बलो, तथा श्वासोच्छ्वास और आयु, इन दस प्राण रूप लक्षणो की हीनाधिक सत्ता के द्वारा की जा सकती है—

पच वि इदियपाणा मनवचकायेसु तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दस पाणा ॥ (गो० जी० १२९)

जीव के और भी अनेक-गुण हैं। उसमें कर्तृत्व-शक्ति है, और उपभोग का सामर्थ्य भी। वह अमूर्त है और जिस शरीर में वह रहता है उसके समस्त अंग प्रत्यंगों को व्याप्त किये रहता है—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो मुत्तो सो विस्ससोड्ढगई॥

(द्रव्यसंग्रह गा०-२)

संसार में इसप्रकार के जीवों की संख्या अनन्त है। प्रत्येक शरीर में विद्यमान जीव अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है और उस अस्तित्व का कभी संसार में या मोक्ष में विनाश नहीं होता। इस प्रकार जीव के संबंध में जैन विचारधारा वेदान्त दर्शन से भिन्न है, जिसके अनुसार ब्रह्म एक है और उसका दृश्यमान अनेकत्व सत्य नहीं माना जाता है।

जैन दर्शन में संसारवर्ती समस्त जीवों को दो भागों में विभाजित किया गया है—साधारण और प्रत्येक। प्रत्येक जीव वे हैं जो एक-एक शरीर में एक-एक रहते हैं, और वे इन्द्रियों के भेदानुसार पांच प्रकार के हैं—एकेन्द्रिय जीव वे हैं जिनके एक मात्र स्पर्शेन्द्रिय होती है। इनके पांच भेद हैं—पृथ्वीकाय जलकाय अग्निकाय वायुकाय और वनस्पतिकाय। स्पर्श और रसना जिन जीवों के होता है वे द्वीन्द्रिय हैं जैसे लट आदि। इसी प्रकार चींटी वर्ग के स्पर्श रसना और घ्राण युक्त प्राणी त्रीन्द्रिय भ्रमरवर्ग के नेत्र सहित चतुरिन्द्रिय एवं शेष पशु, पक्षी व मनुष्य वर्गों के श्रोत्रेन्द्रिय सहित जीव पंचेन्द्रिय कहलाते हैं। एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर और द्वीन्द्रियादि इतर सब जीवों को त्रस संज्ञा दी गई है। इन एक-एक शरीर-धारी वृक्षादि समस्त प्राणियों के शरीरों में ऐसे साधारण जीवों की सत्ता मानी गई है जिनकी आहार, श्वासोच्छ्वास आदि जीवन-क्रियाएं सामान्य अर्थात् एक साथ होती हैं। उन के इस सामान्य शरीर को निगोद कहते हैं और प्रत्येक निगोद में एक साथ जीने व मरने वाले जीवों की संख्या अनन्त मानी गई है—

एग-णिगोद-सरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण॥

(गो जी १९४)

इन निगोदवर्ती जीवों का आयु-प्रमाण अत्यल्प माना गया है यहां तक कि एक श्वासोच्छ्वास काल में उनका अठारह बार जीवन व मरण हो जाता है। यही वह जीवों की अनन्त राशि है जिसमें से क्रमशः जीव ऊपर की योनियों में आते रहते

व मुक्त जीवो के ससार से निकलते जाने पर भी ससारी जीवनधारा को अनन्त बनाये रखते हैं। इस प्रकार के साधारण जीवो की मान्यता जैन सिद्धान्त की अपनी विशेषता है। अन्य दर्शनो मे इस प्रकार की कोई मान्यता नही पाई जाती। वर्तमान वैज्ञानिक मान्यतानुसार एक मिलीमीटर ($\frac{1}{25}''$)प्रमाण रक्त मे कोई ५० लाख जीवकोष(सेल्स) गिने जा चुके हैं। आश्चर्य नही जो जैन दृष्टाओ ने इसी प्रकार के कुछ ज्ञान के आधार पर उक्त निगोद जीवो का प्ररूपण किया हो। उक्त समस्त जीवो के शरीरो को भी दो प्रकार का माना गया है—**सूक्ष्म** और **बादर**। सूक्ष्म शरीर वह है जो अन्य किसी भी द्रव्य मे बाधित नही होता, और जो बाधित होता है, वह बादर (स्थूल) शरीर कहा गया है। पूर्वोक्त पचेन्द्रिय जीवो के पुन दो भेद किये गये हैं—एक **सज्ञी** अर्थात् मन सहित, और दूसरे **असज्ञी** अर्थात मनरहित।

इन समस्त ससारी जीवो की दृश्यमान दो गतिया मानी गई हैं—एक **मनुष्यगति** और दूसरी पशु-पक्षि आदि सब इतर प्राणियो की **तिर्यचगति**। इनके अतिरिक्त दो और गतिया मानी गयी हैं—एक **देवगति** और दूसरी **नरकगति**। मनुष्य और तिर्यच गति-वाले पुण्यवान् जीव अपने सत्कर्मों का सुफल भोगने के लिये देवगति प्राप्त करते हैं, और पापी जीव अपने दुष्कर्मों का दड भोगने के लिये नरक गति मे जाते हैं। जो जीव पुण्य और पाप दोनो से रहित होकर वीतराग भाव और केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, वे ससार की इन चारो गतियो से निकल कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। ससारी जीवो की शरीर-रचना मे भी विशेषता है। मनुष्य और तिर्यंचों का शरीर **औदारिक** अर्थात् स्थूल होता है, जिसमे उसी जीवन के भीतर कोई विपरिवर्तन सभव नही। किन्तु देवो और नरकवासी जीवो का शरीर **वैक्रियिक** होता है, अर्थात् उसमे नाना प्रकार की विक्रिया या विपरिवर्तन सभव है। इन शरीरो के अतिरिक्त ससारी जीवो के दो और शरीर माने गये हैं—**तैजस** और **कार्मण**। ये दोनो शरीर समस्त प्राणियो के सदैव विद्यमान रहते हैं। मरण के पश्चात् दूसरी गति मे जाते समय भी जीव से इनका सग नही छूटता। तैजस शरीर जीव और पुद्गल प्रदेशोंमे सयोग स्थापित किये रहता है, तथा कार्मण शरीर उन पुद्गल परमाणुओ का पुज होता है, जिन्हे जीव निरन्तर अपने मन-वचन-काय की क्रिया के द्वारा सचित करता रहता है। इन दो शरीरो को हम जीव का सूक्ष्म शरीर कह सकते है। इन चार शरीरो के अतिरिक्त एक और विशेष प्रकार का शरीर माना गया है, जिसे **आहारक** शरीर कहते हैं। इसका निर्माण ऋद्धिधारी मुनि अपनी शकाओ के निवारणार्थ दुर्गम प्रदेशो मे विशेष ज्ञानियो के पास जाने के लिये अथवा तीर्थवन्दना के हेतु करते हैं।

जीव के और भी अनेक गुण हैं। उसमें कर्तृत्व-शक्ति है, और उपभोग का सामर्थ्य भी। वह अमूर्त है और जिस शरीर में वह रहता है उसके समस्त अंग प्रत्यंगों को व्याप्त किये रहता है—

> जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
> भोत्ता संसारत्थो मुत्तो सो विस्ससोड्ढगई॥
>
> (द्रव्यसंग्रह गा०-२)

संसार में इसप्रकार के जीवों की संख्या अनन्त है। प्रत्येक शरीर में विद्यमान जीव अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है, और उस अस्तित्व का कभी संसार में या मोक्ष मे विनाश नहीं होता। इस प्रकार जीव के सबंध में जैन विचारधारा वेदान्त दर्शन से भिन्न है, जिसके अनुसार ब्रह्म एक है और उसका दृश्यमान अनेकत्व सत्य नहीं माना जाता है।

जैन दर्शन में संसारवर्ती अनन्त जीवों को दो भागों में विभाजित किया गया है—साधारण और प्रत्येक। प्रत्येक जीव वे हैं जो एक-एक शरीर में एक-एक रहते हैं, और वे इन्द्रियों के भेदानुसार पांच प्रकार के हैं—एकेन्द्रिय जीव वे हैं जिनके एक मात्र स्पर्शेन्द्रिय होती है। इनके पांच भेद हैं—पृथ्वीकाय जलकाय अग्निकाय वायुकाय और वनस्पतिकाय। स्पर्श और रसना जिन जीवों के होता है, वे द्वीन्द्रिय हैं जैसे लट आदि। इसी प्रकार चींटी वर्ग के स्पर्श रसना और घ्राण युक्त प्राणी त्रीन्द्रिय भ्रमरवर्ग के नेत्र सहित चतुरिन्द्रिय एवं शेष पशु, पक्षी व मनुष्य वर्गों के श्रोत्रेन्द्रिय सहित जीव पंचेन्द्रिय कहलाते हैं। एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर और द्वीन्द्रियादि इतर सब जीवों को त्रस संज्ञा दी गई है। इन एक-एक शरीर-धारी वृक्षादि समस्त प्राणियों के शरीरों में ऐसे साधारण जीवों की सत्ता मानी गई है जिनकी आहार, श्वासोच्छ्वास आदि जीवन-क्रियाएं सामान्य अर्थात् एक साथ होती हैं। उन के इस सामान्य शरीर को निगोद कहते हैं, और प्रत्येक निगोद में एक साथ जीने व मरने वाले जीवों की संख्या अनन्त मानी गई है—

> एग-णिगोद-सरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
> सिद्धेहिं अणंतगुणा, सव्वेण वितीदकालेण॥
>
> (गो जी १९४)

इन निगोदवर्ती जीवों का आयु-प्रमाण अत्यल्प माना गया है यहां तक कि एक श्वासोच्छ्वास काल में उनका अठारह बार जीवन व मरण हो जाता है। यही वह जीवों की अनन्त राशि है जिसमें से क्रमशः जीव ऊपर की योनियों में आते रहते

द्रव्य की व्याप्ति के कारण जीवो व पुद्गलो का एक स्थान से दूसरे स्थान मे गमन सम्भव होता है, जिसप्रकार कि जल मछली के गमनागमन का माध्यम बनता है। इस प्रकार 'धर्म' शब्द का यह प्रयोग शास्त्रीय है, और उसकी नैतिक आचरण आदि अर्थवाचक 'धर्म' से भ्रान्ति नही करनी चाहिये।

अधर्म-द्रव्य—

जिसप्रकार धर्म द्रव्य जीव और पुद्गलो के स्थानान्तरण रूप गमनागमन का माध्यम है, उसीप्रकार अधर्म-द्रव्य चलायमान पदार्थ के रुकने मे सहायक होता है, जिसप्रकार कि वृक्ष की छाया श्रान्त पथिक को रुकने मे निमित्त होती है।

आकाश-द्रव्य—

चौथा अजीवद्रव्य आकाश है, और उसका गुण है—जीवादि अन्य सब द्रव्यो को अवकाश प्रदान करना। आकाश अनन्त है, किन्तु जितने आकाश मे जीवादि अन्य द्रव्यो की सत्ता पाई जाती है वह **लोकाकाश** कहलाता है, और वह सीमित है। लोकाकाश से परे जो अनन्त शुद्ध आकाश है, उसे **अलोकाकाश** कहा गया है। उसमे अन्य किसी द्रव्य का अस्तित्व न है, और न हो सकता, क्योकि वहा गमनागमन के साधनभूत धर्म द्रव्य का अभाव है। आकाश द्रव्य का अस्तित्व सभी दर्शनो तथा आधुनिक विज्ञान को भी मान्य है। किन्तु धर्म और अधर्म द्रव्यो की कल्पना जैन दर्शन की अपनी विशेषता है। द्रव्य की आकाश में स्थिति होती है, गमन होता है और रुकावट भी होती है। सामान्यत ये तीनो अर्थक्रियाए आकाश गुण द्वारा ही सम्भव मानी जाती हैं। किन्तु सूक्ष्म विचारानुसार एक द्रव्य द्वारा अपने शुद्ध रूप मे एक ही प्रकार की क्रिया सम्भव मानी जा सकती है। विशेषत जब वे क्रियाए परस्पर कुछ विभिन्नता को लिये हुए हो, तब हमे यह मानना ही पडेगा कि उनके कारण व साधनभूत द्रव्य भिन्न भिन्न होगे। इसी विचारधारानुसार लोकाकाश मे उक्त तीन अर्थ-क्रियाओ के साधनरूप तीन् पृथक्-पृथक् द्रव्य अर्थात् आकाश, धर्म और अधर्म की कल्पना की गई है। आधुनिक भौतिक वैज्ञानिको का एक ऐसा भी मत है कि आकाश में जहातक भौतिक तत्वों की सत्ता पाई जाती है, उसके परे उनके गमन मे वह आकाश रुकावट उत्पन्न करता है। जैन सिद्धान्तानुसार यह परिस्थिति इस कारण उत्पन्न होती है, क्योकि उस अलोकाकाश में गमन के साधनभूत धर्म द्रव्य का अभाव है।

शरीरधारी संसारी जीव अपने-अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न लिंगधारी होते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के तिर्यंच एवं नारकी जीव नियम से नपुंसक होते हैं। पंचेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यंच पुरुष-वेदी स्त्रीवेदी व नपुंसकवेदी तीनों प्रकार के होते हैं। देवों में नपुंसक नहीं होते। उनके केवल देव और देवियां ये दो ही भेद हैं।

जीवों का शरीरधारण रूप जन्म भी नानाप्रकार से होता है। मनुष्य व तिर्यंच जीवों का जन्म दो प्रकार से होता है—गर्भ से या सम्मूर्छन से। जो प्राणी माता के गर्भ से जरायु-युक्त अथवा अंडे या पोत (जरायु रहित अवस्था) रूप में उत्पन्न होते हैं, वे गर्भज हैं, और जो गर्भ के बिना बाह्य संयोगों द्वारा शीत उष्ण आदि अवस्थाओं में जीवों की उत्पत्ति होती है उसे संमूर्छन जन्म कहते हैं। देव और नारकी जीवों की उत्पत्ति उक्त दोनों प्रकारों से भिन्न उपपाद रूप बतलाई गई है।

अजीव तत्त्व—

अजीव द्रव्यों के पांच भेद हैं—पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें रूपवान् द्रव्य पुद्गल है, और शेष सब अरूपी हैं। जितने भी मूर्तिमान् पदार्थ विश्व में दिखाई देते हैं वे सब पुद्गल द्रव्य के ही नाना रूप हैं। पृथ्वी जल अग्नि और वायु—ये चारों तत्त्व तथा वृक्षों पशु-पक्षी आदि जीवों व मनुष्यों के शरीर, ये सब पुद्गल के ही रूप हैं। पुद्गल का सूक्ष्मतम रूप परमाणु है, जो अत्यन्त लघु होने के कारण इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होता। अनेक परमाणुओं के संयोग से उनमें परिमाण उत्पन्न होता है और उनमें स्पर्श रस गंध व वर्ण—ये चार गुण प्रकट होते हैं तभी वह पुद्गल-स्कन्ध (समूह) इन्द्रिय-ग्राह्य होता है। शब्द बंध सूक्ष्मता स्थूलता संस्थान अन्धकार, छाया व प्रकाश ये सब पुद्गल द्रव्य के ही विकार माने गये हैं। पुद्गलों का स्थूलतम रूप महान् पर्वतों व पृथिवियों के रूप में दिखाई देता है। इनसे लेकर सूक्ष्मतम कर्म-पर माणुओं तक पुद्गल द्रव्य के असंख्यात भेद और रूप पाये जाते हैं। पुद्गल स्कन्धों का भेद और संघात निरन्तर होता रहता है। और इसी पूरण व गलन के कारण इसका पुद्गल नाम सार्थक होता है। पुद्गल शब्द का उपयोग जैन सिद्धान्त के अतिरिक्त बौद्ध शास्त्रों में भी पाया जाता है किन्तु वहां उसका अर्थ केवल शरीरी जीवों से है। अचेतन जड़ पदार्थों के लिये वहां पुद्गल शब्द का प्रयोग नहीं पाया जाता।

धर्म-द्रव्य—

दूसरा अजीवद्रव्य धर्म है। यह अरूपी है और समस्त लोक में व्याप्त है। इसी

द्रव्य की व्याप्ति के कारण जीवो व पुद्गलो का एक स्थान मे दूसरे स्थान मे गमन सम्भव होता है, जिसप्रकार कि जल मछली के गमनागमन का माध्यम बनता है। इस प्रकार 'धर्म' शब्द का यह प्रयोग शास्त्रीय है, और उसकी नैतिक आचरण आदि अर्थवाचक 'धर्म' से भ्रान्ति नही करनी चाहिये।

अधर्म-द्रव्य—

जिसप्रकार धर्म द्रव्य जीव और पुद्गलो के स्थानान्तरण रूप गमनागमन का माध्यम है, उसीप्रकार अधर्म-द्रव्य चलायमान पदार्थ के रुकने मे सहायक होता है, जिसप्रकार कि वृक्ष की छाया श्रान्त पथिक को रुकने मे निमित्त होती है।

आकाश-द्रव्य—

चौथा अजीवद्रव्य आकाश है, और उसका गुण है—जीवादि अन्य सब द्रव्यो को अवकाश प्रदान करना। आकाश अनन्त है, किन्तु जितने आकाश मे जीवादि अन्य द्रव्यो की सत्ता पाई जाती है वह लोकाकाश कहलाता है, और वह सीमित है। लोकाकाश से परे जो अनन्त शुद्ध आकाश है, उसे अलोकाकाश कहा गया है। उसमे अन्य किसी द्रव्य का अस्तित्व न है, और न हो सकता, क्योकि वहा गमनागमन के साधनभूत धर्म द्रव्य का अभाव है। आकाश द्रव्य का अस्तित्व सभी दर्शनो तथा आधुनिक विज्ञान को भी मान्य है। किन्तु धर्म और अधर्म द्रव्यो की कल्पना जैन दर्शन की अपनी विशेषता है। द्रव्य की आकाश मे स्थिति होती है, गमन होता है और रुकावट भी होती है। सामान्यत ये तीनो अर्थक्रियाए आकाश गुण द्वारा ही सम्भव मानी जाती हैं। किन्तु सूक्ष्म विचारानुसार एक द्रव्य द्वारा अपने शुद्ध रूप मे एक ही प्रकार की क्रिया सम्भव मानी जा सकती है। विशेषत जब वे क्रियाए परस्पर कुछ विभिन्नता को लिये हुए हो, तब हमें यह मानना ही पडेगा कि उनके कारण व साधनभूत द्रव्य भिन्न भिन्न होगे। इसी विचारधारानुसार लोकाकाश मे उक्त तीन अर्थ-क्रियाओ के साधनरूप तीन् पृथक्-पृथक् द्रव्य अर्थात् आकाश, धर्म और अधर्म की कल्पना की गई है। आधुनिक भौतिक वैज्ञानिको का एक ऐसा भी मत है कि आकाश में जहातक भौतिक तत्वों की सत्ता पाई जाती है, उसके परे उनके गमन मे वह आकाश रुकावट उत्पन्न करता है। जैन सिद्धान्तानुसार यह परिस्थिति - इस कारण उत्पन्न होती है, क्योकि उस अलोकाकाश में गमन के साधनभूत धर्म द्रव्य का अभाव है।

काल-द्रव्य—

पांचवां अजीव द्रव्य काल है, जिसका स्वरूप दो प्रकार से निरूपण किया गया है—एक निश्चयकाल और दूसरा व्यवहारकाल। निश्चयकाल अपनी द्रव्यात्मक सत्ता रखता है, और वह धर्म और अधर्म द्रव्यों के समान समस्त लोकाकाश में व्याप्त है। तथापि उक्त समस्त द्रव्यों से उसकी अपनी एक विशेषता यह है कि वह उनके समान अस्तिकाय अर्थात् बहुप्रदेशी नहीं है, उसके एक-एक प्रदेश एकत्र रहते हुए भी अपने-अपने रूप में पृथक हैं जिसप्रकार कि एक रत्नों की राशि अथवा बालुकापुंज जिसका एक-एक कण पृथक-पृथक ही रहता है, और जल या वायु के समान एक काय निर्माण नहीं करता। ये एक-एक काल-प्रदेश समस्त पदार्थों में व्याप्त हैं और उनमें परिणमन अर्थात् पर्याय-परिवर्तन किया करते हैं। पदार्थों में कालकृत सूक्ष्मतम विपरिवर्तन होने में अथवा पुद्गल के एक परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाने के लिये जितना अवधान या अवकाश लगता है, वह व्यवहार काल का एक समय है। ऐसे असंख्यात समयों की एक आवलि, संख्यात आवलियों का एक उच्छ्वास सात उच्छ्वासों का एक स्तोक सात स्तोकों का एक लव ३८½ लवों की एक नाली, २ नालियों का एक मुहूर्त और ३ मुहूर्त का एक अहोरात्र होता है। अहोरात्र को २४ घंटे का मानकर उक्त क्रम से १ उच्छ्वास का प्रमाण एक सैकंड का २८८ /३७७३ वां अंश अर्थात् लगभग ३/४ सेकंड होता है। इसके अनुसार एक मिनट में उच्छ्वासों की संख्या ७८.६ आती है जो आधुनिक वैज्ञानिक व प्रायोगिक मान्यता के अनुसार ही है। आवलि व समय का प्रमाण सैकण्ड से बहुत अधिक सूक्ष्म सिद्ध होता है। अहोरात्र से अधिक की कालगणना पक्ष मास ऋतु, अयन वर्ष युग पूर्वांग पूर्व नयुतांग नयुत आदि क्रम से शीर्षप्रहेलिका तक की गई है जो ८४ को ८४ से ११ बार गुणा करने के बराबर आती है। ये सब संख्यात-काल के भेद हैं, जिनका उत्कृष्ट प्रमाण इससे कई गुणा बड़ा है। तत्पश्चात् असंख्यात-काल प्रारम्भ होता है और उसके भी जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट भेद बतलाये गये हैं। उसके ऊपर अनन्तकाल का प्ररूपण किया गया है, और उसके भी जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट भेद बतलाये गये हैं। जिसप्रकार यह व्यवहार-काल का प्रमाण उत्कृष्ट अनन्त (अनन्तानन्त) तक कहा गया है, उसी प्रकार आकाश के प्रदेशों का समस्त द्रव्यों के अविभागी प्रतिच्छेदों का एवं केवल ज्ञानी के ज्ञान का प्रमाण भी अनन्तानन्त कहा गया है।

द्रव्यों के सामान्य लक्षण—

जैन दर्शनानुसार ये ही जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल नामक छह मूलद्रव्य हैं, जिनसे विश्व के समस्त सत्तात्मक पदार्थों का निर्माण हुआ है। इस निर्माण मे जो वैचित्र्य दिखलाई देता है वह द्रव्य की अपनी एक विशेपता के कारण सम्भव है। द्रव्य वह है जो अपनी सत्ता रखता है (**सद् द्रव्य-लक्षणम्**)। किन्तु जैन सिद्धान्त मे सत् का लक्षण वेदान्त के समान **कूटस्थ-नित्यता** नही माना गया। यहा सत्का स्वरूप यह वतलाया गया है कि जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, इन तीनो लक्षणो से युक्त हो (**उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्**)। तदनुसार उक्त सत्तात्मक द्रव्यो मे प्रतिक्षण कुछ न कुछ नवीनता आती रहती है, कुछ न कुछ क्षीणता होती रहती है, और इस पर भी एक ऐसी स्थिरता भी वनी रहती है जिसके कारण वह द्रव्य अपने द्रव्य-स्वरूप से च्युत नहीं हो पाता। द्रव्य की यह विशेपता उसके दो प्रकार के धर्मों के कारण सम्भव है। प्रत्येक द्रव्य गुणो और पर्यायो से युक्त है (**गुण-पर्ययवद् द्रव्यम्**) **गुण** वस्तु का वह धर्म है, जो उससे कभी पृथक् नही होता, और उसकी ध्रुवता को सुरक्षित रखता है। किन्तु **पर्याय** द्रव्य का एक ऐसा धर्म है जो निरन्तर वदलता है, और जिसके कारण उसके स्वरूप मे सदैव कुछ नवीनता और कुछ क्षीणता रूप परिवर्तन होता रहता है। उदाहरणार्थ—सुवर्ण धातु के जो विशेप गुरुत्व आदि गुण है, वे कभी उससे पृथक् नही होते। किन्तु उसके मुद्रा, कुडल, ककण आदि आकार व सस्थान रूप पर्याय बदलते रहते हैं। इसप्रकार दृश्यमान जगत् के समस्त पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का परिपूर्ण निरूपण जैन दर्शन मे पाया जाता है, और उसमे अन्य दर्शनो मे निरूपित द्रव्य के आशिक स्वरूप का भी समावेश हो जाता है। जैसे, बौद्ध दर्शन मे समस्त वस्तुओ को क्षणध्वसी माना गया है, जो जैन दर्शनानुसार द्रव्य मे निरन्तर होनेवाले उत्पाद-व्यय रूप धर्मों के कारण है, तथा वेदान्त मे जो सत् को कूटस्थ नित्य माना गया है, वह द्रव्य की ध्रौव्य गुणात्मकता के कारण है।

आस्रव-तत्व—

जैन सिद्धान्त के सात तत्वो मे प्रथम दो अर्थात् जीव और अजीव तत्वो का निरूपण ऊपर किया जा चुका है। अब यहा तीसरे और चौथे **आस्रव** व **बध** नामक तत्वो की व्याख्या की जाती है। यह विषय जैन कर्म-सिद्धान्त का है, जिसे हम आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावली मे जैन मनोविज्ञान (साइकोलोजी) कह सकते हैं। सचेतन

जीव संसार में किसी न किसी प्रकार का शरीर धारण किये हुए पाया जाता है। इस शरीर के दो प्रकार के अंग-उपांग हैं एक हाथ पैर आदि और दूसरे जिह्वा नासिका नेत्रादि। इन्हें क्रमशः कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां कहा गया है, और इन्हीं के द्वारा जीव नानाप्रकार की क्रियाएं करता रहता है। विकसित प्राणियों में इन क्रियाओं का संचालन भीतर से एक अन्य शक्ति द्वारा होता है जिसे मन कहते हैं और जिसे नो-इन्द्रिय नाम दिया गया है। जिह्वा द्वारा रसना के अतिरिक्त शब्द या वाणी के उच्चारण का काम भी लिया जाता है। इस प्रकार जीव की क्रियाओं में काय वाक् और मन ये विशेषरूप से प्रबल साधन सिद्ध होते हैं, और इनकी ही क्रिया को जैन सिद्धान्त में योग कहा गया है। इनके अर्थात् काययोग वाग्योग और मनोयोग के द्वारा आत्मा के प्रदेशों में एक परिस्पंदन होता है, जिसके कारण आत्मा में एक ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है जिसमें उसके आसपास भरे हुए सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुद्गल परमाणु आत्मा से आ चिपटते हैं। इसी आत्मा और पुद्गल परमाणुओं के संपर्क का नाम आस्रव है एवं संपर्क में आनेवाले परमाणु ही कर्म कहलाते हैं क्योंकि उनका आगमन उपर्युक्त काय वाक् व मन के कर्म द्वारा होता है। इसप्रकार आत्मा के संपर्क में आनेवाले उन पुद्गल परमाणुओं की कर्म संज्ञा लाक्षणिक है।

काय आदि योगों रूप आत्म-प्रदेशों में उत्पन्न होने वाला उपर्युक्त परिस्पंदन दो प्रकार का हो सकता है—एक तो किसी क्रोध मान आदि तीव्र मानसिक विकार से रहित साधारण क्रियाओं के रूप में और दूसरा क्रोध मान माया और लोभ इन चार तीव्र मनोविकार रूप कषायों के वेग से प्रेरित। प्रथम प्रकार का कर्मास्रव ईर्यापथिक अर्थात् मार्गगामी कहा गया है, क्योंकि उसके द्वारा आत्म और कर्मप्रदेशों का कोई स्थिर बंध उत्पन्न नहीं होता। वह आया और चला गया जिस प्रकार कि किसी बिलकुल सूखे वस्त्र पर बैठी धूल शीघ्र ही झड़ जाती है वैर वह वस्त्र से चिपटी नहीं रहती। इस प्रकार का कर्मास्रव समस्त संसारी जीवों में निरन्तर हुआ करता है, क्योंकि उनके किसी न किसी प्रकार की मानसिक शारीरिक या वाचिक क्रिया सदैव हुआ ही करती है। किन्तु उसका कोई विशेष परिणाम आत्मा पर नहीं पड़ता। परन्तु जब जीव की मानसिक आदि क्रियाएं कषायों से युक्त होती हैं, तब आत्म-प्रदेशों में एक ऐसी परपदार्थग्राहिणी दशा उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण उसके संपर्क में आने वाले कर्मपरमाणु उससे शीघ्र पृथक् नहीं होते। मनोगत क्रोधादि विकारों की इसी शक्ति के कारण उन्हें कषाय कहा गया है। सामान्यतः वटवृक्ष के दूध के समान चेप वाले द्रव पदार्थों को कषाय कहते हैं, क्योंकि उनमें चिपकाने की शक्ति होती है। उसी

प्रकार क्रोध, मान आदि मनोविकार जीव मे कर्मपरमाणुओ का आश्लेप कराने मे कारणीभूत होने के कारण **कषाय** कहलाते हैं। इस सकषाय अवस्था मे उत्पन्न हुआ कर्मास्रव साम्परायिक कहलाता है, क्योकि उसकी आत्मा मे सम्पराय चलती है, और वह अपना कुछ न कुछ प्रभाव दिखलाये विना आत्मा से पृथक् नही होता।

वन्ध तत्व—

उक्त प्रकार जीव की सकपाय अवस्था मे आये हुए कर्म-परमाणुओ का आत्म-प्रदेशो के साथ सवघ हो जाने को ही कर्मवघ कहा जाता है। यह वध चार प्रकार का होता है—**प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश।** प्रकृति वस्तु के शील या स्वभाव को कहते हैं, अतएव कर्म परमाणुओ मे जिस प्रकार की परिणाम-उत्पादक शक्तिया आती हैं, उन्हे **कर्मप्रकृति** कहते हैं। कर्मों मे जितने काल तक जीव के साथ रहने की शक्ति उत्पन्न होती है, उसे **कर्म-स्थिति** कहते हैं। उनकी तीव्र या मन्द फलदायिनी शक्ति का नाम **अनुभाग** है, तथा आत्मप्रदेशो के साथ कितने कर्म-परमाणुओ का वध हुआ, इसे **प्रदेश बध** कहते हैं। इस चार प्रकार की वध-व्यवस्था के अतिरिक्त कर्म सिद्धान्त मे कर्मों के **सत्व, उदय, उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, सक्रमण, उपशम, निधत्ति** और **निकाचना** का भी विचार किया जाता है। ववादि ये ही दश कर्मों के **करण** अर्थात् अवस्थाए कहलाती हैं। **बध** के चार प्रकारो का उल्लेख किया ही जा चुका है। वध होने के पश्चात् कर्म किस अवस्था मे आत्मा के साथ रहते हैं, इसका विचार सत्व के भीतर किया जाता है। अपनी सत्ता मे विद्यमान कर्म जब अपनी स्थिति को पूरा कर फल देने लगता है, तव उसे कर्मों का **उदय** कहते हैं। कभी कभी आत्मा अपने भावो की तीव्रता के द्वारा कर्मों की स्थिति पूरी होने से पूर्व ही उन्हे फलोन्मुख बना देता है, इसे **उदीरणा** कहते हैं। जिस प्रकार कच्चे फलों को विशेष ताप द्वारा उनके पकने के समय से पूर्व ही पका लिया जाता है, उसी प्रकार यह कर्मों की उदीरणा होती है। कर्मों के स्थिति-काल व अनुभाग (फलदायिनी शक्ति) मे विशेष भावो द्वारा वृद्धि करने का नाम **उत्कर्षण** है। उसी प्रकार उसके स्थिति-काल व अनुभाग को घटाने का नाम **अपकर्षण** है। कर्मप्रकृतियो के उपभेदो का एक से दूसरे रूप परिवर्तन किये जाने का नाम **सक्रमण** है। कर्मों को उदय मे आने से रोक देना **उपशम** है। कर्मों को उदय मे आने से, तथा अन्य प्रकृति रूप सक्रमण होने से भी रोक देना **निधत्तिकरण** है, और कर्मों की ऐसी अवस्था मे ले जाना कि जिससे उनका उदय, उदीरणा, सक्रमण, उत्कर्षण या अपकर्षण, ये कोई विपरिवर्तन न हो सकें, उसे **निकाचन** कहते हैं।

कर्मों के इन दस करणों के स्वरूप से स्पष्ट है कि जैन कर्म-सिद्धान्त नियति-वादी नहीं है और सर्वथा स्वच्छन्दवादी भी नहीं है। जीव के प्रत्येक कर्म द्वारा किसी न किसी प्रकार की ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है जो अपना कुछ न कुछ प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहती और साथ ही जीव का स्वातन्त्र्य भी कभी इस प्रकार अवरुद्ध व कुंठित नहीं होता कि वह अपने कर्मों की दशाओं में सुधार-बिगाड़ करने में सर्वथा असमर्थ हो जाय। इस प्रकार जैन सिद्धान्त में मनुष्य के अपने कर्मों के उत्तरदायित्व तथा पुरुषार्थ द्वारा अपनी परिस्थितियों को बदल डालने की शक्ति इन दोनों का भली-भांति समन्वय स्थापित किया गया है।

कर्म प्रकृतियां—

(ज्ञानावरणकर्म)

बंधे हुए कर्मों में उत्पन्न होनेवाली प्रकृतियां दो प्रकार की हैं—मूल और उत्तर। मूल प्रकृतियां आठ हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। इन आठ मूल प्रकृतियों की अपनी-अपनी भेदरूप विविध उत्तर प्रकृतियां बतलाई गई हैं। ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञानगुण पर ऐसा आवरण उत्पन्न करता है जिसके कारण संसारावस्था में उसका पूर्ण विकास नहीं होने पाता जिस प्रकार कि वस्त्र के आवरण से सूर्य या दीपक का प्रकाश मन्द पड़ जाता है। इसकी ज्ञानों के भेदानुसार पांच उत्तर प्रकृतियां हैं जिससे क्रमशः जीव का मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान व केवलज्ञान आवृत होता है।

दर्शनावरणकर्म—

दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन नामक चैतन्य गुण को आवृत करता है। इस कर्म की निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि तथा चक्षुदर्शना-वरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और केवल दर्शनावरणीय ये नौ उत्तर प्रकृतियां हैं। निद्रा कर्मोदय से जीव को निद्रा आती है। उसकी गाढ़तर अवस्था अथवा पुनः पुनः वृत्ति को निद्रा-निद्रा कहते हैं। प्रचला कर्म के उदय से मनुष्य को ऐसी निद्रा आती है कि वह सोते-सोते चलने-फिरने अथवा नाना क्रत्रिम व्यापार करने लगता है। प्रचला-प्रचला इसी का गाढ़तर रूप है, जिसमें उक्त क्रियाएं बार-बार व अधिक तीव्रता से होती हैं। स्त्यानगृद्धि कर्मोदय के कारण जीव स्वप्नावस्था में ही उन्मत्त होकर नाना रौद्र कर्म कर डालता है। चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के कारण

नेत्रेन्द्रिय की दर्शनशक्ति क्षीण होती है। अचक्षुदर्शनावरणीय से शेष इन्द्रियो की शक्ति मन्द पडती है, तथा अवधि व केवल दर्शनावरणीयो द्वारा उन-उन दर्शनो के विकास मे बाधा उपस्थित होती है। उक्त भिन्न-भिन्न ज्ञानो व दर्शनो के स्वरूप का वर्णन आगे किया जायगा।

मोहनीय कर्म—

मोहनीय कर्म जीव के मोह अर्थात् उसकी रुचि व चारित्र मे अविवेक, विकार व विपरीतता आदि दोष उत्पन्न करता है। इसके मुख्य भेद दो हैं—एक **दर्शन-मोहनीय** और दूसरा **चारित्र-मोहनीय**, जो क्रमश दर्शन व चारित्र मे उक्त प्रकार दूषण उत्पन्न करते हैं। दर्शन मोहनीय की उत्तरप्रकृतिया तीन हैं—**मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व** और **सम्यक्त्व**। चारित्र-मोहनीय के चार भेद हैं—**क्रोध, मान, माया** और **लोभ**। ये चारो ही प्रत्येक **अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान** और सज्वलन के भेदानुसार चार-चार प्रकार के होते हैं, जिनकी कुल मिलाकर सोलह उत्तरप्रकृतिया होती हैं। इनमे **हास्य, रति, अरति, खेद, भय, ग्लानि** एव पुरुष, स्त्री व नपुसक वेद— ये ९ **नोकषाय** मिलाने से मोहनीय कर्म की समस्त उत्तर-प्रकृतियो की सख्या अट्ठाइस हो जाती है। मोहनीय कर्म सब से अधिक प्रबल व प्रभावशाली पाया जाता है, और प्रत्येक प्राणी के मानसिक जीवन मे अत्यन्त व्यापक व उसके लोक-चारित्र के निर्माण मे समर्थ सिद्ध होता है। जीवन की क्रियाओ का आदि स्रोत जीव की मनोवृत्ति है। विशुद्ध मनोवृत्ति व दृष्टि का नाम ही सम्यग्दर्शन है। इस दर्शन की, विकार की तरतमतानुसार, अगणित अवस्थाए होती हैं, जिन्हे मुख्यत तीन भागो मे विभाजित किया गया है। एक सर्वथा वह मूढ अवस्था जिसमे वस्तु के यथार्थ स्वरूप के ग्रहण की योग्यता सर्वथा नही होती, एव वस्तु को विपरीत भाव मे ग्रहण करने की सभावना होती है, यह दर्शन-मोहनीय कर्म की **मिथ्यात्व** प्रकृति है। दूसरे, जहा इस मिथ्यात्व प्रकृति की जटिलता क्षीण होकर, उसमे सम्यग्दृष्टि का भी प्रादुर्भाव हो जाता है, तब उसे दर्शन-मोहनीय की मिश्र वा **सम्यग्मिथ्यात्व** प्रकृति कहा जाता है। और तीसरी, जहा मिथ्यात्व क्षीण होकर दृष्टि शुद्ध हो जाती है, यद्यपि उसमे कुछ चाचल्य, मालिन्य व अगाढत्व बना रहता है, तब उसे **सम्यक्त्व** प्रकृति कहा जाता है। धार्मिक जीवन को समझने के लिये इन तीन मानसिक अवस्थाओ का ज्ञान बडा आवश्यक है, क्योकि मूलत ये ही अवस्थाए चारित्र को सदोष व निर्दोष बनाती हैं। चारित्र मे स्पष्ट विकार उत्पन्न करने वाले मानसिक भाव अनन्त हैं। किन्तु उन्हे हम दो सुस्पष्ट वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं—एक **राग**

कर्मों के इन दस करणों के स्वरूप से स्पष्ट है कि जैन कर्म-सिद्धान्त नियतिवादी नहीं है और सर्वथा स्वच्छन्दचारी भी नहीं है। जीव के प्रत्येक कर्म द्वारा किसी न किसी प्रकार की ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है जो अपना कुछ न कुछ प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहती और साथ ही जीव का स्वातन्त्र्य भी कभी इस प्रकार अवरुद्ध व कुंठित नहीं होता कि वह अपने कर्मों की दशाओं में सुधार-बिगाड़ करने में सर्वथा असमर्थ हो जाय। इस प्रकार जैन सिद्धान्त में मनुष्य के अपने कर्मों के उत्तरदायित्व तथा पुरुषार्थ द्वारा अपनी परिस्थितियों को बदल डालने की शक्ति इन दोनों का भली भांति समन्वय स्थापित किया गया है।

कर्म प्रकृतियां—

(ज्ञानावरणकर्म)

बंधे हुए कर्मों में उत्पन्न होनेवाली प्रकृतियां दो प्रकार की हैं—मूल और उत्तर। मूल प्रकृतियां आठ हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। इन आठ मूल प्रकृतियों की अपनी-अपनी भेदरूप विविध उत्तर प्रकृतियां बतलाई गई हैं। ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञानगुण पर ऐसा आवरण उत्पन्न करता है जिसके कारण संसारावस्था में उसका पूर्ण विकास नहीं होने पाता जिस प्रकार कि वस्त्र के आवरण से सूर्य या दीपक का प्रकाश मन्द पड़ जाता है। इसकी ज्ञानों के भेदानुसार पांच उत्तर प्रकृतियां हैं जिनसे क्रमशः जीव का मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान व केवलज्ञान आवृत होता है।

दर्शनावरणकर्म—

दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन नामक चैतन्य गुण को आवृत करता है। इस कर्म की निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि तथा चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और केवल दर्शनावरणीय ये नौ उत्तर प्रकृतियां हैं। निद्रा कर्मोदय से जीव को निद्रा आती है। उसकी गाढ़तर अवस्था अथवा पुनः पुनः वृत्ति को निद्रा-निद्रा कहते हैं। प्रचला कर्म के उदय से मनुष्य को ऐसी निद्रा आती है कि वह बैठे-बैठे चलने-फिरते अथवा नाना इन्द्रिय व्यापार करते ऊंघता है। प्रचला-प्रचला इसी का गाढ़तर रूप है, जिसमें उक्त क्रियाएं बार-बार व अधिक तीव्रता से होती हैं। स्त्यानगृद्धि कर्मोदय के कारण जीव स्वप्नावस्था में ही उन्मत्त होकर नाना रौद्र कर्म कर डालता है। चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के कारण

वेदनीय कर्म—

जो कर्म जीव को सुख या दुःख रूप वेदन उत्पन्न करता है, उसे **वेदनीय** कहते हैं। इसकी उत्तर प्रकृतियां दो हैं—**साता वेदनीय**, जो जीव को सुख का अनुभव कराता है, और **असाता वेदनीय**, जो दुःख का अनुभव कराता है। यहां अन्तराय कर्म की भोग और उपभोग प्रकृतियां, तथा वेदनीय की साता-असाता प्रकृतियों के फलोदय में भेद करना आवश्यक है। किसी मनुष्य को भोजन, वस्त्र, गृह आदि की प्राप्ति नहीं हो रही, इसे उसके लाभान्तराय कर्म का उदय कहा जायेगा। इनका लाभ होने पर भी यदि किसी परिस्थितिवश वह उनका भोग या उपभोग नहीं कर पाता, तो वह उसके भोग-उपभोगान्तराय कर्म का उदय माना जायेगा, और यदि उक्त वस्तुओं की प्राप्ति और उनका उपयोग होने पर भी उसे सुख का अनुभव न होकर, दुःख ही होता है, तो यह उसके असाता वेदनीय कर्म का फल है। सम्भव है किसी व्यक्ति के लाभान्तराय कर्म के उपशमन से उसे भोग्य वस्तुओं की प्राप्ति हो गई हो, पर वह उनका सुख तभी पा सकेगा जब साथ ही उससे साता-वेदनीय कर्म का उदय हो। यदि असाता-वेदनीय कर्म का उदय है, तो उन वस्तुओं से भी उसे दुःख ही होगा।

आयु कर्म—

जिस कर्म के उदय से जीव की देव, नरक, मनुष्य या तिर्यंच गति में आयु का निर्धारण होता है, वह आयु कर्म है, और उसकी ये ही चार अर्थात् **देवायु**, **नरकायु**, **मनुष्यायु** व **तिर्यंचायु**, उत्तर प्रकृतियां हैं।

गोत्र कर्म—

लोकव्यवहार संबंधी आचरण को **गोत्र** माना गया है। जिस कुल में लोकपूजित आचरण की परम्परा है, उसे **उच्चगोत्र**, और जिसमें लोकनिन्दित आचरण की परम्परा है, उसे **नीचगोत्र** नाम दिया गया है। इन कुलों में जन्म दिलानेवाला कर्म गोत्र कर्म कहलाता है, और उसकी तदनुसार उच्चगोत्र व नीचगोत्र, ये दो ही उत्तर प्रकृतियां हैं। यद्यपि गोत्र शब्द का वैदिक परम्परा में भी प्रयोग पाया जाता है, तथापि जैन कर्म सिद्धान्त में उसकी उच्चता और नीचता में आचरण की प्रधानता स्वीकार की गई है।

नाम कर्म—

जिसप्रकार मोहनीय कर्म के द्वारा विशेषरूप से प्राणियों के मानसिक गुणों व

जो पर पदार्थ की ओर मनको आकर्षित व आसक्त करता है। इसे शास्त्र में पेज्ज (सं. प्रेयस्) कहा गया है और दूसरा द्वेष जो भिन्न पदार्थों से घृणा उत्पन्न करता है। यथार्थतः ये ही दो मूलकषाय या कषाय भाव हैं, और इन्हीं के प्रभेद रूप क्रोध मान माया और लोभ ये चार कषाय माने गये हैं। इनमें से प्रत्येक की तीव्रता और मन्दता-नुसार असंख्यात भेद हो सकते हैं, किन्तु सुविधा के लिये चार भेद माने गये हैं, जो भौतिक दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट समझे जा सकते हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध पाषाण की रेखा के समान बहुत स्थायी होता है। उसका अप्रत्याख्यान रूप पृथ्वी की रेखा के सदृश प्रत्याख्यान रूप धूलि की रेखा के समान और संज्वलन जल की रेखा के समान क्रमशः तीव्रतम से लेकर मन्दतम होता है। इसीप्रकार मान की चार अवस्थाएं, उसकी कठोरता व लचीलेपन के अनुसार, पाषाण अस्थि काष्ठ और बेंत के समान माया की उसकी वक्रता की जटिलता व हीनता के अनुसार, बांस की जड़ मेढ़े के सींग गोमूत्र तथा खुरपे के सदृश एवं लोभ कषाय की कृमिराग कीट (किरमिज) शरीरमल और हलदी के समान तीव्रता से मन्दता की ओर उक्त अनन्तानुबन्धी आदि चार चार अवस्थाएं होती हैं।

'नो' का अर्थ होता है—ईषत् या अल्प। तदनुसार नोकषाय वे मानसिक विकार कहे गये हैं, जो उक्त कषायों के प्रभेद रूप होते हुए भी अपनी विशेषता व जीवन में स्पष्ट पृथक स्वरूप के कारण अलग से गिनाये गये हैं। इन नोकषायों का स्वरूप उनके नाम से ही स्पष्ट है। इसप्रकार मोहनीय कर्म की इन अट्ठाइस उत्तर प्रकृतियों के भीतर अपनी एक विशेष व्यवस्थानुसार उन सब मानसिक अवस्थाओं का अन्तर्भाव हो जाता है, जो अन्यत्र रस व भावों के नाम से संक्षेप या विस्तार से वर्णित पाई जाती हैं। इन्हीं मोहनीय कर्मों की तीव्र व मन्द अवस्थाओं के अनुसार वे आध्यात्मिक भूमिकाएं विकसित होती हैं जिन्हें गुणस्थान कहते हैं जिनका वर्णन आगे किया जायेगा।

अन्तरायकर्म—

जो कर्म जीव के बाह्य पदार्थों के आदान-प्रदान और भोगोपभोग तथा स्वकीय पराक्रम के विकास में विघ्न-बाधा उत्पन्न करता है, वह अन्तराय कर्म कहा गया है। उसकी पांच उत्तर प्रकृतियां हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। ये क्रमशः जीव के दान करने लाभ लेने भोज्य व भोग्य पदार्थों का एक बार में अथवा अनेक बार में सुख लेने एवं किसी भी परिस्थिति का सामना करने योग्य सामर्थ्य रूप गुणों के विकास में बाधक होते हैं।

वेदनीय कर्म—

जो कर्म जीव को सुख या दुःख रूप वेदन उत्पन्न करता है, उसे **वेदनीय** कहते हैं। इसकी उत्तर प्रकृतिया दो हैं—**साता वेदनीय,** जो जीव को सुख का अनुभव कराता है, और **असाता वेदनीय,** जो दुःख का अनुभव कराता है। यहा अन्तराय कर्म की भोग और उपभोग प्रकृतिया, तथा वेदनीय की साता-असाता प्रकृतियो के फलोदय मे भेद करना आवश्यक है। किसी मनुष्य को भोजन, वस्त्र, गृह आदि की प्राप्ति नही हो रही, इसे उसके लाभान्तराय कर्म का उदय कहा जायेगा। इनका लाभ होने पर भी यदि किसी परिस्थितिवश वह उनका भोग या उपभोग नही कर पाता, तो वह उसके भोग-उपभोगान्तराय कर्म का उदय माना जायेगा, और यदि उक्त वस्तुओ की प्राप्ति और उनका उपयोग होने पर भी उसे सुख का अनुभव न होकर, दुःख ही होता है, तो यह उसके असाता वेदनीय कर्म का फल है। सम्भव है किसी व्यक्ति के लाभान्तराय कर्म के उपशमन से उसे भोग्य वस्तुओ की प्राप्ति हो गई हो, पर वह उनका सुख तभी पा सकेगा जब साथ ही उससे साता-वेदनीय कर्म का उदय हो। यदि असाता-वेदनीय कर्म का उदय है, तो उन वस्तुओ से भी उसे दुःख ही होगा।

आयु कर्म—

जिस कर्म के उदय से जीव की देव, नरक, मनुष्य या तिर्यंच गति मे आयु का निर्धारण होता है, वह आयु कर्म है, और उसकी ये ही चार अर्थात् **देवायु, नरकायु, मनुष्यायु** व **तिर्यंचायु,** उत्तर प्रकृतिया हैं।

गोत्र कर्म—

लोकव्यवहार सबंधी आचरण को **गोत्र** माना गया है। जिस कुल मे लोकपूजित आचरण की परम्परा है, उसे **उच्चगोत्र,** और जिसमे लोकनिन्दित आचरण की परम्परा है, उसे **नीचगोत्र** नाम दिया गया है। इन कुलो मे जन्म दिलानेवाला कर्म गोत्र कर्म कहलाता है, और उसकी तदनुसार उच्चगोत्र व नीचगोत्र, ये दो ही उत्तर प्रकृतिया हैं। यद्यपि गोत्र शब्द का वैदिक परम्परा मे भी प्रयोग पाया जाता है, तथापि जैन कर्म सिद्धान्त मे उसकी उच्चता और नीचता मे आचरण की प्रधानता स्वीकार की गई है।

नाम कर्म—

जिसप्रकार मोहनीय कर्म के द्वारा विशेषरूप से प्राणियो के मानसिक गुणो व

विकारों का निर्माण होता है उसीप्रकार उसके शारीरिक गुणों के निर्माण में नामकर्म विशेष समर्थ कहा गया है। नामकर्म के मुख्यभेद ४२ तथा उनके उपभेदों की अपेक्षा ९३ उत्तर प्रकृतियां मानी गई हैं जो इसप्रकार हैं —

(१) चार गति (नरक तिर्यंच मनुष्य और देव) (२) पांच जाति (एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय) (३) पांच शरीर (औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस और कार्मण) (४ ५) औदारिकादि पांचों शरीरों के पांच बन्धन व उन्हीं के पांच संघात (६) छह शरीर संस्थान (समचतुरस्र न्यग्रोधपरिमण्डल स्वाति कुब्ज वामन और हुण्ड) (७) तीन शरीरांगोपांग (औदारिक वैक्रियिक और आहारक) (८) छह संहनन (वज्रवृषभनाराच वज्रनाराच नाराच अर्धनाराच कीलित और असंप्राप्तासृपाटिका) (९) पांच वर्ण (कृष्ण नील रक्त हरित और शुक्ल) (१०) दो गंध (सुगन्ध और दुर्गन्ध) (११) पांच रस (तिक्त कटु, कषाय आम्ल और मधुर) (१२) आठ स्पर्श (कठोर, मृदु, गुरु लघु स्निग्ध रूक्ष शीत और उष्ण) (१३) चार आनुपूर्वी (नरकगतियोग्य तिर्यंचगतियोग्य मनुष्यगतियोग्य और देवगतियोग्य) (१४) अगुरुलघु, (१५) उपघात (१६) परघात (१७) उच्छ्वास (१८) आतप (१९) उद्योत (२०) दो विहायोगति (प्रशस्त और अप्रशस्त) (२१) त्रस (२२) स्थावर, (२३) बादर, (२४) सूक्ष्म (२५) पर्याप्त (२६) अपर्याप्त (२७) प्रत्येक शरीर, (२८) साधारण शरीर, (२९) स्थिर, (३०) अस्थिर, (३१) शुभ (३२) अशुभ (३३) सुभग (३४) दुर्भग (३५) सुस्वर, (३६) दुःस्वर, (३७) आदेय (३८) अनादेय (३९) यशःकीर्ति (४०) अयशःकीर्ति (४१) निर्माण और (४२) तीर्थंकर।

उपर्युक्त कर्म प्रकृतियों में से अधिकांश का स्वरूप उनके नामों पर से अथवा पूर्वोक्त उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है। शेष का स्वरूप इस प्रकार है—पांच प्रकार के शरीरों के जो पांच प्रकार के बन्धन बतलाये गये हैं उनका कर्तव्य यह है कि वे शरीर नामकर्म के द्वारा ग्रहण किये हुए पुद्गल परमाणुओं में परस्पर बन्धन व संश्लेष उत्पन्न करते हैं, जिसके अभाव में वह परमाणुपुंज रत्नराशिवत् विरल (पृथक्) रह जायगा। बन्धन प्रकृति के द्वारा उत्पन्न हुए संश्लिष्ट शरीर में संघात अर्थात् निश्छिद्र ठोसपन लाना संघात प्रकृति का कार्य है। संस्थान नामकर्म का कार्य शरीर की आकृति का निर्माण करना है। जिस शरीर के समस्त भाग उचित प्रमाण से निर्मित होते हैं, वह समचतुरस्र कहलाता है। जिस शरीर का नाभि से ऊपर का भाग अति स्थूल और नीचे का भाग अति लघु हो उसे न्यग्रोधपरिमण्डल (अर्थात् वटवृक्षाकार) संस्थान कहा

जाता है। इससे विपरीत, अर्थात् ऊपर का भाग अत्यन्त लघु और नीचे का अत्यन्त विशाल हो, वह **स्वाति** (अर्थात् वल्मीक के आकार का) सस्थान कहलाता है। कुवडे शरीर को **कुब्ज**, सर्वांग ह्रस्व शरीर को **वामन**, तथा सर्व अगोपागो मे विपमाकार (टेढेमेढे) शरीर को **हुण्ड** सस्थान कहते है। इन्ही छह भिन्न शरीर-आकृतियो का निर्माण कराने वाली छह सस्थान प्रकृतिया मानी गई हैं। उपर्युक्त औदारिकादि पाच शरीर-प्रकृतियो मे से तैजस और कार्मण, इन दो प्रकृतियो द्वारा किन्ही भिन्न शरीरो व अगोपागो का निर्माण नही होता। इसलिये उन दो को छोडकर अगोपाग नामकर्म की शेष तीन ही प्रकृतिया कही गई हैं। **वृषभ** का अर्थ अस्थि, और **नाराच** का अर्थ कील होता है। अतएव जिस शरीर की अस्थियां व उन्हें जोडनेवाली कीलें वज्र के समान दृढ होती हैं, वह शरीर **वज्र-वृषभ-नाराच** सहनन कहलाता है। जिस शरीर की केवल नाराच अर्थात् कीलें वज्रवत् होती हैं, उसे **वज्र-नाराच** सहनन कहा जाता है। **नाराच** सहनन मे कीले तो होती हैं, किन्तु वज्र समान दृढ नही। **अर्द्धनाराच** सहनन वाले शरीर मे कील पूरी नही, किन्तु आधी रहती है। जिस शरीर मे अस्थियो के जोडो के स्थानो मे दोनो ओर अल्प कीले लगी हो, वह **कीलक** सहनन है, और जहा अस्थियो का वन्ध,कीलो से नही, किन्तु स्नायु, मास आदि से लपेट कर सघटित हो, वह **असप्राप्तासृपाटिका** सहनन कहा गया है। इन्ही छह प्रकार के शरीर-सहननो के निर्माण के लिये उक्त छह प्रकृतिया ग्रहण की गई हैं। मृत्युकाल मे जीव के पूर्व शरीराकार का विनाश हुए विना उसकी नवीन गति की ओर ले जाने वाली शक्ति को देने वाली प्रकृति का नाम **आनुपूर्वी** है, जिसके गतियो के अनुसार चार भेद हैं। शरीर के अग-प्रत्यगो की ऐसी रचना जो स्वय उसी देहधारी जीव को क्लेशदायक हो, उसे **उपघात**, और जिससे दूसरो को क्लेश पहुचाया जा सके, उसे **परघात** कहते हैं। इन प्रवृत्तियो को उत्पन्न करनेवाली प्रकृतियो के नाम भी क्रमश उपघात और परघात हैं। वडे सीग, लम्बे स्तन, विशाल तोद एव वात, पित्त, कफ आदि दूषण उपघात कर्मोदय के, तथा सर्प की डाढ व विच्छू के डक का विष, सिह व्याघ्रादि के नख और दत आदि परघात कर्मोदय के उदाहरण हैं। **आतप** का अर्थ है उष्णता सहित, तथा **उद्योत** का अर्थ है उष्णता रहित प्रकाश, जैसा कि सूर्य और चन्द्र मे पाया जाता है। जीव-शरीरो मे इन धर्मों को प्रकट करने वाली प्रकृतियो को आतप व उपघात कहा है, जैसा कि क्रमश सूर्यमण्डलवर्ती पृथ्वीकायिक शरीर व खद्योत। स्थानान्तरण का नाम गति है, जो विहायस् अर्थात् आकाश-अवकाश मे होती है। किन्ही जीवो की गति **प्रशस्त** अर्थात् सुन्दर व उत्तम मानी गई है, जैसे हाथी, हस आदि की, और कितनो) की **अप्रशस्त**.

विकारों का निर्माण होता है उसीप्रकार उसके शारीरिक गुणों के निर्माण में नामकर्म विशेष समर्थ कहा गया है। नामकर्म के मुख्यभेद ४२, तथा उनके उपभेदों की अपेक्षा ९३ उत्तर प्रकृतियां मानी गई हैं, जो इसप्रकार हैं —

(१) चार गति (नरक तिर्यंच मनुष्य और देव) (२) पांच जाति (एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय) (३) पांच शरीर (औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस और कार्मण) (४ ५) औदारिकादि पांचों शरीरों के पांच बन्धन व उन्ही के पांच संघात (६) छह शरीर संस्थान (समचतुरस्र न्यग्रोधपरिमण्डल स्वाति कुब्ज वामन और हुण्ड) (७) तीन शरीरांगोपांग (औदारिक वैक्रियिक और आहारक) (८) छह संहनन (वज्रवृषभनाराच वज्रनाराच नाराच अर्द्धनाराच कीलित और असम्प्राप्तासृपाटिका) (९) पांच वर्ण (कृष्ण नील रक्त हरित और शुक्ल) (१) दो गंध (सुगन्ध और दुर्गन्ध) (११) पांच रस (तिक्त कटु, कषाय आम्ल और मधुर) (१२) आठ स्पर्श (कठोर, मृदु, गुरु लघु, स्निग्ध रूक्ष शीत और उष्ण) (१३) चार आनुपूर्वी (नरकगतियोग्य तिर्यग्गतियोग्य मनुष्यगतियोग्य और देवगतियोग्य) (१४) अगुरुलघु (१५) उपघात (१६) परघात (१७) उच्छ्वास (१८) आतप (१९) उद्योत (२) दो विहायोगति (प्रशस्त और अप्रशस्त) (२१) त्रस (२२) स्थावर, (२३) बादर, (२४) सूक्ष्म (२५) पर्याप्ति (२६) अपर्याप्ति (२७) प्रत्येक शरीर, (२८) साधारण शरीर, (२९) स्थिर, (३) अस्थिर, (३१) शुभ (३२) अशुभ (३३) सुभग (३४) दुर्भग (३५) सुस्वर, (३६) दुस्वर, (३७) आदेय (३८) अनादेय (३९) यशःकीर्ति (४) अयशःकीर्ति -(४१) निर्माण और (४२) तीर्थंकर।

उपर्युक्त कर्म प्रकृतियों में से अधिकांश का स्वरूप उनके नामों पर से अथवा पूर्वोक्त उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है। शेष का स्वरूप इस प्रकार है—पांच प्रकार के शरीरों के जो पांच प्रकार के बन्धन बतलाये गये हैं उनका कर्तव्य यह है कि वे शरीर नामकर्म के द्वारा ग्रहण किये हुए पुद्गल परमाणुओं में परस्पर बन्धन व संश्लेष उत्पन्न करते हैं, जिसके अभाव में वह परमाणुपुंज रेतराशिवत् बिरल (पृथक्) रह जायगा। बन्धन प्रकृति के द्वारा उत्पन्न हुए संश्लिष्ट शरीर में संघात अर्थात् निश्छिद्र ठोसपन लाना संघात प्रकृति का कार्य है। संस्थान नामकर्म का कार्य शरीर की आकृति का निर्माण करना है। जिस शरीर के समस्त भाग उचित प्रमाण से निर्माण होते हैं, वह समचतुरस्र कहलाता है। जिस शरीर का नाभि से ऊपर का भाग अति स्थूल और नीचे का भाग अति लघु हो उसे न्यग्रोधपरिमण्डल (अर्थात् वटवृक्षाकार) संस्थान कहा

जाता है। इससे विपरीत, अर्थात् ऊपर का भाग अत्यन्त लघु और नीचे का अत्यन्त विशाल हो, वह **स्वाति** (अर्थात् वल्मीक के आकार का) सस्थान कहलाता है। कुवडे शरीर को **कुब्ज**, सर्वांग ह्रस्व शरीर को **वामन**, तथा सर्व अगोपागो मे विपमाकार (टेढेमेढे) शरीर को **हुण्ड सस्थान** कहते है। इन्ही छह भिन्न शरीर-आकृतियो का निर्माण कराने वाली छह सस्थान प्रकृतिया मानी गई हैं। उपर्युक्त औदारिकादि पाच शरीर-प्रकृतियो में से तैजस और कार्मण, इन दो प्रकृतियो द्वारा किन्ही भिन्न शरीरो व अगोपागो का निर्माण नही होता। इसलिये उन दो को छोडकर **अगोपाग** नामकर्म की शेष तीन ही प्रकृतिया कही गई हैं। **वृषभ** का अर्थ अस्थि, और **नाराच** का अर्थ कील होता है। अतएव जिस शरीर की अस्थिया व उन्हें जोडनेवाली कीले वज्र के समान दृढ होती हैं, वह शरीर **वज्र-वृषभ-नाराच** सहनन कहलाता है। जिस शरीर की केवल नाराच अर्थात् कीलें वज्रवत् होती हैं, उसे **वज्र-नाराच** सहनन कहा जाता है। **नाराच** सहनन मे कीलें तो होती हैं, किन्तु वज्र समान दृढ नही। **अर्द्धनाराच** सहनन वाले शरीर मे कील पूरी नही, किन्तु आधी रहती है। जिस शरीर मे अस्थियो के जोडो के स्थानो मे दोनो ओर अल्प कीलें लगी हो, वह **कीलक** सहनन है, और जहा अस्थियो का वन्ध,कीलो से नही, किन्तु स्नायु, मास आदि से लपेट कर सघटित हो, वह **असप्राप्तासृपाटिका** सहनन कहा गया है। इन्ही छह प्रकार के शरीर-सहननो के निर्माण के लिये उक्त छह प्रकृतिया ग्रहण की गई हैं। मृत्युकाल मे जीव के पूर्व शरीराकार का विनाश हुए विना उसकी नवीन गति की ओर ले जाने वाली शक्ति को देने वाली प्रकृति का नाम **आनुपूर्वी** है, जिसके गतियो के अनुसार चार भेद हैं। शरीर के अग-प्रत्यगो की ऐसी रचना जो स्वय उसी देहधारी जीव को क्लेशदायक हो, उसे **उपघात**, और जिसमे दूसरो को क्लेश पहुचाया जा सके, उसे **परघात** कहते हैं। इन प्रवृत्तियो को उत्पन्न करनेवाली प्रकृतियो के नाम भी क्रमश उपघात और परघात हैं। वडे सीग, लम्वे स्तन, विशाल तोद एव वात, पित्त, कफ आदि दूपण उपघात कर्मोदय के, तथा सर्प की डाढ व विच्छू के डक का विप, सिंह व्याघ्रादि के नख और दत आदि परघात कर्मोदय के उदाहरण हैं। **आतप** का अर्थ है उष्णता सहित, तथा **उद्योत** का अर्थ है उष्णता रहित प्रकाश, जैसा कि सूर्य और चन्द्र मे पाया जाता है। जीव-शरीरो मे इन धर्मों को प्रकट करने वाली प्रकृतियो को आतप व उपघात कहा है, जैसा कि क्रमश सूर्यमण्डलवर्ती पृथ्वीकायिक शरीर व खद्योत। स्थानान्तरण का नाम गति है, जो विहायस् अर्थात् आकाश-अवकाश मे होती है। किन्ही जीवो की गति **प्रशस्त** अर्थात् सुन्दर व उत्तम मानी गई है, जैसे हाथी, हस आदि की, और कितनो की **अप्रशस्त**,

जैसे गधा ऊंट आदि की। इन्हीं दो प्रकार की गतियों की विधायक प्रशस्त व अप्रशस्त विहायोगति नामक कर्म-प्रकृतियां मानी गई हैं। पर्याप्त शरीर वह है जिसकी इन्द्रिय आदि पुद्गल-रचना पूर्ण हो गई है या होनेवाली है। अपर्याप्त शरीर वह है जिसकी पुद्गल रचना पूर्ण होने के पूर्व ही उसका मरण अवश्यम्भावी है। इन्हीं दो भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों की विधायक पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो प्रकृतियां मानी गई हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर में रस रुधिर, मांस मेद मज्जा अस्थि और शुक्र, इन धातुओं में स्थिरता उत्पन्न होती है उसे स्थिर और जिसके द्वारा उन्हीं धातुओं का क्रमश विपरिवर्तन होता है उसका नाम अस्थिर प्रकृति है। रक्त व प्राण वायु का जो शरीर में निरन्तर संचालन होता रहता है उसे अस्थिर प्रकृति का तथा अस्थि आदि धातुओं में जो स्थिरता पाई जाती है उसे स्थिर प्रकृति का कार्य कहा जा सकता है। शरीर के अंगोपांगो के शुभ-लक्षण शुभ प्रकृति एवं अशुभ-लक्षण अशुभप्रकृति के कारण होते हैं। उसी प्रकार उनके सौन्दर्य व कुरूपता के कारण सुभग व दुर्भग प्रकृतियां हैं। जिस कर्म के उदय से जीव के आदेयता अर्थात् बहुमान्यता उत्पन्न होती है वह आदेय और उससे विपरीत भाव प्रकृति अनादेय कही गई है। जिस कर्म के उदय से लोक में जीव के गुणों की ख्याति होती है वह यशः कीर्ति और जिससे कुख्याति होती है वह अयशःकीर्ति प्रकृति है। जिस कर्म के द्वारा शरीर के अंगोपांगों के प्रमाण व यथोचित स्थान का नियमण होता है, उसे निर्माण नाम कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव को त्रिलोक-पूज्य तीर्थंकर पर्याय प्राप्त होती है, वह तीर्थंकर प्रकृति है। इस प्रकार नामकर्म की इन विविध प्रकृतियों द्वारा जीवों के शरीर, अंगोपांगों व धातु-रूप धातुओं की रचना और उनके कार्य-वैचित्र्य का निर्धारण व नियमन किया गया है।

प्रकृतिबन्ध के कारण—

ऊपर कहा जा चुका है कि कर्मबन्ध का कारण सामान्य रूप से जीव की कषायात्मक मन-वचन-काय की प्रवृत्तियां हैं। कौन सी कषायात्मक प्रवृत्तियां किन कर्म प्रकृतियों को जन्म देती हैं इसका भी सूक्ष्म विचार किया गया है, जो संक्षेप में इसप्रकार है— तत्त्वज्ञान मोक्ष का साधन है। इस धारणा की बाधक प्रवृत्तियां हैं—इस तत्त्वज्ञान को दूसरों से छुपाना या जानबूझकर उसे विकृत रूप में प्रस्तुत करना ज्ञान के विषय में किसी से मात्सर्य भाव रखना उनके ज्ञानार्जन में बाधा उपस्थित करना या उसे वर्जन से रोकना व सच्चे ज्ञान में दूषण उत्पन्न करना। ये कुटिल वृत्तियां जब सम्यग्दर्शन के संबंध में उपस्थित होती हैं, तब दर्शनावरण व ज्ञान के संबंध में उत्पन्न होने पर ज्ञानावरण

कर्म-प्रकृति का वध कराती हैं, व भाव-वैचित्र्य के अनुसार इन कर्मों की उत्तर प्रकृतिया वधती हैं। उसी प्रकार परम ज्ञानियो, उत्तम शास्त्र, सच्चे धर्मनिष्ठ व्यक्तियो, धर्माचरणो व सच्चे देव के सवध मे निंदा और अपमान फैलाना, दर्शन-मोहनीय कर्म के कारण हैं, तथा क्रोधादि कषायो से जो भावो की तीव्रता उत्पन्न होती है, उससे चारित्र-मोहनीय कर्म वधता है। दान, लाभ, भोग, उपभोग व शक्ति (वीर्य) उपार्जन जीवन को सुखी बनाने की सामान्य प्रवृत्तिया हैं। इनमे कुटिलभाव से विघ्न उपस्थित करने के कारण अन्तराय कर्म की विविध प्रकृतियो का वध होता है। ये चारो कर्म जीव के गुणों के विकास मे वाधक होते हैं, अर्थात् उनकी सत्ता विद्यमान रहने पर जीव अपने ज्ञान-दर्शनादि गुणो को पूर्ण रूप से विकसित नही कर पाता, इसकारण इन कर्मों को घाति एव पाप-कर्म कहा गया है। शेष जो चार वेदनीय, आयु, गोत्र व नाम कर्म हैं, उनका अस्तित्व रहते हुए भी जीव के केवलज्ञान की प्राप्ति रूप पूर्ण आध्यात्मिक विकास मे वाधा नही पडती। इसलिये इन कर्मो को अघाति कर्म माना गया है। स्वय को या दूसरों को दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध आदि रूप पीडा देने से असाता-वेदनीय कर्म का वध होता है, तथा जीवो के प्रति दयाभाव, व्रती व सयमी पुरुषो के प्रति अनुकम्पा व दान, तथा ससार से छूटने की इच्छा से स्वय व्रत-सयम के अभ्यास से साता-वेदनीय कर्म का वध होता है। इसप्रकार वेदनीय कर्म दो प्रकार का सिद्ध हुआ—एक दुःखदायी, दूसरा सुखदायी, और इसलिये एक को पाप व दूसरे को पुण्य कहा गया है।

यहा यह वात भी ध्यान देने योग्य है कि पुण्य और पाप, ये दोनो ही प्रवृत्तिया कर्मवध उत्पन्न करती हैं। हा, उनमे से प्रथम प्रकार का कर्मवध जीव के अनुभवन मे अनुकूल व सुखदायी, और दूसरा प्रतिकूल व दुःखदायी सिद्ध होता है। इसीलिये पुण्य और पाप दोनो को शरीर को वाधने वाली वेडियो की उपमा दी गई है। पाप रूप वेडिया लोहे की हैं, और पुण्य रूप वेडिया सुवर्ण की, जो अलकारो का रूप धारणकर प्रिय लगती हैं। जीव के इन पुण्य और पाप रूप परिणामो को शुभ व अशुभ भी कहा गया है। ये दोनो ही ससार-भ्रमण के कारणीभूत हैं, भले ही पुण्य जीव को स्वर्गादि शुभ गतियो मे ले जाकर सुखानुभव कराये, अथवा पाप नरकादि व पशु योनियो मे ले जाकर दुःखदायी हो। इन दोनो शुभाशुभ परिणामो से पृथक् जो जीव की शुद्धावस्था मानी गई है, वही कर्मवध से छुडाकर मोक्ष गति को प्राप्त कराने वाली है।

सासारिक कार्यों मे अति आसक्ति व अति परिग्रह नरकायु वध का कारण कहा गया है। मायाचार तिर्यंच आयु का, अल्पारभ, अल्प परिग्रह, व स्वभाव की मृदुता

मनुष्य आयु का तथा संयम व तप देवायु का बंध कराते हैं। इनमें देव और मनुष्य आयु का बंध शुभ व नरक और तिर्यंच आयु का बंध अशुभ कहा गया है। पर-निंदा आत्म प्रशंसा सद्भूतगुणों का आच्छादन तथा असद्भूत गुणों का उद्भावन ये नीचगोत्र तथा इनसे विपरीत प्रवृत्ति एवं मान का अभाव और विनय ये उच्चगोत्र बंध के कारण हैं। यहां पर स्पष्टतः उच्चगोत्र का बंध शुभ व नीच गोत्र का बंध अशुभ होता है। नामकर्म की जितनी उत्तर प्रकृतियां बतलाई गई हैं, वे उनके स्वरूप से ही स्पष्टतः दो प्रकार की हैं—शुभ व अशुभ। इनमें अशुभ नामकर्म-बंध का कारण सामान्य से मन-वचन-काय योगों की वक्रता व कुत्सित क्रियाएं और साथ-साथ मिथ्याभाव पैशुन्य चित्त की चंचलता झूठे नाप-तौल रखकर दूसरों को ठगने की वृत्ति आदि रूप बुरा आचरण है और इनसे विपरीत सदाचरण शुभ नाम कर्म के बंध का कारण है। नामकर्म के भीतर तीर्थंकर प्रकृति बतलाई गई है, जो जीव के शुभतम परिणामों से उत्पन्न होती है। ऐसे १६ उत्तम परिणाम विशेष रूप से तीर्थंकर गोत्र के कारण बतलाये गये हैं जो इसप्रकार है—

सम्यग्दर्शन की विशुद्धि विनय-संपन्नता शीलों और व्रतों का निर्दोष परिपालन निरन्तर ज्ञान-साधना मोक्ष की ओर प्रवृत्ति शक्ति अनुसार त्याग और तप सभी प्रकार समाधि साधु जनों का सेवा-सत्कार, पूज्य आचार्य विशेष विद्वान व शास्त्र के प्रति भक्ति आवश्यक धर्मकार्यों का निरन्तर परिपालन धार्मिक-प्रोत्साहन व धर्मीजनों के प्रति वात्सल्य भाव।

स्थितिबन्ध—

ये कर्म प्रकृतियां जब बंध को प्राप्त होती हैं तभी उनमें जीव के कषायों की मंदता व तीव्रता के अनुसार यह गुण भी उत्पन्न हो जाता है कि वे कितने काल तक सत्ता में रहेंगे और फिर अपना फल देकर झड़ जायेंगे। इसे ही कर्मों का स्थितिबंध कहते हैं। यह स्थिति जीव के परिणामानुसार तीन प्रकार की होती है जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट। ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय व अन्तराय इन तीन कर्मों की जघन्य अर्थात् कम कम से स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर की होती है। वेदनीय की जघन्यस्थिति बारह मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागर की। मोहनीय कर्म की जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की। आयुकर्म की क्रमशः अन्तर्मुहूर्त और ३३ सागर की तथा नाम और गोत्र इन दोनों की आठ अन्तर्मुहूर्त

और २० कोडाकोडी सागर की कही गई है। जघन्य और उत्कृष्ट के बीच की समस्त स्थितिया मध्यम कहलाती हैं। एक मुहूर्तकाल का प्रमाण आधुनिक कालगणनानुसार ४८ मिनट होता है। एक मूहूर्त मे एक समय हीन काल को भिन्नमुहूर्त और भिन्नमुहूर्त से एक समय हीन काल मे लेकर एक आवलि तक के काल को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। १ आवलि १ सेकेन्ड के अल्पाश के वरावर होता है। सागर अथवा सागरोपम एक उपमा प्रमाण है, जिसकी सख्या नही की जा सकती, अर्थात् सख्यातीत वर्षो के काल को सागर कहते है। कोडाकोडी का अर्थ है १ करोड का वर्ग (१ करोड × १ करोड)। इस प्रकार कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति जो २०,३०,३३ या ७० कोडाकोडी सागरोपम की वतलाई गई है, वह हमे केवल उनकी परस्पर दीर्घता वा अल्पता का बोध मात्र कराती है। सामान्यत सभी कर्मों की उत्कृष्ट स्थितिया अप्रशस्त मानी गई हैं, क्योकि उनका वध सक्लेश रूप परिणामो से होता है। सक्लेश मे जितनी मात्रा मे हीनता और विशुद्धि की वृद्धि होगी, उसी अनुपात से स्थिति-वध हीन होता जाता है, और जघन्यस्थिति का वध उत्कृष्ट विशुद्धि की अवस्था में होता है। विशुद्धि और सक्लेश का लक्षण धवलाकार ने वतलाया है कि साता-वेदनीय कर्म के वध योग्य परिणाम को विशुद्धि, और असाता-वेदनीय के वध योग्य परिणाम को सक्लेश मानना चाहिये।

अनुभाग वध—

कर्मप्रकृतियो मे स्थिति-वन्ध के साथ-साथ जो उनमे तीव्र या मन्द रसदायिनी शक्ति भी उत्पन्न होती है, उसी शक्ति का नाम अनुभाग वन्ध है, जिसप्रकार कि किसी फल मे उसके मिठास व खटास की तीव्रता व मन्दता भी पाई जाती है। यह अनुभाग वन्ध भी वन्धक जीवो के भावानुसार उत्पन्न होता है। विशुद्ध परिणामो द्वारा साता वेदनीयादि पुण्य प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग वन्ध होता है, और असाता वेदनीयादि पाप प्रकृतियो का जघन्य। तथा सक्लिष्ट परिणामो से असाता वेदनीयादि पाप प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग वन्व होता है, व साता वेदनीयादि पुण्य प्रकृतियो का जघन्य। 'इसप्रकार स्थिति वन्ध और अनुभाग वन्ध का परस्पर यह सवध पाया जाता है कि जहा स्थिति वन्ध की उत्कृष्टता और जघन्यता क्रमश सक्लेश और विशुद्धि के अधीन है, वहा अनुभाग वन्ध की उत्कृष्टता और जघन्यता, प्रशस्त व अप्रशस्त प्रकृतियो मे भिन्न प्रकार से उत्पन्न होती है"। प्रशस्त प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग विशुद्धि के अधीन है, और अप्रशस्त का सक्लेश के, एव जघन्यता इसके विपरीत।

कर्मों की यह अनुभाग रूप फलदायिनी शक्ति उदाहरणों द्वारा समझायी जा सकती है। जिस प्रकार लता काष्ठ अस्थि और पाषाण में कोमलता से कठोरता की ओर उत्तरोत्तर वृद्धि पाई जाती है, उसी प्रकार घातिया कर्मों का अनुभाग मन्दता से तीव्रता की ओर बढ़ता जाता है। लता भाग से लेकर काष्ठ के कुछ अंश तक घातिया कर्मों की शक्ति देशघाती कहलाती है, क्योंकि इस अवस्था में वह जीव के गुणों का आंशिक रूप से घात या आवरण करती है। और काष्ठ से आगे पाषाण तक की शक्ति सर्वघाति होती है—अर्थात् उस अनुभाग के उदय में आने पर आत्मा के गुण पूर्णता से रुक जाते हैं। अघातिया कर्मों में से प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग गुड़ खांड मिश्री और अमृत के समान तथा अप्रशस्त प्रकृतियों का नीम कांजी विष और हालाहल के समान कहा गया है, जिसका बंध उपर्युक्त विशुद्धि व संक्लेश की व्यवस्थानुसार उत्तरोत्तर तीव्र व मंद होता है।

प्रदेशबन्ध—

पहले कहा जा चुका है कि मन-वचन-काय की क्रिया के द्वारा जीव आत्म प्रदेशों के संपर्क में कर्म रूप पुद्गल परमाणुओं को ले आता है और उनमें विविध प्रकार की कर्मशक्तियां उत्पन्न करता है। इसप्रकार पुद्गल परमाणुओं का जीव प्रदेशों के साथ संबंध होना ही प्रदेश-बन्ध है। जिन पुद्गल परमाणुओं को जीव ग्रहण करता है वे अत्यन्त सूक्ष्म माने गये हैं और प्रतिसमय बंधनेवाले परमाणुओं की संख्या अनन्त मानी गयी है। जितना कर्मद्रव्य बंध को प्राप्त होती है उसका बटवारा जीव के परिणामानुसार आठ मूल प्रकृतियों में हो जाता है। इनमें आयु कर्म का भाग सब से अल्प उससे अधिक नाम और गोत्र का परस्पर समान उससे अधिक ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मों का परस्पर में समान उससे अधिक मोहनीय का और उससे अधिक वेदनीयका भाग होता है। इस अनुपात का कारण इस प्रकार प्रतीत होता है—आयुकर्म जीवन में केवल एक बार बंधता है, और सामान्यतः उसमें घटा-बढ़ी न होकर जीवन भर क्रमशः क्षरण होता रहता है, इस लिये उसका द्रव्यपुंज सब से अल्प माना गया है। नाम और गोत्र कर्मों की घटा-बढ़ी जीवन में आयुकर्म की अपेक्षा कुछ अधिक होती है किन्तु ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय की अपेक्षा उस द्रव्य का हानिलाभ कम ही होता है। मोहनीयकर्म संबंधी कषायों का उदय उत्कर्ष और अपकर्ष उक्त कर्मों की अपेक्षा अधिक होता है और उससे भी अधिक सुख-दुख अनुभवन रूप वेदनीय कर्म का कार्य पाया जाता है। इसी

कारण इन कर्मों के भाग का द्रव्य उक्त क्रम से हीनाधिक कहा गया है। जिसप्रकार प्रतिसमय अनन्त परमाणुओ का पुद्गल-पुज वध को प्राप्त होता है, उसीप्रकार पूर्व सचित कर्म-द्रव्य अपनी-अपनी स्थिति पूरी कर उदय मे आता रहता है, और अपनी अपनी प्रकृति अनुसार जीव को नानाप्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल अनुभव कराता रहता है। इसप्रकार इस कर्म-सिद्धान्तानुसार जीव की नानादशाओ का मूल कारण उसका अपने द्वारा उत्पादित पूर्व कर्म-वन्ध है। तात्कालिक भिन्न-भिन्न द्रव्यात्मक व भावात्मक परिस्थितिया कर्मों को फलदायिनी शक्ति मे कुछ उत्कर्षण, अपकर्षण, सक्रमण आदि विशेषताए अवश्य उत्पन्न किया करती हैं, किन्तु सामान्य रूप से कर्मफल-भोग की धारा अविच्छिन्न रूप से चला करती है, और यह गीतानुसार भगवान् कृष्ण के शव्दो मे पुकार कर कहती रहती है कि —

> उद्धरेदात्मनात्मान नात्मानमवसादयेत् ।
> आत्मैव ह्यात्मनो वन्धु आत्मैव रिपुरात्मन ॥(भ०गी० ६, ५)

कर्मसिद्धान्त की विशेषता—

यह है सक्षेप मे जैन दर्शन का कर्म सिद्धान्त। '**जैसी करनी, तैसी भरनी**' '**जो जस करहि तो तस फल चाखा**'(As you sow, so you reap) एक अति प्राचीन कहावत है। प्राय सभ्यता के विकास के आदिकाल मे ही मानव ने प्रकृति के कार्य-कारण सवध को जान लिया था, क्योकि वह देखता था कि प्राय प्रत्येक कार्य किसी कारण के आधार से ही उत्पन्न होता है, और वह कारण उसी कार्य को उत्पन्न करता है। जहा उसे किसी घटना के लिये कोई स्पष्ट कारण दिखाई नही दिया, वहा उसने किसी अदृष्ट कारण की कल्पना की, और घटना जितनी अद्भुत व असाधारण सी दिखाई दी, उतना ही अद्भुत व असाधारण उसका कारण कल्पित करना पडा। इसी छुपे हुए रहस्यमये कारण ने कही भूत-प्रेत का रूप धारण किया, कही ईश्वर या ईश्वरेच्छा का, कही प्रकृति का, और कही, यदि वह घटना मनुष्य से सम्वद्ध हुई तो, उसके भाग्य अथवा पूर्वकृत अदृष्ट कर्मों का। जैन दर्शन में इस अन्तिम कारण को आधारभूत मानकर अपने कर्म-सिद्धान्त मे उसका विस्तार से वर्णन किया गया है। अन्य अधिकाश धर्मों मे ईश्वर को यह कर्तृत्व सौंपा गया है, जिसके कारण उनमे कर्म-सिद्धान्त जैसी मान्यता या तो उत्पन्न ही नही हुई, या उत्पन्न होकर भी विशेष विकसित नही हो पाई। वेदान्त दर्शन में ईश्वर को मानकर भी उसके कर्तृत्व के सवध मे कुछ दोष उत्पन्न होते हुए दिखाई दिये। वादरायण के सूत्रो मे और उनके शकराचार्य कृत भाष्य(२,१,३४)मे स्पष्ट कहा

गया है कि यदि ईश्वर को मनुष्य के सुख-दुखों का कर्ता माना जाय तो वह पक्षपात और क्रूरता का दोषी ठहरता है क्योंकि वह कुछ मनुष्यों को अत्यन्त सुखी बनाता है, और दूसरों को अत्यन्त दुखी। इस बात का विवेचन कर अन्तत: इसी मत पर पहुंचा गया है कि ईश्वर मनुष्य के विषय में जो कुछ करता है, वह उस-उस व्यक्ति के पूर्व कर्मानुसार ही करता है। किन्तु ऐसी परिस्थिति में ईश्वर का कोई कर्तृत्व-स्वातन्त्र्य नहीं ठहरता। जैन कर्म सिद्धान्त में मनुष्य के कर्मों को फलदायक बनाने के लिये किसी एक पृथक शक्ति की आवश्यकता नहीं समझी गई और उसने अपने कर्म-सिद्धान्त द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व उसके गुण आचरण व सुख-दुखात्मक अनुभवन को उत्पन्न करनेवाली कर्मशक्तियों का एक सुव्यवस्थित वैज्ञानिक स्वरूप उपस्थित करने का प्रयत्न किया। इसके द्वारा जैनदार्शनिकों ने अपने परमात्मा या ईश्वर को उसके कर्तृत्व में उपस्थित होनेवाले दोषों से मुक्त रखा है और दूसरी ओर प्रत्येक व्यक्ति को अपने आचरण के संबंध में पूर्णत [illegible] कर्म-सिद्धान्त की यह बात भगवद्गीता के [illegible] व्याख्या में व्यक्त हुई पाई जाती है [illegible] गया है कि—

> न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
> न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
> नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
> अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति [illegible]॥

[illegible] ओं के द्वारा [illegible] ता है, और उ[illegible] रमाणुओं का [illegible] ओं को जीव [illegible] (५।१४-१५) [illegible] परमाणुओं [illegible] है [illegible] प्रमुख लक्ष्य

जीव और कर्मबंध सादि है या अनादि ? [illegible]

कर्म सिद्धान्त के विवेचन में [illegible] जा चुका है कि जीव किसप्रकार [illegible] में अपने मन-वचन-काय की क्रियाओं एवं रागद्वेषात्मक [illegible] ऐसी शक्तियां उत्पन्न करता है जिनके कारण उसे [illegible] नाओं के द्वारा अपने [illegible] अनुभवन हुआ करते हैं और उसका संसारचक्र में परिभ्रमण [illegible] र के सुख-दुख रूप [illegible] यह है कि क्या जीव का यह संसार-परिभ्रमण जिसप्रकार वह अनादि [illegible] है। [illegible] उसका अनन्त तक चलते रहना अनिवार्य है ? यदि यह अनिवार्य नहीं है, तो [illegible] प्रकार [illegible] का अन्त किया जाना वांछनीय है ? और यदि वांछनीय है, तो उसका उपाय क्या है ? इन विषयों पर भिन्न-भिन्न धर्मों व दर्शनों के नाना मतमतान्तर पाये जाते हैं। विज्ञान ने जहां प्रकृति के अन्य गुणधर्मों की जानकारी में अपना असाधारण सामर्थ्य बढ़ा लिया है, वहां वह जीव के भूत व भविष्य के संबंध में कुछ भी निश्चय-पूर्वक कह सकने में अपने को असमर्थ पाता है। अतएव इन विषय पर विचार हमें धार्मिक दर्शनों की सीमाओं के

भीतर ही करना पडता है। जो दर्शन जीवन की धारा को सादि अर्थात् अनादि न होकर किसी एक काल मे प्रारम्भ हुई मानते हैं, उनके सम्मुख यह प्रश्न खडा होता है कि जीवन का प्रारम्भ कब और क्यो हुआ ? कब का तो कोई उत्तर नही दे पाता, किन्तु क्यो का एक यह उत्तर दिया गया है कि ईश्वर की इच्छा से जीव की उत्पत्ति हुई। तात्पर्य यह कि जीव जैसे चेतन द्रव्य की उत्पत्ति के लिये एक और ईश्वर जैसे महान् चेतन द्रव्य की कल्पना करना आवश्यक हो जाता है, और इस महान् चेतन द्रव्य की सत्ता को अनादि मानना भी अनिवार्य होता है। जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, जैन धर्म मे इस दोहरी कल्पना के स्थान पर सीधे जीव के अनादि काल से ससार मे विद्यमान होने की मान्यता को उचित समझा गया है। किन्तु अधिकाश जीवो के लिये इस ससार-भ्रमण का अन्त कर, अपने शुद्ध रूप मे आनन्त्य प्राप्त करना सम्भव माना है। इस प्रकार जिन जीवो मे ससार से निकल कर मोक्ष प्राप्त करने की शक्ति है, वे जीव **भव्य** अर्थात् होने योग्य (होनहार) माने गये हैं, और जिनमे यह सामर्थ्य नही है, उन्हे **अभव्य** कहा गया है।

चार पुरुषार्थ—

जीव के द्वारा अपने ससारानुभवन का अन्त किया जाना वाछनीय है या नही, इस सम्बन्ध मे भी स्वभावत बहुत मतभेद पाया जाता है। इस विषय मे प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जीवन का अन्तिम ध्येय क्या है ? भारतीय परम्परा मे जीवन का ध्येय व पुरुषार्थ चार प्रकार का माना गया है—धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष। इन पर समुचित विचार करने से स्पष्ट दिखाई दे जाता है कि ये चार पुरुषार्थ यथार्थत दो भागो मे विभाजित करने योग्य हैं—एक ओर धर्म और अर्थ, व दूसरी ओर काम और मोक्ष। इनमे यथार्थत पुरुषार्थ अन्तिम दो ही हैं—काम और मोक्ष। **काम** का अर्थ है—सासारिक सुख, और **मोक्ष** का अर्थ है—सासारिक सुख, दुख व बधनो से मुक्ति। इन दो परस्पर विरोधी पुरुषार्थों के साधन हैं—अर्थ और धर्म। अर्थ से धन-दौलत आदि सासारिक परिग्रह का तात्पर्य है जिसके द्वारा भौतिक सुख सिद्ध होते हैं, और धर्म से तात्पर्य है उन शारीरिक और आध्यात्मिक साधनाओ का जिनके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है। भारतीय दर्शनो मे केवल एक चार्वाक मत ही ऐसा माना गया है, जिसने अर्थ द्वारा काम पुरुषार्थ की सिद्धि को ही जीवन का अन्तिम ध्येय माना है, क्योकि उस मत के अनुसार शरीर से भिन्न जीव जैसा कोई पृथक् तत्व ही नही है जो शरीर के भस्म होने पर अपना अस्तित्व स्थिर रख सकता हो। इसलिये

इस मत को नास्तिक कहा गया है। शेष वेदान्तादि वैदिक व जैन बौद्ध जैसे अवैदिक दर्शनों ने किसी न किसी रूप में जीव को शरीर से भिन्न एक शाश्वत तत्त्व स्वीकार किया है और इसीलिये ये मत आस्तिक कहे गये हैं तथा इन मतों के अनुसार जीव का अन्तिम पुरुषार्थ काम न होकर मोक्ष है जिसका साधन धर्म स्वीकार किया गया है। धर्म की इसी श्रेष्ठता के उपलक्ष्य में उसे चार पुरुषार्थों में प्रथम स्थान दिया गया है, और मोक्ष की चरम पुरुषार्थता को सूचित करने के लिये उसे अन्त में रखा गया है। अर्थ और काम ये दोनों साधन साध्य-जीवन के मध्य की अवस्थाएं हैं इसीलिये इनका स्थान पुरुषार्थों के मध्य में पाया जाता है।

मोक्ष सच्चा सुख—

इस प्रकार जैनधर्मानुसार जीवन का अन्तिम ध्येय काम अर्थात् सांसारिक सुख को न मानकर मोक्ष को माना गया है। स्वभावतः प्रश्न होता है कि प्रत्यक्ष सुखदायी पदार्थों व प्रवृत्तियों को महत्व न देकर मोक्ष रूप परोक्ष सुख पर इतना भार दिये जाने का कारण क्या है? इसका उत्तर यह है कि तत्वज्ञानियों को सांसारिक सुख सच्चा सुख नहीं किन्तु सुखाभास मात्र प्रतीत हुआ है। वह चिरस्थायी न होकर अल्पकालीन होता है और बहुधा एक सुख की तृप्ति उत्तरोत्तर अनेक नई लालसाओं को जन्म देनेवाली पाई जाती है। और जब हम इन सुखों के साधनों अर्थात् सांसारिक सुख-सामग्री के प्रमाण पर विचार करते हैं तो वह अनन्त प्राणियों की लालसाओं को तृप्त करने के लिये पर्याप्त तो क्या होगी एक जीवकी अभिलाषा को तृप्त करने के योग्य भी नहीं। इसीलिये एक आचार्य ने कहा है कि—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता॥

अर्थात् प्रत्येक प्राणी का अभिलाषा रूपी गर्त इतना बड़ा है कि उसमें विश्वभर की सम्पदा एक अणु के समान न कुछ के बराबर है। तब फिर सबकी आशाओं की पूर्ति कैसे किसे कितना देकर, की जा सकती है। अतएव सांसारिक विषयों की वासना सर्वथा व्यर्थ है। वह बाह्य वस्तुओं के अधीन होने के कारण भी उसकी प्राप्ति अनिश्चित है और उसके लिये प्रयत्न भी आकुलता और विपत्ति से परिपूर्ण पाया जाता है। इस ओर प्रवृत्ति के द्वारा किसी की कभी प्यास नहीं बुझ सकती और न उसे स्थायी सुख-शान्ति मिल सकती। इसीलिये सच्चे स्थायी सुख के लिये मनुष्य को अर्थसंचय रूप प्रवृत्ति-परायणता से मुड़कर धर्मसाधन रूप निवृत्ति-परायणता का

अभ्यास करना चाहिये, जिसके द्वारा सासारिक तृष्णा से मुक्ति रूप आत्माधीन मोक्ष सुख की प्राप्ति हो। आचार्यों ने दु ख और सुख की परिभाषा भी यही की है कि—

सर्वं परवश दु खं सर्वमात्मवश सुखम् ।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षण सुख-दु खयो॰ ॥ (मनु. ४,१६०)

जो कुछ पराधीन है वह सब अन्तत दुखदायी है, और जो कुछ स्वाधीन है वही सच्चा सुखदायी सिद्ध होता है।

मोक्ष का मार्ग—

जैनधर्म मे मोक्ष की प्राप्ति का उपाय शुद्ध दर्शन, ज्ञान और चारित्र को बतलाया गया है। तत्वार्थशास्त्र का प्रथम सूत्र है—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग । इन्ही तीन को रत्नत्रय माना गया है, और धर्म का स्वरूप इसी रत्नत्रय के भीतर गर्भित है। धर्म के ये तीन अग अन्तत वैदिक परम्परा मे भी श्रद्धा या भक्ति, ज्ञान और कर्म के नाम से स्वीकार किये गये हैं। मनुस्मृति मे वही धर्म प्रतिपादित करने की प्रतिज्ञा की गई है जिसका सेवन व अनुज्ञापन सच्चे (सम्यग्दृष्टि) विद्वान् (ज्ञानी) राग-द्वेष-रहित (सच्चारित्रवान्) महापुरुषो ने किया है। भगवद्गीता मे भी स्वीकार किया गया है कि श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त करता और तत्पश्चात् ही वह सयमी बनता है। यथा—

विद्वद्भि. सेवित॰ सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभि ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥ (मनु २, १)
श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्पर सयतेन्द्रिय (भ गी ४, ३९)

दर्शन के अनेक अर्थ होते हैं, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। मोक्ष-मार्ग मे प्रवृत्त होने के लिये जो पहला पग सम्यग्दर्शन कहा गया है, उसका अर्थ है ऐसी दृष्टि की प्राप्ति जिसके द्वारा शास्त्रोक्त तत्वो के स्वरूप मे सच्चा श्रद्धान उत्पन्न हो। इस सच्ची धार्मिक दृष्टि का मूल है अपनी आत्मा की शरीर से पृथक् सत्ता का भान। जब तक यह भान नही होता, तब तक जीव मिथ्यात्वी है। इस मिथ्यात्व से छूटकर आत्मबोध रूप सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव, जीव का **ग्रन्थि-भेद** कहा गया है, जो सासारिक प्रवाह मे कभी किसी समय विविध कारणों से सिद्ध हो जाता है। किन्ही जीवो को यह अकस्मात् **घर्षण-घोलन-न्याय** से प्राप्त हो जाता है, जिस प्रकार कि प्रवाह-पतित पाषाण खडो को परस्पर घिसते-पिसते रहने से नाना विशेष आकार, यहां तक कि देवमूर्ति का स्वरूप भी, प्राप्त हो जाता है। किन्ही जीवो को किसी विशेष

इस मत को नास्तिक कहा गया है। शेष वेदान्तादि वैदिक व जैन बौद्ध जैसे अवैदिक दर्शनों ने किसी न किसी रूप में जीव को शरीर से भिन्न एक शाश्वत तत्त्व स्वीकार किया है और इसीलिये ये मत आस्तिक कहे गये हैं तथा इन मतों के अनुसार जीव का अन्तिम पुरुषार्थ काम न होकर मोक्ष है जिसका साधन धर्म स्वीकार किया गया है। धर्म की इसी श्रेष्ठता के उपलक्ष्य में उसे चार पुरुषार्थों में प्रथम स्थान दिया गया है, और मोक्ष की चरम पुरुषार्थता को सूचित करने के लिये उसे अन्त में रखा गया है। अर्थ और काम ये दोनों साधन साध्य-जीवन के मध्य की अवस्थाएं हैं इसीलिये इनका स्थान पुरुषार्थों के मध्य में पाया जाता है।

मोक्ष सच्चा सुख—

इस प्रकार जैनधर्मानुसार जीवन का अन्तिम ध्येय काम अर्थात् सांसारिक सुख को न मानकर मोक्ष को माना गया है। स्वभावतः प्रश्न होता है कि प्रत्यक्ष सुखदायी पदार्थों व प्रवृत्तियों को महत्त्व न देकर मोक्ष रूप परोक्ष सुख पर इतना भार दिये जाने का कारण क्या है? इसका उत्तर यह है कि तत्त्वज्ञानियों को सांसारिक सुख सच्चा सुख नहीं किन्तु सुखाभास मात्र प्रतीत हुआ है। वह चिरस्थायी न होकर अल्पकालीन होता है और बहुधा एक सुख की तृप्ति उत्तरोत्तर अनेक नई लालसाओं को जन्म देनेवाली पाई जाती है। और जब हम इन सुखों के साधनों अर्थात् सांसारिक सुख-सामग्री के प्रमाण पर विचार करते हैं, तो वह असंख्य प्राणियों की लालसाओं को तृप्त करने के लिये पर्याप्त तो क्या होगी एक जीवकी अभिलाषा को तृप्त करने के योग्य भी नहीं। इसीलिये एक आचार्य ने कहा है कि—

> आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
> कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता॥

अर्थात् प्रत्येक प्राणी का अभिलाषा रूपी गर्त इतना बड़ा है कि उसमें विश्वभर भी सम्भवतः एक अणु के समान व तुच्छ के बराबर है। तब फिर सबकी आशाओं की पूर्ति कैसे किसे कितना देकर, की जा सकती है। अतएव सांसारिक विषयों की वासना सर्वथा व्यर्थ है। यह बाह्य वस्तुओं के अधीन होने के कारण भी उनकी प्राप्ति अनिश्चित है और उसके लिये प्रयत्न भी आकुलता और विपत्ति से परिपूर्ण पाया जाता है। इस ओर प्रवृत्ति के द्वारा किसी को कभी प्राप्त नहीं हुआ सकती और न उसे स्थायी सुख-शान्ति मिल सकती। इसीलिये सच्चे स्थायी सुख के लिये मनुष्य को अर्थोपार्जन रूप प्रवृत्ति-परायणता से मुड़कर धर्मसाधन रूप निवृत्ति-परायणता का

अभ्यास करना चाहिये, जिसके द्वारा सासारिक तृष्णा से मुक्ति रूप आत्माधीन मोक्ष सुख की प्राप्ति हो। आचार्यों ने दु ख और सुख की परिभाषा भी यही की है कि—

सर्वं परवश दु ख सर्वमात्मवश सुखम्।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षण सुख-दु. खयो.॥ (मनु ४,१६०)

जो कुछ पराधीन है वह सब अन्तत दुखदायी है; और जो कुछ स्वाधीन है वही सच्चा सुखदायी सिद्ध होता है।

मोक्ष का मार्ग—

जैनधर्म मे मोक्ष की प्राप्ति का उपाय शुद्ध दर्शन, ज्ञान और चारित्र को बतलाया गया है। तत्वार्थशास्त्र का प्रथम सूत्र है—**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग।** इन्ही तीन को रत्नत्रय माना गया है; और धर्म का स्वरूप इसी रत्नत्रय के भीतर गर्भित है। धर्म के ये तीन अग अन्तत वैदिक परम्परा में भी श्रद्धा या भक्ति, ज्ञान और कर्म के नाम से स्वीकार किये गये हैं। मनुस्मृति मे वही धर्म प्रतिपादित करने की प्रतिज्ञा की गई है जिसका सेवन व अनुज्ञापन सच्चे (सम्यग्दृष्टि) विद्वान् (ज्ञानी) राग-द्वेष-रहित (सच्चारित्रवान्) महापुरुषो ने किया है। भगवद्गीता मे भी स्वीकार किया गया है कि श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त करता और तत्पश्चात् ही वह सयमी बनता है। यथा—

विद्वद्भि· सेवित सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभि।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत॥ (मनु २, १)
श्रद्धावान् लभते ज्ञान तत्पर संयतेन्द्रिय· (भ गी ४, ३९)

दर्शन के अनेक अर्थ होते हैं, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। मोक्ष-मार्ग मे प्रवृत्त होने के लिये जो पहला पग सम्यग्दर्शन कहा गया है, उसका अर्थ है ऐसी दृष्टि की प्राप्ति जिसके द्वारा शास्त्रोक्त तत्वो के स्वरूप मे सच्चा श्रद्धान उत्पन्न हो। इस सच्ची धार्मिक दृष्टि का मूल है अपनी आत्मा की शरीर से पृथक् सत्ता का भान। जब तक यह भान नही होता, तब तक जीव मिथ्यात्वी है। इस मिथ्यात्व से छूटकर आत्मबोध रूप सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव, जीव का **ग्रन्थि-भेद** कहा गया है, जो सासारिक प्रवाह मे कभी किसी समय विविध कारणों से सिद्ध हो जाता है। किन्ही जीवो को यह अकस्मात् **घर्षण-घोलन-न्याय** से प्राप्त हो जाता है, जिस प्रकार कि प्रवाह-पतित पाषाण खडों को परस्पर घिसते-पिसते रहने से नाना विशेष आकार, यहा तक कि देवमूर्ति का स्वरूप भी, प्राप्त हो जाता है। किन्हीं जीवो को किसी विशेष

अवस्था में पूर्व जन्म का स्मरण हो जाता है और उससे उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। कभी तीव्र-दुख-वेदन के कारण और कहीं धर्मोपदेश सुनकर अथवा धर्मोत्सव के दर्शन से सम्यक्त्व जागृत हो जाता है। सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर उसमें दृढ़ता तब आती है जब वह कुछ दोषों से मुक्त और गुणों से संयुक्त हो जाय। धार्मिक श्रद्धान के संबंध में शंकाओं का बना रहना या उसकी साधना से अपनी सांसारिक आकांक्षाओं की पूर्ति करने की भावना रखना धर्मोपदेश या धार्मिक प्रवृत्तियों के संबंध में सन्देह या घृणा का भाव रखना एवं कुत्सित देव शास्त्र व गुरुओं में आस्था रखना ये सम्यक्त्व को मलिन करने वाले दोष हैं। इन चारों को दूर कर धर्म की निंदा से रक्षा करना धर्मीजनों को सत्प्रवृत्ति मे दृढ़ करना उनसे सद्भावपूर्ण व्यवहार करना और धर्म का माहात्म्य स्पष्ट करने का प्रयत्न करना इन चार गुणों के जागृत होने से अष्टांग सम्यक्त्व की पूर्णता होती है।

सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि पुरुष—

प्रश्न हो सकता है कि मिथ्यात्वी और सम्यक्त्वी मनुष्य के चारित्र में दृश्यमान भेद क्या है? मिथ्यात्व के पांच लक्षण बतलाये गये हैं—विपरीत एकान्त संशय, विनय और अज्ञान। मिथ्यात्वी मनुष्य की विपरीतता यह है कि वह असत् को सत्, बुराई को अच्छाई व पाप को पुण्य मानकर चलता है। उसमें हठग्राहिता पाई जाती है, अर्थात् उसका दृष्टिकोण ऐसा संकुचित होता है कि वह अपनी धारणा बदलने व दूसरों के विचारों से उसका मेल बैठाने में सर्वथा असमर्थ होता है। उसमें उदार दृष्टि का अभाव रहता है, यही उसकी एकान्तता है। संशयशील वृत्ति भी मिथ्यात्व का लक्षण है। अच्छी से अच्छी बात में मिथ्यात्वी को पूर्ण विश्वास नहीं होता एवं प्रबलतम तर्क और प्रमाण उसके संशय को दूर नहीं कर पाते। विनय का अर्थ है नियम-परिपालन किन्तु यदि बिना विवेक के किसी भी प्रकार के अच्छे-बुरे नियम का पालन करना ही कोई श्रेष्ठ धर्म समझ बैठे तो वह विनय मिथ्यात्व का दोषी है। जब तक किसी क्रिया रूप साधन का सम्बन्ध उसके आत्मशुद्धि आदि साध्य के साथ स्पष्टता से दृष्टि में न रखा जाय तबतक विनयात्मक क्रिया फलहीन व कभी-कभी अनर्थकारी भी होती है। सत्य और असत्य के सम्बन्ध में जानकारी या सूझ-बूझ के अभाव का नाम अज्ञान है। इन पांच दोषों के कारण मनुष्य के मानसिक व्यापार, वचनालाप तथा आचार-विचार में सच्चाई, यथार्थता व स्व-पर की भलाई नहीं होती। इस कारण वह मिथ्यात्वी कहा गया है। इसके विपरीत उपर्युक्त आत्म-श्रद्धान रूप सम्यक्त्व

का उदय होने से मनुष्य के चारित्र मे जो सद्भाव उत्पन्न होता है उसके मुख्य चार लक्षरा हैं—**प्रशम, सवेग, अनुकपा और आस्तिक्य**। सम्यक्त्वी की चित्तवृत्ति रागद्वेषात्मक भावो से विशेष विचलित नही होती, और उसकी प्रवृत्ति मे **शात भाव** दिखाई देता है। शारीरिक व मानसिक आकुलताओ को उत्पन्न करनेवाली सासारिक वृत्तियो को सम्यक्त्वी अहितकर समझकर उनसे विरक्त व बन्ध-मुक्त होने का इच्छुक हो जाता है, यही सम्यक्त्व का **सवेग** गुरा है। वह जीवमात्र मे आत्मतत्व की सत्ता मे विश्वास करता हुआ उनके दुख से दुखी, और सुख से सुखी होता हुआ, उनके दुखो का निवारण करने की ओर प्रयत्नशील होता है, यह सम्यक्त्व का **अनुकम्पा** गुरा है। सम्यक्त्व का अन्तिम लक्षरा है **आस्तिक्य**। वह इस लोक के परे भी आत्मा के शाश्वतपने मे विश्वास करता है व परमात्मत्व की ओर बढने मे भरोसा रखता हुआ, सच्चे देवशास्त्र व सच्चे गुरु के प्रति श्रद्धा करता है। इस प्रकार मिथ्यात्व को छोड सम्यक्त्व के ग्रहरा का अर्थ है अधार्मिकता से धार्मिकता मे आना, अथवा असभ्यता के क्षेत्र से निकलकर सभ्यता व सामाजिकता के क्षेत्र मे प्रवेश करना। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से जीवन के परिष्कार व उसमें क्रान्ति का दिग्दर्शन मनुस्मृति (६,७४) मे भी उत्तमता से किया गया है—

> **सम्यग्दर्शनसम्पन्न कर्मभिर्न निवध्यते।**
> **दर्शनेन विहीनस्तु ससार प्रतिपद्यते॥**

सम्यग्ज्ञान—

उपर्युक्त प्रकार से सम्यक्त्व के द्वारा शुद्ध दृष्टि की साधना हो जाने पर मोक्ष मार्ग पर बढने के लिये दूसरी साधना ज्ञानोपासना है। सम्यग्दर्शन के द्वारा जिन जीवादि तत्वो मे श्रद्धान उत्पन्न हुआ है उनकी विधिवत् यथार्थ जानकारी प्राप्त करना ज्ञान है। दर्शन और ज्ञान मे सूक्ष्म भेद की रेखा यह है कि दर्शन का क्षेत्र है अन्तरग, और ज्ञान का क्षेत्र है बहिरग। दर्शन आत्मा की सत्ता का भान कराता है, और ज्ञान बाह्य पदार्थों का बोध उत्पन्न करता है। दोनों में परस्पर सम्बन्ध कारण और कार्य का है। जबतक आत्मावधान नही होगा, तबतक बाह्य पदार्थों का इन्द्रियो से सन्निकर्ष होने पर भी बोध नही हो सकता। अतएव दर्शन की जो सामान्यग्रहरा रूप परिभाषा की गई है उसका तात्पर्य आत्म-चैतन्य की उस अवस्था से है, जिसके होने पर मन के द्वारा वस्तुओं का ज्ञान रूप ग्रहरा सम्भव है। यह चैतन्य व अवधान पर-पदार्थ-ग्रहरा के लिये जिन विशेष इन्द्रियो, मानसिक व आध्यात्मिक वृत्तियो को जागृत करता है,

उनके अनुसार इसके चार भेद हैं—चक्षु-दर्शन अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवल दर्शन। चक्षु इन्द्रिय पर-पदार्थ के साक्षात् स्पर्श किये बिना निर्दिष्ट दूरी से पदार्थ को ग्रहण करती है। अतएव इस इन्द्रिय-ग्रहण को जागृत करने वाली चक्षुदर्शन रूप वृत्ति उन शेष अचक्षुदर्शन से उद्बुद्ध होनेवाली इन्द्रिय-वृत्तियों से भिन्न है, जो वस्तुओं का बोध घ्राण जिह्वा व स्पर्श इन्द्रियों से अविरल सन्निकर्ष होने पर होता है। इन्द्रियों के अगोचर, सूक्ष्म तिरोहित या दूरस्थ पदार्थों का बोध कराने वाले अवधि ज्ञान के उद्भावक आत्म चैतन्य का नाम अवधिदर्शन है और जिस आत्मावधान के द्वारा समस्त ज्ञेय को ग्रहण करने की शक्ति जागृत होती है, उस स्वावधान का नाम केवल दर्शन है।

मतिज्ञान—

इसप्रकार आत्मावधान रूप दर्शन के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान के पांच भेद हैं—मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल। ज्ञेय पदार्थ और इन्द्रिय विशेष का सन्निकर्ष होने पर मन की सहायता से जो वस्तुबोध उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान है। पदार्थ और इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर मन की सचेत अवस्था में जो प्राथमिक 'कुछ है' ऐसा बोध होता है, वह अवग्रह कहलाता है। उस अस्पष्ट वस्तुबोध के सम्बन्ध में विशेष जानने की इच्छा का नाम ईहा है। उसके फलस्वरूप वस्तु का जो विशेष बोध होता है वह अवाय और उसके कालान्तर में स्मरण करने रूप संस्कार का नाम धारणा है। इसप्रकार मतिज्ञान के ये चार भेद हैं। ज्ञेय पदार्थ संख्या में एक भी हो सकता है, या एक ही प्रकार के अनेक। प्रकार की अपेक्षा से वे बहुत अर्थात् विविध प्रकार के एक-एक हों या बहुविध अर्थात् अनेक प्रकार के अनेक। उनका ग्रहण शीघ्र भी हो सकता है या देर से। वस्तु का सर्वांग-ग्रहण भी हो सकता है, या एकांग। उक्त का ग्रहण हो या अनुक्त का एवं ग्रहण ध्रुव रूप भी हो सकता है, व हीनाधिक अध्रुव रूप भी। इसप्रकार गृहीत पदार्थ की अपेक्षा से अवग्रहादि चारों भेदों के १२ १२ भेद होने से मतिज्ञान के ४८ भेद हो जाते हैं। ग्रहण करने वाली पांचों इन्द्रियों और एक मन इन छह की अपेक्षा से उक्त ४८ भेद ६ गुणित होकर २८८ (४८×६) हो जाते हैं। ये भेद ज्ञेय-पदार्थ और ग्राहक-इन्द्रियों की अपेक्षा से हैं।

किन्तु जब ... प्रणाली से क्रमशः होता है, तब जिसप्रकार कि
मिट्टी का कोरा ... होकर पूर्ण रूप से गीला क्रमशः हो पाता है,
तब उस प्रक्रिया ... इसके ईहादि तीन भेद न होकर, तथा चक्षु

और मन की अपेक्षा सम्भव न होने से उसके केवल १ × १२ × ४ = ४८ भेद होते हैं। इन्हें पूर्वोक्त २८८ भेदों मे मिलाकर मतिज्ञान ३३६ प्रकार का बतलाया गया है। इसप्रकार जैन सिद्धान्त मे यहा इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का बडा सूक्ष्म चिन्तन और विवेचन पाया जाता है, जिसे पूर्णत समझने के लिये पदार्थभेद, इन्द्रिय-व्यापार व मनोविज्ञान के गहन चिन्तन की आवश्यकता है।

श्रुतज्ञान—

मतिज्ञान के आश्रय से युक्ति, तर्क, अनुमान व शब्दार्थ द्वारा जो परोक्ष पदार्थों की जानकारी होती है, वह श्रुतज्ञान है। इसप्रकार धुए को देखकर अग्नि के अस्तित्व की, हाथ को देखकर या शब्द को सुनकर मनुष्य की, यात्री के मुख से यात्रा का वर्णन सुनकर विदेश की जानकारी, व शास्त्र को पढकर तत्वो की, इस लोक-परलोक की, व आत्मा-परमात्मा आदि की जानकारी, यह सब श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान के इन सब प्रकारो मे सब से अधिक विशाल, प्रभावशाली और हितकारी वह लिखित साहित्य है, जिसमे हमारे पूर्वजो के चिन्तन और अनुभव का वर्णन व विवेचन सगृहीत है, इसीकारण इसे ही विशेष रूप से श्रुतज्ञान माना गया है। जैनधर्म की दृष्टि से उस श्रुतज्ञान को प्रधानता दी गई है जिसमे अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के धर्मोपदेशो का सग्रह किया गया है। इस श्रुतसाहित्य के मुख्य दो भेद हैं— **अगप्रविष्ट और अग-बाह्य**। अग प्रविष्ट मे उन आचारागादि १२ श्रुतागो का समावेश होता है, जो भगवान् महावीर के साक्षात् शिष्यो द्वारा रचे गये थे, व जिनके विषयादि का परिचय इससे पूर्व साहित्य के व्याख्यान मे कराया जा चुका है। अग बाह्य मे वे दश-वैकालिक, उत्तराध्ययनादि उत्तरकालीन आचार्यों की रचनाए आती हैं, जो श्रुतागो के आश्रय से समय समय पर विशेष प्रकार के श्रोताओ के हित की दृष्टि से विशेष विशेष विषयो पर प्रयोजनानुसार सक्षेप व विस्तार से रची गई हैं, और जिनका परिचय भी साहित्य-खड मे कराया का चुका है। ये दोनो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान **परोक्ष** माने गये हैं, क्योकि वे आत्मा के द्वारा साक्षात् रूप से न होकर, इन्द्रियो व मन के माध्यम द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। तथापि पश्चात्कालीन जैन न्याय की परम्परामे मतिज्ञान को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होनेकी अपेक्षा साव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना गया है।

अवधिज्ञान—

आत्मा मे एक ऐसी शक्ति मानी गयी है जिसके द्वारा उसे इन्द्रियो के अगोचर

अतिसूक्ष्म तिरोहित व इन्द्रिय सन्निकर्ष के परे दूरस्थ पदार्थों का भी ज्ञान हो सकता है। इस ज्ञान को अवधिज्ञान कहा गया है क्योंकि यह देश की मर्यादा को लिये हुए होता है। अवधिज्ञान के दो भेद हैं—एक भव-प्रत्यय और दूसरा गुण-प्रत्यय। देवों और नारकी जीवों में स्वभावतः ही इस ज्ञान का अस्तित्व पाया जाता है, अतएव वह भव प्रत्यय है। मनुष्यों और पशुओं में यह ज्ञान विशेष गुण या ऋद्धि के प्रभाव से ही प्रकट होता है, और इस कारण इसे गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान कहा गया है। इसके ६ भेद हैं—अनुगामी अननुगामी वर्द्धमान हीयमान अवस्थित और अनवस्थित। अनुगामी अवधिज्ञान जहाँ भी ज्ञाता जाय वहीं उसके साथ जाता है किन्तु अननुगामी अवधिज्ञान स्थान-विशेष से पृथक होने पर छूट जाता है। वर्द्धमान अवधि एक बार उत्पन्न होकर क्रमशः बढ़ता जाता है, और इसके विपरीत हीयमान घटता जाता है। सदैव एकरूप रहनेवाला ज्ञान अवस्थित, एवं अक्रम से कभी घटने व कभी बढ़ने वाला अनवस्थित अवधिज्ञान कहलाता है। विस्तार की अपेक्षा अवधिज्ञान तीन प्रकार का है—देशावधि परमावधि और सर्वावधि। इनमें क्षेत्र-क्षेत्र व पदार्थों की पर्यायों के ज्ञान में उत्तरोत्तर अधिक विस्तार व विशुद्धि पाई जाती है। देशावधि एक बार होकर छूट भी सकता है और इसकारण वह प्रतिपाती है। किन्तु परमावधि व सर्वावधि अवधिज्ञान उत्पन्न होकर फिर कभी छूटते नहीं जबतक कि उनका केवलज्ञान में लय न हो जाय।

मनःपर्ययज्ञान—

मनःपर्यय ज्ञान के द्वारा दूसरे के मन में चिन्तित पदार्थों का बोध होता है। इसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान अधिक विशुद्ध होता है। ऋजुमति एक बार होकर छूट भी सकता है किन्तु विपुलमति ज्ञान अप्रतिपाती है अर्थात् एक बार होकर फिर कभी छूटता नहीं।

केवलज्ञान—

केवलज्ञान के द्वारा विश्वमात्र के समस्त रूपी-अरूपी द्रव्यों और उनकी त्रिकाल वर्ती पर्यायों का ज्ञान युगपत् होता है। ये अवधि आदि तीनों ज्ञान प्रत्यक्ष माने गये हैं क्योंकि ये साक्षात् आत्मा द्वारा बिना इन्द्रिय व मन की सहायता के उत्पन्न होते हैं। मति और श्रुतज्ञान से रहित जीव कभी नहीं होता क्योंकि यदि जीव इनके सूक्ष्मतमांश से भी वंचित हो जाय तो वह जीवत्व से ही च्युत हो जावेगा और जड़

पदार्थ का रूप धारण कर लेगा। किन्तु यह होना असम्भव है, क्योकि कोई भी मूल द्रव्य द्रव्यान्तर मे परिणत नही हो सकता। मति और श्रुतज्ञान का अनुभव सभी मनुष्यो को होता है। अवधि और मन पर्यय ज्ञान के भी कही कुछ उदाहरण देखने सुनने मे आते हैं, किन्तु वे हैं ऋद्धि-विशेष के परिणाम। केवलज्ञान योगि-गम्य है, और जैन मान्यतानुसार इस काल व इस क्षेत्र मे किसी को उसका उत्पन्न होना असम्भव है। मति, श्रुत और अवधिज्ञान मिथ्यात्व अवस्था मे भी हो सकते हैं, और तव उन ज्ञानो को **कुमति, कुश्रु** और **कुअवधि** कहा गया है, क्योकि उस अवस्था मे अर्थ-वोध ठीक होने पर भी वह ज्ञान धार्मिक दृष्टि से स्व-पर हितकारी नही होता, उससे हित की अपेक्षा अहित की ही सम्भावना अधिक रहती है। इसप्रकार ज्ञान के कुल आठ भेद कहे गये हैं।

ज्ञान के साधन—

न्याय दर्शन मे प्रमाण चार प्रकार का माना गया है—**प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान** और **शब्द**। ये भेद उत्तरकालीन जैन न्याय मे भी स्वीकार किये गये हैं, किन्तु इनका उपर्युक्त पाच प्रकार के ज्ञानो से कोई विरोध या वैषम्य उपस्थित नही होता। यहा प्रत्यक्ष से तात्पर्य इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से है, जिसे उपर्युक्त प्रमाण-भेदो मे परोक्ष कहा गया है, तथापि उसे जैन नैयायिको ने **साव्यवहारिक प्रत्यक्ष** की सज्ञा दी है। इसप्रकार वह मतिज्ञान का भेद सिद्ध हो जाता है। शेष जो अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण हैं, उनका समावेश श्रुतज्ञान मे होता है।

प्रमाण व नय—

पदार्थों के ज्ञान की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है—प्रमाणो से और नयो से (**प्रमाणनयैरधिगम** । त० सू० १, ६) अभी जो पाच प्रकार के ज्ञानो का वर्णन किया गया वह सब प्रमाण की अपेक्षा से। इन प्रमाणभूत ज्ञानो के द्वारा द्रव्यो का उनके समग्ररूप मे बोध होता है। किन्तु प्रत्येक पदार्थ अपनी एकात्मक सत्ता रखता हुआ भी अनन्तगुणात्मक और अनन्तपर्यायात्मक हुआ करता है। इन अनन्त गुण-पर्यायो में से व्यवहार में प्राय किसी एक विशेष गुणधर्म के उल्लेख की आवश्यकता होती है। जव हम कहते हैं उस मोटी पुस्तक को ले आओ, तो इससे हमारा काम चल जाता है, और हमारी अभीष्ट पुस्तक हमारे सम्मुख आ जाती है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही है कि उस पुस्तक मे मोटाई के अतिरिक्त अन्य कोई गुण-धर्म नही है। अतएव ज्ञान की

अतिसूक्ष्म तिरोहित व इन्द्रिय सन्निकर्ष के परे दूरस्थ पदार्थों का भी ज्ञान हो सकता है। इस ज्ञान को अवधिज्ञान कहा गया है क्योंकि यह देश की मर्यादा को लिये हुए होता है। अवधिज्ञान के दो भेद हैं—एक भव-प्रत्यय और दूसरा गुण-प्रत्यय। देवों और नारकी जीवों में स्वभावतः ही इस ज्ञान का अस्तित्व पाया जाता है, अतएव वह भव प्रत्यय है। मनुष्यों और पशुओं में यह ज्ञान विशेष गुण या ऋद्धि के प्रभाव से ही प्रकट होता है, और इस कारण इसे गुण प्रत्यय अवधिज्ञान कहा गया है। इसके ६ भेद हैं—अनुगामी अननुगामी वर्द्धमान हीयमान अवस्थित और अनवस्थित। अनुगामी अवधिज्ञान जहाँ भी ज्ञाता जाय वहीं उसके साथ जाता है किन्तु अननुगामी अवधिज्ञान स्थान-विशेष से पृथक होने पर छूट जाता है। वर्द्धमान अवधि एक बार उत्पन्न होकर क्रमशः बढ़ता जाता है, और इसके विपरीत हीयमान घटता जाता है। सदैव एकरूप रहनेवाला ज्ञान अवस्थित एवं अक्रम से कभी घटने व कभी बढ़ने वाला अनवस्थित अवधिज्ञान कहलाता है। विस्तार की अपेक्षा अवधिज्ञान तीन प्रकार का है—देशावधि परमावधि और सर्वावधि। इनमें ज्ञेय-क्षेत्र व पदार्थों की पर्यायों के ज्ञान में उत्तरोत्तर अधिक विस्तार व विशुद्धि पाई जाती है। देशावधि एक बार होकर छूट भी सकता है और इसकारण वह प्रतिपाती है। किन्तु परमावधि व सर्वावधि अवधिज्ञान उत्पन्न होकर फिर कभी छूटते नहीं जबतक कि उनका केवलज्ञान में लय न हो जाय।

मनःपर्ययज्ञान—

मनःपर्यय ज्ञान के द्वारा दूसरे के मन में चिन्तित पदार्थों का बोध होता है। इसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान अधिक विशुद्ध होता है। ऋजुमति एक बार होकर छूट भी सकता है किन्तु विपुलमति ज्ञान अप्रतिपाती है अर्थात् एक बार होकर फिर कभी छूटता नहीं।

केवलज्ञान—

केवलज्ञान के द्वारा विश्वमात्र के समस्त रूपी-अरूपी द्रव्यों और उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों का ज्ञान युगपत् होता है। ये अवधि आदि तीनों ज्ञान प्रत्यक्ष माने गये हैं क्योंकि ये साक्षात् आत्मा द्वारा बिना इन्द्रिय व मन की सहायता के उत्पन्न होते हैं। मति और श्रुतज्ञान से रहित जीव कभी नहीं होता क्योंकि यदि जीव इनके सूक्ष्मतमांश से भी वंचित हो जाय तो वह जीवत्व से ही च्युत हो जावेगा और वह

पदार्थ का रूप धारण कर लेगा। किन्तु यह होना असम्भव है, क्योकि कोई भी मूल द्रव्य द्रव्यान्तर मे परिणत नही हो सकता। मति और श्रुतज्ञान का अनुभव सभी मनुष्यो को होता है। अवधि और मन पर्यय ज्ञान के भी कही कुछ उदाहरण देखने सुनने मे आते हैं, किन्तु वे हैं ऋद्धि-विशेष के परिणाम। केवलज्ञान योगि-गम्य है, और जैन मान्यतानुसार इस काल व इस क्षेत्र में किसी को उसका उत्पन्न होना असम्भव है। मति, श्रुत और अवधिज्ञान मिथ्यात्व अवस्था मे भी हो सकते हैं, और तब उन ज्ञानो को **कुमति, कुश्रु और कुअवधि** कहा गया है, क्योकि उस अवस्था मे अर्थ-बोध ठीक होने पर भी वह ज्ञान धार्मिक दृष्टि से स्व-पर हितकारी नही होता, उससे हित की अपेक्षा अहित की ही सम्भावना अधिक रहती है। इसप्रकार ज्ञान के कुल आठ भेद कहे गये हैं।

ज्ञान के साधन—

न्याय दर्शन मे प्रमाण चार प्रकार का माना गया है—**प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द**। ये भेद उत्तरकालीन जैन न्याय मे भी स्वीकार किये गये हैं, किन्तु इनका उपर्युक्त पाच प्रकार के ज्ञानो से कोई विरोध या वैषम्य उपस्थित नही होता। यहा प्रत्यक्ष से तात्पर्य इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से है, जिसे उपर्युक्त प्रमाण-भेदो मे परोक्ष कहा गया है, तथापि उसे जैन नैयायिको ने **साव्यवहारिक प्रत्यक्ष** की सज्ञा दी है। इसप्रकार वह मतिज्ञान का भेद सिद्ध हो जाता है। शेष जो अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण हैं, उनका समावेश श्रुतज्ञान मे होता है।

प्रमाण व नय—

पदार्थों के ज्ञान की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है—प्रमाणो से और नयो से (**प्रमाणनयैरधिगम** । त० सू० १, ६) अभी जो पाच प्रकार के ज्ञानो का वर्णन किया गया वह सब प्रमाण की अपेक्षा से। इन प्रमाणभूत ज्ञानो के द्वारा द्रव्यो का उनके समग्ररूप मे बोध होता है। किन्तु प्रत्येक पदार्थ अपनी एकात्मक सत्ता रखता हुआ भी अनन्तगुणात्मक और अनन्तपर्यायात्मक हुआ करता है। इन अनन्त गुण-पर्यायो मे से व्यवहार में प्राय किसी एक विशेष गुणधर्म के उल्लेख की आवश्यकता होती है। जब हम कहते हैं उस मोटी पुस्तक को ले आओ, तो इससे हमारा काम चल जाता है, और हमारी अभीष्ट पुस्तक हमारे सम्मुख आ जाती है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही है कि उस पुस्तक मे मोटाई के अतिरिक्त अन्य कोई गुण-धर्म नहीं है। अतएव ज्ञान की

दृष्टि से यह सावधानी रखने की आवश्यकता है कि हमारा वचनालाप जिसके द्वारा हम दूसरों को ज्ञान प्रदान करते हैं, ऐसा न हो कि जिससे दूसरे के हृदय में वस्तु की अनेक-गुणात्मकता के स्थान पर एकान्तिकता की छाप बैठ जाय। इसीलिये एकान्त को मिथ्यात्व कहा गया है, और सिद्धान्त के प्रतिपादन में ऐसी वचनशैली के उपयोग का प्रतिपादन किया गया है, जिससे वक्ता का एक-गुणोल्लेखात्मक अभिप्राय भी प्रगट हो जाय, और साथ ही यह भी स्पष्ट बना रहे कि वह गुण अन्य-गुण-सापेक्ष है। जैन दर्शन की यही विचार और वचनशैली अनेकान्त व स्याद्वाद कहलाती है। वक्ता के अभिप्रायानुसार एक ही वस्तु है भी कही जा सकती है और नहीं भी। दोनों अभिप्रायों के मेल से हां-ना एक मिश्रित वचनभंग भी हो सकता है और इसी कारण उसे अवक्तव्य भी कह सकते हैं। वह यह भी कह सकता है कि प्रस्तुत वस्तुस्वरूप है भी और फिर भी अवक्तव्य है नहीं है, और फिर भी अवक्तव्य है अथवा है भी नहीं भी है, और फिर भी अवक्तव्य है। इन्हीं सात सम्भावनात्मक विचारों के अनुसार सात प्रमाणभंगियां मानी गयी हैं—स्याद् अस्ति स्याद् नास्ति स्याद् अस्ति-नास्ति स्याद् अवक्तव्यम्, स्याद् अस्ति-अवक्तव्यम्, स्याद्-नास्ति-अवक्तव्यम् और स्याद् अस्ति-नास्ति अवक्तव्यम्। सम्भवतः एक उदाहरण के द्वारा इस स्याद्वाद शैली की सार्थकता अधिक स्पष्ट की जा सकती है। किसी ने पूछा क्या आप ज्ञानी हैं ? इसके उत्तर में इस भाव से कि मैं कुछ न कुछ तो अवश्य जानता ही हूं—मैं कह सकता हूं कि "मैं स्याद् ज्ञानी हूं। सम्भव है मुझे अपने ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान का मान अधिक हो और उस अपेक्षा से मैं कहूं कि "मैं स्याद् अज्ञानी हूं। कितनी बातों का ज्ञान है, और कितनी का नहीं है अतएव यदि मैं कहूं कि "मैं स्याद् ज्ञानी हूं भी और नहीं भी तो भी अनुचित न होगा और यदि इसी दुविधा के कारण इतना ही कहूं कि "मैं कह नहीं सकता कि मैं ज्ञानी हूं या नहीं" तो भी मेरा वचन असत्य न होगा। इन्हीं विचारों पर मैं सत्यता के साथ यह भी कह सकता हूं कि 'मुझे कुछ ज्ञान है तो फिर भी कह नहीं सकता कि आप जो बात मुझसे जानना चाहते हैं उस पर मैं प्रकाश डाल सकता हूं या नहीं। इसी बात को दूसरे प्रकार से यों भी कह सकता हूं कि "मैं ज्ञानी तो नहीं हूं फिर भी सम्भव है कि आपकी बात पर कुछ प्रकाश डाल सकूं" अथवा इस प्रकार भी कह सकता हूं कि "मैं कुछ ज्ञानी हूं भी कुछ नहीं भी हूं अतएव कहा नहीं जा सकता कि प्रकृत विषय का मुझे ज्ञान है या नहीं। ये समस्त वचन-प्रणालियां अपनी-अपनी सार्थकता रखती हैं, तथापि पृथक्-पृथक् रूप से वस्तु-स्थिति के एक अंश को ही प्रगट करती हैं उसके पूर्ण स्वरूप को नहीं। इसीलिये जैन

न्याय इस वात पर ज़ोर देता है कि पूर्वोक्त मे से अपने अभिप्रायानुसार वक्ता चाहे जिस वचन-प्रणाली का उपयोग करे, किन्तु उसके साथ स्यात् पद अवश्य जोड दे, जिससे यह स्पष्ट प्रकट होता रहे कि वस्तुस्थिति मे अन्य सम्भावनाए भी हैं, अत उसकी वात सापेक्ष रूप से ही समझी जाय। इस प्रकार यह स्याद्वाद प्रणाली कोई अद्वितीय वस्तु नही है, क्योकि व्यवहार मे हम विना स्यात् शब्द का प्रयोग किये भी कुछ उस सापेक्ष-भाव का घ्यान रखते ही हैं। तथापि शास्त्रार्थ मे कभी-कभी किसी वात की सापेक्षता की ओर घ्यान न दिये जाने से वडे-वडे विरोध और मतभेद उपस्थित हो जाते हैं, जिनमे सामजस्य वैठाना कठिन प्रतीत होने लगता है। जैन स्याद्वाद प्रणाली द्वारा ऐसे विरोधो और मतभेदो को अवकाश न देने का प्रयत्न किया गया है, और जहा विरोध दिखाई दे जाय, वहा इस स्यात् पद मे उसे सुलझाने और सामजस्य वैठाने की कुजी भी साथ ही लगा दी गई है। व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति के अनुमार स्यात् अस् धातु का विधिलिंग अन्य पुरुष, एक वचन का रूप है, जिसका अर्थ होता है 'ऐसा हो' 'एक सम्भावना यह भी है'। जैन न्याय मे इस पद को सापेक्ष-विधान का वाचक अव्यय वनाकर अपनी अनेकान्त विचारशैली को प्रकट करने का साधन वनाया गया है। इसे अनिश्चय-वोधक समझना कदापि युक्तिसगत नही है।

नय—

पदार्थों के अनन्त गुण और पर्यायो मे से प्रयोजनानुसार किसी एक गुण-धर्म सम्वन्धी ज्ञाता के अभिप्राय का नाम नय है, और नयो द्वारा ही वस्तु के नाना गुणाशो का विवेचन सम्भव है। वाणी मे भी एक समय मे किसी एक ही गुण-धर्म का उल्लेख सम्भव है, जिसका यथोचित प्रसग नयविचार के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि जितने प्रकार के वचन सम्भव हैं, उतने ही प्रकार के नय कहे जा सकते हैं। तथापि वर्गीकरण की सुविधा के लिये नयो की सख्या सात स्थिर की गयी है, जिनके नाम हैं—नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत। नैगम का अर्थ है—न एक गम अर्थात् एक ही वात नही। जव सामान्यत किसी वस्तु की भूत, भविष्यत्, वर्तमान पर्यायो को मिलाजुलाकर वात कही जाती है, तव वक्ता का अभिप्राय नैगम-नयात्मक होता है। जो व्यक्ति आग जला रहा है, वह यदि पूछने पर उत्तर दे कि मैं रोटी वना रहा हू, तो उसकी वात नैगम नयकी अपेक्षा सच मानी जा सकती है, क्योकि उसका अभिप्राय यह है कि आग का जलाना उसे प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी, उसके पूछने का अभिप्राय यही था कि अग्नि किसलिये जलाई जा रही है।

यहां यदि नैगम नय के आश्रय से प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता के अभिप्राय को न समझा जाय तो प्रश्न और उत्तर में हमें कोई संगति प्रतीत नहीं होगी। इसी प्रकार जब चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को कहा जाता है कि आज महावीर तीर्थंकर का जन्म-दिवस है, तब उस हजारों वर्ष पुरानी भूतकाल की घटना की आज के इस दिन से संगति नैगम नय के द्वारा ही बैठाकर बतलाई जा सकती है। संग्रहनय के द्वारा हम उत्तरोत्तर वस्तुओं को विशाल दृष्टि से समझने का प्रयत्न करते हैं। जब हम कहते हैं कि यहां के सभी प्रदेशों के वासी सभी जातियों के और सभी धर्मों के चालीस करोड़ मनुष्य भारतवासी होने की अपेक्षा एक हैं, अथवा भारतवासी और चीनी दोनों एशियाई होने के कारण एक हैं, अथवा सभी देशों के समस्त संसारवासी जन एक ही मनुष्य जाति के हैं तब ये सभी बातें संग्रहनय की अपेक्षा सत्य हैं। इसके विपरीत जब हम मनुष्य जाति को महाद्वीपों की अपेक्षा एशियाई, यूरोपीय अमेरिकन आदि भेदों में विभाजित करते हैं, तथा इनका पुनः अवान्तर प्रदेशों एवं प्रान्तीय राजनैतिक धार्मिक जातीय आदि उत्तरोत्तर अल्प अल्पतर वर्गों में विभाजन करते हैं, तब हमारा अभिप्राय व्यवहार नयात्मक होता है। इस प्रकार संग्रह और व्यवहारनय परस्पर सापेक्ष हैं, और विस्तार व संकोचात्मक दृष्टियों को प्रकट करनेवाले हैं। दोनों सत्य हैं, और दोनों अपनी-अपनी सार्थकता रखते हैं। उनमें परस्पर विरोध नहीं किन्तु वे एक दूसरे के परिपूरक हैं, क्योंकि हमें अभेददृष्टि से संग्रह नय का व भेद दृष्टि से व्यवहार नय का आश्रय लेना पड़ता है। ये नैगमादि तीनों नय द्रव्यार्थिक माने गये हैं क्योंकि इनमें प्रतिपाद्य वस्तु की द्रव्यात्मकता का ग्रहण कर विचार किया जाता है, और उसकी पर्याय गौण रहती है। ऋजुसूत्रादि अगले चार नय पर्यायार्थिक कहे गये हैं क्योंकि उनमें पदार्थों की पर्याय-विशेष का ही विचार किया जाता है।

यदि कोई मुझसे पूछे कि तुम कौन हो और मैं उत्तर दूं कि मैं अध्यापक हूं तो यह उत्तर ऋजुसूत्र नय से सत्य ठहरेगा क्योंकि मैं उस उत्तर द्वारा अपनी एक पर्याय या अवस्था-विशेष को प्रकट कर रहा हूं जो एक काल-मर्यादा के लिये निश्चित हो गई है। इस प्रकार वर्तमान पर्यायमात्र को विषय करनेवाला नय ऋजुसूत्र कहलाता है। अगले शब्दादि तीन नय विशेषरूप से सम्यक् शब्द प्रयोग से रखते हैं। जो एक शब्द का एक वाच्यार्थ मान लिया गया है, उसका लिंग या वचन भी निश्चित है वह शब्दनय से यथोचित माना जाता है। जब हम संस्कृत में स्त्री के लिये कलत्र शब्द का नपुंसक लिंग में अथवा दारा शब्द का पुल्लिंग और बहुवचन में प्रयोग करते हैं एवं देव और देवी शब्द का इनके वाच्यार्थ स्वर्गलोक के प्राणियों के लिये ही करते हैं तब यह सब

शब्दनय की अपेक्षा से उपयुक्त सिद्ध होता है। इसी प्रकार व्युत्पत्ति की अपेक्षा भिन्नार्थक शब्दो को जब हम रूढि द्वारा एकार्थवाची बनाकर प्रयोग करते हैं, तब यह बात **समभिरूढ़** नय की अपेक्षा उचित सिद्ध होती है। जैसे—देवराज के लिये इन्द्र, पुरन्दर या शक्र, अथवा घोडे के लिये अश्व, अर्व, गन्धर्व, सैन्धव आदि शब्दो का प्रयोग। इन शब्दो का अपना-अपना पृथक् अर्थ है, तथापि रूढ़िवशात् वे पर्यायवाची बन गये हैं। यही समभिरूढ नय है। **एवम्भूतनय** की अपेक्षा वस्तु की जिस समय जो पर्याय हो, उस समय उसी पर्याय के वाची शब्द का प्रयोग किया जाता है, जैसे किसी मनुष्य को पढाते समय पाठक, पूजा करते समय पुजारी, एव युद्ध करते समय योद्धा कहना।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय—

इन नयों के स्वरूप पर विचार करने से स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार जैन सिद्धान्त मे इन नयो के द्वारा किसी भी वक्ता के वचन को सुनकर उसके अभिप्राय की सुसगति यथोचित वस्तुस्थिति के साथ दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। उपर्युक्त सात नय तो यथार्थत प्रमुख रूप से दृष्टान्त मात्र हैं, किन्तु नयो की सख्या तो अपरिमित है, क्योकि द्रव्य-व्यवस्था के सम्बन्ध मे जितने प्रकार के विचार व वचन हो सकते हैं, उतने ही उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करनेवाले नय कहे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, जैन तत्वज्ञान मे छह द्रव्य माने गये हैं, किन्तु यदि कोई कहे कि द्रव्य तो यथार्थत· एक ही है, तब नयवाद के अनुसार इसे **सत्तामात्र-ग्राही शुद्धद्रव्यार्थिक नय** की अपेक्षा से सत्य स्वीकार किया जा सकता है। सिद्धि व मुक्ति जीव की परमात्मावस्था को माना गया है, किन्तु यदि कोई कहे कि जीव तो सर्वत्र और सर्वदा सिद्ध-मुक्त है, तो इसे भी जैनी यह समझकर स्वीकार कर लेगा कि यह बात **कर्मोपाधि-निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक** नय से कही गई है। गुण और गुणी, द्रव्य और पर्याय, इनमे यथार्थत भावात्मक भेद है, तथापि यदि कोई कहे कि ज्ञान ही आत्मा है, मनुष्य अमर है; ककण ही सुवर्ण है, तो इसे **भेदविकल्प-निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक** नय से सच माना जा सकता है। सिद्धान्तानुसार ज्ञान-दर्शन ही आत्मा के गुण हैं, और रागद्वेष आदि उसके कर्मजन्य विभाव हैं, तथापि यदि कोई कहे कि जीव रागी-द्वेषी है, तो यह बात **कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध-द्रव्यार्थिक नय** से मानी जाने योग्य है। चीटी से लेकर मनुष्य तक ससारी जीवो की जातिया हैं, और जीव परमात्मा तब बनता है, जब वह विशुद्ध होकर इन समस्त सासारिक गतियो से मुक्त हो जाय, तथापि यदि कोई कहे कि चीटी भी परमात्मा है, तो इस बात को भी **परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक**

नय से ठीक समझना चाहिये। सभी द्रव्य अपने द्रव्यत्व की अपेक्षा चिरस्थायी हैं किन्तु जब कोई कहता है कि संसार की समस्त वस्तुऐं क्षणभंगुर हैं, तब समझना चाहिये कि यह बात वस्तुओं की सत्ता को गौण करके उत्पाद-व्यय गुणात्मक ऋजुसूत्र पर्यायार्थिक नय से कही गई है। किसी वस्तु का दृश्य या मनुष्य का चित्र उस वस्तु आदि से सर्वथा पृथक् है तथापि जब कोई चित्र देखकर कहता है—यह गोरखी है, यह हिमालय है, ये रामचन्द्र हैं, तब जैन न्याय की दृष्टि अनुसार उक्त बात स्थापित असद्भूत-व्यवहार से ठीक है। यद्यपि कोई भी व्यक्ति अपने पुत्र कलत्रादि व पुरुषों से व धनधान्यादि सम्पत्ति से सर्वथा पृथक् है तथापि जब कोई कहता है कि मैं और ये एक हैं ये मेरे हैं और मैं इनका हूं तो यह बात असद्भूत व्यवहार नय से यथार्थ मानी जा सकती है।

इस प्रकार नयों के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनमें इस न्याय के प्रतिपादक आचार्यों का यह प्रयत्न स्पष्ट दिखाई देता है कि मनुष्य के जब जहां जिस प्रकार के अनुभव व विचार उत्पन्न हुए, और उन्होंने उन्हें वचनबद्ध किया उन सब में कुछ न कुछ सत्यांश अवश्य विद्यमान है और प्रत्येक ज्ञानी का यह कर्तव्य होना चाहिये कि वह उस बात को सुनकर, उसमें अपने निर्धारित मत से कुछ विरोध दिखाई देने पर, उसके खंडन में प्रवृत्त न हो जाय किन्तु यह जानने का प्रयत्न करे कि वह बात किस अपेक्षा से कहां तक सत्य हो सकती है तथा उसका अपने निश्चित मत से किस प्रकार सामंजस्य बैठाया जा सकता है। जैन स्याद्वाद अनेकान्त व नयवाद का दावा तो यह है कि वह अपनी न्यायशैली द्वारा समस्त विरुद्ध दिखाई देनेवाले मतों और विचारों में वक्ताओं के दृष्टिकोण का पता लगाकर उनके विरोध का परिहार कर सकता है तथा विरोधी को अपने स्पष्टीकरण द्वारा उसके मत की सीमाओं का बोध कराकर उन्हें अपने ज्ञान का अंग बना ले सकता है।

चार-निक्षेप—

जैन न्याय की इस अनेकान्त-प्रणाली से प्रेरित होकर ही जैनाचार्यों ने प्रकृति के तत्वों की खोज और प्रतिपादन में यह सावधानी रखने का प्रयत्न किया है कि उनके दृष्टिकोण के सम्बन्ध में भ्रान्ति उत्पन्न न होने पावे। इसी सावधानी के परिणामस्वरूप हमें चार प्रकार के निक्षेपों और उनके नाना भेद-प्रभेदों का व्याख्यान मिलता है। द्रव्य का स्वरूप नाना प्रकार का है, और उसको समझने-समझाने के लिये हम जिन पद्धतियों का उपयोग करते हैं, वे निक्षेप कहलाती हैं। व्याख्यान में हम वस्तुओं का

उल्लेख विविध नामो व सज्ञाओ के द्वारा करते हैं, जो कही अपनी व्युत्पत्ति के द्वारा, व कही रूढि के द्वारा उनकी वाच्य वस्तु को प्रगट करते हैं। इस प्रकार पुस्तक, घोडा व मनुष्य, ये ध्वनिया स्वय वे-वे वस्तुए नही हैं, किन्तु उन वस्तुओ के **नाम निक्षेप** हैं, जिनके द्वारा लोक-व्यवहार चलता है। इसी प्रकार यह स्पष्ट समझ कर चलना चाहिये कि मन्दिरो मे जो मूर्त्तिया स्थापित है वे देवता नही, किन्तु उन देवो की **साकार स्थापना** रूप हैं, जिस प्रकार कि शतरज के मोहरे, हाथी नही, किन्तु उनकी साकार या **निराकार स्थापना** मात्र हैं, भले ही हम उनमे पूज्य या अपूज्य बुद्धि स्थापित कर लें। यह **स्थापना** निक्षेप का स्वरूप है। इसी प्रकार **द्रव्य-निक्षेप** द्वारा हम वस्तु की भूत व भविष्यकालीन पर्यायों या अवस्थाओ को प्रकट किया करते हैं। जैसे, जो पहले कभी राजा थे, उन्हे उनके राजा न रहने पर अब भी, राजा कहते हैं, या डाक्टरी पढ़नेवाले विद्यार्थी को भी डाक्टर कहने लगते हैं। इनके विपरीत जब हम जो वस्तु जिस समय, जिस रूप मे है, उसे, उस समय, उसी अर्थबोधक शब्द द्वारा प्रकट करते हैं, तब यह **भावनिक्षेप** कहलाता है, जैसे व्याख्यान देते समय ही व्यक्ति को व्याख्याता कहना, और ध्यान करते समय ध्यानी। इसी प्रकार वस्तुविवेचन मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के सम्बन्ध मे सतर्कता रखने का, वस्तु को उसकी सत्ता, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्प-बहुत्व के अनुसार समझने, तथा उनके निर्देश स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान की ओर भी ध्यान देते रहने का आदेश दिया गया है, और इस प्रकार जैन शास्त्र के अध्येता को **एकान्त दृष्टि** से बचाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है।

सम्यक् चारित्र—

सम्यक्त्व और ज्ञान की साधना के अतिरिक्त कर्मों के सवर व निर्जरा द्वारा मोक्ष सिद्धि के लिये चारित्र की अवश्यकता है।

ऊपर बताया जा चुका है कि जीवन मे धार्मिकता किसप्रकार उत्पन्न होती है। अधार्मिकता के क्षेत्र से निकाल कर धार्मिक क्षेत्र मे लानेवाली वस्तु है सम्यक्त्व जिससे व्यक्ति को एक नई चेतना मिलती है कि मैं केवल अपने शरीर के साथ जीने-मरनेवाला नही हू, किन्तु एक अविनाशी तत्व हू। यही नही, किन्तु इस चेतना के साथ क्रमश उसे ससार के अन्य, तत्वो, का जो ज्ञान प्राप्त होता है, उससे उसका अपने जीवन की ओर तथा अपने आसपास के जीवजगत् की ओर दृष्टिकोण बदल जाता है। जहा मिथ्यात्व की अवस्था मे अपना स्वार्थ, अपना पोषण व दूसरो के प्रति द्वेष और

ईर्ष्या भाव प्रधान था वहां अब सम्यक्त्वी को अपने आसपास के जीवों में भी अपने समान आत्मतत्व के दर्शन होने से उनके प्रति स्नेह, कारुण्य व सहानुभूति की भावना उत्पन्न हो जाती है और जिन वृत्तियों के कारण जीवों में संघर्ष पाया जाता है, उनसे उसे विरक्ति होने लगती है। उसकी दृष्टि में अब एक ओर जीवन का अनुपम माहात्म्य और दूसरी ओर जीवों की ओर दुःख उत्पन्न करनेवाली प्रवृत्तियां स्पष्टतः सम्मुख आ जाती हैं। इस नई दृष्टि के फलस्वरूप उसकी अपनी वृत्ति में जो सम्यक्त्व के उपर्युक्त चार लक्षण प्रशम, संवेग अनुकंपा और आस्तिक्य प्रगट होते हैं, उससे उसकी जीवनधारा में एक नया मोड़ आ जाता है और वह दुराचरण छोड़कर सदाचारी बन जाता है। इस सदाचार की मूल प्रेरक भावना होती है—अपना और पराया हित व कल्याण। आत्महित से परहित का मेल बैठाने में जो कठिनाई उपस्थित होती है, वह है विचारों की विषमता और क्रिया-स्वार्थमय। विचारों की विषमता दूर करने में सम्यग्ज्ञानी को सहायता मिलती है स्याद्वाद व अनेकान्त की सामंजस्यकारी विचार शैली के द्वारा और आचरण की शुद्धि के लिये जो सिद्धान्त उसके हाथ आता है, वह है अपने समान दूसरे की रक्षा का विचार अर्थात् अहिंसा।

अहिंसा—

जीव-जगत् में एक मर्यादा तक अहिंसा की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। पशु-पक्षी और उनसे भी निम्न स्तर के जीव-जन्तुओं में अपनी जाति के जीवों को मारने व खाने की प्रवृत्ति प्रायः नहीं पाई जाती। सिंह, व्याघ्रादि हिंस्र प्राणी भी अपनी सन्तति की तो रक्षा ही करते हैं और अन्य जाति के जीवों को भी केवल तभी मारते हैं, जब उन्हें भूख की वेदना सताती है। प्राणिमात्र में प्रकृति की अहिंसोन्मुख वृत्ति की परिचायक कुछ स्वाभाविक चेतनाएं पाई जाती हैं जिनमें मैथुन संतानपालन सामूहिक जीवन आदि प्रवृत्तियां प्रधान हैं। प्रकृति में यह भी देखा जाता है कि जो प्राणी जितनी मात्रा में अहिंसकवृत्ति का होता है, वह उतना ही अधिक विकास के योग्य व उपयोगी सिद्ध हुआ है। बकरी गाय भैंस घोड़ा ऊंट हाथी आदि पशु मांसभक्षी नहीं हैं, और इसीलिये वे मनुष्य के व्यापारों में उपयोगी सिद्ध हो सके हैं। यथार्थतः उन्हीं में प्रकृति की शीतोष्ण आदि द्वन्द्वात्मक शक्तियों को सहने और परिश्रम करने की शक्ति विशेष रूप में पाई जाती है। वे हिंस्र पशुओं से अपनी रक्षा करने के लिये दल बांध कर सामूहिक शक्ति का उपयोग भी करते हुए पाये जाते हैं। मनुष्य तो सामाजिक प्राणी ही है और समाज तबतक बन ही नहीं सकता जबतक व्यक्तियों में

हिंसात्मक वृत्ति का परित्याग न हो। यही नही,समाज बनने के लिये यह भी आवश्यक है कि व्यक्तियो मे परस्पर रक्षा और सहायता करने की भावना भी हो। यही कारण है कि मनुष्य-समाज मे जितने धर्म स्थापित हुए हैं, उनमे, कुछ मर्यादाओ के भीतर, अहिंसा का उपदेश पाया ही जाता है, भले ही वह कुटुब, जाति, धर्म या मनुष्य मात्र तक ही सीमित हो। भारतीय सामाजिक जीवन मे आदित जो श्रमण-परम्परा का वैदिक परम्परा से विरोध रहा, वह इस अहिंसा की नीति को लेकर। धार्मिक विधियो मे नरबलि का प्रचार तो बहुत पहिले उत्तरोत्तर मन्द पड गया था, किन्तु पशुबलि यज्ञक्रियाओ का एक सामान्य अग बना रहा। इसका श्रमण साधु सदैव विरोध करते रहे। आगे चलकर श्रमणो के जो दो विभाग हुए, जैन और बौद्ध, उन दोनो मे अहिंसा के सिद्धान्त पर जोर दिया गया जो अभी तक चला आता है। तथापि बौद्धधर्म मे अहिंसा का चिन्तन, विवेचन व पालन बहुत कुछ परिमित रहा। परन्तु यह सिद्धान्त जैनधर्म मे समस्त सदाचार की नीव ही नही, किन्तु धर्म का सर्वोत्कृष्ट अग बन गया। **अहिंसा परमो धर्म** वाक्य को हम दो प्रकार से पढ़ सकते हैं—तीनो शब्दो को यदि पृथक्-पृथक् पढें तो उसका अर्थ होता है कि अहिंसा ही परम धर्म है, और यदि **अहिंसा-परमो** को एक समास पद मानें तो वह वाक्य धर्म की परिभाषा बन जाता है, जिसका अर्थ होता है कि धर्म वही है जिसमे अहिंसा को श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो। समस्त जैनाचार इसी अहिंसा के सिद्धान्त पर अवलम्बित है, और जितने भी आचार सम्बधी व्रत-नियमादि निर्दिष्ट किये गये हैं, वे सब अहिंसा के ही सर्वांग परिपालन के लिये हैं। इसी तथ्य को मनुस्मृति (२, १५९) की इस एक ही पक्ति मे भले प्रकार स्वीकार किया गया है—**अहिंसयैव भूताना कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्**।

श्रावक-धर्म—

मुख्य व्रत पाच है—**अहिंसा, अमृषा, अस्तेय, अमैथुन और अपरिग्रह**। इसका अर्थ है हिंसा मत करो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, व्यभिचार मत करो, और परिग्रह मत रखो। इन व्रतो के स्वरूप पर विचार करने से एक तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन व्रतो के द्वारा मनुष्य की उन वृत्तियों का नियन्त्रण करने का प्रयत्न किया गया है, जो समाज मे मुख्य रूप से वैर-विरोध की जनक हुआ करती हैं। दूसरी यह बात ध्यान देने योग्य है कि आचरण का परिष्कार सरलतम रीति से कुछ निषेधात्मक नियमो के द्वारा ही किया जा सकता है। व्यक्ति जो क्रियाए करता है, वे मूलत उसके स्वार्थ से प्रेरित होती हैं। उन क्रियाओ मे कौन अच्छी है, और कौन

बुरी यह किसी मापदंड के निश्चित होने पर ही कहा जा सकता है। हिंसा चोरी, झूठ कुशील और परिग्रह ये सामाजिक पाप ही तो हैं। जितने ही अंश में व्यक्ति इनका परित्याग करेगा उतना ही वह सभ्य और समाज-हितैषी माना जायगा और जितने व्यक्ति इन व्रतों का पालन करें उतना ही समाज सुख सुखी और प्रगतिशील बनेगा। इन व्रतों पर जैन शास्त्रों में बहुत अधिक भार दिया गया है, और उनका सूक्ष्म एवं सुविस्तृत विवेचन किया गया है जिससे जैन शास्त्रकारों के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के शोधन के प्रयत्न का पता चलता है। उन्होंने प्रथम तो यह अनुभव किया कि सब के लिये सब अवस्थाओं में इन व्रतों का एकसा परिपालन सम्भव नहीं है अतएव उन्होंने इन व्रतों के दो स्तर स्थापित किये-अणु और महत् अर्थात् एकांश और सर्वांश। गृहस्थों की आवश्यकता और अनिवार्यता का ध्यान रखकर उन्हें इनका आंशिक अणुव्रत रूप से पालन करने का उपदेश किया और त्यागी मुनियों को परिपूर्ण महाव्रत रूप से। इन व्रतों के द्वारा जिस प्रकार पापों के निराकरण का उपदेश दिया गया है, उसका स्वरूप संक्षेप में निम्न प्रकार है।

अहिंसाणुव्रत—

प्रमाद के वशीभूत होकर प्राणघात करना हिंसा है। प्रमाद का अर्थ है-मन को रागद्वेषात्मक कषायों से कलुषित रखने में शिथिलता और आत्म-घात से तात्पर्य है, न केवल दूसरे जीवों को मार डालना किन्तु उन्हें किसी प्रकार की भी पीड़ा पहुँचाना। इस हिंसा के दो भेद हैं—द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। अपनी शारीरिक-क्रिया द्वारा किसी जीव के शरीर को प्राणहीन कर डालना या वध-बन्धन आदि द्वारा उसे पीड़ा पहुंचाना द्रव्यहिंसा है और अपने मन में किसी जीव की हिंसा का विचार करना भावहिंसा है। यथार्थ पाप मुख्यतः इस भाव हिंसा में ही है, क्योंकि उसके द्वारा दूसरे प्राणी की हिंसा हो या न हो चिन्तक के स्वयं विशुद्ध अंतरंग का घात तो होता ही है। इसीलिये कहा है:—

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।

पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः॥ (सर्वार्थसिद्धि पृ ७,१३)

अर्थात् प्रमादी मनुष्य अपने हिंसात्मक भाव के द्वारा आप ही अपनी की हिंसा पहले ही कर डालता है तत्पश्चात् दूसरे प्राणियों का उसके द्वारा वध हो या न हो। इसके विपरीत यदि व्यक्ति अपनी भावना शुद्ध रखता हुआ शक्ति भर जीव-रक्षा का प्रयत्न करता है, तो द्रव्यहिंसा हो जाने पर भी वह पाप का भागी नहीं होता। इस

सम्बन्ध मे दो प्राचीन गाथाए उल्लेखनीय हैं—

उच्चालिदम्मि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाण।
आवादेज्ज कुलिगो मरेज्ज त जोगमासेज्ज ॥१॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बधो सुहुमो वि देसिदो समये।
जम्हा सो अपमत्तो सा उ पमाउ त्ति णिद्दिट्ठा ॥२॥

अर्थात् गमन सम्बन्धी नियमो का सावधानी से पालन करनेवाले सयमी ने जब अपना पैर उठाकर रखा, तभी उसके नीचे कोई जीव-जन्तु चपेट मे आकर मर गया। किन्तु इससे शास्त्रानुसार उस सयमी को लेशमात्र भी कर्मबन्धन नही हुआ, क्योकि सयमी ने प्रमाद नही किया, और हिंसा तो प्रमाद से ही होती है। भावहिंसा कितनी बुरी मानी गयी है, यह इस गाथा से प्रकट है—

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥

अर्थात् जीव मरे या न मरे, जो अपने आचरण मे यत्नशील नही हैं, वह भावमात्र से हिंसा का दोषी अवश्य होता है, और इसके विपरीत, यदि कोई सयमी अपने आचरण मे सतर्क है, तो द्रव्यहिंसा मात्र से वह कर्मबन्ध का भागी नही होता। इससे स्पष्ट है कि अहिंसा के उपदेश मे भार यथार्थत मनुष्य की मानसिक शुद्धि पर है।

गृहस्थ और मुनि को जो अहिंसा व्रत क्रमश अणु व महत् रूप मे पालन करने का उपदेश दिया गया है वह जैन व्यवहार दृष्टि का परिणाम है। मुनि तो सूक्ष्म से सूक्ष्म एकेन्द्री से लगाकर किसी भी जीव की जानबूझकर कभी हिंसा नही करेगा, चाहे उसे जीवरक्षा के लिये स्वय कितना ही क्लेश क्यो न भोगना पड़े। किन्तु गृहस्थ की सीमाओ का ध्यान रखकर उसकी सुविधा के लिये वनस्पति आदि स्थावर हिंसा के त्याग पर उतना भार नही दिया गया। द्वीन्द्रियादि त्रस जीवो के सम्बन्ध मे हिंसा के चार भेद किये गये हैं—**आरम्भी, उद्योगी, विरोधी और सकल्पी** हिंसा। चलने-फिरने से लेकर झाडना बुहारना व चूल्हा-चक्की आदि गृहस्थी सबधी क्रियाए आरम्भ कहलाती हैं, जिसमे अनिवार्यत होनेवाली हिंसा आरम्भी है। कृषि, दुकानदारी, व्यापार, वाणिज्य, उद्योगधन्धे आदि मे होनेवाली हिंसा उद्योगी हिंसा है। अपने स्वजनो व परिजनो के, तथा धर्म, देश व समाज की रक्षा के निमित्त जो हिंसा अपरिहार्य हो वह विरोधी हिंसा है, एव विनोद मात्र के लिये, वैर का बदला चुकाने के लिये, अपना पौरुष दिखाने के लिये, अथवा अन्य किसी कुत्सित स्वार्थभाव से जान-बूझकर जो हिंसा की जाती है, वह सकल्पी हिंसा है। इन चार प्रकार की हिंसाओ मे से गृहस्थ, व्रतरूप

से तो केवल संकल्पी हिंसा का ही त्यागी हो सकता है। शेष तीन प्रकार की हिंसाओं में उसे स्वयं अपनी परिस्थिति और विवेकानुसार संयम रखने का उपदेश दिया गया है।

अहिंसाणुव्रत के अतिचार—

प्राणघात के अतिरिक्त अन्यप्रकार पीड़ा देकर हिंसा करने के अनेक प्रकार हो सकते हैं, जिनसे बचते रहने की व्रती को आवश्यकता है। विशेषतः परिजनों व पशुओं के साथ पांच प्रकार की क्रूरता को अतिचार (अतिक्रमण) कहकर उनका निषेध किया गया है—उन्हें बांधकर रखना डंडों कोड़ों आदि से पीटना नाक-कान आदि छेदना काटना उनकी शक्ति से अधिक बोझ लादना व समय पर अन्न-पान न देना। इन अतिचारों से बचने के अतिरिक्त अहिंसा के भाव को दृढ़ करने के लिये पांच भावनाओं का उपदेश दिया गया है—अपने मन के विचारों वचन-प्रयोगों गमनागमन वस्तुओं को उठाने रखने तथा भोजन-पान की क्रियाओं में सावधान रहना। इस प्रकार जैन शास्त्र-प्रणीत हिंसा के स्वरूप तथा अहिंसा व्रत के विवेचन से स्पष्ट है कि इस व्रत का विधान व्यक्ति को सुशील सुसभ्य व समाजहितैषी बनाने और उसे अनिष्टकारी प्रवृत्तियों से रोकने के लिये किया है, और इस संयम की आज भी संसार में अत्यधिक आवश्यकता है। जिस प्रकार यह व्रत व्यक्ति के आचरण का शोधन करता है, उसी प्रकार वह देश और समाज की नीति का अंग बनकर संसार में सुख और शान्ति की स्थापना कराने में भी सहायक हो सकता है। अहिंसा के इसी सद्गुण के कारण ही यह सिद्धान्त जैन व बौद्ध धर्मों तक ही सीमित नहीं रहा किन्तु वह वैदिक परम्परा में भी आज से शताब्दियों पूर्व प्रविष्ट हो चुका है, तथा एक प्रकार से समस्त देश पर छा गया है और इसीलिये हमारे देश ने अपनी राजनीति के लिये अहिंसा को आधारभूत सिद्धान्तरूप से स्वीकार किया है।

सत्याणुव्रत व उसके अतिचार—

असत् वचन बोलना—अनृत असत्य मृषा या झूठ कहलाता है। असत् का अर्थ है जो सत् अर्थात् वस्तुस्थिति के अनुकूल एवं हितकारी नहीं है। इसीलिये शास्त्र में कहा गया है कि सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। अर्थात् सत्य बोलो प्रिय बोलो सत्य को इस प्रकार मत बोलो कि वह दूसरे को अप्रिय हो जाय। इस प्रकार सत्य-आचरण व्रत की मूल भावना आत्म-परिणामों की शुद्धि तथा [स्व व परकीय पीड़ा व अहित रूप हिंसा का निवारण ही है। इसके पालन में गृहस्थ के

अणुव्रत की सीमा यह है कि यदि स्नेह या मोहवश तथा स्व-पर-रक्षा निमित्त असत्य भाषण करने का अवसर आ जाय, तो वह उससे विशेष पाप का भागी नही होता, क्योकि उसकी भावना मूलत दूषित नही है, और पाप-पुण्य विचार मे द्रव्यक्रिया से भावक्रिया का महत्व अधिक है। किन्तु झूठा उपदेश देना, किसी की गुप्त बात को प्रकट कर देना, झूठे लेख तैयार करना, किसी की धरोहर को रखकर भूल जाना या उसे कम बतलाना, अथवा किसी की अग-चेष्टाओ व इशारो आदि से समझकर उसके मन्त्र के भेद को खोल देना, ये पाच इस व्रत के **अतिचार** हैं, जो स्पष्टत सामाजिक जीवन मे बहुत हानिकर हैं। सत्यव्रत के परिपालन के लिये जिन पाच **भावनाओं** का विधान किया गया है वे हैं—क्रोध, लोभ, भीरुता, और हसी-मजाक इन चार का परित्याग, तथा भाषण में औचित्य रखने का अभ्यास।

अस्तेयाणुव्रत व उसके अतिचार—

विना दी हुई किसी भी वस्तु को ले लेना **अदत्तादान** रूप स्तेय या चोरी है। अणुव्रती गृहस्थ के लिये आवश्यक मात्रा मे जल-मृत्तिका जैसी उन वस्तुओ को लेने का निषेध नही, जिन पर किसी दूसरे का स्पष्ट अधिकार व रोक न हो। महाव्रती मुनि को तिल-तुष मात्र भी विना दिये लेने का निषेध है। स्वय चोरी न कर दूसरे के द्वारा चोरी कराना, चोरी के धन को अपने पास रखना, राज्य द्वारा नियत सीमाओ के वाहर वस्तुओ का आयात-निर्यात करना, माप-तौल के वाट नियत परिमाण से हीनाधिक रखना, और नकली वस्तुओ को असली के वदले मे चलाना—ये पाच अचौर्य अणुव्रत के **अतिचार** हैं, जिनका गृहस्थ को परित्याग करना चाहिये। मुनि के लिये तो यहा तक विधान किया गया है कि उन्हें केवल पर्वतो की गुफाओ मे व वृक्षकोटर या परित्यक्त घरो मे ही निवास करना चाहिये। ऐसे स्थान का ग्रहण भी न करना चाहिये जिससे किसी दूसरे के निस्तार मे बाधा पहुचे। भिक्षा द्वारा ग्रहण किये हुए अन्न मे यहा तक शुद्धि का विचार रखना चाहिये कि वह आवश्यक मात्रा से अधिक न हो। मुनि अपने सहधर्मी साधुओ के साथ मेरे-तेरे के विवाद मे न पडे। इस प्रकार इस व्रत द्वारा व्यापार मे सचाई और ईमानदारी तथा साधु-समाज मे पूर्ण निस्पृहता की स्थापना का प्रयत्न किया गया है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत व उसके अतिचार—

स्त्री-अनुराग व कामक्रीडा के परित्याग का नाम अव्यभिचार या ब्रह्मचर्य व्रत

है। अणुव्रती श्रावक या श्राविका अपने पति-पत्नी के अतिरिक्त शेष समस्त स्त्री-पुरुषों से माता बहन पुत्री अथवा पिता भाई व पुत्र सदृश शुद्ध व्यवहार रखें और महाव्रती तो सर्वथा ही काम क्रीड़ा का परित्याग करें। दूसरे का विवाह कराना परिगृहीत या वेश्या गणिका के साथ गमन अप्राकृतिक रूप से कामक्रीड़ा करना और काम की तीव्र अभिलाषा होना ये पांच इस व्रत के अतिचार हैं। शृंगारात्मक कथावार्ता सुनना स्त्री-पुरुष के मनोहर अंगों का निरीक्षण पहले की काम क्रीड़ा आदि का स्मरण काम-पोषक रस औषधि आदि का सेवन तथा शरीर-शृंगार, इन पांचों प्रवृत्तियों का परित्याग करना इस व्रत को दृढ़ करनेवाली पांच भावनाएं हैं। इस प्रकार इस व्रत के द्वारा व्यक्ति की काम-वासना को मर्यादित तथा समाज से तत्सम्बन्धी दोषों का परिहार करने का भरसक प्रयत्न किया गया है।

अपरिग्रहाणुव्रत व उसके अतिचार—

पशु परिजन आदि सजीव एवं घर-द्वार, धन धान्य आदि निर्जीव वस्तुओं में ममत्व बुद्धि रखना परिग्रह है। इस परिग्रह रूप लोभ का पारावार नहीं और इसी लोभ के कारण समाज में बड़ी आर्थिक विषमताएं तथा वैर-विरोध व संघर्ष उत्पन्न होते हैं। इसलिये इस वृत्ति के निवारण व नियंत्रण पर विशेष जोर दिया गया है। राज्य-नियमों के द्वारा परिग्रहवृत्ति को सीमित करने के प्रयत्न सर्वथा असफल होते हैं क्योंकि उनसे जनता की मनोवृत्ति तो शुद्ध होती नहीं और इसलिये बाह्य नियमन से उनकी मानसिक वृत्ति छल-कपट अनाचार की ओर बढ़ने लगती है। इसीलिये धर्म में परिग्रहवृत्ति को मनुष्य की आभ्यन्तर चेतना द्वारा नियंत्रित करने का प्रयत्न किया गया है। महाव्रती मुनियों को तो तिलतुषमात्र भी परिग्रह रखने का निषेध है। किन्तु गृहस्थों के कुटुम्ब-परिपालनादि कर्तव्यों का विचार कर उनसे स्वयं अपने लिये परिग्रह की सीमा निर्धारित कर लेने का अनुरोध किया गया है। एक तो उन्हें उस सीमा से बाहर धन-धान्य का संचय करना ही नहीं चाहिये और यदि अनायास ही उसकी आमद हो जावे तो उसे औषधि ज्ञान अभय और आहार, अर्थात् औषधि-वितरण व औषध-शालाओं की स्थापना ज्ञानदान या विद्यालयों की स्थापना जीव-रक्षा सम्बन्धी व्यवस्थाओं में तथा अन्न वस्त्रादि दान में उस द्रव्य का उपयोग कर देना चाहिये। नियत किये हुए भूमि घरद्वार, सोना-चांदी धन-धान्य दास-दासी तथा बर्तन भांड़ों के प्रमाण का अतिक्रमण करना इस व्रत के अतिचार हैं। इस परिग्रह-परिमाण व्रत को दृढ़ कराने वाली पांच भावनाएं हैं—पांचों इन्द्रियों सम्बन्धी मनोज्ञ वस्तुओं के प्रति

राग व श्रमनोज्ञ के प्रति द्वेष-भाव का परित्याग, क्योकि इसके विना मानसिक परिग्रह-त्याग नही हो सकता।

मैत्री आदि चार भावनाए—

उपर्युक्त व्रतो के परिपालन योग्य मानसिक शुद्धि के लिये ऐसी भावनाओ का भी विधान किया गया है, जिनसे उक्त पापो के प्रति अरुचि और सदाचार के प्रति रुचि उत्पन्न हो। व्रती को वारम्वार यह विचार करते रहना चाहिये कि हिंसादिक पाप इस लोक और परलोक मे दु खदायी हैं, और उनसे जीवन मे वडे अनर्थ उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण अन्तत वे सब सुख की अपेक्षा दु ख का ही अधिक निर्माण करते हैं। उक्त पापो के प्रलोभन का निवारण करने के लिये ससार के व शरीर के गुणधर्मों की क्षणभगुरता की ओर भी ध्यान देते रहना चाहिये, जिससे विषयो के प्रति आसक्ति न हो और सदाचारी जीवन की ओर आकर्षण उत्पन्न हो। जीवमात्र के प्रति **मैत्री** भावना, गुणीजनो के प्रति **प्रमोद,** दीन-दुखियो के प्रति **कारुण्य,** तथा विरोधियो के प्रति रागद्वेष व पक्षपात के भाव से रहित **माध्यस्थ-भाव,** इन चार वृत्तियो का मन को अभ्यास कराते रहना चाहिये, जिससे तीव्र रागद्वेषात्मक अनर्थकारी दुर्भावनाए जागृत न होने पावें। इन समस्त व्रतो का मन से, वचन से, काय से परिपालन करने का अनुरोध किया गया है, और उनके द्वारा त्यागे जाने वाले पापो को केवल स्वय न करने की प्रतिज्ञा मात्र नही, किन्तु अन्य किसी से उन्हें कराने व किये जाने पर उस कुकृत्य का अनुमोदन करने के विरुद्ध भी प्रतिज्ञा अर्थात् उनका कृत, कारित व अनुमोदित तीनो रूपो मे परित्याग करने पर जोर दिया गया है। इस प्रकार इस नैतिक सदाचार द्वारा जीवन को शुद्ध और समाज को सुसस्कृत वनाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है।

तीन गुणव्रत—

उक्त पाच मूलव्रतो के अतिरिक्त गृहस्थ के लिये कुछ अन्य ऐसे व्रतो का विधान भी किया गया है कि जिनसे उसकी तृष्णा व सचयवृत्ति का नियन्त्रण हो, इन्द्रिय-लिप्सा का दमन हो, और दानशीलता जागृत हो। उसे चारो दिशाओ मे गमनागमन, आयात-निर्यातादि की सीमा वाध लेनी चाहिये—यह **दिग्व्रत** कहा गया है। अल्पकाल मर्यादा सहित दिग्व्रत के भीतर समुद्र, नदी, पर्वत, पहाडी, ग्राम व दूरी प्रमाण के अनुसार सीमाए वाधकर अपना व्यापार चलाना चाहिये, यह उसका **देशव्रत** होगा। पापात्मक चिन्तन व उपदेश, तथा दूसरो को अस्त्र-शस्त्र, विप, वन्धन आदि ऐसी वस्तुओ का

दान जिनका वह स्वयं उपभोग नहीं करना चाहता अनर्थदण्ड कहा गया है, जिनका गृहस्थ को त्याग करना चाहिये। इन तीन व्रतों के अभ्यास से मूलव्रतों के गुणों की वृद्धि होती है और इसीलिये इन्हें गुणव्रत कहा गया है।

चार शिक्षाव्रत—

गृहस्थ को सामायिक का भी अभ्यास करना चाहिये। सामायिक का अर्थ है—समताभाव का सद्भाव । मनकी साम्यावस्था वह है जिसमें हिंसादि समस्त पाप वृत्तियों का शमन हो जाय। इसीलिये सामायिक की अपेक्षा समस्त व्रत एक ही कहे गये हैं और इसी पर महावीर से पूर्व के तीर्थंकरों द्वारा जोर दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं। इस भावना के अभ्यास के लिये गृहस्थ को प्रतिदिन प्रभात मध्याह्न सायंकाल आदि किसी भी समय कम से कम एक बार एकान्त में शान्त और शुद्ध वातावरण में बैठकर, अपने मन को सांसारिक चिन्तन से निवृत्त करके शुद्ध ध्यान अथवा धर्म-चिन्तन में लगाने का आदेश दिया गया है। इसे ही व्यवहार में जैन लोग सन्ध्या कहते हैं। खान-पान व गृह-व्यापारादि का त्यागकर देव-वन्दन पूजन तथा जप व शास्त्र-स्वाध्याय आदि धार्मिक क्रियाओं में ही दिन व्यतीत करना प्रोषधोपवास कहलाता है। इसे गृहस्थ यथाशक्ति प्रत्येक पक्ष की अष्टमी-चतुर्दशी को करे, जिससे उसे भूख प्यास की वेदना पर विजय प्राप्त हो। प्रतिदिन के आहार में से विशेष प्रकार खट्टे-मीठे रसों का फल-अन्नादि वस्तुओं का तथा वस्त्राभूषण शयनासन व वाहनादि के उपभोग का त्याग करना व सीमा बांधना भोगोपभोगपरिमाण व्रत है। अपने गृह पर आये हुए मुनि आदि साधुजनों को सत्कार पूर्वक आहार औषधि आदि दान देना अतिथिसंविभाग व्रत है। ये चारों शिक्षाव्रत कहलाते हैं क्योंकि इनसे गृहस्थ को धार्मिक जीवन का शिक्षण व अभ्यास होता है। सामान्य रूप से ये सातों व्रत सप्तशील या सप्त शिक्षापद भी कहे गये हैं। इन समस्त व्रतों के द्वारा जीवन का परिशोधन करके गृहस्थ को मरण भी धार्मिक रीति से करना सिखाया गया है।

सल्लेखना—

महान् संकट दुर्भिक्ष असाध्य रोग व वृद्धत्व की अवस्था में जब साधक को यह प्रतीत हो कि वह उस विपत्ति से बच नहीं सकता तब उसे कराह-कराह कर व्याकुलता पूर्वक मरने की अपेक्षा यह श्रेयस्कर है कि वह क्रमशः अपना आहारपान इस विधि से घटाता जावे जिससे उसके चित्त में क्लेश व व्याकुलता उत्पन्न न हो

और वह शान्तभाव से अपने शरीर का उसी प्रकार त्याग कर सके, जैसे कोई धनी पुरुष अपने गृह को सुख का साधन समझता हुआ भी उसमे आग लगने पर स्वय सुरक्षित निकल आने मे ही अपना कल्याण समझता है। इसे **सल्लेखना या समाधिमरण** कहा गया है। इसे आत्मघात नही समझना चाहिये, क्योंकि आत्मघात तीव्र रागद्वेष-वृत्ति का परिणाम है, और वह शस्त्र व विषके प्रयोग, भृगुपात आदि घातक क्रियाओ द्वारा किया जाता है, जिनका कि सल्लेखना मे सर्वथा अभाव है। इस प्रकार यह योजनानुसार शान्तिपूर्वक मरण, जीवन सबधी सुयोजना का एक अग है।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाए—

पूर्वोक्त गृहस्थ धर्म के व्रतों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट दिखाई देगा कि वह धर्म सब व्यक्तियो के लिये, सब काल मे, पूर्णत पालन करना सम्भव नही है। इसीलिये परिस्थितियो, सुविधाओ तथा व्यक्ति की शारीरिक व मानसिक वृत्तियो के अनुसार श्रावकधर्म के ग्यारह दर्जे नियत किये गये हैं जिन्हे श्रावक की ग्यारह प्रतिमाए कहते हैं। गृहस्थ की **प्रथम** प्रतिमा उस **सम्यग्दृष्टि (दर्शन)** की प्राप्ति के साथ आरम्भ हो जाती है, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। यह प्रथम प्रतिमाधारी श्रावक किसी भी व्रत का विधिवत् पालन नही करता। सम्भव है वह चाण्डाल कर्म करता हो, तथापि आत्म और पर की सत्ता का भान हो जाने से उसकी दृष्टि शुद्ध हुई मानी गई है, जिसके प्रभाव से वह पशु व नरक योनि मे जाने से बच जाता है। तात्पर्य यह है कि भले ही परिस्थिति वश वह अहिंसादि व्रतो का पालन न कर सके, किन्तु जब दृष्टि सुधर गई, तब वह भव्य सिद्ध हो चुका, और कभी न कभी चारित्र-शुद्धि प्राप्त कर मोक्ष का अधिकारी हुए बिना नही रह सकता।

श्रावक की दूसरी प्रतिमा उसके अहिंसादि पूर्वोक्त **व्रतों** के विधिवत् ग्रहण करने से प्रारम्भ होती है, और वह क्रमश पाच अणुव्रतो व सातो शिक्षापदो का निरतिचार पालन करने का अभ्यास करता जाता है। **तीसरी** प्रतिमा **सामायिक** है। यद्यपि सामायिक का अभ्यास पूर्वोक्त शिक्षाव्रतो के भीतर दूसरी प्रतिमा मे ही प्रारम्भ हो जाता है, तथापि इस तीसरी प्रतिमा मे ही उसकी वह साधना ऐसी पूर्णता को प्राप्त होती है जिससे उसे अपने क्रोधादि कषायो पर विजय प्राप्त हो जाती है, और सामान्यत सासारिक उत्तेजनाओ से उसकी शान्ति भग नही होती, तथा वह अपने मन को कुछ काल आत्मध्यान मे निराकुलतापूर्वक लगाने मे समर्थ हो जाता है।

चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा मे वह उस उपवासविधि का पूर्णत पालन करने

में समर्थ होता है जिसका अभ्यास वह दूसरी प्रतिमा में प्रारम्भ कर चुका है और जिसका स्वरूप ऊपर वर्णित किया जा चुका है। पांचवीं सचित्त-त्याग प्रतिमा में श्रावक अपनी स्थावर जीवों सम्बन्धी हिंसावृत्ति को विशेषरूप से नियंत्रित करता है और हरे शाक कन्द-मूल तथा अप्रासुक अर्थात् बिना उबाले जल के आहार का त्याग कर देता है। छठी प्रतिमा में वह रात्रि भोजन करना छोड़ देता है क्योंकि रात्रि में कीट पतंगादि क्षुद्र जन्तुओं द्वारा आहार के दूषित हो जाने की सम्भावना रहती है। सातवीं प्रतिमा में श्रावक पूर्ण ब्रह्मचारी बन जाता है, और अपनी स्त्री से भी काम क्रीड़ा करना छोड़ देता है यहां तक कि रागात्मक कथा-कहानी पढ़ना-सुनना भी छोड़ देता है, व तत्सम्बन्धी वार्तालाप भी नहीं करता। आठवीं प्रतिमा आरम्भ-त्याग की है, जिसमें श्रावक की सांसारिक आसक्ति इतनी घट जाती है कि वह घर-गृहस्थी सम्बन्धी काम-धंधे व व्यापार में रुचि न रख उसका भार अपने पुत्रादि पर छोड़ देता है।

नौवीं प्रतिमा परिग्रह-त्याग की है। श्रावक ने जो अणुव्रतों में परिग्रह-परिमाण का अभ्यास प्रारम्भ किया था वह इस प्रतिमा में आने तक ऐसे उत्कर्ष को पहुंच जाता है कि गृहस्थ को अपने घर-सम्पत्ति व धन-दौलत से कोई मोह नहीं रहता। वह अब इस सब को भी अपने पुत्रादि को सौंप देता है, और अपने लिये भोजन-वस्त्र मात्र का परिग्रह रखता है। दसवीं प्रतिमा में उसकी विरक्ति एक दर्जे आगे बढ़ती है, और वह अब अपने पुत्रादि को कामधंधों सम्बन्धी अनुमति देना भी छोड़ देता है। ग्यारहवीं प्रतिमा उद्दिष्ट-त्याग की है, जहां पर श्रावक धर्म अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है। इस प्रतिमा के दो अवान्तर भेद हैं—एक 'क्षुल्लक' और दूसरा 'ऐलक'। प्रथम प्रकार का उद्दिष्टत्यागी एक वस्त्र धारण करता है कैंची छूरे से अपने बाल बनवा लेता है, तथा पात्र में भोजन कर लेता है। किन्तु दूसरा उद्दिष्ट-त्यागी वस्त्र के नाम पर केवल कोपीन मात्र धारण करता है, स्वयं केशलौंच करता है, पीछी-कमंडल रखता है, और भोजन केवल अपने हाथ में लेकर ही करता है, थाली आदि पात्र में नहीं। इस उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा का सार्थक लक्षण यह है कि इसमें श्रावक अपने निमित्त बनाया गया भोजन नहीं करता। वह भिक्षावृत्ति स्वीकार कर लेता है।

इन प्रतिमाओं में दिखाई देता कि जिन व्रतों का समावेश बारह-व्रतों के भीतर हो चुका है और जिनके पालन का विधान दूसरी प्रतिमा में ही किया जा चुका है उन्हीं की आगे अन्य प्रतिमाओं में भी पुनरावृत्ति हुई है। किन्तु उसमें भेद यह है कि जिन-जिन व्रतों का विधान ऊपर की प्रतिमाओं में किया गया है, उनकी परिपूर्णता वहीं पर होती है। अभ्यास के लिये भले ही निचली प्रतिमाओं में भी

उनका ग्रहण किया गया हो। यों व्यवहार मे प्रथम प्रतिमा से ही निशि-भोजन त्याग पर जोर दिया जाता है, जिसका प्रतिमानुसार विधान छठवें दर्जे पर आता है। तात्पर्य यह है कि वह त्याग गुरुजनो के सम्मुख प्रतिज्ञा लेकर उसी प्रतिमा मे किया जाता है, और फिर उस व्रत का उल्लघन करता बडा दूषण समझा जाता है। यह व्यवस्था एक उदाहरण द्वारा समझाई जा सकती है। प्रथम वर्ग मे पढनेवाले विद्यार्थी की एक पाठ्य-पुस्तक नियत है, जिसका यथोचित ज्ञान हुए विना वह दूसरी कक्षा मे जाने योग्य नही माना जाता। किन्तु उस वर्ग मे होते हुए भी द्वितीयादि वर्गों की पुस्तको का पढना उसकेलिये वर्ज्य नही, अपितु एक प्रकार से वाछनीय ही है। तथापि वह प्रथम वर्ग मे उसके पूर्ण ज्ञान व परीक्षा का विषय नही माना जाता। इसीप्रकार व्रतो की साधना यथाशक्ति पहली या दूसरी प्रतिमा से ही प्रारम्भ हो जाती है, किन्तु उनका विधिवत् पूर्ण परिपालन उत्तरोत्तर ऊपर की प्रतिमाओ मे होता है। यह व्यवस्था जैन-अनेकान्त दृष्टि के अनुकूल है।

मुनिधर्म—

उपर्युक्त श्रावक की सर्वोत्कृष्ट ग्यारहवी प्रतिमा के पश्चात् मुनिधर्म का प्रारम्भ होता है, जिसमे आदित परिग्रह का पूर्णरूप से परित्याग कर **नग्न-वृत्ति** धारण की जाती है, और अहिंसादि पाच व्रत **महाव्रतो** से रूप मे पालन करने की प्रतिज्ञा ली जाती है। मुनि को अपने चलने फिरने मे विशेष सावधानी रखना पडती है। अपने आगे पाच-हाथ पृथ्वी देख-देख कर चलना पडता है, और अन्धकार मे गमन नही किया जाता, इसी का नाम **ईर्या समिति** है। निन्दा व चापलूसी, हसी, कटु आदि दूषित भाषा का परित्याग कर मुनि को सदैव सयत, नपीतुली, सत्य, प्रिय और कल्याणकारी वाणी का ही प्रयोग करना चाहिये। यह मुनि की **भाषा समिति** है। भिक्षा द्वारा केवल शुद्ध निरामिष आहार का निर्लोभ भाव से ग्रहण करना मुनि की **एषणा** समिति है। जो कुछ थोडी वहुत वस्तुए निग्रथ मुनि अपने पास रख सकता है, वे ज्ञान व चरित्र के परिपालन-निमित्त ही हुआ करती हैं, जैसे ज्ञानार्जन के लिये शास्त्र, जीव रक्षा-निमित्त पिच्छिका एव शौच-निमित्त कमडल। ये क्रमश ज्ञानोपधि, सयमोपधि और शौचोपधि कहलाती हैं। इनके रखने व ग्रहण करने मे भी जीव-रक्षा निमित्त सावधानी रखनी **आदाननिक्षेप** समिति है। मल-मूत्रादि का त्याग किसी दूर, एकान्त, सूखे व जीव-जन्तु रहित ऐसे स्थान पर करना जिससे किसी को कोई आपत्ति न हो, यह मुनि की **प्रतिस्थापन** समिति है।

चक्षु आदि पांचों इन्द्रियों का नियंत्रण करना उन्हें अपने-अपने विषयों की ओर लोलुपता से आकर्षित न होने देना ये मुनियों के पांच इन्द्रिय-निग्रह हैं। जीवन में मित्र-शत्रु में सुख-दुख में लाभ-अलाभ में रोष-तोष भाव का परित्याग कर समताभाव रखना तीर्थंकरों की गुणानुकीर्तन रूप स्तुति करना अर्हन्त व सिद्ध की प्रतिमाओं व आचार्यादि की मन-वचन-काय से प्रदक्षिणा-प्रणाम आदि रूप वन्दना करना नियमितरूप से आत्मशोधन-निमित्त अपने अपराधों की निन्दा-गर्हा रूप प्रतिक्रमण करना समस्त अयोग्य आचरण का परिवर्जन। अर्थात् अनुचित नाम नहीं लेना अनुचित स्थापना नहीं करना एवं अनुचित द्रव्य क्षेत्र काल भाव का परित्याग रूप प्रत्याख्यान तथा अपने शरीर से भी ममत्व छोड़ने रूप विसर्गभाव रखना ये छह मुनियों की आवश्यक क्रियाएं हैं। समय-समय पर अपने हाथों से केशलौंच अचेलकवृत्ति स्नानत्याग दन्तधावन-त्याग क्षितिशयन स्थितिभोजन अर्थात् खड़े रह कर आहार करना और मध्याह्न काल में केवल एक बार भोजन करना ये मुनि की अन्य सात विशेष साधनाएं हैं। इसप्रकार मुनियों के कुल अट्ठाइस मूलगुण नियत किये गये हैं।

२२ परीषह—

उपर्युक्त नियमों से यह स्पष्ट है कि साधु की मुख्य साधना है समत्व जिसे भगवद्गीता में भी योग का मुख्य लक्षण कहा है (समत्वं योग उच्यते)। इस समताभाव को भग्न करने वाली अनेक परिस्थितियों का मुनि को सामना करना पड़ता है, और वे ही स्थितियां मुनि के समत्व की परीक्षा के विशेष स्थल हैं। ऐसी परिस्थितियां तो अगणित हो सकती हैं किन्तु उनमें से बाईस का विशेषरूप से उल्लेख किया गया है, और सन्मार्ग से च्युत न होने के लिये तत्सम्बन्धी क्लेशों पर विजय प्राप्त करने का आदेश दिया गया है। साधु अपने पास न खान-पीने का सामान रखता और न स्वयं पकाकर खा सकता। उसे इसके लिये भिक्षा वृत्ति पर अवलम्बित रहना पड़ता है सो भी दिन में केवल एक बार। उसे समय-समय पर एक व अनेक दिनों के लिये उपवास भी करना पड़ता है। अतएव बीच-बीच में उसे भूख-प्यास सतावेंगे ही। इसी लिये क्षुधा (१) और तृषा (२) परीषह उसे आदि में ही जीतना चाहिये। वस्त्रों के अभाव में उसे शीत उष्ण (३-४) दंश-मशक (५) व नग्नता (६) के क्लेश होना अनिवार्य है जिन्हें भी उसे शान्तिपूर्वक सहन करना चाहिये। एकान्त में रहने उक्त भूख-प्यास आदि की बाधाएं सहने तथा इन्द्रिय-विषयों के अभाव से उसे मुनि

अवस्था से कभी अरुचि भी उत्पन्न हो सकती है। इस **अरति** परीषह को भी उसे जीतना चाहिये (७)। मुनि को जब-तब और विशेषत भिक्षा के समय नगर व ग्राम में परिभ्रमण करते हुए व गृहस्थों के घरो मे सुन्दर व युवती स्त्रियो का एव उनके हाव-भाव-विलासो का दर्शन होना अनिवार्य है। इससे उसके मन मे चंचलता उत्पन्न हो सकती है, जिसे जीतना **स्त्री**-परीषह-जय कहलाता है (८)। मुनि को वर्षाऋतु के चार माह छोडकर शेष-काल मे एक स्थान पर अधिक न रह कर देश-परिभ्रमण करते रहना चाहिये। इस निरतर यात्रा से उसे मार्ग की अनेक कठिनाइया सहनी पडती हैं, यही मुनि का **चर्या** परीषह है (९)। ठहरने के लिये मुनि को श्मशान, वन, ऊजड घर, पर्वत-गुफाओ आदि का विधान किया गया है, जहा उन्हे नाना-प्रकार की, यहा तक कि सिंह-व्याघ्रादि हिंस्र पशुओ द्वारा आक्रमण की, बाधाए सहनी पडती हैं, यही साधु का **निषद्या** परीषह-विजय है (१०)। मुनि को किंचित् काल शयन के लिये खर विषम, शिलातल आदि ही मिलेंगे, इसका क्लेश सहन करना **शय्या**-परीषह-जय है (११)। विरोधी जन मुनि को बहुधा गाली-गलौच भी कर बैठते हैं, इसे सहन करना **आक्रोश परीषह**-जय है (१२)। यदि कोई इससे भी आगे बढकर मार-पीट कर बैठे, तो उसे भी सहन करना **वध**-परीषह-जय है (१३) मुनि को अपने आहार, वसति, औषध आदि के लिये गृहस्थो से याचना ही करनी पडती है (१४)। किन्तु इस कार्य मे अपने मे दीनता भाव न आने देने को **याचना**-परीषह-जय, तथा याचित वस्तु का लाभ न होने पर रुष्ट न होकर अलाभ से उसे अपनी तपस्या की वृद्धि मे लाभ ही हुआ, ऐसा समझकर सन्तोष भाव रखने को **अलाभ**-विजय कहते हैं (१५)। यदि शरीर किसी रोग, व्याधि व पीडा के वशीभूत हो जाय तो उसे शान्तिपूर्वक सहने का नाम **रोग**-विजय है (१६) चर्या, शैया व निषद्यादि के समय जो कुछ तृण, काटा ककड आदि चुभने की पीडा हो, उसे सहना **तृणस्पर्श**-विजय है (१७)। साधु को अपने शरीर से मोह छोडने के लिये जो स्नान न करने, दन्तादि अग-प्रत्यगो को साफ न करने तथा शरीर का अन्य किसी प्रकार भी सस्कार न करने के कारण उत्पन्न होनेवाली मलिनता से घृणा व खेद का भाव उत्पन्न न होने देने को **मल** परीषह-विजय कहते है (१८)। सामान्यतया व्यक्ति को विशेष सत्कार-पुरस्कार मिलने से हर्ष, और न मिलने से रोष व खेद का भाव उत्पन्न होता है। किन्तु मुनि को उक्त दोनो अवस्थाओ मे रोष-तोष की भावना से विचलित नही होना चाहिये। यह उसका **सत्कार-पुरस्कार** विजय है (१९)। विशेष ज्ञान का मद होना भी बहुत सामान्य है। साधु इस मद से मुक्त रहे, यह उसका **प्रज्ञा**-विजय (२०)। एव ज्ञान न

होने पर खिन्न न हो यह उसका प्रज्ञान-विजय है (२१)। दीर्घ काल तक तप करते रहने पर भी अवधि या मनःपर्ययज्ञानादि की प्राप्ति रूप ऋद्धि-सिद्धि उपलब्ध न होने पर मुनि का श्रद्धान विचलित हो सकता है कि ये सब सिद्धियां प्राप्य हैं या नहीं केवलज्ञानी ऋषि मुनि तीर्थंकरादि हुए हैं या नहीं यह सब तपस्या निरर्थक हो है ऐसी अश्रद्धा उत्पन्न न होने देना अदर्शन-विजय है (२२)। ये बाईस परीषह-जय मुनियों की विशेष साधनाएं हैं, जिनके द्वारा वह अपने को पूर्ण इन्द्रिय-विजयी व योगी बना लेता है।

१ धर्म—

उपर्युक्त बाईस परीषहों में मन को उभाड़ कर विचलित करके रागद्वेष रूप दुर्भावों से दूषित करनेवाली जो मानसिक अवस्थाएं हैं उनके उपशमन के लिये दश धर्मों और बारह अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) का विधान किया गया है। धर्मों के द्वारा मन को कषायों को जीतने के लिये उनके विरोधी गुणों का अभ्यास कराया जाता है तथा अनुप्रेक्षाओं से तत्व-चिन्तन के द्वारा सांसारिक वृत्तियों से अनासक्ति उत्पन्न कर वैराग्य की भावना में विशेष प्रवृत्ति कराई जाती है। दस धर्म हैं—उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव शौच सत्य संयम तप त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य। क्रोधोत्पादक गाली-गलौज मारपीट अपमान आदि परिस्थितियों में भी मन को कलुषित न होने देना क्षमा धर्म है। (१) कुल जाति रूप ज्ञान तप वैभव प्रभुत्व एवं शील आदि संबंधी अभिमान करना मद कहलाता है। इस मान कषाय को जीतकर मन में सदैव मृदुता भाव रखना मार्दव धर्म है। (२) मन में एक बात सोचना वचन से कुछ और कहना तथा शरीर से करना कुछ और, यह कुटिलता या मायाचारी कहलाती है। इस माया कषाय को जीतकर मन-वचन-काय की क्रिया में एकरूपता (ऋजुता) रखना आर्जव धर्म है। (३) मन को मलिन बनाने वाली जितनी दुर्भावनाएं हैं उनमें लोभ सबसे प्रबल अनिष्टकारी है। इस लोभ कषाय को जीतकर मन को पवित्र बनाना शौच धर्म है। (४) असत्य वचन की प्रवृत्ति को रोककर सदैव यथार्थ हित-मित-प्रिय वचन बोलना सत्य धर्म है। (५) इन्द्रियों के विषयों की ओर से मन की प्रवृत्ति को रोककर उसे सत्प्रवृत्तियों में लगाना संयम धर्म है। (६) विषयों व कषायों का निग्रह करके आगे कहे जानेवाले बारह प्रकार के तप में चित्त को लगाना तप धर्म है। (७) बिना किसी प्रत्युपकार व स्वार्थ भावना के दूसरों के हित व कल्याण के लिये विद्या आदि का दान देना त्याग धर्म है। (८) पर-द्वार, धन-दौलत बन्धु-बान्धव शत्रु-मित्र सबसे ममत्व

छोडना, ये मेरे नहीं हैं, यहा तक कि शरीर भी सदा मेरे साथ रहनेवाला नही है, ऐसा अनासक्ति भाव उत्पन्न करना **अकिंचन** धर्म है, (६) तथा रागोत्पादक परिस्थितियो मे भी मन को काम वेदना से विचलित न होने देना व उसे आत्म चिन्तन मे लगाये रहना **ब्रह्मचर्य** धर्म है (१०)।

इन दश धर्मों के भीतर सामान्यत चार कपायो तथा अणुव्रत व महाव्रतो द्वारा निर्धारित पाच पापो के अभाव का समावेश प्रतीत होता है। किन्तु धर्मो की व्यवस्था की विशेषता यह है कि उनमे कषायो और पापो के अभाव मात्र पर नही, किन्तु उनके उपशामक विधानात्मक क्षमादि गुणो पर जोर दिया गया है। चार कपायो के उपशामक प्रथम चार धर्म हैं, तथा हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म व परिग्रह के उपशामक क्रमश सयम, सत्य, त्याग, ब्रह्मचर्य और अकिंचन धर्म हैं। इन नौ के अतिरिक्त तप का विधान मुनिचर्या को विशेष रूप से गृहस्थ धर्म से आगे वढाने वाला है।

१२ अनुप्रेक्षाए—

अनासक्ति योग के अभ्यास के लिये जो वारह अनुप्रेक्षाए या भावनाए वतलाई गई हैं, वे इस प्रकार हैं—आराधक यह चिन्तन करे कि ससार का स्वभाव वडा क्षण-भगुर है, यहा मेरा-तेरा कहा जानेवाला जो कुछ है, सव अनित्य है, अतएव उसमे आसक्ति निष्फल है, यह **अनित्य** भावना है (१)। जन्म-जरा-मृत्यु रूप भयो से कोई किसी की रक्षा नही कर सकता, इन भयो से छूटने का उपाय आत्मा मे ही है, अन्यत्र नही, यह **अशरण** भावना है (२)। ससार मे जीव जिस प्रकार चारो गतियो मे घूमता है, और मोहवश दु ख पाता रहता है, इसका विचार करना **ससार** भावना है (३)। जीव तो अकेला ही जन्मता व वाल्य, यौवन व वृद्धत्व का अनुभव करता हुआ अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है, यह विचार **एकत्व** भावना है (४), देहादि समस्त इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं, इनसे आत्मा का कोई सच्चा नाता नही है, यह **अन्यत्व** भावना है (५)। यह शरीर रुधिर, मास व अस्थि का पिंड है, और मल-मूत्रादि अशुचि पदार्थों से भरा हुआ है, इनसे अनुराग करना व उसे सजाना-धजाना निष्फल है, यह **अशुचित्व** भावना है (६)। क्रोधादि कषायो से तथा मन-वचन-काय की प्रवृत्तियो से किस प्रकार कर्मों का आस्रव होता है, इसका विचार करना **आस्रव** भावना है (७)। व्रतो तथा समिति, गुप्ति, धर्म, परीषहजय व प्रस्तुत अनुप्रेक्षाओ द्वारा किस प्रकार कर्मास्रव को रोका जा सकता है, यह चिन्तन **सवर** भावना है (८)।

व्रतों आदि के द्वारा तथा विशेष रूप से बारह प्रकार के तपों द्वारा बंधे हुए कर्मों का किस प्रकार क्षय किया जा सकता है, यह चिन्तन निर्जरा भावना है (९)। इस अनन्त आकाश उसके लोक व अलोक विभाग उनके अनादित्व व अकर्तृत्व तथा लोक में विद्यमान समस्त जीवादि द्रव्यों का विचार करना लोक भावना है (१०)। इस अनादि संसार में यह जीव किस प्रकार अज्ञान और मोह के कारण नाना योनियों में भ्रमण के दुःख पाता रहा है, कितने पुण्य के प्रभाव से इसे यह मनुष्य योनि मिली है, तथा इस मनुष्य जन्म को सार्थक करने वाले दर्शन ज्ञान चारित्र रूप तीन रत्न कितने दुर्लभ हैं, यह चिन्तन बोधिदुर्लभ भावना है (११)। सच्चे धर्म का स्वरूप क्या है, और उसे प्राप्त कर किस प्रकार सांसारिक दुःखों से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है, यह चिन्तन धर्म भावना है (१२)। इस प्रकार इन बारह भावनाओं से साधक को अपनी धार्मिक प्रवृत्ति में दृढ़ता व स्थिरता प्राप्त होती है।

३ गुप्तियां—

ऊपर अनेक बार कहा जा चुका है कि मन-वचन-काय की क्रिया रूप योग के द्वारा कर्मास्रव होता है और कर्मबन्ध को रोकने तथा बंधे हुए कर्मों की निर्जरा करने में इस त्रियोग की साधना विशेषरूप से आवश्यक है। यथार्थतः समस्त धार्मिक साधना के मूल में मन-वचन-काय की प्रवृत्ति-निवृत्ति ही तो प्रधान है। अतएव इनकी सम्यक् प्रवृत्ति का विशेष रूप से स्वरूप बतलाकर साधक को उनके सम्बन्ध में विशेष सावधानी रखने का आदेश दिया गया है। मन और वचन इन दोनों की प्रवृत्ति चार प्रकार की कही गयी है—सत्य असत्य उभय और अनुभय। सत्य में यथार्थता और हित इन दोनों बातों का समावेश माना गया है। इसी सत्य के अनुचिन्तन में प्रवृत्त मन की अवस्था को सत्य मन उससे विपरीत असत्यमन मिश्रित भाव को उभय मन और सत्यासत्य दोनों से हीन मानसिक अवस्था को अनुभय रूप मन कहा गया है। इन अवस्थाओं में से सत्य मनोयोग की ही साधना को मनोगुप्ति कहा गया है। शब्दात्मक वचन यथार्थतः मन की अवस्था को व्यक्त करनेवाला प्रतीक मात्र है। अतएव उक्त चारों मनोदशाओं के अनुकूल वचन-पद्धति भी चार प्रकार की हुई। तथापि लोक व्यवहार में सत्य-वचन भी दश प्रकार का रूप धारण कर लेता है। कहीं शब्द अपने मूल वाच्यार्थ से च्युत होकर भी जनपद सम्मति स्थापना नाम रूप अपेक्षा व्यवहार, संभावना भाव व उपमा सम्बन्धी रूढ़ियों द्वारा सत्य को प्रकट करता है। वाणी के अन्य प्रकार से भी नौ भेद किये गये हैं जैसे—आमंत्रणी आज्ञापनी

याचनी, आपृच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, सशयवचनी, इच्छानुलोमनी और अनक्षर-गता। इनका सत्य-असत्य से कोई सवन्ध नही। अतएव इन्हें अनुभय वचनरूप कहा गया है। साधक को इस प्रकार मन और वचन के सत्यासत्य स्वरूप का विचारकर, अपनी मन-वचन की प्रवृत्ति को सभालना चाहिये, और तदनुसार ही कायिक क्रिया मे प्रवृत्त होना चाहिये, यही मुनि का त्रिगुप्ति रूप आचरण है।

६ प्रकार का बाह्य तप—

उक्त समस्त व्रतो आदि की साधना कर्मास्रव के निरोध रूप सवर व बधे हुए कर्मों के क्षय रूप निर्जरा करानेवाली है। कर्म-निर्जरा के लिये विशेषरूप से उपयोगी तप साधना मानी गई है, जिसके मुख्य दो भेद हैं—बाह्य और **आभ्यन्तर**। अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति-परिसख्यान, रस-परित्याग, विविक्त-शय्यासन एव कायक्लेश, ये बाह्य तप के छह प्रकार हैं। सब प्रकार के आहार का परित्याग **अनशन**, तथा अल्प आहार मात्र ग्रहण करना **अवमौदर्य** या ऊनोदर तप है। एक ही घर से भिक्षा लूगा, इस प्रकार दिये हुए आहार मात्र को ग्रहण करूगा, इत्यादि रूप से आहार सम्बन्धी परिस्थितियो का नियन्त्रण करना **वृत्ति-परिसख्यान**, तथा घृतादि विशेष पौष्टिक एवं विकारी वस्तुओ का त्याग, तथा मिष्टादि रसों का नियमन करना **रस-परित्याग** है। शून्य गृहादि एकान्त स्थान मे वास करना **विविक्तशय्यासन** है, तथा धूप, शीत, वर्षा आदि बाधाओ को विशेष रूप से सहने का एव आसन-विशेष से लम्बे समय तक स्थिर रहने आदि का अभ्यास करना **कायक्लेश** तप है।

६ प्रकार का आभ्यन्यर तप—

आभ्यन्तर तप के छह भेद हैं—प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। प्रमादवश उत्पन्न हुए दोषो के परिहार के लिये आलोचन, प्रतिक्रमण आदि चित्तशोधक क्रियाओ मे प्रवृत्त होना **प्रायश्चित** तप है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र व उपचार की साधना मे विशेष रूप से प्रवृत्त होना **विनय** तप है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र का स्वरूप बताया ही जा चुका है। आचार्यादि गुरुजनो व शास्त्रो व प्रतिमाओ आदि पूज्य पात्रो का प्रत्यक्ष मे व परोक्ष मे मन-वचन-काय की क्रिया द्वारा आदर-सत्कार व गुणानुवाद आदि करना उपचार विनय है। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शिक्षाशील, रोगी, गण, कुल, सघ, साधु तथा लोक-सम्मत अन्य योग्यजनो की पीडा-बाधाओ को दूर करने के लिये सेवा मे प्रवृत्त होना **वैयावृत्य** तप है। धर्म शास्त्रो की वाचना,

पृच्छना, अनुचिन्तन बार-बार आवृत्ति व धर्मोपदेश यह सब स्वाध्याय तप है। धन, धन-धान्यादि बाह्योपाधियों तथा क्रोधादि आभ्यन्तरोपाधियों का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है।

✓

ध्यान—(आर्त व रौद्र)—

छठा अन्तिम आभ्यन्तर तप ध्यान है जिसके चार भेद माने गये हैं—आर्त रौद्र धर्म और शुक्ल। अनिष्ट के संयोग इष्ट के वियोग दुःख की वेदना तथा भोगों की अभिलाषा से जो संक्लेश भाव होते हैं, तथा इस अनिष्ट परिस्थिति को बदलने के लिये जो चिन्तन किया जाता है, वह सब आर्त ध्यान है। झूठ बोलने चोरी करने, धन-सम्पत्ति की रक्षा करने तथा जीवों के घात करने में जो क्रूर परिणाम उत्पन्न होते होते हैं, वह रौद्र ध्यान है। ये दोनों ध्यान व्यक्ति को स्वयं दुःख देते हैं समाज में भी अशान्ति उत्पन्न करने के कारण होते हैं, एवं इनसे अशुभकर्मों का बन्ध होता है इसलिये ये ध्यान अशुभ और त्याज्य माने गये हैं। शेष दो ध्यान जीव के लिये कल्याणकारी होने से शुभ हैं।

धर्म ध्यान—

इन्द्रियों तथा राग-द्वेष भावों से मन का निरोध करके उसे धार्मिक चिन्तन में लगाना धर्मध्यान है। इस चिन्तन का विषय चार प्रकार का हो सकता है—आज्ञा-विचय अपाय-विचय विपाक-विचय और संस्थान विचय। जब ध्याता शास्त्रोक्त तत्वों के स्वरूप कर्मबन्ध आदि ज्ञान की व्यवस्था व चरित्र के नियम आदि के सूक्ष्म चिन्तन में ध्यान लगाता है तब आज्ञाविचय नामक ध्यान होता है। आज्ञा का अर्थ है—शास्त्रादेश और विचय का अर्थ है—खोज या गवेषणा। इस प्रकार शास्त्रादेश का गवेषण अर्थात् धर्म के सिद्धान्तों को तर्क न्याय प्रमाण दृष्टान्त आदि की योजना द्वारा समझने का मानसिक प्रयत्न धर्म ध्यान है। अपाय का अर्थ है विघ्न-बाधा अतएव धर्म के मार्ग में जो विघ्न-बाधाएं उपस्थित हों उन्हें दूरकर धर्म की प्रभावना बढ़ाने के लिए जो चिन्तन किया जाता है, वह अपाय-विचय धर्मध्यान है। ज्ञानावरणादि कर्म किस प्रकार अपना फल देते हैं तथा जीवन के नाना अनुभव भिन्न-भिन्न कर्मों से प्राप्त हुए इस प्रकार कर्मफल सम्बन्धी चिन्तन विपाक-विचय धर्मध्यान है और लोक का स्वरूप कैसा है, उसके ऊर्ध्व अधः तिर्यक् लोकों की रचना किस प्रकार की है, और उनमें जीवों की कैसी-कैसी दशाएं पाई जाती हैं, इत्यादि चिन्तन संस्थान-विचय

नामक धर्मध्यान है। इन चार प्रकार के धर्मध्यानो से ध्याता की दृष्टि शुद्ध होती है, श्रद्धान दृढ, बुद्धि निर्मल, तथा चारित्र-पालन विशुद्ध व स्थिर होता है। इसलिये धर्म-ध्यान का आत्म-कल्याण के लिये बड़ा माहात्म्य है।

शुक्ल ध्यान—

शुक्ल ध्यान के भी चार भेद हैं—पृथकत्व-वितर्क-वीचार, एकत्व-वितर्क-अवीचार, सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाती और व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति। अनेक जीवादि द्रव्यो व उनकी पर्यायो का अपने मन-वचन-काय इन तीनो योगो द्वारा चिन्तन पृथक्त्व कहलाता है। वितर्क का अर्थ है श्रुत या शास्त्र, और वीचार का अर्थ है—विचरण या विपरिवर्तन। अत द्रव्य से पर्याय व पर्याय से द्रव्य, एक शास्त्रवचन से दूसरे शास्त्रवचन, तथा एक योग से दूसरे योग के आलम्बन से ध्यान की धारा चलना पृथक्त्व-वितर्क-वीचार ध्यान कहलाता है। जब आलम्बनभूत द्रव्य व उसकी पर्याय का व योग का सक्रमण न होकर, एक ही द्रव्य या द्रव्यपर्याय का किसी एक ही योग के द्वारा, ध्यान किया जाता है, तब एकत्व-वितर्क-अवीचार ध्यान होता है। जब ध्यान मे न तो वितर्क अर्थात् श्रुत-वचन का आश्रय रहता, और न वीचार अर्थात् योग-सक्रमण होता, किन्तु केवल सूक्ष्म काययोग मात्र का अवलम्बन रहता है, तब सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाती नामक तीसरा शुक्लध्यान होता है, तथा जब न वितर्क रहे, न वीचार और न योग का अवलम्बन; तब व्युपरतक्रियानिवर्त्ति नामक सर्वोत्कृष्ट शुक्ल ध्यान होता है। यह ध्यान केवलज्ञान की चरम अवस्था मे ही होता है, और आत्मा द्वारा शरीर का परित्याग होने पर सिद्धो के आत्मज्ञान का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार शुक्ल-ध्यान द्वारा ही योगी क्रमश आत्मा को उत्तरोत्तर कर्म-मल से रहित बनाकर अन्तत मोक्ष पद प्राप्त करता है।

१४ गुणस्थान व मोक्ष—

ऊपर मोक्ष-प्राप्ति के हेतु सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र का प्ररूपण किया गया है। मिथ्यात्व से लेकर मोक्षप्राप्ति तक जिन आध्यात्मिक दशाओ मे से जीव निकलता है, वे गुणस्थान कहलाते हैं। सामान्यतः इन दशाओ मे परिवर्तन करनेवाले वे कर्म हैं जिनकी नाना प्रकृतियों का स्वरूप भी पहले बतलाया जा चुका है। इन कर्मों की परिस्थितियों के अनुसार जीव के जो भाव होते हैं, वे चार प्रकार हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक। कर्मों के उदय से उत्पन्न होनेवाले भाव औदयिक

कहलाते हैं जैसे उसके राग द्वेष अज्ञान असंयम रति आदि भाव। कर्मों की उपशम अर्थात् उदयरहित अवस्था में होनेवाले भाव औपशमिक कहे गये हैं जैसे सम्यक्त्व की प्राप्ति सदाचार, व्रत-नियम-पालन आदि। कर्मों के उपशम काल में जीव की उसी प्रकार शुद्ध अवस्था हो जाती है, जैसे जल में फिटकिरी आदि शोधक वस्तुओं के प्रभाव से उसका सब मैल नीचे बैठ जाता है और ऊपर का समस्त जल निर्मल हो जाता है। किन्तु आत्म-परिणामों की यह विशुद्धि चिरस्थायी नहीं होती क्योंकि जिसप्रकार उपशान्त हुआ मल पानी में थोड़ी भी हलचल उत्पन्न होने से पुनः ऊपर उठकर समस्त जल को मलिन कर देता है उसी प्रकार उपशान्त हुए कर्म शीघ्र ही पुनः कषायोदय द्वारा उभर उठते हैं, और जीव के परिणामों को पुनः मलिन बना देते हैं। किन्तु यदि एकत्र हुए मल को छानकर जल से पृथक् कर दिया जाय तो फिर वह जल स्थायी रूप से शुद्ध हो जाता है। उसी प्रकार कर्मों के क्षय से जो शुद्ध आत्म-परिणाम होते हैं, उन्हें जीव के क्षायिक भाव कहा जाता है जैसे केवलज्ञान-दर्शन आदि। कर्मों के सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदय-क्षय व सत्तागत सर्वघाती स्पर्द्धकों का उपशम तथा देशघाती स्पर्द्धकों का उदय होने से जीव के जो परिणाम होते हैं, वे क्षायोपशमिकभाव कहलाते हैं। ये परिणाम क्षायिक व औपशमिक भावों की अपेक्षा कुछ मलिनता लिये हुए रहते हैं जिस प्रकार कि गंदले पानी को छान लेने से उसका बहुत कुछ मल तो उससे पृथक् हो जाता है शेष में से कुछ भाग पात्र की तली में बैठ जाता है, और कुछ उसी में मिला रह जाता है जिसके कारण उस जल में अल्प मलिनता बनी रहती है। सामान्य मति-श्रुत ज्ञान अणुव्रतपालन आदि क्षायोपशमिक भावों के उदाहरण हैं। इन चार भावों के अतिरिक्त जीव के जीवत्व भव्यत्व अभव्यत्व आदि स्वाभाविक गुण पारिणामिक भाव कहलाते हैं।

इन जीवगत भावों का सामान्यतः समस्त कर्मों से किन्तु विशेषतः मोहनीय कर्म की प्रकृतियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है और उसी की नाना अवस्थाओं के अनुसार जीव की वे चौदह आध्यात्मिक भूमिकाएं उत्पन्न होती हैं जिन्हें गुणस्थान कहा गया है। मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव के वे समस्त मिथ्याभाव उत्पन्न होते हैं, जिनमें अधिकांश जीव अनादि काल से विद्यमान हैं। यह जीव का मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थान है। निमित्त पाकर जब जीव को औपशमिक क्षायिक व क्षायोपशमिक भावरूप सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है, तब वह जीव सम्यक्त्व नामक गुणस्थान में पहुंच जाता है। इनमें से क्षायिक सम्यक्त्व तो स्थायी होता है और औपशमिक सम्यक्त्व अनिवार्यतः अल्पकालीन। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व दीर्घकालीन भी हो

सकता है, अल्पकालीन भी। यद्यपि इनमे से कोई भी सम्यक्त्व प्राप्त होने पर एक नियत काल-मर्यादा के भीतर वह जीव निश्चयत मोक्ष का अधिकारी हो जाता है, तथापि उसके लिये उसे कभी न कभी क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करना अनिवार्य है। जब तक उसे इसकी प्राप्ति नही होगी, तबतक वह परिणामो के अनुसार ऊपर-नीचे के गुणस्थानो मे चढता-उतरता रहेगा। यदि वह सम्यक्त्व से च्युत हुआ तो उसे तीसरा गुणस्थान भी प्राप्त हो सकता है, जो, उसमे होनेवाले मिश्र भावो के कारण, **सम्यग्मिथ्यात्व** गुणस्थान कहलाता है, अथवा दूसरा गुणस्थान भी, जो **सासादन** कहलाता है, क्योकि इसमे जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर भी पूर्णत मिथ्यात्व भाव को प्राप्त नही हो पाता, और उसमे सम्यक्त्व का कुछ आस्वादन (अनुभवन) बना रहता है। यह यथार्थत चतुर्थ गुणस्थान से गिरकर प्रथम स्थान मे पहुचने से पूर्व की मध्यवर्ती अवस्था है, जिसका काल स्वभावत अत्यल्प होता है, और जीव उस भाव से निकल कर शीघ्र ही प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान मे आ गिरता है।

सम्यक्त्व नामक चतुर्थ गुणस्थान मे आत्म-चेतना रूप धार्मिक दृष्टि तो प्राप्त हो जाती है, क्योकि कषायो की अनन्तानुबन्धी चार प्रकृतियो का, उपशम, क्षय, या क्षयोपशम हो जाता है, किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय बना रहता है; और इसीलिये यह गुणस्थान **अविरत-सम्यक्त्व** कहलाता है। जब इन प्रकृतियो का भी उपशमादि हो जाता है, तो जीव के अणुव्रत धारण करने योग्य परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं और वह **देशविरत** व **सयतासयत** नामक पाचवा गुणस्थान प्राप्त कर लेता है। इस गुणस्थान की सीमा अणुव्रत तक ही है, क्योकि यहा प्रत्याख्यानावरण कषायो का उदय बना रहता है। जब इन कषायो का भी उपशमादि हो जाता है, तब जीव के परिणाम और भी विशुद्ध होकर वह महाव्रत धारण कर लेता है। यह छठा व इससे ऊपर के समस्त गुणस्थान सामान्यत **सयत** कहलाते हैं। किन्तु उनमे भी विशुद्धि का तरतमभाव पाया जाता है, जिसके अनुसार छठा गुणस्थान **प्रमत्तविरत** कहलाता है, क्योकि यहा सयमभाव पूर्ण होते हुए भी प्रमाद रूप मन्द कषायो का उदय रहना है, जिसके कारण उसकी परिणति स्त्रीकथा, चोरकथा, राजकथा आदि विकथाओ व इन्द्रिय-विषयो आदि की ओर झुक जाती है, क्योकि उसके सज्वलन कषाय का उदय रहता है। जब सज्वलन कषायो का भी उपशमादि हो जाता है, तब उसे **अप्रमत्त संयत** नामक सातवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है। यहा से लेकर आगे की समस्त अवस्थाए ध्यान की हैं, क्योकि ध्यानावस्था के सिवाय प्रमादो का अभाव सम्भव नहीं। इस ध्यानावस्था मे जब सयमी यथाप्रवृत्तकरण अर्थात् विशुद्धि की पूर्वधारा को

चढ़ाता हुआ और प्रतिक्षण शुद्धतर होता हुआ ऐसी असाधारण आध्यात्मिक विशुद्धि को प्राप्त हो जाता है, जैसी पहले कभी नहीं हुई थी तब वह अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में आ जाता है। इस गुणस्थान में किंचित् काल रहने पर जब आत्मा के प्रतिसमय के एक-एक परिणाम अपनी अपनी विशेष विशुद्धि को लिये हुए विक रूप होने लगते हैं तब अनिवृत्तिकरण नामक नौवाँ गुणस्थान प्रारम्भ हो जाता है। इस गुणस्थानवर्ती समस्त साधकों का उस समयवर्ती परिणाम एकसा ही होता है अर्थात् प्रथमसमयवर्ती समस्त आत्माओं का परिणाम एकसा ही होगा' दूसरे समय का परिणाम प्रथम समय से भिन्न होगा; और वह भी सब का एकसा ही होगा। इसप्रकार इस गुणस्थान में रहने के काल के जितने समय होंगे उतने ही भिन्न परिणाम होंगे और वे सभी साधकों के उसी समय में एकसे होंगे अन्य समय में नहीं। इस गुणस्थान सम्बन्धी विशेष विशुद्धि के द्वारा जब कर्मों का इतना उपशमन व क्षय हो जाता है कि लोभ कषाय के अतिसूक्ष्मांश को छोड़कर शेष समस्त कषाय क्षीण या उपशान्त हो जाते हैं तब जीव को सूक्ष्म साम्पराय नामक दसवाँ गुणस्थान प्राप्त हो जाता है यहाँ आत्मविशुद्धि का स्वरूप ऐसा बतलाया गया है कि जिस प्रकार केशर से रंगे हुए वस्त्र को धो डालने पर भी उसमें केशरी रंग का अतिसूक्ष्म आभास रह जाता है उसी प्रकार इस गुणस्थान वर्ती के लोभ संज्वलन कषाय का सद्भाव रह जाता है।

उपशम व क्षपक श्रेणियाँ—

सातवें गुणस्थान से आगे जीव उपशम व क्षपक इन दो श्रेणियों द्वारा ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ते हैं। यदि वे कर्मों का उपशम करते हुए दसवें गुणस्थान तक आये हैं तब तो उस अवशिष्ट लोभ संज्वलन कषाय का भी उपशमन करके उपशांत-मोह नामक ग्यारहवाँ गुणस्थान प्राप्त करेंगे और इसमें किंचित् काल रहकर नियमतः नीचे के गुणस्थानों में गिरेंगे। इस प्रकार उपशमश्रेणी की यही चरमसीमा है। किन्तु जो जीव सातवें गुणस्थान से क्षायिकश्रेणी द्वारा अर्थात् कर्मों का क्षय करते हुए ऊपर चढ़ते हैं वे दसवें गुणस्थान के पश्चात् उसी शेष लोभ संज्वलन कषाय का क्षय करके ग्यारहवें गुणस्थान में न जाकर, सीधे क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार ग्यारहवें व बारहवें दोनों गुणस्थानों में मोहनीय कर्म के अभाव के कारण आत्मविशुद्धि की मात्रा एक सी ही होती है और जीव पूर्णतः वीतराग हो जाते हैं किन्तु ज्ञानावरणीयादि कर्मों के सद्भाव के कारण केवलज्ञान प्राप्त

नही होता, इसीलिए छद्मस्थ वीतराग कहलाते हैं। इन दोनो गुणस्थानो मे भेद यह है कि ग्यारहवें गुणस्थान मे मोहनीय कर्म उपशान्त अवस्था मे अभी भी शेष रहता है, जो अन्तंमुहूर्त के भीतर पुन उभरकर जीव को नीचे के गुणस्थान मे ढकेल देता है, किन्तु वारहवें गुणस्थान मे मोह के सर्वथा क्षीण हो जाने के कारण इस पतन की कोई सम्भावना नहीं रहती। इमे अव केवल अपने ज्ञानावरणी और दर्शनावरणी कर्मों की शेप प्रकृतियो का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करना रह जाता है। यह कार्य सम्पन्न होने पर जीव को सयोग केवली नामक तेरहवा गुणस्थान प्राप्त हो जाता है। इस गुणस्थानवर्ती जीवो को वह केवलज्ञान प्राप्त होता है, जिसके द्वारा उन्हें विश्व की समस्त वस्तुओ का हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। इन केवलियों के दो भेद हैं—एक सामान्य, और दूसरे वे जो तीर्थंकर नामकर्म के उदय से धर्म की व्यवस्था करने वाले तीर्थंकर वनते हैं। इस गुणस्थान को सयोगी कहने की सार्थकता यह है कि इन जीवो के अभी भी शरीर का सम्वन्ध वना हुआ है, व नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय इन चार अघातिया कर्मों का उदय विद्यमान है। जव केवली की आयु स्वल्प मात्र शेप रहती है, तव यदि उसके नाम, गोत्र और वेदनीय, इन तीन कर्मों की स्थिति आयुकर्म से अधिक हो तो वह उसे समुद्घात-क्रिया द्वारा आयुप्रमाण कर लेता है। इस क्रिया मे पहले आत्म-प्रदेशो को दड रूप से लोकाग्र तक फैलया जाता है, फिर दोनो पार्श्वों मे फैलाकर कपाटरूप चौडा कर लिया जाता है, तत्पश्चात् आगे पीछे की ओर शेप दो दिशाओ मे फैलाकर उसे प्रतर रूप किया जाता है, और अन्तत लोक के अवशिष्ट कोण रूप भागो मे फैलाकर समस्त लोक को भर दिया जाता है। ये क्रियाए एक-एक समय मे पूर्ण होती हैं, और वे क्रमश दड, कपाट, प्रतर व लोकपूरण समुद्घात कहलाती हैं। अन्य चार समयों मे विपरीत क्रम से आत्म प्रदेशो को पुन समेट कर शरीर प्रमाण कर लिया जाता है। इस क्रिया से जिसप्रकार गीले वस्त्र को फैलाने से उसकी आर्द्रता शीघ्र निकल जाती है, उसीप्रकार आत्मप्रदेशो के फैलने से उनमे ससक्त कर्म-प्रदेशो का स्थिति व अनुभागाश क्षीण होकर आयुप्रमाण हो जाता है। इसके पश्चात् केवली काययोग से भी मुक्त होकर, अयोग केवली नामक चौदहवा गुणस्थान प्राप्त कर लेता है। इस अष्टकर्म-विमुक्त सर्वोत्कृष्ट सासारिक अवस्था का काल अतिस्वल्प कुछ समय मात्र ही है, जिसे पूर्णकर जीव अपनी शुद्ध, शाश्वत, अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्य से युक्त परम अवस्था को प्राप्तकर सिद्ध बन जाता है।

सम्यग्ज्ञानत्रयेण प्रविदित-निखिलज्ञेयतत्त्वप्रपञ्चाः
प्रोद्धूय ध्यानवातैः सकलमथ रजः प्राप्तकैवल्यरूपाः ।
कृत्वा सत्त्वोपकारं त्रिभुवनपतिभिर्दत्तयात्रोत्सवा ये
ते सिद्धाः सन्तु लोकत्रयशिखरपुरीवासिनः सिद्धये नः ॥

व्याख्यान - ४

जैन कला

व्याख्यान—४

जैन कला

जीवन और कला—

जैन तत्त्वज्ञान के सबंध मे कहा जा चुका है कि जीव का लक्षण उपयोग है, और वह उपयोग दो प्रकार का होता है—एक तो जीव को अपनी सत्ता का भान होता है कि मैं हूं, और दूसरे उसे यह भी प्रतीत होता है कि मेरे आसपास अन्य पदार्थ भी हैं। प्रकृति के ये अन्य पदार्थ उसे नाना प्रकार से उपयोगी सिद्ध होते हैं। कितने ही पदार्थ भोज्य बनकर उसके शरीर का पोषण करते हैं, तथा अन्य कितने ही पदार्थ, जैसे वृक्ष, पर्वत, गुफा आदि उसे प्रकृति की विपरीत शक्तियों-तूफान, वर्षा, ताप आदि से रक्षा करते व आश्रय देते हैं। अन्य जीव, जैसे पशु-पक्षी आदि, तो प्रकृति के पदार्थों का इतना ही उपयोग लेते हुए जीवन-यापन करते हैं, किन्तु मनुष्य अपनी ज्ञान-शक्ति के कारण इनसे कुछ विशेषता रखता है। मनुष्य में जिज्ञासा होती है। वह प्रकृति को विशेष रूप से समझना चाहता है। इसी ज्ञान-गुण के कारण उसने प्रकृति पर विशेष अधिकार प्राप्त किया है, तथा विज्ञान और दर्शन शास्त्रो का विकास किया है। मनुष्य का दूसरा गुण है-अच्छे और बुरे का विवेक। इसी गुण की प्रेरणा से उसने धर्म, नीति व सदाचार के नियम और आदर्श स्थापित किये हैं, और उन्ही आदर्शों के अनुसार ही जीवन को परिमार्जित और सुसंस्कृत बनाने का प्रयत्न किया है। इसी कारण मानव-समाज उत्तरोत्तर सभ्य बनता गया है, और ससार में नाना मानव सस्कृतियो का आविष्कार हुआ है। मनुष्य का तीसरा विशेष गुण है—सौन्दर्य की उपासना। अपने पोषण व रक्षण के लिये मनुष्य जिन पदार्थों का ग्रहण व रक्षण करता है, उन्हें वह उत्तरोत्तर सुन्दर बनाने का भी प्रयत्न करता है। वह अपने खाद्य पदार्थों को सजाकर खाने मे अधिक सन्तुष्टि का अनुभव करता है। आदि में उसने शीत, धूप आदि से रक्षा के लिये जिन वल्कल,

मृगछाला आदि शरीराच्छादनों को ग्रहण किया उनमें क्रमशः परिष्कार करते करते नाना प्रकार के सूती ऊनी व रेशमी वस्त्रों का आविष्कार किया और उन्हें नाना रीतियों से काटछांटकर व सीकर सुन्दर वेष-भूषा का निर्माण किया है। किन्तु जिन बातों में मनुष्य की सौन्दर्योपासना चरम सीमा को पहुंची है, और मानवीय सभ्यता के विकास में विशेष सहायक हुई है, वे हैं—गृहनिर्माण मूर्तिनिर्माण चित्रनिर्माण तथा संगीत और काव्य कृतियां। इन पांचों कलाओं का प्रारम्भ उसके जीवन के लिये उपयोग की दृष्टि से ही हुआ। मनुष्य ने प्राकृतिक गुफाओं आदि में रहते-रहते क्रमशः अपने आश्रय के लिये लकड़ी मिट्टी व पत्थर के घर बनाये अपने पूर्वजों की स्मृति रखने के लिये प्रारम्भ में निराकार और फिर साकार पाषाण आदि की स्थापना की अपने अनुभवों की स्मृति के लिये रेखाचित्र खींचे अपने बच्चों को सुलाने व उनका मन बहलाने के लिये गीत गाये व किस्से कहानी सुनाये। किन्तु इन प्रवृत्तियों में उसने उत्तरोत्तर ऐसा परिष्कार किया कि कालान्तर में उनके भौतिक उपयोग की अपेक्षा उनका सौन्दर्यपक्ष अधिक प्रबल और प्रधान हो गया और इस प्रकार उन उपयोगी कलाओं ने ललित कलाओं का रूप धारण कर लिया और किसी भी देश व समाज की सभ्यता व संस्कृति के ये ही अनिवार्य प्रतीक माने जाने लगे। भिन्न-भिन्न देशों, समाजों, व धर्मों के इतिहास को पूर्णता से समझने के लिये उनके आश्रय में इन कलाओं के विकास का इतिहास जानना आवश्यक प्रतीत होता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया उससे स्पष्ट हो जाता है कि कला की मौलिक प्रेरणा मनुष्य की जिज्ञासा के समान सौन्दर्य की इच्छारूप उसकी स्वाभाविक वृत्ति से ही मिलती है। इसलिये कहा जा सकता है कि कला का ध्येय कला ही है। तथापि उक्त प्राकृतिक सौन्दर्य-वृत्ति ने अपनी अभिव्यक्ति के लिये जिन आलम्बनों को ग्रहण किया है उनके प्रकाश में यह भी कहा जा सकता है कि कला का ध्येय जीवन का उत्कर्ष है। यह बात सामान्यतः भारतीय और विशेष रूप से जैन कला-कृतियों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। यहां का कलाकार कभी प्रकृति के जैसे के तैसे प्रतिबिम्ब मात्र से सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसका सदैव यह प्रयत्न रहा है कि उसकी कलाकृति के द्वारा मनुष्य की भावना का परिष्कार व उत्कर्षण हो। उसकी कृति में कुछ न कुछ व कहीं न कहीं धर्म व नीति का उपदेश छुपा या प्रकट रहता ही है। यही कारण है कि यहां की प्रायः समस्त कलाकृतियां धर्म के अंचल में पलीं और पुष्ट हुई हैं। यूनान के कलाकार ने प्रकृति के यथार्थ प्रतिबिम्बन में ही अपनी कला की सफलता मानी है, इस कारण उस कला को हम पूर्णतः आधिभौतिक व धर्म

निरक्षेप कह सकते हैं। किन्तु भारतीय कलाकारो ने प्रकृति के इस यान्त्रिक (फोटोग्राफिक) चित्रण मात्र को अपने कला के आदर्श की दृष्टि से पर्याप्त नही समझा। उनके मत से उनकी कलाकृति द्वारा यदि दर्शक ने कुछ सीखा नही, समझा नही, कुछ धार्मिक, नैतिक व भावात्मक उपदेश पाया नही, तो उस कृति से लाभ ही क्या हुआ ? इसी जन-कल्याण की भावना के फलस्वरूप हमारी कलाकृतियो में नैसर्गिकता के अतिरिक्त कुछ और भी पाया जाता है, जिसे हम कलात्मक अतिशयोक्ति कह सकते हैं। स्थापत्य की कृतियो मे हमारा कलाकार अपनी दिव्य विमान की कल्पना को सार्थक करना चाहता है। देवो की मूर्तियो में तो वह दिव्यता भरता ही है, मानवीय मूर्तियो व चित्रो मे भी उसने आध्यात्मिक उत्कर्ष के आरोप का प्रयत्न किया है। पशु-पक्षी व वृक्षादि का चित्रण यथावत् होते हुऐ भी उसे ऐसी भूमिका देने का प्रयत्न किया है कि जिससे कुछ न कुछ श्रद्धा, भाव-शुद्धि व नैतिक परिष्कार-उत्पन्न हो। इस प्रकार जैन कला का उद्देश्य जीवन का उत्कर्षण रहा है, उसकी समस्त प्रेरणा धार्मिक रही है, और उसके द्वारा जैन तत्त्वज्ञान व आचार के आदर्शों को मूर्तिमान् रूप देने का प्रयत्न किया गया है।

जैन धर्म और कला—

बहुधा कहा जाता है कि जैन धर्म ने जीवन के विधान-पक्ष को पुष्ट न कर निषेधात्मक वृत्तियों पर ही विशेष भार दिया है। किन्तु यह दोषारोपण यथार्थत जैन धर्म की अपूर्ण जानकारी का परिणाम है। जैन धर्म मे अपनी अनेकान्त दृष्टि के अनुसार जीवन के समस्त पक्षो पर यथोचित ध्यान दिया गया है। अच्छे और बुरे के विवेक से रहित मानव व्यवहार के परिष्कार के लिये कुछ आदर्श स्थापित करना और उनके अनुसार जीवन की कुत्सित वृत्तियो का निषेध करना सयम की स्थापना के लिये सर्वप्रथम आवश्यक होता है। जैन धर्म ने आत्मा को परमात्मा बनाने का चरम आदर्श उपस्थित किया, उस ओर गतिशील होने के लिये अपने कर्म-सिद्धान्त द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को पूर्णत उत्तरदायी बनाया और प्रेरित किया, तथा व्रत-नियम आदि धार्मिक व्यवस्थाओ के द्वारा वैयक्तिक, सामाजिक व आध्यात्मिक अहित करने वाली प्रवृत्तियो से उसे रोकने का प्रयत्न किया। किन्तु उसका विधान-पक्ष सर्वथा अपुष्ट रहा हो, सो बात नही। इस बात को स्पष्टत. समझने के लिये जैनधर्म ने मानव जीवन की जो धाराए व्यवस्थित की हैं, उनकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। मुनिधर्म के द्वारा एक ऐसे वर्ग की स्थापना का प्रयत्न किया गया है जो सर्वथा नि·स्वार्थ, नि स्पृह और

मृगछाला आदि शरीराच्छादनों को ग्रहण किया उनमें क्रमशः परिष्कार करते करते नाना प्रकार के सूती ऊनी व रेशमी वस्त्रों का आविष्कार किया और उन्हें नाना रीतियों से काटछांटकर व सीकर सुन्दर वेष-भूषा का निर्माण किया है। किन्तु जिन बातों में मनुष्य की सौन्दर्योपासना चरम सीमा को पहुंची है और मानवीय सभ्यता के विकास में विशेष सहायक हुई हैं, वे हैं—गृहनिर्माण मूर्तिनिर्माण चित्रनिर्माण तथा संगीत और काव्य कृतियां। इन पांचों कलाओं का प्रारम्भ उनके जीवन के लिये उपयोग की दृष्टि से ही हुआ। मनुष्य ने प्राकृतिक गुफाओं आदि में रहते-रहते क्रमशः अपने आश्रय के लिये लकड़ी मिट्टी व पत्थर के घर बनाये अपने पूर्वजों की स्मृति रखने के लिये प्रारम्भ में निराकार और फिर साकार पाषाण आदि की स्थापना की अपने अनुभवों की स्मृति के लिये रेखाचित्र खींचे अपने बच्चों को सुलाने व उनका मन बहलाने के लिये गीत गाये व किस्से कहानी सुनाये। किन्तु इन प्रवृत्तियों में उसने उत्तरोत्तर ऐसा परिष्कार किया कि कालान्तर में उनके भौतिक उपयोग की अपेक्षा उनका सौन्दर्यपक्ष अधिक प्रबल और प्रधान हो गया और इस प्रकार इन उपयोगी कलाओं ने ललित कलाओं का रूप धारण कर लिया और किसी भी देश व समाज की सभ्यता व संस्कृति के ये ही अनिवार्य प्रतीक माने जाने लगे। भिन्न-भिन्न देशों समाजों व धर्मों के इतिहास को पूर्णता से समझने के लिये उनके आश्रय में इन कलाओं के विकास का इतिहास जानना आवश्यक प्रतीत होता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया उससे स्पष्ट हो जाता है कि कला की मौलिक प्रेरणा मनुष्य की जिज्ञासा के समान सौन्दर्य की इच्छारूप उसकी स्वाभाविक वृत्ति से ही मिलती है। इसलिये कहा जा सकता है कि कला का ध्येय कला ही है। तथापि उक्त प्राकृतिक सौन्दर्य-वृत्ति ने अपनी अभिव्यक्ति के लिये जिन आलम्बनों को ग्रहण किया है, उनके प्रकाश में यह भी कहा जा सकता है कि कला का ध्येय जीवन का उत्कर्ष है। यह बात सामान्यतः भारतीय और विशेष रूप से जैन कला-कृतियों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। यहां का कलाकार कभी प्रकृति के जैसे के तैसे प्रतिबिम्ब मात्र से सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसका सदैव यह प्रयत्न रहा है कि उसकी कलाकृति के द्वारा मनुष्य की भावना का परिष्कार व उत्कर्षण हो। उसकी कृति में कुछ न कुछ व कहीं न कहीं धर्म व नीति का उपदेश छुपा या प्रकट रहता ही है। यही कारण है कि यहां की प्रायः समस्त कलाकृतियां धर्म के अंचल में पली और पुष्ट हुई हैं। यूनान के कलाकार ने प्रकृति के यथार्थ प्रतिबिम्बन में ही अपनी कला की सफलता मानी है, इस कारण उस कला को हम पूर्णतः आधिभौतिक व धर्म

निर्जीव, ७२ शकुनरुत।

१ लेख का अर्थ है अक्षर-विन्यास । इस कला मे दो वातो का विचार किया गया है—लिपि और लेख का विषय । लिपि देशभेदानुसार १८ प्रकार की वतलाई गई है। उनके नाम ये है :—१ ब्राह्मी, २ जवरणालिया, ३ दोसाऊरिया, ४ खरोष्ठिका, ५ खरसाविया, ६ पहाराइया, ७ उच्चत्तरिया, ८ अक्खरमुट्ठिया, ९ भोगवइया, १० वेणतिया, ११ निन्हइया, ११ अकलिपि, १२ गणितलिपि, १३ गन्धर्वलिपि १४ भूतलिपि, १५ आदर्शलिपि, १६ माहेश्वरीलिपि, १७ दामिलिलिपि, और (१८) वोलिदि (पोलिदि-आन्ध्र) लिपि। इन लिपि-नामो मे से ब्राह्मी और खरोष्ठी, इन दो लिपियो के लेख प्रचुरता से मिले है। खरोष्ठी का प्रयोग ई० पू० तीसरी शती के मौर्य सम्राट् अशोक के लेखो से लेकर दूसरी-तीसरी शती ई० तक के पजाव व पश्चिमोत्तर प्रदेश से लेकर चीनीतुर्किस्तान तक मिले हैं। ब्राह्मी लिपि की परम्परा देश मे आज तक प्रचलित है, व भारत की प्राय समस्त प्रचलित लिपियाँ उसीसे विकसित हुई हैं। इसका सवसे प्राचीन लेख सभवत वारली (अजमेर) से प्राप्त वह छोटा सा लेख है जिसमे वीर (महावीर) ८४, सम्भवत. निर्वाण से ८४ वा वर्ष, तथा मध्यमिक स्थान का उल्लेख है। अशोक के शिलालेखो मे इसका प्रचुरता से प्रयोग पाया जाता है, और तव से आज तक भिन्न-भिन्न काल व भिन्न-भिन्न प्रदेश के लेखो मे इसका अनुक्रम से प्रयोग व विकास मिलता है। ब्राह्मी लिपि के विषय मे जैन आगमो व पुराणो मे वतलाया गया है कि इसका आविष्कार आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ ने किया और उसे अपनी पुत्री ब्राह्मी को सिखाया। इसी से इस लिपि का नाम ब्राह्मी पडा। समवायाग सूत्र मे ब्राह्मी लिपि के ४६ मातृका अक्षरो (स्वरो व व्यजनो) का उल्लेख है। पाचवें जैनागम भगवती वियाहपण्णत्ति सूत्र के आदि में अरहतादि पचपरमेष्ठी नमस्कार के साथ 'नमो बमीए लिवीए। नमो सुयस्स' इस प्रकार ब्राह्मी लिपि व श्रुत को नमस्कार किया गया है। अन्य उल्लिखित लिपियो के सवध मे विशेष जानकारी प्राप्त नही। सम्भव है जवणालिया से यवनानी या यूनानी लिपि का तात्पर्य हो। अक्षरमुष्टिका कथन को वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में ६४ कलाओ के भीतर गिनाया है, और उनके टीकाकार यशोधर ने अक्षरमुष्टिका के साभासा व निराभासा इन दो भेदो का उल्लेख कर कहा है कि साभासा का प्रकरण आचार्य रविगुप्त ने 'चन्द्रप्रभा विजय' काव्य मे पृथक् कहा है। उनके उदाहरणो से प्रतीत होता है कि आदि अक्षर मात्र से पूरे शब्द का सकेत करना साभासा तथा अगुलीआदि के सकेतो द्वारा शब्दकी अभिव्यक्त को निराभासा अक्षरमुष्टिका कहते थे। इनका समावेश सम्भवत. प्रस्तुत ७२ कलाओ में ५० और

निर्मोह होकर वीतराग भाव से अपने व दूसरों के कल्याण में ही अपना समस्त समय व शक्ति लगावें। साथ ही गृहस्थ धर्म की व्यवस्थाओं द्वारा उन सब प्रवृत्तियों को यथोचित स्थान दिया गया है जिनके द्वारा मनुष्य सभ्य और शिष्ट बनकर अपनी, अपने कुटुम्ब की तथा समाज व देश की सेवा करता हुआ उन्हें उन्नत बना सके। धर्म दान व परोपकार के भावकर्मों में यथोचित स्थान का निरूपण जैन-चारित्र के प्रकरण में किया जा चुका है। जैन परम्परा में कला की उपासना को जो स्थान दिया गया है, उससे उसका यह विधान पक्ष और भी स्पष्ट हो जाता है।

कला के भेद प्रभेद—

प्राचीनतम जैन आगमों में बालकों को उनके शिक्षण-काल में शिल्पों और कलाओं की शिक्षा पर जोर दिया गया है, और इन्हें सिखाने वाले कलाचार्यों व शिल्पाचार्यों का प्रसंग-प्रसंग उल्लेख मिलता है। गृहस्थों के लिये जो षट्कर्म बतलाये गये हैं उनमें असि मसि कृषि विद्या व वाणिज्य के अतिरिक्त शिल्प का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। जैन साहित्य में स्थान-स्थान पर बहत्तर कलाओं का उल्लेख पाया जाता है। समवायांग सूत्र के अनुसार ७२ कलाओं के नाम ये हैं—१ लेख २ गणित ३ रूप ४ नृत्य ५ गीत ६ वाद्य ७ स्वरगत ८ पुष्करगत ९ समताल १० द्यूत ११ जनवाद १२ पोरेकच्चं १३ अष्टापद १४ दगमट्टिय (उदकमृत्तिका) १५ अन्नविधि १६ पानविधि १७ वस्त्रविधि १८ शयनविधि १९ अज्जं (आर्या), २० प्रहेलिका २१ मागधिका २२ गाथा २३ श्लोक २४ गंधयुक्ति २५ मधुसिक्थ २६ आभरणविधि २७ तरुणी-प्रतिकर्म, २८ स्त्रीलक्षण २९ पुरुषलक्षण ३० हयलक्षण ३१ गजलक्षण ३२ गोण (वृषभ लक्षण) ३३ कुक्कुटलक्षण ३४ मेंढालक्षण, ३५ चक्रलक्षण ३६ छत्रलक्षण ३७ दंडलक्षण ३८ असिलक्षण, ३९ मणिलक्षण ४० काकणिलक्षण ४१ चर्मलक्षण ४२ चंद्रलक्षण ४३ सूर्यचरित ४४ राहुचरित ४५ ग्रहचरित ४६ सौभाग्यकर, ४७ दुर्भाग्यकर, ४८ विद्यागत ४९ मंत्रगत ५० रहस्यगत ५१ समास ५२ चार, ५३ प्रतिचार, ५४ व्यूह, ५५ प्रतिव्यूह, ५६ स्कंधावारमान ५७ नगरमान ५८ वास्तुमान, ५९ स्कंधावारनिवेश ६० वास्तु-निवेश ६१ नगरनिवेश ६२ ईसत्थं (इष्वस्त्रं) ६३ छरुप्पवायं (त्सरुप्रवाद) ६४ अश्वशिक्षा ६५ हस्तिशिक्षा ६६ धनुर्वेद, ६७ हिरण्यपाक सुवर्णपाक मणिपाक, धातु-पाक ६८ बाहुयुद्ध, दंडयुद्ध मुष्टियुद्ध यष्टियुद्ध युद्ध नियुद्ध युद्धातियुद्ध, ६९ सूत्रक्रीड़ा, नालिकाक्रीड़ा वृत्तक्रीड़ा धर्मक्रीड़ा चर्मक्रीड़ा ७० पत्रछेद, कटकछेद, ७१ सजीव

(बुनकर), छिन्न (छेदकर), भिन्न (भेदकर), दग्ध (जलाकर), और सक्रान्तित (ठप्पा लेकर) इन पद्धतियो से की जाती थी। लिपि के अनेक दोष भी बतलाये गये हैं। जैसे, अतिकृश, अतिस्थूल, विषम, टेढी पक्ति, और भिन्न वर्णों को एक जैसा लिखना (जैसे घ और घ, भ और म, म और य, आदि), व पदच्छेद न करना, आदि। विषय के अनुसार भी लेखो का विभाजन किया गया था। तथा स्वामि-भृत्य, पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी शत्रु-मित्र, इत्यादि को पत्र लिखने की भिन्न-भिन्न शैलिया स्थिर की गई थी।

जैन समाज मे लेखन प्रणाली का प्रयोग बहुत प्राचीन पाया जाता है। तथापि डेढ-दो हजार वर्ष से पूर्व के लिखित ग्रन्थो के स्पष्ट उदाहरण प्राप्त न होने का एक वडा कारण यह हुआ कि विद्याप्रचार का कार्य प्राचीन काल मे मुनियो द्वारा विशेष रूप से होता था, और जैन मुनि सर्वथा अपरिग्रही होने के कारण अपने साथ ग्रन्थ न रखकर स्मृति के सहारे ही चलते थे। अन्तिम तीर्थंकर महावीर के उपदेशो को उनके साक्षात् गणधरो ने तत्काल ग्रन्थ-रचना का रूप दे दिया था। किन्तु मौर्यकाल मे उनके एक अश का ज्ञान लुप्तप्राय हो गया था, और पाटलिपुत्र की वाचना मे वारहवें अग दृष्टिवाद का सकलन नही किया जा सका, क्योंकि उसके एकमात्र ज्ञाता भद्रबाहु उस मुनिसघ मे सम्मिलित नही हो सके। वीरनिर्वाण की दसवी शती मे आकर पुन आगमो की अस्त-व्यस्त अवस्था हो गई थी। अतएव मथुरा मे स्कदिल आचार्य और उसके कुछ पश्चात् वलभी मे देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता मे आगमो की वाचनाए की गई। पाटलिपुत्रीय व माथुरीय वाचनाओ के ग्रन्थ तो अब नही मिलते, किन्तु वलभी वाचना द्वारा सकलित आगमो की प्रतिया तब से निरन्तर ताडपत्र और तत्पश्चात् कागजो पर उत्तरोत्तर सुन्दर कलापूर्ण रीति से लिखित मिलती हैं, और वे जैन लिपिकला के इतिहास के लिये बडी महत्वपूर्ण हैं। उपर्युक्त तीनो वाचनाओ का नाम ही यह सूचित करता है कि उनमे ग्रन्थ वाचे या पढे गये थे। इससे लिखित ग्रन्थो की परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है। दशवैकालिक सूत्र की हरिभद्रीय टीका मे पाच प्रकार की पुस्तको का वर्णन मिलता है-गडी, कच्छपी, मुष्टि, सपुष्ट-फलक और छेदपाटी। लवाई-चौडाई मे समान अर्थात् चौकोर पुस्तक को गडी, जो पुस्तक बीच मे चौडी व दोनो बाजुओ में सकरी हो वह कच्छपी, जो केवल चार अगुल की गोलाकार व चौकोर होने से मुट्ठी मे रखी जा सके वह मुष्टि, लकडी के पट्टे पर लिखी हुई पुस्तक सपुट-फलक, तथा छोटे छोटे पन्नो वाली मोटी या लम्बे किन्तु सकरे ताडपत्र जैसे पन्नोवाली पुस्तक छेदपाटी कही गई है।

२१ वीं रहस्यगत व समास नामक कलाओं में होता है। अंकलिपि से १ २ आदि संख्या-वाचक चिन्हों का गणितलिपि से जोड़ (+) बाकी (—) गुणा (×) भाग (÷) आदि चिन्हों का तथा गन्धर्वलिपि से संगीत शास्त्र के स्वरों के चिन्हों का तात्पर्य प्रतीत होता है। आदर्शलिपि अनुमानतः उलटे अक्षरों के लिखने से बनती है, जो दर्पण (आदर्श) में प्रतिबिम्बित होने पर सीधी पढ़ी जा सकती है। आश्चर्य नहीं जो भूतलिपि से भोट (तिब्बत) देश की माहेश्वरी से महेश्वर (ओंकारमांधाता-मध्यप्रदेश) की तथा दामिलिलिपि से द्रविड़ (दमिल-तामिल) देश की विशेष लिपियों से तात्पर्य हो। इसी प्रकार भोगवइया से अभिप्राय नागों की प्राचीन राजधानी भोगवती में प्रचलित किसी लिपि-विशेष से हो तो आश्चर्य नहीं।

१८ लिपियों की एक अन्य सूची विशेष आवश्यक सूत्र (गा ४६४) की टीका में इस प्रकार दी है —१ हंसलिपि, २ भूतलिपि ३ यक्षलिपि ४ राक्षसलिपि ५ ओड (उड़िया) लिपि ६ यवनी, ७ तुरुक्की, ८ कीरी, ९ द्राविड़ी, १० सेंधवी ११ मालविनी, १२ नडी १३ नागरी, १४ लाटी १५ पारसी १६ अनिमित्ती १७ चाणक्यी, और (१८) मूलदेवी। यह नामावली समवायांग की लिपिसूची से बहुत भिन्न है। इनमें समान तो केवल तीन हैं—भूतलिपि यवनी और द्राविड़ी। शेष नामों में अधिकांश स्पष्टतः भिन्न-भिन्न जाति व देशवाची हैं। प्रथम चार हंस भूत यक्ष और राक्षस उन उन अनार्य जातियों की लिपियां व भाषाएं प्रतीत होती हैं। उड़िया से लेकर पारसी तक की ११ भाषाएं स्पष्टतः देशवाची हैं। शेष तीन में से चाणक्यी और मूलदेवी की परम्परा बहुत कालतक चलती आई है और उनका स्वरूप कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने कौटिलीय या दुर्बोध तथा मूलदेवीय इन नामों से बतलाया है। यशोधर ने एक तीसरी भी गूढ़लेख्य नामक लिपि का व्याख्यान किया है, जिसका स्वरूप स्पष्ट समझ में नहीं आता। सम्भवतः वह कोई अंकलिपि थी। आश्चर्य नहीं जो अनिमित्ती से उसी लिपि का तात्पर्य हो। यशोधर के अनुसार प्रत्येक शब्द के अन्त में क्ष अक्षर जोड़ने तथा ह्रस्व और दीर्घ व अनुस्वार और विसर्ग की अदला-बदली कर देने से कौटिलीय लिपि बन जाती है एवं अ और क च और ग त और ङ चवर्ग और टवर्ग तवर्ग और पवर्ग तथा य और स इनका परस्पर व्यत्यय कर देने से मूलदेवी बन जाती है। मूलदेव प्राचीन जैन कथाओं के बहुत प्रसिद्ध चतुर व धूर्त नायक पाये जाते हैं। (देखो मूलदेव कथा उ सू टीका)।

लेख के आधार पत्र वल्कल काष्ठ, दंत लोह ताम्र, रजत आदि बतलाये गये हैं और उनपर लिखने की क्रिया उत्कीर्णन (अक्षर खोदकर) स्यूत (सीकर) व्यूत

(बुनकर), छिन्न (छेदकर), भिन्न (भेदकर); दग्ध (जलाकर), और सक्रान्तित (ठप्पा लेकर) इन पद्धतियो से की जाती थी। लिपि के अनेक दोष भी बतलाये गये हैं। जैसे, अतिकृश, अतिस्थूल, विषम, टेढी पक्ति, और भिन्न वर्णों को एक जैसा लिखना (जैसे घ और ध, भ और म, म और य, आदि), व पदच्छेद न करना, आदि। विपय के अनुसार भी लेखो का विभाजन किया गया था। तथा स्वामि-भृत्य, पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी शत्रु-मित्र, इत्यादि को पत्र लिखने की भिन्न-भिन्न शैलिया स्थिर की गई थी।

जैन समाज में लेखन प्रणाली का प्रयोग बहुत प्राचीन पाया जाता है। तथापि डेढ़-दो हजार वर्ष से पूर्व के लिखित ग्रन्थो के स्पष्ट उदाहरण प्राप्त न होने का एक बडा कारण यह हुआ कि विद्याप्रचार का कार्य प्राचीन काल मे मुनियो द्वारा विशेष रूप से होता था, और जैन मुनि सर्वथा अपरिग्रही होने के कारण अपने साथ ग्रन्थ न रखकर स्मृति के सहारे ही चलते थे। अन्तिम तीर्थंकर महावीर के उपदेशो को उनके साक्षात् गणधरो ने तत्काल ग्रन्थ-रचना का रूप दे दिया था। किन्तु मौर्यकाल मे उनके एक अश का ज्ञान लुप्तप्राय हो गया था, और पाटलिपुत्र की वाचना मे बारहवें अग दृष्टिवाद का सकलन नही किया जा सका, क्योकि उसके एकमात्र ज्ञाता भद्रबाहु उस मुनिसघ मे सम्मिलित नही हो सके। वीरनिर्वाण की दसवी शती मे आकर पुन आगमो की अस्त-व्यस्त अवस्था हो गई थी। अतएव मथुरा मे स्कदिल आचार्य और उसके कुछ पश्चात् बलभी मे देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता मे आगमो की वाचनाए की गई। पाटलिपुत्रीय व माथुरीय वाचनाओ के ग्रन्थ तो अब नही मिलते, किन्तु बलभी वाचना द्वारा सकलित आगमो की प्रतिया तब से निरन्तर ताडपत्र और तत्पश्चात् कागजो पर उत्तरोत्तर सुन्दर कलापूर्ण रीति से लिखित मिलती हैं, और वे जैन लिपिकला के इतिहास के लिये बडी महत्वपूर्ण हैं। उपर्युक्त तीनो वाचनाओ का नाम ही यह सूचित करता है कि उनमे ग्रन्थ बाचे या पढ़े गये थे। इससे लिखित ग्रन्थो की परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है। दशवैकालिक सूत्र की हरिभद्रीय टीका मे पाच प्रकार की पुस्तको का वर्णन मिलता है-गडी, कच्छपी, मुष्टि, सपुष्ट-फलक और छेदपाटी। लबाई-चौडाई मे समान अर्थात् चौकोर पुस्तक को गडी, जो पुस्तक बीच मे चौडी व दोनो बाजुओ मे सकरी हो वह कच्छपी, जो केवल चार अगुल की गोलाकार व चौकोर होने से मुट्ठी मे रखी जा सके वह मुष्टि, लकडी के पट्टे पर लिखी हुई पुस्तक सपुट-फलक, तथा छोटे छोटे पन्नो वाली मोटी या लम्बे किन्तु सकरे ताडपत्र जैसे पन्नोवाली पुस्तक छेदपाटी कही गई है।

(२) गणित शास्त्र का विकास जैन परम्परा में करणानुयोग के अन्तर्गत खूब हुआ है। जहां इन ७२ कलाओं का संक्षेप से उल्लेख है वहां प्रायः उन्हें लेखादिक व गणित-प्रधान कहकर सूचित किया गया है। इससे गणित की महत्ता सिद्ध होती है। (३) रूपगत से तात्पर्य मूर्तिकला व चित्रकला से है जिनका निरूपण आगे किया जायगा। (४-६) नृत्य, गीत, वाद्य स्वरगत, पुष्करगत और समताल का विषय संगीत है। इन कलाओं के संबंध में जैन शास्त्रों व पुराणों में बहुत कुछ वर्णन किया गया है, और उन्हें बालक-बालिकाओं की शिक्षा का आवश्यक अंग बतलाया गया है। कथा-कहानियों में प्राय: वीणावाद्य में प्रवीणता के आधार पर ही युवक-युवतियों के विवाह-संबंध के उल्लेख मिलते हैं। (१०-१३) द्यूत जनवाद, पोक्खच्चं व अष्टापद में द्यूतक्रीड़ा के प्रकार हैं। (१४) दगमट्टिया—उदकमृत्तिका पानी से मिट्टी को सानकर घट, मूर्ति आदि के आकार अथवा सजावट व निर्माण हेतु बनाने की कला है। (१५-१६) अन्नविधि व पानविधि भिन्न-भिन्न प्रकार के खाद्य स्वाद्य लेह्य व पेय पदार्थ बनाने की कलाएं हैं। (१७) वस्त्रविधि नाना प्रकार के वस्त्र बुनने व सीने की एवं (१८) शयनविधि अनेक प्रकार के खाट-पलंग बुनने व शैया की साज-सजावट करने की कला है। (१९-२१) आर्या प्रहेलिका, मागधिका व गाथा और श्लोक इन्हीं नामों के छंदों व काव्य-रीतियों में रचना करने की कलाएं हैं। (२४) गंधयुक्ति नाना प्रकार के सुगंधी द्रव्यों के रासायनिक संयोगों से नये-नये सुगंधी द्रव्य निर्माण करने की कला है। (२५) मधुसित्थ अलक्तक लाक्षारस या महुर (महावर) को कहते हैं। इस द्रव्य से पैर रंगने की कला का नाम ही मधुसित्थ है। (२६-३०) आभरणविधि व तरुणी प्रतिकर्म भूषण व अलंकार धारण करने व स्त्रियों की साज सज्जा की कलाएं हैं।

ति प० (४ ३६१-६४) में पुरुष के १६ व स्त्री के १४ आभरणों की विकल्प रूप में दो सूचियां पाई जाती हैं, जो इस प्रकार हैं :-

प्रथम सूची

१ कुंडल २ अंगद ३ हार ४ मुकुट, ५ केयूर ६ भालपट्ट, ७ कटक ८ प्रालम्ब ९ सूत्र १० नूपुर ११ मुद्रिका-युगल १२ मेखला १३ ग्रैवेयक (कंठा) १४ कर्णपूर, १५ खड्ग और १६ छुरी।

दूसरी वैकल्पिक सूची में १३ आभरणों के नाम समान हैं, किन्तु केयूर, भालपट्ट, कर्णपूर ये तीन नाम नहीं हैं तथा किरीट अर्धहार व चूड़ामणि ये तीन नाम नये हैं। संभव है केयूर और अंगद ये आभूषण एक ही या एक समान ही रहे हैं

और उसी प्रकार भालपट्ट व चूडामणि भी। अर्द्धाहार का समावेश हारो मे ही किया जा सकता है। किरीट एक प्रकार का मुकुट ही है। इस प्रकार दूसरी सूची मे कोई नया आभरण-विशेष नही रहता किन्तु प्रथम सूची के कर्णपूर नामक आभरण का समावेश नही पाया जाता। उक्त १६ अलकारो मे खड्ग और छुरी को छोडकर शेष १४ स्त्रियो के आभूषण माने गये हैं। भूषण, आभरण व अलकारो की एक विशाल सूची हमे अगविज्जा (पृ० ३५५-५७) मे मिलती हैं, जिसमे ३५० नाम पाये जाते हैं। यह सूची केवल आभरणो की ही नही है, किन्तु उसमे एक तो धातुओ की अपेक्षा भी अलग अलग नाम गिनाये गये हैं, जैसे सुवर्णमय, रूप्यमय, ताम्रमय आदि, अथवा शखमय, दतमय, बालमय, काष्ठमय, पुष्पमय, पत्रमय आदि। दूसरे उसमे भिन्न-भिन्न अगो की अपेक्षा आभरण-नामो की पुनरावृत्ति हुई है, जैसे शिराभरण, कर्णाभरण, अगुल्याभरण, कटिआभरण, चरणाभरण आदि। और तीसरे उसमे अजन, चूर्ण, अलक्तक, गधवर्ण आदि तथा नाना प्रकार के सुगधी चूर्ण व तैल, परिधान, उत्तरासग आदि वस्त्रो, व छत्र पताकादि शोभा-सामग्री का भी सग्रह किया गया है। तथापि शुद्ध अलकारो की सख्या कोई १०० से अधिक ही पाई जाती है। इस ग्रन्थ मे नाना प्रकार के पात्रो, भोज्य व पेय पदार्थों, वस्त्रो व आच्छादनो एव शयनासनो की सुविस्तृत सूचिया अलग-अलग भी पाई जाती हैं, जिनसे उपर्युक्त नाना कलाओ और विशेषत अन्नविधि (१५), पानविधि (१६), वस्त्रविधि (१७), शयनविधि (१८), गधयुक्ति (२४), मधुसिक्थ (२५), आभरणविधि (२६), तरुणीप्रतिकर्म (२७), पत्रछेद्य तथा कटकछेद्य (७०) इन कलाओ के स्वरूप व उपयोग पर बहुत प्रकाश पडता है।

स्त्री-लक्षण से चर्म-लक्षण (२८-४१) तक की कलाए उन-उन स्त्री, मनुष्यो, पशुओ व वस्तुओ के लक्षणो को जानने व गुण-दोष पहचानने की कलाए हैं। स्त्री पुरुषो के लक्षण सामुद्रिक शास्त्र सम्बन्धी नाना ग्रन्थो तथा हाथी, घोडो व बैलो के लक्षण भिन्न-भिन्न तत्तद्विषयक जीवशास्त्रों मे विस्तार से वर्णित पाये जाते हैं। चद्रलक्षण से ग्रहचरित (४२-४५) तक की कलाए ज्योतिषशास्त्र विषयक हैं और उनमे उन-उन ज्योतिष मडलो के ज्ञान की साधना की जाती थी। सौभाग्यकर से मत्रगत (४६-४९) तक की कलाए मत्र-तन्त्र विद्याओ से सबध रखती हैं, जिनके द्वारा अपना व अपने इष्टजनो का इष्टसाधन व शत्रु का अनिष्टसाधन किया जा सकता है। रहस्यगत और सभास (५०-५१) के विषय में ऊपर कहा ही जा चुका है कि वे सभवत वात्स्यायनोक्त अक्षरमुष्टिका के प्रकार हैं। चार, प्रतिचार व्यूह व प्रतिव्यूह

(५२-५५) में युद्ध संबंधी विद्याएं प्रतीत होती हैं, जिनके द्वारा क्रमशः सेना के आगे बढ़ाने शत्रुसेना की चाल को विफल करने के लिये सेना का संचार करने चक्रव्यूह आदि रूप से सेना का विन्यास करने व शत्रु को व्यूह-रचना को तोड़ने योग्य सेना विन्यास किया जाता था। स्कंधावार-मान से नगरनिवेश (५६-६१) तक की कलाओं का विषय शिविर आदि को बसाने व उसके योग्य भूमि गृह आदि का मान-प्रमाण निश्चित करना है। ईसत्थ (इषु-अस्त्र) अर्थात् बाणविद्या (६२) और छरुप्पवाय (त्सरुप्रवाद) (६३) छुरी कटार, खड्ग आदि बनाने की विद्याएं हैं। अश्वशिक्षा आदि से मुष्टि-युद्ध (६४-६८) तक की कलाएं उनके नाम से ही स्पष्ट हैं। युद्ध नियुद्ध एवं युद्धातियुद्ध (६८) में भी नाना प्रकार से युद्ध करने की कलाएं हैं। सूत्र-क्रीड़ा डोरी को अंगुलियों द्वारा नाना प्रकार से रचकर चमत्कार दिखाना व धागे के द्वारा पुतलियों को नचाने की कला है। नालिका क्रीड़ा एक प्रकार की द्यूतक्रीड़ा है। वृत्तक्रीड़ा धर्मक्रीड़ा व चर्मक्रीड़ा में क्रमशः मंडल बांधकर, वायु फूंककर जिससे श्वास न टूटे व चर्म के आश्रय से क्रीड़ा (खेलने) के प्रकार हैं (६६)। पत्रछेद्य व कटक छेद्य (७) क्रमशः पत्तों व तृणों को नाना प्रकार से काट-छांटकर सुन्दर आकार की वस्तुएं बनाने की कला है। सजीव-निर्जीव (७१) वही कला प्रतीत होती है जिसका उल्लेख वात्स्यायन ने यंत्रमातृका नाम से किया है व जिसके संबंध में टीकाकार यशोधर ने कहा है कि यह गमनागमन व संग्राम के लिये सजीव व निर्जीव यंत्रों की रचना की कला है जिसका स्वयं विश्वकर्मा ने स्वरूप बतलाया है। शकुनिरुत (७२) पक्षियों की बोली को पहचानने की कला है।

बहत्तर कलाओं की एक सूची औपपातिक सूत्र (१०७) में भी पाई जाती है। यह समवायाङ्गर्गत सूची से मिलती है केवल कुछ नामों में हेर-फेर पाया जाता है। उसमें उपर्युक्त नामावली में से मधुसिक्थ (२५) लेखकालक्षण दंडलक्षण चन्द्रलक्षण से लगाकर समास पर्यन्त (४२-५१) सेतुयुद्ध मुष्टियुद्ध और चर्मक्रीड़ा ये नाम नहीं हैं, तथा पासक (पांसा से जुआ खेलना) गीतिका (गेय छंद रचना) हिरण्ययुक्ति सुवर्णयुक्ति, चूर्णयुक्ति (चांदी सोना व मोतियों आदि रत्नों से मिला-जुलाकर भिन्न भिन्न आभूषण बनाना) गरुडव्यूह, शकटव्यूह, लतायुद्ध एवं मुक्ताक्रीड़ा ये नाम नवीन हैं। औपपातिक सूत्र में गिनाई गई कलाएं यद्यपि ७२ कही गई हैं, तथापि पृथक् रूप से गिनने से उनकी कुल संख्या ८ होती है। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न जैन पुराणों व काव्यों में जहां भी शिक्षण का प्रसंग आया है, वहां प्रायः कलाएं भी गिनाई गई हैं जिनके नामों व संख्या में भेद दिखाई देता है। उदाहरणार्थ दसवीं शताब्दी में पुष्पदंत

कृत अपभ्रंश काव्य नागकुमार-चरित (३, १) मे कथानायक की एक नाग द्वारा शिक्षा के प्रसग में कहा गया है कि उसने उन्हे सिद्धो को नमस्कार कहकर निम्न कलाए सिखाई—(१) अठारह लिपिया, (२) कालाक्षर, (३) गणित, (४) गाधर्व, (५) व्याकरण, (६) छद, (७) अलकार, (८) निघट, (९) ज्योतिष (ग्रहगमन-प्रवृत्तिया), (१०) काव्य, (११) नाटकशास्त्र, (१२) प्रहरण, (१३) पटह, (१४) शख, (१५) तत्री, (१६) ताल आदि वाद्य, (१७) पत्रछेद्य, (१८) पुष्पछेद्य, (१९) फल छेद्य, (२०) अश्वारोहण, (२१) गजारोहण, (२२) चन्द्रवल, (२३) स्वरोदय, (२४) सप्तभौमप्रासाद-प्रमाण, (२५) तत्र, (२६) मत्र, (२७) वशीकरण, (२८) व्यूह-विरचन, (२९) प्रहारहरण, (३०) नानाशिल्प, (३१) चित्रलेखन, (३२) चित्राभास, (३३) इन्द्रजाल, (३४) स्तम्भन, (३५) मोहन, (३६) विद्या-साधन, (३७) जनसक्षोभन, (३८) नर-नारीलक्षण, (३९) भूषण-विधि, (४०) कामविधि, (४१) सेवाविधि, (४२) गधयुक्ति, (४३) मणियुक्ति, (४४) औषध-युक्ति और (४५) नरेश्वर-वृत्ति (राजनीति)।

उपर्युक्त समवायाग की कला-सूची मे कही कही एक सख्या के भीतर अनेक कलाओ के नाम पाये जाते हैं, जिनको यदि पृथक् रूप से गिना जाय तो कुल कलाओ की सख्या ८६ हो जाती है। महायान बौद्ध परम्परा के ललितविस्तर नामक ग्रन्थ मे गिनाई गई कलाओ की सख्या भी ८६ पाई जाती है, यद्यपि वहा अनेक कलाओ के नाम प्रस्तुत सूची से भिन्न हैं, जैसे अक्षुण्ण-वेधित्व, मर्मवेधित्व शब्दवेधित्व, वैशिक आदि।

कलाओ की अन्य सूची वात्स्यायन कृत कामसूत्र मे मिलती है। यही कुछ हेर-फेर के साथ भागवत पुराण की टीकाओ मे भी पाई जाती है। इसमे कलाओ की सख्या ६४ है, और उनमे प्रस्तुत कलासूची से अनेक भिन्नताए पाई जाती हैं। ऐसी कुछ कलाएं हैं—विशेषक छेद्य (ललाट पर चन्दन आदि लगाने की कला), तडुल कुसुम वलिविकार (पूजानिमित्त तडुलो व फूलों की नाना प्रकार से सुन्दर रचना), चित्रयोग (नाना प्रकार के आश्चर्य), हस्तलाघव (हाथ की सफाई), तक्ष कर्म (काट-छाटकर यथेष्ट वस्तु वनाना), उत्सादन, सवाहन, केशमर्दन, पुष्पशकटिका आदि। कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने अपनी एक स्वतत्र सूची दी है, और उन्हे शास्त्रान्तरो से प्राप्त ६४ मूल कलाए कहा है; और यह भी कहा है कि इन्ही ६४ मूल कलाओं के भेदोपभेद ५१८ होते हैं। उन्होंने उक्त मूलकलाओ का वर्गीकरण भी किया है, जिसके अनुसार शीत आदि २४ **कर्माश्रय**, आयुप्राप्ति आदि २५ **निर्जीव, द्यूताश्रय**; उपस्थान

लिपि आदि ५ सजीव द्रव्य पुरुष मानग्रहण आदि १६ अयलोपचारिक; तथा धातु पात पातसापन आदि चार उत्तर कलाएं कही गयी हैं। इनके अतिरिक्त अनेक पुराणों व काव्य ग्रन्थों में भी कलाओं के नाम मिलते हैं, जो संख्या व नामों में भी भिन्न-भिन्न पाये जाते हैं, जैसे कादम्बरी में ४८ कलाएं गिनाई गई हैं जिनमें प्रमाण, धर्मशास्त्र, पुस्तक-व्यापार, आयुर्वेद, सुरंगोपभेद आदि विशेष हैं।

वास्तु कला

जैन निर्मितियों के आदर्श—

उपर्युक्त कलासूची में वास्तुकला का भी नाम तथा स्कन्धावार, नगर और वास्तु इनके मान व निवेश का पृथक् पृथक् निर्देश भी पाया जाता है। वास्तु-निवेश व मानोन्मान संबंधी अपनी परम्पराओं में जैनकला जैनधर्म की त्रैलोक्य संबंधी मान्यताओं से प्रभावित हुई पाई जाती है। अतएव यहां उसका सामान्यरूप से स्वरूप समझ लेना आवश्यक है। जैन साहित्य के करणानुयोग प्रकरण में बतलाया जा चुका है कि अनन्त आकाश के मध्य में स्थित लोकाकाश ऊंचाई में चौदह राजु प्रमाण है, और उसका सात राजु प्रमाण ऊपर का भाग ऊर्ध्वलोक कहा जाता है, जिसमें १६ स्वर्ग आदि स्थित हैं। सात राजू प्रमाण नीचेका भाग अधोलोक कहलाता है, और उसमें सात नरक स्थित हैं। इनके मध्य में झल्लरी के आकार का मध्यलोक है, जिसमें गोलाकार व वलयाकार जंबू द्वीप लवणसमुद्र आदि उत्तरोत्तर दुगुने प्रमाण वाले असंख्य द्वीप-समुद्र स्थित हैं। इनका विस्तार से वर्णन हमें यतिवृषभ कृत त्रिलोक-प्रज्ञप्ति में मिलता है। इनमें वास्तु-मान व विन्यास संबंधी जो प्रकरण उपयोगी हैं उनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है।

तिलोय पण्णत्ति के तृतीय अधिकार की गाथा २२ से ६२ तक असुरकुमार आदि भवनवासी देवों के भवनों, वेदिकाओं, कूटों, जिन मन्दिरों व प्रासादों का वर्णन है। भवनों का आकार समचतुष्कोण होता है। प्रत्येक भवन की चारों दिशाओं में चार वेदियां होती हैं, जिनके बाह्य भाग में अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र इन वृक्षों के उपवन रहते हैं। इन उपवनों में चैत्यवृक्ष स्थित हैं, जिनकी चारों दिशाओं में तोरण, आठ महामंगल द्रव्य और मानस्तम्भ सहित जिन-प्रतिमाएं विराजमान हैं। वेदियों के मध्य में वेत्रासन के आकार वाले महाकूट होते हैं, और प्रत्येक कूट के ऊपर भी एक-एक जिनमन्दिर स्थित रहता है। प्रत्येक जिनालय क्रमशः तीन कोटों से घिरा हुआ होता है, और प्रत्येक कोट में चार-चार गोपुर होते हैं। इन कोटों के बीच

की वीथियों मे एक-एक मानस्तम्भ, व नौ-नौ स्तूप, तथा वन एव ध्वजाए और चैत्य स्थित हैं। जिनालयो के चारो ओर के उपवनो मे तीन-तीन मेखलाओ से युक्त वापिकाए हैं। ध्वजाए दो प्रकार की हैं, महाध्वजा और क्षुद्रध्वजा। महाध्वजाओ मे सिंह गज, वृषभ, गरुड, मयूर, चन्द्र, सूर्य, हस, पद्म व चक्र के चिन्ह अकित हैं। जिनालयो मे वन्दन, अभिषेक, नृत्य, सगीत और आलोक, इनके लिये अलग-अलग मडप हैं, व क्रीडागृह, गुणनगृह (स्वाध्यायशाला) तथा पट्टशालाए (चित्रशाला) भी हैं। मन्दिरो मे जिनेन्द्र की मूर्तियो के अतिरिक्त देवच्छद के भीतर श्रीदेवी, श्रुतदेवी, तथा यक्षो की मूर्तिया एव अष्टमगल द्रव्य भी स्थापित होते हैं। ये आठ मगल द्रव्य हैं—झारी, कलश, दर्पण, ध्वज, चमर, छत्र, व्यजन और सुप्रतिष्ठ। जिनप्रतिमाओ के आसपास नागो व यक्षो के युगल अपने हाथो मे चमर लिये हुए स्थित रहते हैं। असुरो के भवन सात, आठ, नौ, दस आदि भूमियो (मजिलो) से युक्त होते हैं, जिनमे जन्म, अभिषेक, शयन, परिचर्या और मन्त्रणा, इनके लिये अलग-अलग शालाए होती है। उनमे सामान्य गृह, गर्भगृह, कदलीगृह, चित्रगृह, आसनगृह, नादगृह व लतागृह आदि विशेष गृह होते हैं, तथा तोरण, प्राकार, पुष्करणी, वापी और कूप, मत्तवारण (ओटें) और गवाक्ष ध्वजा-पताकाओ व नाना प्रकार की पुतलियो से सुसज्जित होते हैं।

मेरु की रचना—

जिनेन्द्र मूर्तियो की प्रतिष्ठा के समय उनका पच-कल्याण महोत्सव मनाया जाता है, जिनका सवन्ध तीर्थंकर के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, और निर्वाण, इन पाच महत्वपूर्ण घटनाओ से है। जन्म महोत्सव के लिये मन्दर मेरु की रचना की जाती है, क्योंकि तीर्थंकर का जन्म होने पर उसी महान् पर्वत पर स्थित पाडुक शिलापर इन्द्र उनका अभिषेक करते हैं। मन्दर मेरु का वर्णन त्रिलोक-प्रज्ञप्ति (४,१७८०) आदि मे पाया जाता है। मन्दर मेरु जवूद्वीप के व महाविदेह क्षेत्र के मध्य मे स्थित है। यह महापर्वत गोलाकार है उसकी कुल ऊचाई एक लाख योजन, व मूल आयाम १००९० योजन से कुछ अधिक है। इसका १००० योजन निचला भाग नीव के रूप मे पृथ्वीतल के भीतर व शेष पृथ्वीतल से ऊपर आकाशतल की ओर है। उसका विस्तार ऊपर की ओर उत्तरोत्तर कम होता गया है, जिससे वह पृथ्वीतल पर १०००० योजन तथा शिखरभूमि पर १००० योजन मात्र विस्तार युक्त है। पृथ्वी से ५०० योजन ऊपर ५०० योजन का सकोच हो गया है, तत्पश्चात् वह ११०००

योजन तक समान विस्तार से ऊपर उठकर व वहां से क्रमशः सिकुड़ता हुआ ५१५०० योजन पर सब ओर से पुनः ५०० योजन संकीर्ण हो गया है। तत्पश्चात् ११००० योजन तक समान विस्तार रखकर पुनः क्रम-हानि से २५००० योजन ऊपर जाकर वह ४९४ योजन प्रमाण सिकुड़ गया है। (१०००+५०० +११०००+५१५०० +११००० +२५००० =१००००० योजन। १००० योजन विस्तार वाले शिखर के मध्य भाग में बारह योजन विस्तार वाली चालीस योजन ऊंची चूलिका है, जो क्रमशः सिकुड़ती हुई ऊपर चार योजन प्रमाण रह गई है। मेरु के शिखर पर व चूलिका के तलभाग में उसे चारों ओर से घेरने वाला पांडु नामक वन है, जिसके भीतर चारों ओर मार्गों, अट्टालिकाओं गोपुरों व ध्वजापताकाओं से रमणीक तटवेदी है। इस वेदी के मध्यभाग में पर्वत की चूलिका को चारों ओर से घेरे हुए पांडु वन खंड की उत्तरदिशा में अर्धचन्द्रमा के आकार की पांडुक शिला है जो पूर्व-पश्चिम १०० योजन लम्बी व उत्तर-दक्षिण ५० योजन चौड़ी एवं ८ योजन ऊंची है। इस पांडुशिला के मध्य में एक सिंहासन है जिसके दोनों ओर दो भद्रासन विद्यमान हैं। अभिषेक के समय जिनेन्द्र भगवान् को मध्य सिंहासन पर विराजमान कर सौधर्मेन्द्र दक्षिण पीठपर तथा ईशानेन्द्र उत्तर पीठ पर स्थित हो अभिषेक करते हैं।

नंदीश्वर द्वीप की रचना—

मध्यलोक का जो मध्यवर्ती एक लाख योजन विस्तार वाला जंबूद्वीप है उसको क्रमशः वेष्टित किये हुए उत्तरोत्तर दुगुने-दुगुने विस्तार वाले लवणसमुद्र व धातकीखंडद्वीप कालोदसमुद्र व पुष्करवरद्वीप पुष्करवर समुद्र व वारुणीवर द्वीप एवं वारुणीवर समुद्र तथा उसी प्रकार एक ही नामवाले क्षीरवर, घृतवर व क्षौद्रवर नामक द्वीप-समुद्र हैं। तत्पश्चात् जम्बूद्वीप से आठवां द्वीप नंदीश्वर नामक है, जिसका जैन धर्म में व जैन वास्तु एवं मूर्तिकला की परम्परा मे विशेष माहात्म्य पाया जाता है। इस वलयाकार द्वीप की पूर्वादि चारों दिशाओं में वलयसीमाओं के मध्यभाग में स्थित चार अंजनगिरि नामक पर्वत हैं। प्रत्येक अंजनगिरि की चारों दिशाओं में एक-एक चौकोण द्रह (वापिका) है जिनके नाम क्रमशः नंदा नंदवती नंदोत्तरा व नंदीघोषा हैं। इनके चारों ओर अशोक सप्तच्छद, चम्पक व आम्र इन वृक्षों के चार-चार वन हैं। चारों वापियों के मध्य में एक-एक पर्वत है जो दधि के समान श्वेतवर्ण होने के कारण दधिमुख कहलाता है। वह गोलाकार है, व उसके ऊपरी भाग में तटवेदियां और वन हैं। नंदादि चारों वापियों के दोनों बाहरी कोनों पर एक-एक सुवर्णमय

गोलाकार रतिकर नामक पर्वत है। इस प्रकार एक-एक दिशा मे एक अजनगिरि, चार दधिमुख व आठ रतिकर, इस प्रकार कुल मिलाकर तेरह पर्वत हुए। इसी प्रकार के १३-१३ पर्वत चारो दिशाओ मे होने से कुल पर्वतो की सख्या ५२ हो जाती है। इनपर एक-एक जिनमदिर स्थापित है, और ये ही नदीश्वर द्वीप के ५२ मदिर या चैत्यालय प्रसिद्ध हैं। जिस प्रकार पूर्व दिशा की चार वापियो के पूर्वोक्त नदादिक चार नाम हैं, उसी प्रकार दक्षिण दिशा की चार वापिकाओ के नाम अरजा, विरजा, अशोका और वीतशोका, पश्चिम दिशा के विजया, वैजयन्ती, जयन्ती व अपराजिता, तथा उत्तर दिशा के रम्या, रमणीया, सुप्रभा व सर्वतोभद्रा ये नाम हैं। प्रत्येक वापिका के चारो ओर जो अशोकादि वृक्षो के चार-चार वन हैं, उनकी चारो दिशाओ की सख्या ६४ होती है। इन वनो मे प्रत्येक के बीच एक-एक प्रासाद स्थित है, जो आकार मे चौकोर तथा ऊचाई मे लबाई से दुगुना कहा गया है। इन प्रासादो मे व्यन्तर देव अपने परिवार सहित रहते हैं। (त्रि० प्र० ५, ५२-८२)। वर्तमान जैन मदिरो मे कही-कही नदीश्वर पर्वत के ५२ जिनालयो की रचना मूर्तिमान् अथवा चित्रित की हुई पाई जाती है। हाल ही मे सम्मेदशिखर (पारसनाथ) की पहाडी के समीप पूर्वोक्त प्रकार से ५२ जिन मदिरो युक्त नन्दीश्वर की रचना की गई है।

समवसरण रचना—

तीर्थंकर को केवलज्ञान उत्पन्न होने पर इन्द्र की आज्ञा से कुबेर उनके समवसरण अर्थात् सभाभवन की रचना करता है, जहा तीर्थंकर का धर्मोपदेश होता है। समवसरण की रचना का बड़े विस्तार से वर्णन मिलता है, और उसी के आधार से जैन वास्तुकला के नाना रूप प्रभावित हुए पाये जाते हैं। त्रि० प्र० (४, ७११-९४२) में समवसरण सबधी सामान्य भूमि, सोपान, वीथि, धूलिशाल, चैत्य प्रासाद, नृत्यशाला, मानस्तभ, स्तूप, मडप, गधकुटी आदि के विन्यास, प्रमाण, आकार आदि का बहुत कुछ वर्णन पाया जाता है। वही वर्णन जिनसेन कृत आदिपुराण (पर्व २३) मे भी आया है। समवसरण की रचना लगभग बारह योजन आयाम मे सूर्यमण्डल के सदृश गोलाकार होती है। उसका पीठ इतना ऊचा होता है कि वहा तक पहुचने के लिये समवसरण भूमि की चारो दिशाओ मे एक-एक हाथ ऊची २००० सीढिया होती हैं। वहा से आगे वीथिया होती हैं, जिनके दोनो ओर वेदिकाए बनी रहती हैं। तत्पश्चात् बाहिरी धूलिशाल नामक कोट बना रहता है, जिसकी पूर्वादिक चारो दिशाओ मे विजय, वैजयत, जयन्त और अपराजित नामक गोपुरद्वार होते हैं। ये गोपुर तीन भूमियो वाले व अट्टा-

योजन तक समान विस्तार से ऊपर उठकर व वहाँ से क्रमशः सिकुड़ता हुआ ५१५०० योजन पर सब ओर से पुनः ५०० योजन संकीर्ण हो गया है। तत्पश्चात् ११००० योजन तक समान विस्तार रखकर पुनः क्रम-हानि से २५० ० योजन ऊपर जाकर वह ४९४ योजन प्रमाण सिकुड़ गया है। (१ +५० +११०००+५१५ ० +११० +२५०० =१० ० योजन। १ ०० योजन विस्तार वाले शिखर के मध्य भाग में बारह योजन विस्तार वाली चालीस योजन ऊँची चूलिका है, जो क्रमशः सिकुड़ती हुई ऊपर चार योजन प्रमाण रह गई है। मेरु के शिखर पर व चूलिका के तलभाग में उसे चारों ओर से घेरने वाला पांडु नामक वन है जिसके भीतर चारों ओर मार्गों अट्टालिकाओं गोपुरों व ध्वजापताकाओं से रमणीक तटवेदी है। उस वेदी के मध्यभाग में पर्वत की चूलिका को चारों ओर से घेरे हुए पांडु वन खंड की उत्तरदिशा में अर्द्धचन्द्रमा के आकार की पांडुक शिला है, जो पूर्व-पश्चिम १०० योजन लम्बी व उत्तर-दक्षिण ५ योजन चौड़ी एवं ८ योजन ऊँची है। इस पांडुशिला के मध्य में एक सिंहासन है, जिसके दोनों ओर दो भद्रासन विद्यमान हैं। अभिषेक के समय जिनेन्द्र भगवान् को मध्य सिंहासन पर विराजमान कर सौधर्मेन्द्र दक्षिण पीठपर तथा ईशानेन्द्र उत्तर पीठ पर स्थित हो अभिषेक करते हैं।

नंदीश्वर द्वीप की रचना—

मध्यलोक का जो मध्यवर्ती एक लाख योजन विस्तार वाला जंबूद्वीप है उसको क्रमशः वेष्टित किये हुए उत्तरोत्तर दुगुने-दुगुने विस्तार वाले लवणसमुद्र व धातकी खंडद्वीप कालोदसमुद्र व पुष्करवरद्वीप पुष्करवर समुद्र व वारुणीवर द्वीप एवं वारुणी वर समुद्र तथा इसी प्रकार एक ही नामवाले क्षीरवर, घृतवर व क्षौद्रवर नामक द्वीप-समुद्र हैं। तत्पश्चात् जम्बूद्वीप से आठवां द्वीप नंदीश्वर नामक है जिसका जैन-धर्म में व जैन वास्तु एवं मूर्तिकला की परम्परा में विशेष माहात्म्य पाया जाता है। इस वलयाकार द्वीप की पूर्वादि चारों दिशाओं में वलयसीमाओं के मध्यभाग में स्थित चार अंजनगिरि नामक पर्वत हैं। प्रत्येक अंजनगिरि की चारों दिशाओं में एक-एक चौकोण द्रह (वापिका) हैं जिनके नाम क्रमशः नंदा नंदवती नंदोत्तरा व नंदीघोषा हैं। इनके चारों ओर अशोक सप्तच्छद, चम्पक व आम्र इन वृक्षों के चार-चार वन हैं। चारों वापियों के मध्य में एक-एक पर्वत है जो दधि के समान श्वेतवर्ण होने के कारण दधिमुख कहलाता है। वह ढोलाकार है, व उसके ऊपरी भाग में तटवेदियां और वन हैं। नंदादि चारों वापियों के दोनों बाहरी कोणों पर एक-एक सुवर्णमय

पुण्डरीका, तथा उत्तर मानस्तभ की वापिकाओ के नाम हैं-हृदयानदा, महानदा, सुप्रतिबुद्धा और प्रभकरा। ये वापिकाए चौकोर वेदिकाओ व तोरणो से युक्त तथा जल-क्रीडा के योग्य दिव्य द्रव्यो व सोपानो से युक्त होती हैं। मानस्तभ का प्रयोजन यह बतलाया गया है कि उसके दर्शनमात्र से दर्शको का मद दूर हो जाता है, और उनके मनमे धार्मिक श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है।

चैत्यवृक्ष व स्तूप—

समवशरण की आगे की वन भूमियो मे अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र, ये चार चैत्यवृक्ष होते हैं, जिनकी ऊचाई भी तीर्थंकर के शरीर के मान से १२ गुनी होती है, और प्रत्येक चैत्यवृक्ष के आश्रित चारो दिशाओ मे आठ प्रातिहार्यो से युक्त चार-चार जिन प्रतिमाए होती हैं। वनभूमि मे देवभवन व भवन भूमि के पार्श्वभागो मे प्रत्येक वीथी के मध्य नौ-नौ स्तूप होते हैं। ये स्तूप तीर्थंकरो और सिद्धो की प्रतिमाओ से व्याप्त तथा छत्र के ऊपर छत्र एव आठ मगल द्रव्यो व ध्वजाओ से शोभित होते हैं। इन स्तूपो की ऊचाई भी चैत्यवृक्षो के समान तीर्थंकर की शरीराकृत्ति से १२ गुनी होती है।

श्रीमडप—

समवसरण के ठीक मध्य मे गधकुटी और उसके आसपास गोलाकार बारह श्रीमडप अर्थात् कोठे होते हैं। ये श्रीमडप प्रत्येक दिशा मे वीथीपथ को छोडकर ४-४ भित्तियो के अन्तराल से तीन तीन होते हैं, और उनकी ऊचाई भी तीर्थंकर के शरीर से १२ गुनी होती है। धर्मोपदेश के समय ये कोठे क्रमश पूर्व से प्रदक्षिणा क्रम से (१) गणधरो, (२) कल्पवासिनी देवियो, (३) आर्यिका व श्राविकाओ, (४) ज्योतिषी देवियो, (५) व्यतर देवियो, (६) भवनवासिनी देवियो, (७) भवनवासी देवो, (८) व्यतर देवो, (९) ज्योतिषी देवो, (१०) कल्पवासी देवो व इन्द्रो, (११) चक्रवर्ती आदि मनुष्यो व (१२) हाथी, सिंहादि समस्त तिर्यंच जीवो के बैठने के लिये नियत होते हैं।

गधकुटी—

श्रीमडप के बीचोबीच तीन पीठिकाओं के ऊपर गधकुटी की रचना होती है, जिसका आकार चौकोर होता है। अतिम तीर्थंकर महावीर की गधकुटी की ऊंचाई ७५

वापिकाओं से रमणीक होते हैं, और उनके बाह्य मध्य व आभ्यन्तर पार्श्व भागों में मंगल द्रव्य निधि व धूपघटों से युक्त बड़ी-बड़ी पुतलियां बनी रहती हैं। अष्ट मंगलद्रव्य भवनों के प्रकरण में (पृ० २९२) गिनाये जा चुके हैं। नव निधियों के नाम हैं-काल महाकाल पांडु माणवक शंख पद्म नैसर्प पिंगल और नाना रत्न जो क्रमशः ऋतुओं के अनुकूल माल्यादिक नाना द्रव्य भाजन धान्य आयुध वादित्र वस्त्र महल आभरण और रत्न प्रदान करने की शक्ति रखती हैं। गोपुरों के बाह्य भाग में मकर-तोरण तथा आभ्यन्तर भाग में रत्न-तोरणों की रचना होती है, और मध्य के दोनों पार्श्वों में एक-एक नाट्यशाला। इन गोपुरों का द्वारपाल ज्योतिष्क देव होता है जो अपने हाथ में रत्नदंड धारण किये रहता है। कोट के भीतर जाने पर एक-एक जिनभवन के अन्तराल से पांच-पांच चैत्य-प्रासाद मिलते हैं, जो उपवन और वापिकाओं से शोभायमान हैं, तथा वीथियों के दोनों पार्श्वभागों में दो-दो नाट्यशालाएं शरीराकृति से १२ गुनी ऊंची होती हैं। एक-एक नाट्यशाला में १२ रंगभूमियां ऐसी होती हैं जिनमें प्रत्येक पर १२ भवनवासी कन्याएं अभिनय व नृत्य कर सकें।

मानस्तंभ—

वीथियों के बीचोंबीच एक-एक मानस्तंभ स्थापित होता है। यह आकार में गोल और चार गोपुरद्वारों तथा ध्वजापताकाओं से युक्त एक कोट से घिरा होता है। इसके चारों ओर सुन्दर वनखंड होते हैं, जिनमें पूर्वादिक दिशाक्रम से सोम यम वरुण और कुबेर, इन लोकपालों के रमणीक क्रीड़ानगर होते हैं। मानस्तंभ क्रमशः छोटे होते हुए तीन गोलाकार पीठों पर स्थापित होता है। मानस्तंभ की ऊंचाई तीर्थंकर की शरीराकृति से १२ गुनी बतलाई गई है। मानस्तंभ तीन खंडों में विभाजित होता है। इसका मूल भाग वज्रद्वारों से युक्त मध्यम भाग स्फटिक मणिमय वृत्ताकार, तथा उपरिम भाग वैडूर्य मणिमय होता है और उसके चारों ओर चंवर घंटा किंकिणी रत्नहार व ध्वजाओं की शोभा होती है। मानस्तंभ के शिखर पर चारों दिशाओं में आठ-आठ प्रातिहार्यों से युक्त एक-एक जिनेन्द्र-प्रतिमा विराजमान होती है। प्रातिहार्यों के नाम हैं—अशोकवृक्ष दिव्य पुष्पवृष्टि दिव्यध्वनि चामर, आसन भामंडल दुन्दुभि और आतपत्र। प्रत्येक मानस्तंभ की पूर्वादिक चारों दिशाओं में एक-एक वापिका होती है। पूर्वादि दिशावर्ती मानस्तंभ की वापिकाओं के नाम हैं—नंदोत्तरा नंदा नंदीमती और नंदीघोषा। दक्षिण मानस्तंभ की वापिकाएं हैं—विजया वैजयन्ता जयन्ता और अपराजिता। पश्चिम मानस्तंभ संबंधी वापिकाएं हैं-अशोका सुप्रतिबुद्धा कुमुदा और

पुडरीका, तथा उत्तर मानस्तभ की वापिकाओ के नाम हैं-हृदयानदा, महानदा, सुप्रतिबुद्धा और प्रभकरा। ये वापिकाए चौकोर वेदिकाओ व तोरणो से युक्त तथा जल-क्रीडा के योग्य दिव्य द्रव्यों व सोपानो से युक्त होती हैं। मानस्तभ का प्रयोजन यह बतलाया गया है कि उसके दर्शनमात्र से दर्शको का मद दूर हो जाता है, और उनके मनमे धार्मिक श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है।

चैत्यवृक्ष व स्तूप—

समवशरण की आगे की वन भूमियो मे अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र, ये चार **चैत्यवृक्ष** होते हैं, जिनकी ऊचाई भी तीर्थंकर के शरीर के मान से १२ गुनी होती है, और प्रत्येक चैत्यवृक्ष के आश्रित चारो दिशाओ मे आठ प्रातिहार्यो से युक्त चार-चार जिन प्रतिमाए होती हैं। वनभूमि मे देवभवन व भवन भूमि के पार्श्वभागो मे प्रत्येक वीथी के मध्य नौ-नौ **स्तूप** होते हैं । ये स्तूप तीर्थंकरो और सिद्धो की प्रतिमाओ से व्याप्त तथा छत्र के ऊपर छत्र एव आठ मगल द्रव्यो व ध्वजाओ से शोभित होते हैं। इन स्तूपो की ऊचाई भी चैत्यवृक्षो के समान तीर्थंकर की शरीराकृत्ति से १२ गुनी होती है।

श्रीमडप—

समवसरण के ठीक मध्य मे **गधकुटी** और उसके आसपास गोलाकार बारह **श्रीमडप** अर्थात् कोठे होते हैं। ये श्रीमडप प्रत्येक दिशा मे वीथीपथ को छोडकर ४-४ भित्तियो के अन्तराल से तीन तीन होते हैं, और उनकी ऊचाई भी तीर्थंकर के शरीर से १२ गुनी होती है। धर्मोपदेश के समय ये कोठे क्रमश पूर्व से प्रदक्षिणा क्रम से (१) गणधरो, (२) कल्पवासिनी देवियो, (३) आर्यिका व श्राविकाओं, (४) ज्योतिषी देवियो, (५) व्यतर देवियो, (६) भवनवासिनी देवियो, (७) भवनवासी देवो, (८) व्यतर देवो, (९) ज्योतिषी देवो, (१०) कल्पवासी देवो व इन्द्रो, (११) चक्रवर्ती आदि मनुष्यो व (१२) हाथी, सिहादि समस्त तिर्यंच जीवो के बैठने के लिये नियत होते हैं।

गधकुटी—

श्रीमडप के बीचोबीच तीन पीठिकाओ के ऊपर गधकुटी की रचना होती है, जिसका आकार चौकोर होता है। अतिम तीर्थंकर महावीर की गधकुटी की ऊंचाई ७५

धनुष अर्थात् लगभग १०० फुट बतलाई गई है। गंधकुटी के मध्य में उत्तम सिंहासन होता है, जिसपर विराजमान होकर तीर्थंकर धर्मोपदेश देते हैं।

नगर विन्यास—

जैनागमों में देश के अनेक महान् नगरों जैसे चंपा राजगृह, श्रावस्ती कौशांबी मिथिला आदि का बार-बार उल्लेख आया है किन्तु उनका वर्णन एकसा ही पाया जाता है। यहाँ तक कि पूरा वर्णन तो केवल एकाध सूत्र में ही दिया गया है, और अन्यत्र 'वण्णओ' (वर्णन) कहकर उसका संकेत मात्र कर दिया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल के उन नगरों की रचना प्रायः एक ही प्रकार की होती थी। उस नगर की रचना व स्वरूप को पूर्णतः समझने के लिये यहां उववाइय सूत्र (१) से चंपा नगरी का पूरा वर्णन प्रस्तुत किया जाता है—

चंपानगरी धन-संपत्ति से समृद्ध थी और नगरवासी खूब प्रमुदित रहते थे। वह जनता से भरी रहती थी। उसके आसपास के खेतों में हजारों हल चलते थे और मुर्गों के झुंड के झुंड चरते थे। वह गन्ने जौं व धान से भरपूर थी। वहां गाय भैंस व भेड़-बकरियां प्रचुरता से विद्यमान थीं। वहां सुन्दर आकार के बहुत से चैत्य बने हुए थे और सुन्दरी शीलवती युवतियां भी बहुत थीं। वह घूसखोर, बटमार, गंठमार, दुःसाहसी तस्कर, दुराचारी व राक्षसों से रहित होने से क्षेम व निरुपद्रव थी। वहां भिक्षा सुख से मिलती थी और लोग निश्चिन्त होकर सुख से निवास करते थे। करोड़ों कुटुंब वहां सुख से रहते थे। वहां नटों नर्तकों रस्से पर खेल करने वाले नट मल्ल मुष्टियुद्ध करने वाले (मौष्टिक) मसखरे (विदूषक) कथक कूदने वाले लास्यनृत्य करने वाले आख्यायक मंख (चित्रदर्शक) लंख (बड़े बांस के ऊपर नाचने वाले) तानपूरा तूंबी व वीणा बजाने वाले तथा नाना प्रकार के वादित्र बजाने वाले आते जाते रहते थे। वहां आराम उद्यान कूप तालाब दीर्घिका व वापियां भी खूब थीं, जिनसे वह नंदनवन के समान रमणीक थी। वह विपुल और गंभीर खाई से घिरी हुई थी। चक्र, गदा मुसुंठि (मूठ) अवरोध शतघ्नी तथा दृढ़ सघन कपाटों के कारण उसमें प्रवेश करना कठिन था। वह धनुष के समान गोलाकार प्राकार से घिरी हुई थी जिसपर कपिशीर्षक (कंगूरे) और गोल गुम्मट बने हुए थे। वहां ऊंची-ऊंची अट्टालिकाएं, चरिकापथ द्वार, गोपुर तोरण तथा सुन्दर वीथियों से विभाजित राजमार्ग थे। प्राकार तथा गृहों के परिघ व इन्द्रकील (अर्गल व चटकिनी) कुशल कारीगरों द्वारा निर्माण किये गये थे। वहां दुकानों में व्यापारियों द्वारा नाना प्रकार के शिल्प तथा

सुखोपभोग की वस्तुए रखी गई थी। वह सिंघाटक (त्रिकोण), चौकोन व चौकों में विविध वस्तुए खरीदने योग्य दुकानो से शोभायमान थी। उसके राजमार्ग राजाओ के गमनागमन से सुरम्य थे, और वह अनेक सुन्दर-सुन्दर उत्तम घोडो, मत्त-हाथियो, रथों व डोला-पालकी आदि वाहनो से व्याप्त थी। वहा के जलाशय नव प्रफुल्ल कमलों से शोभायमान थे। वह नगरी उज्ज्वल, श्वेत महाभवनो से जगमगा रही थी, और आखें फाड-फाडकर देखने योग्य थी। उसे देखकर मन प्रसन्न हो जाता था। वह ऐसी दर्शनीय, सुन्दर और मनोज्ञ थी।"

प्राचीन नगर का यह वर्णन तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है-(१) उसकी समृद्धि व धन-वैभव सबधी, (२) वहा नाना प्रकार की कलाओ, विद्याओं, व मनोरजन के साधनो सबधी, और (३) नगर की रचना सबधी। नगर-रचना मे कुछ बातें सुस्पष्ट और ध्यान देने योग्य हैं। नगर की रक्षा के निमित्त उसको चारो ओर से घेरे हुए परिखा या खाई होती थी। तत्पश्चात् एक प्राकार या कोट होता था, जिसकी चारो दिशाओ मे चार-चार द्वार होते थे। प्राकार का आकार धनुप के समान गोल कहा गया है। इन द्वारो मे गोपुर और तोरणों का शोभा की दृष्टि से विशेष स्थान था। कोट कगूरेदार कपिशीर्षको से युक्त बनते थे, और उनपर शतघ्नी आदिक नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रो की स्थापना की जाती थी। नगर मे राजमार्गों व चरिया-पथ (मेन रोड्स एव फुटपाथ्स) बडी व्यवस्था से बनाये जाते थे, जिसमे तिराहो व चौराहो का विशेष स्थान था। स्थान-स्थान पर सम्भवत प्रत्येक मोहल्ले में विशाल चौको (खुले मैदान-पार्कस्), उद्यानो, सरोवरो व कूपो का निर्माण भी किया जाता था। घर कतारो से बनाये जाते थे, और देवालयो, बाजारो व दुकानो की सुव्यवस्था थी।

जैन सूत्रो मे प्राप्त नगर का यह वर्णन पुराणो, बौद्ध ग्रन्थो, तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि के वर्णनो से मिलता है, तथा पुरातत्व सबधी खुदाई से जो कुछ नगरो के भग्नावशेष मिले हैं उनसे भी प्रमाणित होता है। उदाहरणार्थ, प्राचीन पाचाल देश की राजधानी अहिच्छत्र की खुदाई से उसकी परिखा व प्राकार के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह वही स्थान है जहा जैन परम्परानुसार तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के तप मे उपसर्ग होने पर धरणेन्द्रनाग ने उनकी रक्षा की थी, और इसी कारण इसका नाम भी अहिच्छत्र पडा। प्राकार पकाई हुई ईंटो का बना व ४०-५० फुट तक ऊचा पाया गया है। कोट के द्वारो से राजपथ सीधे नगर के केन्द्र की ओर जाते हुए पाये गये है, और केन्द्र मे एक विशाल देवालय के चिन्ह मिले हैं। भारहुत, साची, अमरावती, मथुरा आदि स्थानो से प्राप्त पाषाणोत्कीर्ण चित्रकारी मे जो राजगृह, श्रावस्ती, बारा-

इसी कपिलवस्तु, कुशीनगर आदि की प्रतिकृतियां (मोडेल्स) पाई जाती हैं उनसे भी परिखा प्राकार तथा द्वारों गोपुरों व अट्टालिकाओं की व्यवस्था समझ में आती है। देश के प्राचीन नगरों की बनावट व शोभा का परिचय हमें मैगस्थनीज फाहियान आदि यूनानी व चीनी यात्रियों द्वारा किये गये सुप्रसिद्ध पाटलिपुत्र नगर के वर्णन से भी प्राप्त होता है, और उसका समर्थन पटना के समीप बुलंदीबाग और कुमराहर नामक स्थानों की खुदाई से प्राप्त हुए प्राकार व राजप्रासाद आदि के भग्नावशेषों से होता है। मैगस्थनीज के वर्णनानुसार पाटलिपुत्र नगर का प्राकार काष्ठमय था। इसकी भी प्राप्त भग्नावशेषों से पुष्टि हुई है तथा उपलब्ध पाषाण स्तंभों के भग्नावशेषों से शालाओं व प्रासादों की निर्माण-कला की बहुत कुछ जानकारी प्राप्त होती है, जिससे जैन ग्रन्थों से प्राप्त नगरादि के वर्णन का भले प्रकार समर्थन होता है।

चैत्य रचना—

जैन सूत्रों में नगर के वर्णन में तथा स्वतंत्र रूप से भी चैत्यों का उल्लेख बार बार आता है। यहां औपपातिक सूत्र (२) से चंपानगरी के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा में स्थित पूर्णभद्र नामक चैत्य का वर्णन दिया जाता है। "वह चैत्य बहुत प्राचीन पूर्व पुरुषों द्वारा पहले कभी निर्माण किया गया था और सुविदित व सुविख्यात था। वह छत्र घंटा ध्वजा व पताकाओं से मंडित था। वहां चमर (लोमहस्त-पीछी) लटक रहे थे। वहां गोशीर्ष व सरस रक्तचंदन से हाथ के पंजों के निशान बने हुए थे और चंदन-कलश स्थापित थे। वहां बड़ी-बड़ी गोलाकार मालाएं लटक रही थीं। पचरंगे सरस सुगंधी फूलों की सजावट हो रही थी। वह कालागुरु कुंदुरुक्क एवं तुरुक्क व धूप की सुगंध से महक रहा था। वहां नटों नर्तकों नाना प्रकार के खिलाड़ियों संगीतकों जोकरों व मागधों की भीड़ लगी हुई थी। वहां बहुत लोग आते जाते रहते थे लोग चोपड़ा कर-करके दान देते थे व अर्चा वंदना नमस्कार, पूजा सत्कार, सम्मान करते थे। वह कल्याण मंगल व देवतारूप चैत्य विनयपूर्वक पर्युपासना करने के योग्य था। वह दिव्य था सब मनोकामनाओं की पूर्ति का सत्योपाय भूत था। वहां प्रातिहार्यों का सद्भाव था। वह चैत्य याग के सहस्त्रभाग का प्रतीसक था। बहुत लोग आ-आकर उस पूर्णभद्र चैत्य की पूजा करते थे।"

जैन चैत्य व स्तूप—

समोसरण के वर्णन में चैत्य वृक्षों व स्तूपों का उल्लेख किया जा चुका है।

भगवती व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र (३, २, १४३) मे भगवान् महावीर के अपनी छद्मस्थ अवस्था मे सुसुमारपुर के उपवन मे अशोक वृक्ष के नीचे ध्यान करने का वर्णन है। त्रि०प्र० (४,६१५) मे यह भी कहा गया है कि जिस वृक्ष के नीचे, जिस केवली को केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ, वही उस तीर्थंकर का **अशोक वृक्ष** कहलाया। इस प्रकार अशोक एक वृक्ष-विशेष का नाम भी है, व केवलज्ञान सबधी समस्त वृक्षो की सज्ञा भी। अनुमानत इसी कारण वृक्षो के नीचे प्रतिमाए स्थापित करने की परम्परा प्रारम्भ हुई। स्वभावत वृक्षमूल मे मूर्तिया स्थापित करने के लिये वृक्ष के चारो ओर एक वेदिका या पीठिका बनाना भी आवश्यक हो गया। यह वेदी इष्टकादि के चयन से बनाई जाने के कारण वे वृक्ष **चैत्यवृक्ष** कहे जाने लगे होगे। इष्टको (ईटो) से बनी वेदिका को चिति या चयन कहने की प्रथा बहुत प्राचीन है। वैदिक साहित्य मे यज्ञ की वेदी को भी यह नाम दिया गया पाया जाता है। इसी प्रकार चयन द्वारा निर्मापित स्तूप भी चैत्य-स्तूप कहलाये।

आवश्यक निर्युक्ति (गा० ४३५) मे तीर्थंकर के निर्वाण होने पर स्तूप, चैत्य व जिनगृह निर्माण किये जाने का उल्लेख है। इस पर टीका करते हुए हरिभद्रसूरि ने भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण के पश्चात् उनकी स्मृति मे उनके पुत्र भरत द्वारा उनके निर्वाण-स्थान कैलाश पर्वत पर एक **चैत्य** तथा **सिंह-निषद्या-आयतन** निर्माण कराये जाने का उल्लेख किया है। अर्द्धमागधी जूंबदीवपण्णत्ति (२, ३३) मे तो निर्वाण के पश्चात् तीर्थंकर के शरीर-सस्कार तथा चैत्य-स्तूप-निर्माण का विस्तार से वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है—

"तीर्थंकर का निर्वाण होने पर देवेन्द्र ने आज्ञा दी कि गोशीर्ष व चदन काष्ठ एकत्र कर **चितिका** बनाओ, क्षीरोदधि से क्षीरोदक लाओ, तीर्थंकर के शरीर को स्नान कराओ, और उसका गोशीर्षचदन से लेप करो। तत्पश्चात् शक्र ने हसचिन्ह-युक्त वस्त्र-शाटिका तथा सर्व अलकारों से शरीर को भूषित किया, व शिविका द्वारा लाकर चिता पर स्थापित किया। अग्निकुमार देव ने चिता को प्रज्वलित किया, और पश्चात् मेघ कुमार देव ने क्षीरोदक से अग्नि को उपशात किया। शक्र देवेन्द्र ने भगवान् की ऊपर की दाहिनी व ईशान देव ने बायी सक्थि (अस्थि) ग्रहण की, तथा नीचे की दाहिनी चमर असुरेन्द्र ने, व बायी बलि ने ग्रहण की। शेष देवो ने यथायोग्य अवशिष्ट अग-प्रत्यगो को ग्रहण किया। फिर शक्र देवेन्द्र ने आज्ञा दी कि एक अतिमहान् **चैत्य स्तूप** भगवान् तीर्थंकर की चिता पर निर्माण किया जाय, एक गणधर की चिता पर और एक शेष अनगारों की चिता पर। देवो ने तदनुसार ही परिनिर्वाण-महिमा की। फिर

वे सब अपने-अपने विमानों व भवनों को लौट आये और अपने-अपने चैत्य-स्तंभों के समीप आकर उन जिन-अस्थियों को वज्रमय गोल वृत्ताकार समुद्गकों (पेटिकाओं) में स्थापित कर उत्तम मालाओं व गंधों से उनकी पूजा-अर्चा की।"

इस विवरण से सुस्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परानुसार महापुरुषों की चिताओं पर स्तूप निर्माण कराये जाते थे। इस परम्परा की पुष्टि पालि ग्रन्थों के बुद्ध निर्वाण और उनके शरीर-संस्कार संबंधी वृत्तांत से होती है।

महापरिनिब्बाणसुत्त में कथन है कि जब बुद्ध भगवान् के शिष्यों ने उनसे पूछा कि निर्वाण के पश्चात् उनके शरीर का कैसा सत्कार किया जाय तब इसके उत्तर में बुद्ध ने कहा—हे आनंद जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा के शरीर को वस्त्र से खूब वेष्टित करके तैल की द्रोणी में रखकर चितक बनाकर शरीर को अर्पण देते हैं, और चतुर्महापथ पर स्तूप बनाते हैं उसी प्रकार मेरे शरीर की भी सत्पूजा की जाय। इससे स्पष्ट है कि उस प्राचीन काल में राजाओं व धार्मिक महापुरुषों की चिता पर अथवा अन्यत्र उनकी स्मृति में स्तूप बनवाने की प्रथा थी। स्तूप का गोल आकार भी इसी बात की पुष्टि करता है क्योंकि यह आकार श्मशान के आकार से मिलता है। इस संबंध में शतपथ ब्राह्मण का एक उल्लेख भी ध्यान देने योग्य है कि आर्यों के वैद्य श्मशान चौकोर, तथा अनार्यों के प्राचुर्य श्मशान गोलाकार होते हैं। धार्मिक महापुरुषों के स्मारक होने से स्तूप श्रद्धा और पूजा की वस्तु बन गई, और शताब्दियों तक स्तूप बनवाने और उनकी पूजा-अर्चा किये जाने की परम्परा चालू रही। धीरे धीरे इनका आकार-परिमाण भी खूब बढ़ा। उनके आसपास प्रदक्षिणा के लिये एक व अनेक वेदिकाएं भी बनने लगीं। उनके आसपास कला-पूर्ण कटहरा भी बनने लगा। ऐसे स्तूपों के उत्कृष्ट उदाहरण अभी भी सांची भरहुत सारनाथ आदि स्थानों में देखे जा सकते हैं। दुर्भाग्यतः उपलब्ध स्तूपों में जैन स्तूपों का अभाव पाया जाता है। किन्तु इस बात के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं कि प्राचीनकाल में जैनस्तूपों का भी खूब निर्माण हुआ था। जिनदास कृत आवश्यकचूर्णि में उल्लेख है कि अतिप्राचीन काल में बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत की स्मृति में एक स्तूप वैशाली में बनवाया गया था। किन्तु अभी तक इस स्तूप के कोई चिन्ह व भग्नावशेष प्राप्त नहीं किये जा सके। तथापि मथुरा के समीप एक अत्यन्त प्राचीन जैन स्तूप के प्रचुर भग्नावशेष मिले हैं। हरिषेण कृत बृहत्कथाकोष (१२ ११२) के अनुसार यहां अति प्राचीनकाल में विद्याधरों द्वारा पांच स्तूप बनवाये गये थे। इन पांच स्तूपों की विख्याति और स्मृति एक मुनियों की वंशावली से संबद्ध पाई जाती है। बहाडपुर (बंगाल) से जो पांचवीं शताब्दी का

गुहनंदि आचार्य का ताम्रपत्र मिला है, उसमे इस पचस्तूपान्वय का उल्लेख है। धवला टीका के कर्ता वीरसेनाचार्य व उनके शिष्य महापुराण के कर्त्ता जिनसेन ने अपने को पचस्तूपान्वयी कहा है। इसी अन्वय का पीछे सेन-अन्वय नाम प्रसिद्ध हुआ पाया जाता है। जिनप्रभसूरि कृत विविध-तीर्थ-कल्प मे उल्लेख है कि मथुरा मे एक स्तूप सुपार्श्व-नाथ तीर्थंकर की स्मृति मे एक देवी द्वारा अतिप्राचीन काल मे बनवाया गया था, व पार्श्वनाथ तीर्थंकर के समय मे उसका जीर्णोद्धार कराया गया था, तथा उसके एक हजार वर्ष पश्चात् पुन उसका उद्धार वप्पभट्टि सूरि द्वारा कराया गया था। राजमल्ल कृत जंबूस्वामिचरित के अनुसार उनके समय मे (मुगल सम्राट् अकबर के काल मे) मथुरा मे ५१५ स्तूप जीर्ण-शीर्ण अवस्था मे विद्यमान थे, जिनका उद्धार तोडर नाम के एक धनी साहू ने अगणित द्रव्य व्यय करके कराया था। मथुरा के ककाली टीले की खुदाई से प्राप्त हुए भग्नावशेषो मे एक जिन-सिंहासन पर के (दूसरी शती के) लेख मे यहा के देवनिर्मित स्तूप का उल्लेख है। इसका समर्थन पूर्वोक्त हरिषेण व जिनप्रभ सूरि के उल्लेखो से भी होता है। हरिभद्रसूरि कृत आवश्यक-निर्युक्ति-वृत्ति तथा सोमदेव कृत यशस्तिलक-चम्पू मे भी मथुरा के देवनिर्मित स्तूप का वर्णन आया है। इन सब उल्लेखो से इस स्तूप की अतिप्राचीनता सिद्ध होती है।

मथुरा का स्तूप—

मथुरा के स्तूप का जो भग्नाश प्राप्त हुआ है, उससे उसके मूल-विन्यास का स्वरूप प्रगट हो जाता है। स्तूप का तलभाग गोलाकार था, जिसका व्यास ४७ फुट पाया जाता है। उसमे केन्द्र से परिधि की ओर बढते हुए व्यासार्ध वाली ८ दीवालें पाई जाती हैं, जिनके बीच के स्थान को मिट्टी से भरकर स्तूप ठोस बनाया गया था। दीवालें ईंटो से चुनी गई थीं। ईंटें भी छोटी-बडी पाई जाती हैं। स्तूप के बाह्य भाग पर जिन-प्रतिमाए बनी थी। पूरा स्तूप कैसा था, इसका कुछ अनुमान बिखरी हुई प्राप्त सामग्री के आधार पर लगाया जा सकता है। अनेक प्रकार की चित्रकारी युक्त जो पाषाण-स्तभ मिले हैं, उनसे प्रतीत होता है कि स्तूप के आसपास घेरा व तोरण द्वार रहे होंगे। दो ऐसे भी आयाग पट्ट मिले हैं, जिनपर स्तूप की पूर्ण आकृतिया चित्रित हैं, जो सभवत यहीं के स्तूप व स्तूपो की होंगी। स्तूप पट्टिकाओ के घेरे से घिरा हुआ है, व तोरण द्वार पर पहुचने के लिये सात-आठ सीढिया बनी हुई हैं। तोरण दो खडे खभो व ऊपर थोडे-थोडे अन्तर से एक पर एक तीन आडे खभो से बना है। इनमे सबसे निचले खभे के दोनो पार्श्वभाग मकराकृति सिंहो से आधारित

हैं। स्तूप के दायें-बायें दो सुन्दर स्तंभ हैं जिनपर क्रमशः धर्मचक्र व बैठे हुए सिंहों की आकृतियां बनी हैं। स्तूप की बाजू में तीन आराधकों की आकृतियां बनी हैं। ऊपर की ओर उड़ती हुई दो आकृतियां संभवतः चारण मुनियों की हैं। वे नग्न हैं, किन्तु उनके बायें हाथ में वस्त्रखंड जैसी वस्तु एवं कमंडलु दिखाई देते हैं तथा दाहिना हाथ मस्तक पर नमस्कार मुद्रा में है। एक और आकृति युगल सुपर्ण पक्षियों की है जिनके पुच्छ व नख स्पष्ट दिखाई देते हैं। दायीं ओर का सुपर्ण एक पुष्पगुच्छ व बायीं ओर का पुष्पमाला लिये हुए है। स्तूप की गुम्मज के दोनों ओर विलासपूर्ण रीति से झुकी हुई भारी आकृतियां सम्भवतः यक्षिणियों की हैं। धरे के नीचे सीढ़ियों के दोनों ओर एक-एक आला है। दक्षिण बाजू के आले में एक बालक सहित पुरुषाकृति व दूसरी ओर स्त्री-आकृति दिखाई देती है। स्तूप की गुम्मट पर छह पंक्तियों में एक प्राकृत का लेख है, जिसमें अर्हन्त वर्द्धमान को नमस्कार के पश्चात् कहा गया है कि "श्रमण-श्राविका आर्या-लवणशोभिका नामक गणिका की पुत्री श्रमण-श्राविका वासु-गणिका ने जिनमंदिर में अरहंत की पूजा के लिये अपनी माता भगिनी तथा दुहिता-पुत्र सहित *निर्ग्रन्थों के अर्हत् आयतन में अर्हत् का देवकुल (देवालय)* आयाग सभा प्रपा (प्याऊ) तथा शिलापट (प्रस्तुत आयागपट) प्रतिष्ठित कराये। यह शिलापट २ फुट × १ इंच × १½ फुट तथा अक्षरों की आकृति व चित्रकारी द्वारा अपने को कुषाणकालीन (प्र शि शती ई) सिद्ध करता है।

इस शिलापट से भी प्राचीन एक दूसरा आयागपट भी मिला है जिसका ऊपरी भाग टूट गया है, तथापि तोरण वेदिका सोपानपथ एवं स्तूप के दोनों ओर यक्षिणियों की मूर्तियां इसमें पूर्वोक्त शिलापट से भी अधिक सुस्पष्ट हैं। इस पर भी लेख है, जिसमें अरहंतों को नमस्कार के पश्चात् कहा गया है कि "फग्गुयश नर्तक की भार्या शिवयशा ने अरहंत-पूजा के लिये यह आयागपट बनवाया"। वि स्मिथ के अनुसार इस लेख के अक्षरों की आकृति ई पू १५० के लगभग शुंग-कालीन भरहुत स्तूप के तोरण पर अंकित धनभूति के लेख से कुछ अधिक प्राचीन प्रतीत होती है। बुलर ने भी इन्हें कनिष्क के काल से प्राचीन स्वीकार किया है। इस प्रकार लगभग २ ० ई पू० का यह आयागपट सिद्ध कर रहा है कि स्तूपों का प्रचार जैन परम्परा में बहुत प्राचीन है। साथ ही जो कोई जैन स्तूप सुरक्षित अवस्था में नहीं पाये जाते उसके अनेक कारण हैं। एक तो यह कि गुफा-चैत्यों और मंदिरों के अधिक प्रचार के साथ-साथ स्तूपों का नया निर्माण बंद हो गया व प्राचीन स्तूपों की सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। दूसरे, उपर्युक्त स्तूप के आकार व निर्माणकला के वर्णन से स्पष्ट है

जाता है कि वौद्ध व जैन स्तूपो की कला प्राय· एक सी ही थी। यथार्थत यह कला श्रमण सस्कृति की समान धारा थी । इस कारण अनेक जैन स्तूप भ्रान्तिवश वौद्ध स्तूप ही मान लिये गये। इन वातो के स्पष्ट उदाहरण भी उपस्थित किये जा सकते हैं। मथुरा के पास जिस स्थान पर उक्त प्राचीन जैन स्तूप था, वह वर्तमान मे ककाली टीला कहलाता है। इसका कारण यह है कि जैनियों की उपेक्षा से, अथवा किन्ही वाह्य विध्वसक आघातो से जव उस स्थान के स्तूप व मदिर नष्ट हो गये, और उस स्थान ने एक टीले का रूप धारण कर लिया, तव मदिर का एक स्तभ उसके ऊपर स्थापित करके वह ककालीदेवी के नाम से पूजा जाने लगा। यहा के स्तूप का जो आकार-प्रकार उपर्युक्त 'वासु' के आयागपट्ट से प्रगट होता है, ठीक उसी प्रकार का स्तूप का नीवभाग तक्षशिला के समीप 'सरकॉप' नामक स्थान पर पाया गया है। इस स्तूप के सोपान-पथ के दोनो पार्श्वों मे उसी प्रकार के दो आले रहे हैं, जैसे उक्त आयागपट मे दिखाई देते हैं। इसी कारण पुरातत्त्व विभाग के डायरेक्टर सर जान-मार्शल ने उसे जैन स्तूप कहा है, और उसे वौद्ध धर्म से सव प्रकार असवद्ध वतलाया है। तो भी पीछे के लेखक उसे वौद्ध स्तूप ही कहते हैं, और इसका कारण वे यह वतलाते हैं कि उस स्थान से जैनधर्म का कभी कोई ऐतिहासिक सवध नही पाया जाता। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि तक्षशिला से जैनधर्म का वडा प्राचीन सवध रहा है। जैन पुराणो के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने यहा अपने पुत्र वाहुवली की राजधानी स्थापित की थी। उन्होंने यहा विहार भी किया था, और उनकी स्मृति मे यहा धर्मचक्र भी स्थापित किया गया था। यही नही, किन्तु अति प्राचीन काल से सातवी शताव्दी तक पश्चिमोत्तर भारत मे अफगानिस्तान तक जैनधर्म के प्रचार के प्रमाण मिलते हैं। हुएनत्सांग ने अपने यात्रा वर्णन मे लिखा है कि उसके समय मे "हुसीना (गजनी) व हजारा (या होसला) मे वहुत से तीर्थंक थे, जो क्षुणदेव (शिश्न या नग्न देव) की पूजा करते थे, अपने मनको वश मे रखते थे, व शरीर की पर्वाह नही करते थे।" इस वर्णन से उन देवो के जैन तीर्थंकर और उनके अनुयाइयो के जैन मुनि व श्रावक होने में कोई सदेह प्रतीत नही होता। पालि ग्रन्थो मे निग्गठ नातपुत्त (महावीर तीर्थंकर) को एक तीर्थंक ही कहा गया है। अतएव तक्षशिला के समीप 'सरकॉप' स्तूप को जैन-स्तूप स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिये।

मथुरा से प्राप्त अन्य एक आयागपट के मध्य मे छत्र-चमर सहित जिनमूर्ति विराज-मान है व उसके आसपास त्रिरत्न, कलश, मत्स्य युगल, हस्ती आदि मगल द्रव्य व आलकारिक चित्रण है। आयागपट चित्रित पाषाणपट्ट होते थे और उनकी पूजा की जाती थी।

जैन गुफाएं

प्राचीनतम काल से जैन मुनियों को नगर-ग्रामादि बहुजन-संकीर्ण स्थानों से पृथक पर्वत व वन की शून्य गुफाओं या कोटरों आदि में निवास करने का विधान किया गया है, और ऐसा एकान्तवास जैन मुनियों की साधना का आवश्यक अंग बतलाया गया है (त सू ७ ६ स सिद्धि)। और जहां जैन मुनि निवास करेगा वहां ध्यान व वंदनादि के लिये जैन मूर्तियों की भी स्थापना होगी। प्रारम्भ में शिलाओं से आच्छादित प्राकृतिक गुफाओं का उपयोग किया जाता रहा होगा। ऐसी गुफाएं प्रायः सर्वत्र पर्वतों की तलहटी में पाई जाती हैं। ये ही जैन परम्परा में मान्य अकृत्रिम चैत्यालय कहे जा सकते हैं। क्रमशः इन गुफाओं का विशेष संस्कार व विस्तार कृत्रिम साधनों से किया जाने लगा और जहां उसके योग्य शिलाएं मिलीं उनको काटकर गुफा-विहार व मंदिर बनाये जाने लगे। ऐसी गुफाओं में सबसे प्राचीन व प्रसिद्ध जैन गुफाएं बराबर व नागार्जुनी पहाड़ियों पर स्थित हैं। ये पहाड़ियां गया से १६ २ मील दूर पटना-गया रेलवे के बेला नामक स्टेशन से ८ मील पूर्व की ओर हैं। बराबर पहाड़ी में चार, व उससे कोई एक मील दूर नागार्जुनी पहाड़ी में तीन गुफाएं हैं। बराबर की गुफाएं अशोक व नागार्जुनी की उसके पौत्र दशरथ द्वारा आजीवक मुनियों के हेतु निर्माण कराई गई थीं। आजीवक सम्प्रदाय यद्यपि उस काल (ई पू तृतीय शती) में एक पृथक सम्प्रदाय था तथापि ऐतिहासिक प्रमाणों से उसकी उत्पत्ति व विकास जैन सम्प्रदाय में ही हुआ सिद्ध होता है। जैन आगमों के अनुसार इस सम्प्रदाय का स्थापक मंखलि-गोशाल कितने ही कालतक महावीर तीर्थंकर का शिष्य रहा किन्तु कुछ सैद्धान्तिक मतभेद के कारण उसने अपना एक पृथक् सम्प्रदाय स्थापित किया। परन्तु यह सम्प्रदाय पृथक् रूप से केवल दो-तीन शती तक ही चला और इस काल में भी आजीवक साधु जैन मुनियों के सदृश नग्न ही रहते थे तथा उनकी भिक्षादि संबंधी चर्या भी जैन निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय से भिन्न नहीं थी। अशोक के पश्चात् इस सम्प्रदाय का जैन संघ में ही विलीनीकरण हो गया और तब से इसकी पृथक सत्ता का कोई उल्लेख नहीं पाये जाते। इस प्रकार आजीवक मुनियों को दान की गई गुफाओं का जैन ऐतिहासिक परम्परा में ही उल्लेख किया जाता है।

बराबर पहाड़ी की दो गुफाएं अशोक ने अपने राज्य के १२ वें वर्ष में और तीसरी १६ वें वर्ष में निर्माण कराई थी। सुदामा और विश्व झोंपड़ी नामक गुफाओं

के लेखो मे आजीवको को दान किये जाने का स्पष्ट उल्लेख है। सुदामा गुफा के लेख मे उसे **न्यग्रोध गुफा** कहा गया है। इसमें दो मडप हैं। बाहिरी ३३'×२०' का व भीतरी १९'×१९' लम्वा-चौडा है। ऊचाई लगभग १२' है। **विश्व-झोंपडी** के लेख मे इस पहाडी का **'खलटिक पर्वत'** के नाम से उल्लेख पाया जाता है। शेष दो गुफाओ के नाम **'करण चौपार'** व **'लोमसऋषि'** गुफा हैं। किन्तु करणचौपार को लेख मे **'सुपिया गुफा'** कहा गया है, और लोमस-ऋषि गुफा को **'प्रवरगिरि गुफा'**। ये सभी गुफाए कठोर तेलिया पाषाण को काटकर बनाई गई हैं, और उनपर वही चमकीला पालिश किया गया है, जो मौर्य काल की विशेषता मानी गई है।

नागार्जुनी पहाडी की तीन गुफाओ के नाम हैं—**गोपी गुफा, बहिया की गुफा,** और **वेदथिका गुफा**। प्रथम गुफा ४५'×१९' लम्बी-चौडी है। पश्चात् कालीन अनन्तवर्मा के एक लेख मे इसे **'विन्ध्यभूधर गुहा'** कहा गया है, यद्यपि दशरथ के लेख मे इसका नाम **गोपिक गुहा** स्पष्ट अकित है, और आजीवक भदन्तो को दान किये जाने का भी उल्लेख है। ऐसा ही लेख शेष दो गुफाओ मे भी है। ई० पू० तीसरी शती की मौर्यकालीन इन गुफाओ के पश्चात् उल्लेखनीय हैं उडीसा की कटक के समीपवर्ती **उदयगिरि** व **खडगिरि** नामक पर्वतो की गुफाए जो उनमे प्राप्त लेखो पर से ई० पू० द्वितीय शती की सिद्ध होती हैं। उदयगिरि की **'हाथीगुफा'** नामक गुफा मे प्राकृत भाषा का यह सुविस्तृत लेख पाया गया है जिसमे कलिंग सम्राट् खारवेल के बाल्यकाल व राज्य के १३ वर्षो का चरित्र विधिवत् वर्णित है। यह लेख अरहतो व सर्वसिद्धो को नमस्कार के साथ प्रारभ हुआ है, और उसकी १२ वी पक्ति मे स्पष्ट उल्लेख है कि उन्होंने अपने राज्य के १२ वें वर्ष मे मगध पर आक्रमण कर वहा के राजा बृहस्पति-मित्र को पराजित किया, और वहा से कलिंग-जिन की मूर्ति अपने देश मे लौटा लिया जिसे पहले नदराज अपहरण कर ले गया था। इस उल्लेख से जैन इतिहास व सस्थानो सबंधी अनेक महत्वपूर्ण बातें सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि नदकाल अर्थात् ई० पू० पाचवी-चौथी शती मे भी जैन मूर्तिया निर्माण कराकर उनकी पूजा-प्रतिष्ठा की जाती थी। दूसरे यह कि उस समय कलिंग देश मे एक प्रसिद्ध जैन मदिर व मूर्ति थी, जो उस प्रदेश भर मे लोक-पूजित थी। तीसरे यह कि वह नद-सम्राट् जो इस जैन मूर्ति को अपहरण कर ले गया, और उसे अपने यहा सुरक्षित रखा, अवश्य जैनधर्मावलबी रहा होगा, व उसने उसके लिये अपने यहा भी जैन मदिर बनवाया होगा। चौथे यह कि कलिंग देश की जनता व राजवश मे उस जैन मूर्ति के लिये बराबर दो-तीन शती तक ऐसा श्रद्धान बना रहा कि अवसर मिलते ही कलिंग समाट् ने उसे वापस लाकर

अपने यहां प्रतिष्ठित करना आवश्यक समझा। इस प्रकार यह गुफा और वहां का लेख भारतीय इतिहास और विशेषतः जैन इतिहास के लिये बड़े महत्व की वस्तु है।

उदयगिरि की यह रानी गुफा (हाथी गुफा) यथार्थतः एक सुविस्तृत विहार था जिसमें मूर्ति-प्रतिष्ठा भी रही, व मुनियों का निवास भी। इसका अंतरांग ५२ फुट लम्बा व २८ फुट चौड़ा है, तथा द्वार की ऊंचाई ११½ फुट है। यह दो मंजिलों में बनी है। नीचे की मंजिल में पंक्तिरूप से आठ व ऊपर की पंक्ति में छह प्रकोष्ठ हैं। ३ फुट लम्बा बरामदा ऊपर की मंजिल की एक विशेषता है। बरामदों में द्वारपालों की मूर्तियां खुदी हुई हैं। नीचे की मंजिल का द्वारपाल सुसज्जित सैनिक सा प्रतीत होता है। बरामदों में छोटे-छोटे उच्च आसन भी बने हैं। छत की चट्टान को संभालने के लिये अनेक स्तंभ खड़े किये गये हैं। एक तोरण-द्वार पर त्रिरत्न का चिन्ह व अशोक वृक्ष की पूजा का चित्रण महत्वपूर्ण है। त्रिरत्न-चिन्ह सिंधघाटी की मुद्रा पर के प्राचीन देव के मस्तक पर के त्रिशृंग मुकुट के सदृश है। द्वारों पर बहुत सी चित्रकारी भी है, जो जैन पौराणिक कथाओं से संबंध रखती है। एक प्रकोष्ठ के द्वार पर एक पक्षयुक्त हरिण व धनुषबाण सहित पुरुष युद्ध स्त्री-अपहरण आदि घटनाओं का चित्रण बड़ा सुन्दर हुआ है। एक मतानुसार यह जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीवन की एक घटना का चित्रण है, जिसके अनुसार उन्होंने कलिंग के यवन नरेश द्वारा हरण की गई प्रभावती नामक कन्या को बचाया और पश्चात् उससे विवाह किया था। एक मत यह भी है कि यह वासवदत्ता व शकुंतला संबन्धी आख्यानों से संबन्ध रखता है। किन्तु इस जैनगुफा में इसकी सम्भावना नहीं प्रतीत होती। चित्रकारी की शैली सुन्दर और सुस्पष्ट है, व चित्रों की योजना प्रमाणानुसार है। विद्वानों के मत से यहां की चित्रण कला भरहुत व सांची के स्तूपों से अधिक सुन्दर है। उदयगिरि व खंडगिरि में सब मिलाकर १९ गुफाएं हैं, और उन्हीं के निकटवर्ती नीलगिरि नामक पहाड़ी में और भी तीन गुफाएं देखने में आती हैं। इनमें उपर्युक्त रानीगुफा के अतिरिक्त मंचपुरी और वैकुंठपुरी नामक गुफाएं भी दर्शनीय हैं, और वहां के शिलालेखों तथा कलाकृतियों के आधार से खारवेल व उनके समीपवर्ती काल की प्रतीत होती हैं। खंडगिरि की नवमुनि नामक गुफा में दसवीं शती का एक शिलालेख है जिसमें जैन मुनि शुभचन्द्र का नाम आया है। इससे प्रतीत होता है कि यह स्थान ईस्वी पूर्व द्वितीय शती से लगाकर कम से कम दसवीं शती तक जैन धर्म का एक सुदृढ़ केन्द्र रहा है।

राजगिरि की एक पहाड़ी में मणियार मठ के समीप सोनभंडार नामक जैन-गुफा उल्लेखनीय है। निर्माण की दृष्टि से यह अतिप्राचीन प्रतीत होती है। ई०-द्वि०

शती का ब्राह्मी लिपि का एक लेख भी है जिसके अनुसार आचार्यरत्न वैरदेवमुनि ने यहा जैन मुनियो के निवासार्थ दो गुफाए निर्माण करवाई, और उनमें अर्हन्तो की मूर्तिया प्रतिष्ठित कराई। एक जैनमूर्ति तथा चतुर्मुखी जैनप्रतिमा युक्त एक स्तम्भ वहा अब भी विद्यमान है। जिम दूसरी गुफा के निर्माण का लेख मे उल्लेख है, वह निश्चयत उसके ही पार्श्व मे स्थित गुफा है, जो अब विष्णु की गुफा बन गई है। दिगम्बर परम्परा मे वैरजस का नाम आता है, और वे तिलोकप्रज्ञप्ति में प्रज्ञाश्रमणो मे अन्तिम कहे गये है। श्वे० परम्परा मे अज्ज-वैर का नाम आता है, और वे पदानुसारी कहे गये हैं। प्रज्ञाश्रमणत्व और पदानुसारित्व, ये दोनो बुद्धि ऋद्धि के उपभेद हैं, और षट्खडागम के वेदनाखड मे पदानुसारी तथा प्रज्ञाश्रमण दोनो को नमस्कार किया गया है। इसप्रकार ये दोनो उल्लेख एक ही आचार्य के हों तो आश्चर्य नहीं। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्यवैर का काल वीर निर्वाण मे ४९६ से लेकर ५८४ वर्ष तक पाया जाता है, जिसके अनुसार वे प्रथम शती ई० पू० व पश्चात् के सिद्ध होते हैं। सोन भडार गुफा उन्ही के समय मे निर्मित हुई हो तो आश्चर्य नहीं।

प्रयाग तथा कौसम (प्राचीन कौशाम्वी) के समीपवर्ती पभोसा नामक स्थान मे दो गुफाए है, जिनमे शुग-कालीन (ई० पू० द्वितीय शती) लिपि मे लेख हैं। इन लेखो मे कहा गया है कि इन गुफाओ को अहिच्छत्रा के आषाढसेन ने काश्यपीय अर्हन्तो के लिये दान किया। ध्यान रखना चाहिये कि तीर्थंकर महावीर कश्यपगोत्रीय थे। सम्भव है उन्ही के अनुयायी मुनि काश्यपीय अर्हत् कहलाते थे। इससे यह भी अनुमान होता है कि उस काल मे महावीर के अनुयाइयो के अतिरिक्त भी कोई अन्य जैनमुनि सघ सम्भवत' पार्श्वनाथ के अनुयाइयो का रहा होगा जो क्रमश महावीर की मुनि-परम्परा मे ही विलीन हो गया।

जूनागढ (काठियावाड) के बावा प्यारामठ के समीप कुछ गुफाए हैं, जो तीन पक्तियो मे स्थित हैं। एक उत्तर की ओर, दूसरी पूर्व भाग मे और तीसरी उसी के पीछे से प्रारम्भ होकर पश्चिमोत्तर की ओर फैली है। ये सब गुफाए दो भागो मे विभक्त की जा सकती हैं—एक तो चैत्य-गुफाए और तत्सबंधी साधारण कोठरिया हैं जो बर्जेस साहब के मतानुसार सम्भवत' ई० पू० द्वितीय शती की हैं, जबकि प्रथम बार बौद्ध भिक्षु गुजरात मे पहुचे। दूसरे भाग मे वे गुफाए व शालागृह हैं जो प्रथमभाग की गुफाओ से कुछ उन्नत शैली के बने हुए हैं, और जिनमें जैन चिन्ह पाये जाते हैं। ये ई० की द्वितीय शती अर्थात् क्षत्रप राजाओ के काल की सिद्ध होती हैं। जैनगुफाओ मे की एक गुफा विशेष ध्यान देने योग्य है। इस गुफा से जो खंडित लेख मिला है उसमें

क्षत्रप राजवंशका तथा चष्टन के प्रपौत्र व जयदामन् के पौत्र रुद्रसिंह प्रथम का उल्लेख है। लेख पूरा न पढ़े जाने पर भी उसमें जो केवलज्ञान जरामरण से मुक्ति आदि शब्द पढ़े गये हैं उनसे तथा गुफा में अंकित स्वस्तिक भद्रासन मीनयुगल आदि प्रख्यात जैन मांगलिक चिन्हों के चित्रित होने से व जैन साधुओं की व सम्भवतः दिगंबर परम्परानुसार अंतिम अंग-ज्ञाता धरसेनाचार्य से सम्बन्धित अनुमान की जाती है। धवलाटीका के कर्ता वीरसेनाचार्य ने धरसेनाचार्य को गिरिनगर की चन्द्रगुफा के निवासी कहा है (देखो महाबंध भाग २ प्रस्ता०)। प्रस्तुत गुफासमूह में एक गुफा ऐसी है जो पार्श्वभाग में एक अर्द्धचन्द्राकार विविक्त स्थान से युक्त है। यद्यपि भाषा कार्लो व नासिक की बौद्ध गुफाओं से इस बात में समता रखने के कारण यह एक बौद्ध गुफा अनुमान की जाती है, तथापि यही धवलाकार द्वारा उल्लिखित धरसेनाचार्य की चन्द्रगुफा हो तो आश्चर्य नहीं। (दे बर्जेस एंटीक्विटीज ऑफ कच्छ एंड काठियावाड़ १८७४-७५ पृ १९९ आदि, तथा सांकलिया आर्केओलोजी आफ गुजरात १९४१)। इसी स्थान के समीप ढंक नामक स्थान पर भी गुफाएं हैं जिनमें ऋषभ पार्श्व महावीर आदि तीर्थंकरों की प्रतिमाएं हैं। ये सभी गुफाएं उसी क्षत्रप काल अर्थात् प्र ि छठी की सिद्ध होती है। जैन साहित्य में ढंक पर्वत का अनेक स्थानों पर उल्लेख आया है, व पादलिप्त सूरि के शिष्य नागार्जुन यहीं के निवासी कहे गये हैं। (देखो रा शे कृत प्रबन्धकोष व विविधतीर्थकल्प)।

पूर्व में उदयगिरि खंडगिरि व पश्चिम में जूनागढ़ के पश्चात् देश के मध्यभाग में स्थित उदयगिरि की जैन गुफाएं उल्लेखनीय हैं। यह उदयगिरि मध्यप्रदेश के अन्तर्गत इतिहास-प्रसिद्ध विदिशा नगर से उत्तर-पश्चिम की ओर बेतवा नदी के उस पार दो-तीन मील की दूरी पर है। इस पहाड़ी पर पुरातत्व विभाग द्वारा अंकित या संख्यात २ गुफाएं व मंदिर हैं। इनमें पश्चिम की ओर की प्रथम तथा पूर्व दिशा में स्थित बीसवी ये दो स्पष्ट रूप से जैन गुफाएं हैं। पहली गुफा को कनिंघम ने झूठी गुफा नाम दिया है, क्योंकि वह किसी चट्टान को काटकर नहीं बनाई गई किन्तु एक प्राकृतिक कंदरा है, तथापि ऊपर की प्राकृतिक चट्टान को छत बनाकर नीचे द्वार पर चार खंभे खड़े कर दिये गये हैं, जिससे उसे गुफा-मंदिर की आकृति प्राप्त हो गई है। स्तम्भ घट व पत्रावलि प्रणाली के बने हुए हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आदि में जैन मुनि इसी प्रकार की प्राकृतिक गुफाओं को अपना निवासस्थान बना लेते थे। उस अपेक्षा से यह गुफा भी ई पू काल से ही जैन मुनियों की गुफा रही होगी किन्तु इसका संस्कार गुप्तकाल में हुआ जैसा कि वहां के स्तम्भों आदि की कला तथा गुफा

मे खुदे हुए एक लेख से सिद्ध होता है। इस लेख मे **चन्द्रगुप्त** का उल्लेख है, जिससे गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय का अभिप्राय समझा जाता है, और जिससे उसका काल चौथी शती का अतिम भाग सिद्ध होता है। पूर्व दिशावर्ती बीसवी गुफा मे **पार्श्वनाथ तीर्थंकर** की अतिभव्य मूर्ति विराजमान है। यह अब बहुत कुछ खडित हो गई है, किन्तु उसका नाग-फण अब भी उसकी कलाकृति को प्रकट कर रहा है। यहा भी एक सस्कृत पद्यात्मक लेख खुदा हुआ है, जिसके अनुसार इस मूर्ति की प्रतिष्ठा गुप्त सवत् १०६ (ई० सन्० ४२६, कुमारगुप्त काल) मे कार्तिक कृष्ण पचमी को आचार्य भद्रान्वयी आचार्य गोशर्म मुनि के शिष्य शकर द्वारा की गई थी। इन शकर ने अपना जन्मस्थान उत्तर भारतवर्ती कुरुदेश बतलाया है।

जैन ऐतिहासिक परम्परानुसार अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के काल (ई० पू० चौथी शती) मे हुए थे, और उत्तर भारत मे बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष पडने पर जैन सघ को लेकर दक्षिण भारत मे गये, तथा मैसूर प्रदेशान्तर्गत श्रवण-बेलगोला नामक स्थान पर उन्होंने जैन केन्द्र स्थापित किया। इस समय भारत सम्राट् चन्द्रगुप्त भी राज्यपाट त्यागकर उनके शिष्य हो गये थे, और उन्होने भी श्रवणबेल-गोला की उस पहाडी पर तपस्या की, जो उनके नाम से ही **चन्द्रगिरि** कहलाई। इस पहाडी पर प्राचीन मदिर भी है, जो उन्ही के नाम से **चन्द्रगुप्त बस्ति** कहलाता है। इसी पहाडी पर एक अत्यन्त साधारण व छोटी सी गुफा है, जो **भद्रबाहु की गुफा** के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ने इसी गुफा मे देहोत्सर्ग किया था। वहा उनके चरण-चिन्ह अकित हैं और पूजे जाते हैं। दक्षिण भारत मे यही सबसे प्राचीन जैन गुफा सिद्ध होती है।

महाराष्ट्रप्रदेश मे **उस्मानाबाद** से पूर्वोत्तर दिशा मे लगभग १२ मील की दूरी पर पर्वत मे एक प्राचीन गुफा-समूह है। वे एक पहाडी दर्रे के दोनो पार्श्वों मे स्थित है, चार उत्तर की ओर व तीन दूसरे पार्श्व मे पूर्वोत्तरमुखी। इन गुफाओं मे मुख्य व विशाल गुफा उत्तर की गुफाओ मे दूसरी है। दुर्भाग्यत इसकी ऊपरी चट्टान भग्न होकर गिर पडी है, केवल कुछ बाहरी भाग नष्ट होने से बचा है। उसकी हाल मे मरम्मत भी की गई है। इसका बाहरी बरामदा ७८ × १० ४, फुट है। इसमे छह या आठ खभे हैं, और भीतर जाने के लिये पाच द्वार। भीतर की शाला ८० फुट गहरी है, तथा चौडाई में द्वार की ओर ७९ फुट व पीछे की ओर ८५ फुट है। इसकी छत ३२ स्तम्भो पर आधारित है, और ये खभे चौकोर दो पक्तियो मे बने हुए हैं। छत की ऊचाई लगभग १२ फुट है। इसको दोनो पार्श्व की दीवालो मे आठ-आठ व पीछे

की दीवाल में छह कोठरियां हैं, जो प्रत्येक लगभग ९ फुट चौकोर हैं। ये कोष्ठ ठीक उसी रीति के बने हुए हैं, जैसे प्रायः बौद्ध गुफाओं में भी पाये जाते हैं। पश्चिमोत्तर कोने के कोष्ठ के तलभाग में एक गड्ढा है, जो सदैव पानी से भरा रहता है। शाला के मध्य में पिछले भाग की ओर देवालय है, जो १९.३ × १४ फुट लंबा-चौड़ा व ११ फुट ऊंचा है, जिसमें पार्श्वनाथ तीर्थंकर की भव्य प्रतिमा विराजमान है। शेष गुफाएं अपेक्षाकृत इससे बहुत छोटी हैं। तीसरी व चौथी गुफाओं में भी जिन-प्रतिमाएं विद्यमान हैं। तीसरी गुफा के स्तम्भों की बनावट कलापूर्ण है। बर्जेस साहब के मत से ये गुफाएं अनुमानतः ई पू ५   १२ के बीच की हैं। (आर्के सर्वे ऑफ वेस्टर्न इंडिया को १)

इस गुफा-समूह के संबंध में जैन साहित्यिक परम्परा यह है कि यहां तेरापुर के समीप पर्वत पर महाराज करकंड ने एक प्राचीन गुफा देखी थी। उन्होंने स्वयं यहां अन्य कुछ गुफाएं बनवाईं और पार्श्वनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। उन्होंने जिस प्राचीन गुफा को देखा था उसके तलभाग में एक छिद्र से जलवाहिनी निकली थी जिससे समस्त गुफा भर गई थी। इसका तथा प्राचीन पार्श्वनाथ की मूर्ति का सुन्दर वर्णन कनकामर मुनि कृत अपभ्रंश काव्य 'करकंडचरिउ' में मिलता है, जो ११ वीं शती की रचना है। करकंड का नाम जैन व बौद्ध दोनों परम्पराओं में प्रत्येक बुद्ध के रूप में पाया जाता है। उनका काल जैन मान्यतानुसार, महावीर से पूर्व पार्श्वनाथ के तीर्थ में पड़ता है। इस प्रकार यहां की गुफाओं को जैनी अति प्राचीन (लगभग ई पू ९ वीं शती की) मानते हैं

इतना तो सुनिश्चित है कि ११ वीं शती के मध्यभाग में जब मुनि कनकामर ने करकंडचरिउ लिखा तब तेरापुर (धाराशिव) की गुफा बड़ी विशाल थी और बड़ी प्राचीन समझी जाती थी। तेरापुर के राजा शिव ने करकंड को उसका परिचय इस प्रकार कराया था—

एत्थत्थि देव पच्छिमदिसाहिं। णाइरिगमज्झ पव्वउ रम्मु ताहिं॥
तहिं अत्थि लयणु लयणलावहारि। थंभाहं सहासहिं जं पि धारि॥
(क च ४ ४)।

करकंड उक्त पर्वत पर चढ़े और ऐसे सघन वन में से चले जो सिंह, हाथी, शूकर, मृग व वानरों आदि से भरा हुआ था।

जोयंतरि तहिं सो चडइ जाम। करकंडइं दिट्ठउ लयणु ताम॥
तं हरिसिउ अमर-विमाणु दिट्ठु। करकंडु सराहिउ तहिं पविट्ठु॥

सो धण्णु सलक्खणु हरिय-दभु। जें लयणु कराविउ सहसखभु ॥

(क० च० ४, ५)।

अर्थात् पर्वत पर कुछ ऊपर चढने पर उन्होंने उस लयण (गुफा) को ऐसे देखा जैसे इन्द्र ने देवविमान को देखा हो। उसमे प्रवेश करने पर करकडु के मुख से हठात् निकल पडा कि धन्य है वह सुलक्षण पुण्यवान् पुरुष जिसने यह सहस्रस्तभ लयन वनवाया है।

दक्षिण के तामिल प्रदेश मे भी जैन धर्म का प्रचार व प्रभाव वहुत प्राचीन काल से पाया जाता है। तामिल साहित्य का सबसे प्राचीन भाग 'सगम युग' का माना जाता है, और इस युग की प्राय समस्त प्रधान कृतिया तिरुकुरल आदि जैन या जैनधर्म से सुप्रभावित सिद्ध होती हैं। जैन द्राविडसघ का सगठन भी सुप्राचीन पाया जाता है। अतएव स्वाभाविक है कि इस प्रदेश मे भी प्राचीन जैन सस्कृति के अवशेष प्राप्त हो। जैनमुनियो का एक प्राचीन केन्द्र पुडुकोट्टाइ से वायव्य दिशा मे ९ मील दूर **सित्तन्नवासल** नामक स्थान रहा है। यह नाम **सिद्धाना वास** से अपभ्रष्ट होकर वना प्रतीत होता है। यहा के विशाल शिला-टीलो मे वनी हुई एक जैनगुफा वडी महत्वपूर्ण है। यहा एक ब्राह्मी लिपि का लेख भी मिला है, जो ई० पू० तृतीय शती का (अशोककालीन) प्रतीत होता है। लेख मे स्पष्ट उल्लेख है कि गुफा का निर्माण जैन मुनियो के निमित्त कराया गया था। यह गुफा वडी विशाल १००×५० फुट है। इसमे अनेक कोष्ठक हैं, जिनमे समाधि-शिलाए भी वनी हुई हैं। ये शिलाए ६×४ फुट हैं। वास्तुकला की दृष्टि से तो यह गुफा महत्वपूर्ण है ही, किन्तु उससे भी अधिक महत्व उसकी चित्रकला का है, जिसका विवरण आगे किया जायगा। गुफा का यह सस्कार पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन् (आठवी शती) के काल मे हुआ है।

दक्षिण भारत मे **वादामी** की जैन गुफा उल्लेखनीय है, जिसका निर्माण काल अनुमानत सातवी शती का मध्यभाग है। यह गुफा १६ फुट गहरी तथा ३१×१९ फुट लम्वी-चौडी है। पीछे की ओर मध्य भाग मे देवालय है, और तीनो पार्श्वों की दीवालो मे मुनियो के निवासार्थ कोष्ठक वने हैं। स्तम्भो की आकृति एलीफेन्टा की गुफाओ के सदृश है। यहा चमरधारियो सहित महावीर तीर्थंकर की मूल पद्मासन मूर्ति के अतिरिक्त दीवालो व स्तम्भो पर भी जिनमूर्तिया खुदी हुई हैं। माना जाता है कि राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (८ वी शती) ने राज्य त्यागकर व जैन दीक्षा लेकर इसी गुफा में निवास किया था। गुफा के वरामदो मे एक ओर पार्श्वनाथ व दूसरी ओर वाहुवली की लगभग ७½ फुट ऊची प्रतिमाए उत्कीर्ण हैं।

बादामी तालुके में स्थित ऐहोल नामक ग्राम के समीप पूर्व और उत्तर की ओर गुफाएं हैं, जिनमें भी जैनमूर्तियां विद्यमान हैं। प्रधान गुफाओं की रचना बादामी की गुफा के ही सदृश है। गुफा बरामदा मडप व गर्भगृह में विभक्त है। बरामदे में चार खंभे हैं, और उसकी छत पर मकर, पुष्प आदि की आकृतियां बनी हुई हैं। बाईं भित्ति में पार्श्वनाथ की मूर्ति है, जिसके एक ओर नाग व दूसरी ओर नागिनी स्थित है। दाहिनी ओर चैत्य-वृक्ष के नीचे जिनमूर्ति बनी है। इस गुफा की सहस्त्रफणा युक्त पार्श्वनाथ की प्रतिमा कला की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है। अन्य जैन आकृतियां व चिन्ह भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। सिंह मकर व द्वारपालों की आकृतियां भी कलापूर्ण हैं, और ऐलीफेन्टा की आकृतियों का स्मरण कराती हैं। गुफाओंसे पूर्व की ओर वह मेगुटी नामक जैन मंदिर है जिसमें चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वि॰ शक सं॰ ५५६ (ई॰ ६३४) का उल्लेख है। यह शिलालेख अपनी संस्कृत काव्य शैली के विकास में भी अपना स्थान रखता है। इस लेख के लेखक रविकीर्ति ने अपने को काव्य के क्षेत्र में कालिदास और भारवि की कीर्ति को प्राप्त कहा है। यथार्थतः कालिदास व भारवि के काल-निर्णय में यह लेख बड़ा सहायक हुआ है, क्योंकि इसीसे उनके काल की अन्तिम सीमा प्रामाणिक रूप से निश्चित हुई है। ऐहोल सम्भवतः 'आर्यपुर' का अपभ्रष्ट रूप है।

गुफा-निर्माण की कला एलोरा में अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुई है। यह स्थान यादव नरेशों की राजधानी देवगिरि (दौलताबाद) से लगभग १६ मील दूर है, और वहां का शिलापर्वत अनेक गुफा-मंदिरों से अलंकृत है। यहीं कैलाश नामक शिव मंदिर है जिसकी योजना और शिल्पकला इतिहास प्रसिद्ध है। यहां बौद्ध हिन्दू व जैन तीनों सम्प्रदायों के शैल मंदिर बड़ी सुन्दर प्रणाली के बने हुए हैं। यहां पांच जैन गुफाएं हैं, जिनमें से तीन अर्थात् छोटा कैलाश, इन्द्रसभा व जगन्नाथ सभा कला की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। छोटा कैलाश एक ही पाषाण-शिला को काटकर बनाया गया है और उसकी रचना कुछ छोटे आकार में उपर्युक्त कैलाश मंदिर का अनुकरण करती है। समूचा मंदिर ८० फुट चौड़ा व १३ फुट ऊंचा है। मंडप लगभग ३६ फुट लम्बा-चौड़ा है, और उसमें १६ स्तम्भ हैं। इन्द्रसभा नामक गुफा मंदिर की रचना इस प्रकार है:—पाषाण में बने हुए द्वार से भीतर जाने पर कोई ५ × ५ फुट चौकोर प्रांगण मिलता है जिसके मध्य में एक पाषाण से निर्मित द्राविड़ी शैली का चैत्यालय है। इसके सम्मुख दाहिनी ओर एक हाथी की मूर्ति है व उसके सम्मुख बाईं ओर ३२ फुट ऊंचा ध्वज-स्तंभ है। वहां से घूमकर पीछे की ओर आने पर वह दुतल्ला सभागृह मिलता है जो इन्द्रसभा के नाम से प्रसिद्ध है। दोनों तलों में प्रचुर

चित्रकारी बनी हुई है। नीचे का भाग कुछ अपूर्ण सा रहा प्रतीत होता है, जिससे यह बात भी सिद्ध होती है कि इन गुफाओं का उत्कीर्णन ऊपर से नीचे की ओर किया जाता था। ऊपर की शाला १२ सुखचित स्तम्भो से अलकृत है। शाला के दोनो ओर भगवान् महावीर की विशाल प्रतिमाए हैं, और पार्श्व कक्ष मे इन्द्र व हाथी की मूर्तिया बनी हुई हैं। इन्द्रसभा की एक बाहिरी दीवाल पर पार्श्वनाथ की तपस्या व कमठ द्वारा उनपर किये गये उपसर्ग का बहुत सुन्दर व सजीव उत्कीर्णन किया गया है। पार्श्वनाथ कायोत्सर्ग मुद्रा मे ध्यानस्थ हैं, ऊपर सप्तफणी नाग की छाया है, व एक नागिनी छत्र धारण किये है। दो अन्य नागिनी भक्ति, आश्चर्य व दुख की मुद्रा मे दिखाई देती हैं। एक ओर भैसे पर सवार असुर रौद्र मुद्रा मे शस्त्रास्त्रो सहित आक्रमण कर रहा है, व दूसरी ओर सिह पर सवार कमठ की रुद्र मूर्ति आघात करने के लिये उद्यत है। नीचे की ओर एक स्त्री व पुरुष भक्तिपूर्वक हाथ जोडे खडे हैं। दक्षिण की दीवाल पर लताओं से लिपटी बाहुबलि की प्रतिमा उत्कीर्ण है। ये सब तथा अन्य शोभापूर्ण आकृतिया अत्यन्त कलापूर्ण हैं। अनुमानत इन्द्रसभा की रचना तीर्थंकर के जन्म कल्याणकोत्सव की स्मृति मे हुई है, जबकि इन्द्र अपना ऐरावत हाथी लेकर भगवान् का अभिषेक करने जाता है। इन्द्रसभा की रचना के सबध मे पर्सी ब्राउन साहब ने कहा है कि "इसकी रचना ऐसी सर्वांगपूर्ण, तथा शिल्पकला की चातुरी इतनी उत्कृष्ट है कि जितनी एलोरा के अन्य किसी मदिर मे नही पाई जाती। भित्तियो पर आकृतियो का उत्कीर्णन ऐसा सुन्दर तथा स्तम्भो का विन्यास ऐसे कौशल से किया गया है कि उसका अन्यत्र कोई दूसरा उदाहरण नही मिलता।"

इन्द्रसभा के समीप ही जगन्नाथ सभा नामक चैत्यालय है, जिसका विन्यास इन्द्रसभा के सदृश ही है, यद्यपि प्रमाण मे उससे छोटा है। द्वार का तोरण कलापूर्ण है। चैत्यालय मे सिहासन पर महावीर तीर्थंकर की पद्मासन मूर्ति है। दीवालो व स्तम्भो पर प्रचुरता से नाना प्रकार की सुन्दर मूर्तिया बनी हुई हैं। किन्तु अपने रूप मे सौन्दर्यपूर्ण होने पर भी सतुलन व सौष्ठव की दृष्टि से जो उत्कर्ष इन्द्रसभा की रचना मे दिखाई देता है, वह यहा व अन्यत्र कही भी नही है। इन गुफाओ का निर्माणकाल ८०० ई० के लगभग माना जाता है। बस, इस उत्कर्ष पर पहुचकर केवल जैन-परम्परा मे ही नही, किन्तु भारतीय परम्परा मे गुफा निर्माण कला का विकास समाप्त हो जाता है, और स्वतत्र मदिर निर्माण की कला उसका स्थान ग्रहण करती है।

नवमी शती का एक शिलामदिर **दक्षिण त्रावणकोर में** त्रिवेन्द्रमनगरकोइल मार्ग पर स्थित कुजीयुर नामक ग्राम से पाच मील उत्तर की ओर पहाडी पर है, जो

अब भी भगवती मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। यह मंदिर पहाड़ी पर स्थित एक विशाल शिला को काटकर बनाया गया है और सामने की ओर तीन ओर पाषाण-निर्मित भित्तियों से उसका विस्तार किया गया है। शिला के पृष्ठ-भाग के दोनों प्रकोष्ठों में विशाल पद्मासन जिनमूर्तियां सिंहासन पर प्रतिष्ठित हैं। शिला का समस्त आभ्यंतर व बाह्य भाग जैन तीर्थंकरों की कोई ३० उत्कीर्ण प्रतिमाओं से अलंकृत है। कुछ के नीचे केरल की प्राचीन लिपि वट्टेळुत्तु में लेख भी हैं, जिनसे उस स्थान का जैनत्व तथा निर्मितिकाल नौवीं शती सिद्ध होता है। यत्र-तत्र जो भगवती देवी की मूर्तियां उत्कीर्ण हैं वे स्पष्टतः उत्तरकालीन हैं। (इं० एण्टी० ८।१ पृ० २९)

अंकाई-तंकाई नामक गुफा-समूह येवला तालुके में मनमाड रेलवे जंक्शन से नौ मील दूर अंकाई नामक स्टेशन के समीप स्थित है। लगभग तीन हजार फुट ऊंची पहाड़ियों में सात गुफाएं हैं जो हैं तो छोटी-छोटी किन्तु कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। प्रथम गुफा में बरामदा, मंडप व गर्भगृह हैं। सामने के भाग के दोनों खंभों पर द्वारपाल उत्कीर्ण हैं। मंडप का द्वार मधुर आकृतियों से पूर्ण है। अंकन बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है। वर्गाकार मंडप चार स्तम्भों पर आधारित है। गर्भगृह का द्वार भी शिल्पपूर्ण है। गुफा दुतल्ली है, व ऊपर के तल्ले पर भी शिल्पकारी पाई जाती है। दूसरी गुफा भी दुतल्ली है। नीचे का बरामदा २३ × ११ फुट है। उसके दोनों पार्श्वों में स्तंभ पाषाण की मूर्तियां हैं जिनमें इन्द्र-इन्द्राणी भी हैं। सीढ़ियों से होकर दूसरे तल पर पहुंचते ही दोनों पार्श्वों में विशाल सिंहों की आकृतियां मिलती हैं। गर्भगृह ६ × ९ फुट है। तीसरी गुफा के मंडप की छतपर कमल की आकृति बड़ी सुन्दर है। उसकी पंखुड़ियां चार कतारों में दिखाई गई हैं, और उन पंखुड़ियों पर देवियां वाद्य सहित नृत्य कर रही हैं। देव-देवियों के अनेक युगल नाना वाहनों पर आरूढ़ हैं। स्पष्टतः यह दृश्य तीर्थंकर के जन्मकल्याणक के उत्सव का है। गर्भगृह में मनुष्याकृति शांतिनाथ व उनके दोनों ओर पार्श्वनाथ की मूर्तियां हैं। शांतिनाथ के सिंहासन पर उनका मृग लांछन, धर्मचक्र व भक्त और सिंह की आकृतियां बनी हैं। कोनों के ऊपर से विद्याधर और उनसे भी ऊपर गजलक्ष्मी की आकृतियां हैं। ऊपर से गंधर्वों के जोड़े पुष्पवृष्टि कर रहे हैं। सबसे ऊपर तोरण बना है। चौथी गुफा का बरामदा १ × ८ फुट है, एवं मंडप १८ फुट ऊंचा व २४ × २४ फुट लंबा-चौड़ा है। बरामदे के एक स्तम्भ पर लेख भी है, जो पढ़ा नहीं जा सका; किन्तु लिपि पर से ११ वीं शती का अनुमान किया जाता है। शैली आदि अन्य बातों पर से भी इन गुफाओं का निर्माण-काल यही प्रतीत होता है। शेष गुफाएं ध्वस्त अवस्था में हैं।

यद्यपि गुफा-निर्माण कला का युग बहुत पूर्व समाप्त हो चुका था, तथापि जैनी १५ वीं शती तक भी गुफाओं का निर्माण कराते रहे। इसके उदाहरण हैं तोमर राजवंश कालीन ग्वालियर की जैन गुफाएं। जिस पहाड़ी पर ग्वालियर का किला बना हुआ है, वह कोई दो मील लम्बी, आधा मील चौड़ी, तथा ३०० फुट ऊंची है। किले के भीतर स्थित सास-बहू का मंदिर सन् १०९३ का बना हुआ है, और आदित जैन मंदिर रहा है। किन्तु इस पहाड़ी में जैन गुफाओं का निर्माण १५ वीं शती में हुआ पाया जाता है। सम्भवतः यहां गुफा-निर्माण की प्राचीन परम्परा भी रही होगी, और वर्तमान में पाई जाने वाली कुछ गुफाएं १५ वीं शती से पूर्व की हों तो आश्चर्य नहीं। किन्तु १५ वीं शती में तो जैनियों ने समस्त पहाड़ी को ही गुफामय कर दिया है। पहाड़ी के ऊपर, नीचे व चारों ओर जैन गुफाएं विद्यमान हैं। इन गुफाओं में वह योजना-चातुर्य व शिल्प-सौष्ठव नहीं है जो हम पूर्वकालीन गुफाओं में देख चुके हैं। परन्तु इन गुफाओं की विशेषता है उनकी संख्या, विस्तार व मूर्तियों की विशालता। गुफाएं बहुत बड़ी-बड़ी हैं, व उनमें तीर्थंकरों की लगभग ६० फुट तक ऊंची प्रतिमाएं देखने को मिलती हैं। उर्वाही द्वार पर के प्रथम गुफा-समूह में लगभग २५ विशाल तीर्थंकर मूर्तियां हैं, जिनमें से एक ५७ फुट ऊंची है। आदिनाथ व नेमिनाथ की ३० फुट ऊंची मूर्तियां हैं। अन्य छोटी-बड़ी प्रतिमाएं भी हैं, किन्तु उनकी रचना व अलंकरण आदि में कोई सौन्दर्य व लालित्य नहीं दिखाई देता। यहां से आधा मील ऊपर की ओर दूसरा गुफा-समूह है, जहां २० से ३० फुट तक की अनेक मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। बावड़ी के समीप के एक गुफापुंज में पार्श्वनाथ की २० फुट ऊंची पद्मासन मूर्ति, तथा अन्य तीर्थंकरों की कायोत्सर्ग मुद्रायुक्त अनेक विशाल मूर्तियां हैं। इसी के समीप यहां की सबसे विशाल गुफा है, जो यथार्थतः मंदिर ही कही जा सकती है। यहां की प्रधान मूर्ति लगभग ६० फुट ऊंची है। इन गुफा-मंदिरों में अनेक शिलालेख भी मिले हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि इन गुफाओं की खुदाई सन् १४४१ से लेकर १४७४ तक ३३ वर्षों में पूर्ण हुई। यद्यपि कला की दृष्टि से ये गुफाएं अवनति की सूचक हैं, तथापि इतिहास की दृष्टि से उनका महत्व है। इनके अतिरिक्त अन्य भी सैकड़ों जैन गुफाएं देश भर के भिन्न-भिन्न भागों की पहाड़ियों में यत्र-तत्र बिखरी हुई पाई जाती हैं। इनमें से अनेक का ऐतिहासिक व कला की दृष्टि से महत्व भी है, किन्तु उनका इन दृष्टियों से पूर्ण अध्ययन किया जाना शेष है। स्टैला क्रैमरिश के मतानुसार, देश में १२०० पाषाणोत्कीर्ण मंदिर पाये जाते हैं, जिनमें से ९०० बौद्ध, १०० हिन्दू और २०० जैन गुफा मंदिर हैं। (हिन्दू टेम्पिल्स, पृ० १६८)।

जैन मन्दिर

भारतीय वास्तुकला का विकास पहले स्तूप-निर्माण में फिर गुफा चैत्यों व विहारों में और तत्पश्चात् मंदिरों के निर्माण में पाया जाता है। स्तूपों व गुफाओं का विकास जैन परम्परा में किस प्रकार हुआ यह ऊपर देखा जा चुका है। किन्तु वास्तुकला ने मंदिरों के निर्माण में ही अपना चरम उत्कर्ष प्राप्त किया है। इन मन्दिरों के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण ११ वीं शती व उसके पश्चात् काल के उपलब्ध हैं। इन मन्दिरों के निर्माण में अभिव्यक्त योजना व शिल्प के चातुर्य की ओर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि इन मन्दिरों का निर्माण बिना उनकी दीर्घकालीन पूर्व परम्परा के नहीं हो सकता। पाषाण को काटकर गुफा-चैत्यों के निर्माण की कला का परमोत्कर्ष हम एलोरा की गुफाओं में देख चुके हैं। कहा जा सकता है कि उसी के आधार पर आगे स्वतंत्र मन्दिरों के निर्माण की परम्परा चली। किन्तु उस कला से स्वतंत्र संरचनात्मक (स्ट्रक्चरल) मन्दिरों के शिल्प में बड़ा भेद है, जिसके विकास में भी अनेक शतियां व्यतीत हुई होंगी। इस सम्बन्ध में उक्त काल से प्राचीनतर मंदिरों का अभाव बहुत खटकता है।

प्राचीनतम बौद्ध व हिन्दू मन्दिरों के निर्माण की जो पांच शैलियां निश्चित की गई हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) समतल छत वाले चौकोर मन्दिर, जिनके सम्मुख एक द्वारमंडप रहता है। (२) द्वारमंडप व समतल छत वाले वे चौकोर मन्दिर जिनके गर्भगृह के चारों ओर प्रदक्षिणा भी बनी रहती है। ये मन्दिर कभी कभी दुतल्ले भी बनते थे। (३) चौकोर मन्दिर जिनके ऊपर छोटा व चपटा शिखर भी बना रहता है। (४) वे लम्बे चतुष्कोण मन्दिर जिनका पिछला भाग अर्द्धवृत्ताकार रहता है, व छत कोठी (बैरल) के आकार का बनता था (५) वे वृत्ताकार मन्दिर जिनकी पीठिका चौकोर होती है।

इन शैलियों में से चतुर्थ शैली का विकास बौद्धों की चैत्यशालाओं से व पांचवीं का स्तूप रचना से माना जाता है। चतुर्थ शैली के उदाहरण उसमानाबाद जिले के तेर नामक स्थान के मन्दिर व चेजरला (कृष्णा जिला) के कपोतेश्वर मन्दिर में पाये जाते हैं। ये चौथी पांचवीं शती के बने हैं, और आकार में छोटे हैं। इस शैली के दो अवान्तर भेद किये जाते हैं, एक नागर व दूसरा द्राविड़ जो आगे चलकर विशेष विकसित हुए किन्तु जिनके बीज उपर्युक्त उदाहरणों में ही पाये जाते हैं। पांचवीं शैली का उदाहरण राजगृह के मणियार मठ (मणिनाग का मंदिर) में मिलता है। प्रथम शैली

के वने हुए मदिर साची, तिगवा और ऐरण मे विद्यमान है। दूसरी शैली के उदाहरण हैं—नाचना-कुठारा का पार्वती मदिर तथा भूमरा (म० प्र०) का शिवमदिर(५-६वी शती) आदि। इसी शैली का उपर्युक्त ऐहोल का मेघुटी मदिर है। तीसरी शैली के उदाहरण हैं—देवगढ (जिला झासी) का दशावतार मदिर तथा भीतरगाव (जिला कानपुर) का मदिर व वोध गया का महावोधि मदिर, जिस रूप मे कि उसे चीनी यात्री ह्वेन्त्साग ने देखा था। ये मदिर छठी शती के अनुमान किये जाते हैं।

जैन आयतन, चैत्यगृह, विव और प्रतिमा, व तीर्थ आदि के प्रचुर उल्लेख प्राचीन-तम जैन शास्त्रो मे पाये जाते हैं (कुदकुद वोधपाहुड, ६२, आदि) दिगम्बर परम्परा की नित्य पूजा-वन्दना मे उन सिद्धक्षेत्रो को नमन करने का नियम है जहा से जैन तीर्थकरो व अन्य प्रख्यात मुनियो ने निर्वाण प्राप्त किया। निर्वाणकाड नामक प्राकृत नमन-स्तोत्र मे निम्न सिद्धक्षेत्रो को नमस्कार किया गया है—

	सिद्ध क्षेत्र	ज्ञात नाम व स्थिति	किसका निर्वाण हुआ
१	अष्टापद	कैलाश (हिमालय मे)	प्र तीर्थंकर ऋषभ, नागकुमार, व्याल-महाव्याल
२	चम्पा	भागलपुर (विहार)	१२वे तीर्थं० वासुपूज्य
३	ऊजयन्त	गिरनार (काठियावाड)	२२वें तीर्थं० नेमिनाथ, प्रद्युम्न, शम्वु, अनिरुद्ध
४	पावा	पावापुर (पटना, विहार)	२४वें तीर्थं० महावीर
५	सम्मेदशिखर	पारसनाथ (हजारीवाग, विहार)	शेष २० तीर्थंकर
६	तारनगर	तारगा	वरदत्त, वराग, सागरदत्त
७	पावागिरि	ऊन (खरगोन, म प्र)	लाट नरेन्द्र, सुवर्णभद्रादि
८	शत्रुजय	काठियावाड	पाडव व द्रविड नरेन्द्र
९	गजपथ	नासिक (महाराष्ट्र)	वलभद्र व अन्य यादव नरेन्द्र
१०	तुगीगिरि	मागीतुगी (महाराष्ट्र)	राम, हनु, सुग्रीव, गवय, गवाक्ष, नील, महानील
११	सुवर्णगिरि	सोनागिर (झासी, उ प्र)	नग-अनगकुमार
१२	रेवातट	ओकार मान्धाता (म प्र)	रावण के पुत्र
१३	सिद्धवरकूट	,, ,,	दो चक्रवर्ती
१४	चूलगिरि	वावनगजा (वडवानी, म प्र)	इन्द्रजित्, कुभकर्ण

जैन मन्दिर

भारतीय वास्तुकला का विकास पहले स्तूप-निर्माण में फिर गुफा चैत्यों व विहारों में और तत्पश्चात् मंदिरों के निर्माण में पाया जाता है। स्तूपों व गुफाओं का विकास जैन परम्परा में किस प्रकार हुआ यह ऊपर देखा जा चुका है। किन्तु वास्तुकला ने मंदिरों के निर्माण में ही अपना चरम उत्कर्ष प्राप्त किया है। इन मन्दिरों के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण ११ वीं शती व उसके पश्चात् काल के उपलब्ध हैं। इन मन्दिरों के निर्माण में अभिव्यक्त योजना व शिल्प के चातुर्य की ओर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि इन मन्दिरों का निर्माण बिना उनकी दीर्घकालीन पूर्व परम्परा के नहीं हो सकता। पाषाण को काटकर गुफा-चैत्यों के निर्माण की कला का चरमोत्कर्ष हम एलोरा की गुफाओं में देख चुके हैं। कहा जा सकता है कि उसी के आधार पर आगे स्वतंत्र मन्दिरों के निर्माण की परम्परा चली। किन्तु उस कला से स्वतंत्र संरचनात्मक (स्ट्रक्चरल) मन्दिरों के शिल्प में बड़ा भेद है, जिसके विकास में भी अनेक शतियां व्यतीत हुई होंगी। इस सम्बन्ध में उक्त काल से प्राचीनतर मंदिरों का अभाव बहुत खटकता है।

प्राचीनतम बौद्ध व हिन्दू मन्दिरों के निर्माण की जो पांच शैलियां नियत की गई हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) समतल छत वाले चौकोर मन्दिर, जिनके सम्मुख एक द्वारमंडप रहता है। (२) द्वारमंडप व समतल छत वाले वे चौकोर मन्दिर जिनके गर्भगृह के चारों ओर प्रदक्षिणा भी बनी रहती है। ये मन्दिर कभी कभी दुतल्ले भी बनते थे। (३) चौकोर मन्दिर जिनके ऊपर छोटा व चपटा शिखर भी बना रहता है। (४) वे लम्बे चतुष्कोण मन्दिर जिनका पिछला भाग अर्धवृत्ताकार रहता है, व छत कोठी (बैरल) के आकार का बनता था (५) वे वृत्ताकार मन्दिर जिनकी पीठिका चौकोर होती है।

इन शैलियों में से चतुर्थ शैली का विकास बौद्धों की चैत्यशालाओं से व पांचवीं का स्तूप रचना से माना जाता है। चतुर्थ शैली के उदाहरण उसमानाबाद जिले के तेर नामक स्थान के मन्दिर व चेज़रला (कृष्णा जिला) के कपोतेश्वर मन्दिर में पाये जाते हैं। ये चौथी पांचवीं शती के बने हैं और आकार में छोटे हैं। इस शैली के दो अवान्तर भेद किये जाते हैं, एक नागर व दूसरा द्राविड़ जो आगे चलकर विशेष विकसित हुए किन्तु जिनके बीज उपर्युक्त उदाहरणों में ही पाये जाते हैं। पांचवीं शैली का उदाहरण राजगृह के मणियार मठ (मणिनाग का मंदिर) में मिलता है। प्रथम शैली

योजना व शिल्प का पूर्णज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

यह मन्दिर गुप्त व चालुक्य काल के उक्त शैलियो सबन्धी अनेक उदाहरणो मे सबसे पश्चात् कालीन है। अतएव स्वभावत इसकी रचना मे वह शैली अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुई पाई जाती है। इसके तत्र व स्थापत्य में एक विशेष उन्नति दिखाई देती है, तथा पूर्ण मन्दिर की कलात्मक सयोजना मे ऐसा सस्कार व लालित्य दृष्टिगोचर होता है जो अन्यत्र नही पाया जाता। इसकी भित्तियो का वाह्य भाग मकरे स्तम्भाकार प्रक्षेपो मे अलकृत है और ये स्तम्भ भी कोष्ठकाकार शिखरो से सुशोभित किये गये हैं। स्तम्भो के वीच का भित्ति भाग भी नाना प्रकार की आकृतियो से अलकृत करने का प्रयत्न किया गयाहै। मन्दिर की समस्त योजना ऐसी सतुलित व सुसगठित है कि उसमे पूर्वकालीन अन्य सब उदाहरणो से एक विशेष प्रगति हुई स्पष्ट प्रतीत होती है। मन्दिर लम्बा चतुष्कोण आकृति का है और उसके दो भाग हैं एक प्रदक्षिणा सहित गर्भगृह व दूसरा द्वारमडप। मडप स्तम्भो पर आधारित है, और मूलत सब ओर से खुला हुआ था, किन्तु पीछे दीवालो से घेर दिया गया है। मडप और गर्भगृह एक सकरे दालान से जुडे हुए हैं। इस प्रकार अलकृति मे यह मदिर अपने पूर्वकालीन उदाहरणो मे स्पष्टत वहुत वढा-चढा है, तथा अपनी निर्मिति की अपेक्षा अपने आगे की वास्तुकला के इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालने वाला सिद्ध होता है।

गुप्त व चालुक्य युग से पश्चात्कालीन वास्तुकला की शिल्प-शास्त्रो मे तीन शैलिया निर्दिष्ट की गई हैं—नागर, द्राविड और वेसर। सामान्यत नागरशैली उत्तर भारत मे हिमालय से विन्ध्य पर्वत तक प्रचलित हुई। द्राविड दक्षिण मे कृष्णानदी से कन्याकुमारी तक, तथा वेसर मध्य-भारत मे विन्ध्य पर्वत और कृष्णानदी के वीच। किन्तु यह प्रादेशिक विभाग कडाई से पालन किया गया नही पाया जाता। प्राय सभी शैलियो के मन्दिर सभी प्रदेशो मे पाये जाते हैं, तथापि आकृति-वैशिष्ट्य को समझने के लिये यह शैली-विभाजन उपयोगी सिद्ध हुआ है। यद्यपि शास्त्रो मे इन शैलियो के भेद विन्यास, निर्मिति तथा अलकृति की छोटी छोटी वातो तक का निर्दिष्ट किया गया है, तथापि इनका स्पष्ट भेद तो शिखर की रचना मे ही पाया जाता है। **नागरशैली** का शिखर गोल आकार का होता है, जिसके अग्रभागपर कलशाकृति वनाई जाती है। आदि मे सम्भवत इसप्रकार का शिखर केवल वेदी के ऊपर रहा होगा, किन्तु कमश उसका इतना विस्तार हुआ कि समस्त मन्दिर की छत इसी आकार की वनाई जाने लगी। यह शिखराकृति औरो की अपेक्षा अधिक प्राचीन व महत्वपूर्ण मानी गई है। इससे भिन्न **द्राविड** शैली का मन्दिर एक स्तम्भाकृति

१५ प्रीशागिरि — फमहोड़ी (फसौदी राजस्थान) पुष्पदत्तादि
१६ मेढ़गिरि — मुक्तागिर (बैतूल म प्र) साढ़े तीन कोटि मुनि
१७ कुंथलगिरि — धाराशिव (महाराष्ट्र) कुलभूषण देशभूषण
१८ कोटिशिला — कलिंगदेश (?) यशोधर राजा के पुत्र
१९ रेशिंदागिरि — (?) वरदत्तादि पांच मुनि पार्श्वनाथ काल के

इनके अतिरिक्त प्राकृत प्रतिक्रमण-क्षेत्रकांड में मंगलापुर, प्रस्सारम्य पोदनपुर, वाराणसी मथुरा अहिच्छत्र जम्बूवन निवडकुंडली होलागिरि और गोम्मटेश्वर की वन्दना की गई है। इन सभी स्थानों पर, जहां तक उनका पता चल सका है एक व अनेक जिनमन्दिर, नाना काल के निर्मापित तीर्थंकरों के चरण-चिन्हों व प्रतिमाओं सहित आज भी पाये जाते हैं और प्रतिवर्ष सहस्रों यात्री उनकी वन्दना कर अपने को धन्य समझते हैं।

सबसे प्राचीन जैन मंदिर के चिन्ह बिहार में पटना के समीप लोहानीपुर में पाये गये हैं जहां कुमराहर और बुलंदीबाग की मौर्यकालीन कला-कृतियों की परम्परा के प्रमाण मिले हैं। यहां एक जैन मंदिर की नींव मिली है। यह मंदिर ८ १ फुट वर्गाकार था। यहां की ईंटें मौर्यकालीन सिद्ध हुई हैं। यहीं से एक मौर्यकालीन रजत सिक्का तथा दो मस्तकहीन जिनमूर्तियां मिली हैं, जो अब पटना संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

वर्तमान में सबसे प्राचीन जैन मंदिर जिसकी रूप रेखा सुरक्षित है व निर्माण काल भी निश्चित है, वह है दक्षिण भारत में बादामी के समीप ऐहोल का मेगुटी नामक जैन मंदिर जो कि वहां से उपलब्ध शिलालेखानुसार शक संवत् ५५६ (ई ६३४) में पश्चिमी चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय के राज्यकाल में रविकीर्ति द्वारा बनवाया गया था। ये रविकीर्ति मंदिर-योजना में ही नहीं किन्तु काव्य-योजना में भी अति प्रवीण और प्रतिभाशाली थे। यह बात उक्त शिलालेख की काव्य-रचना से तथा उसमें उनकी इस स्वयं उक्ति से प्रमाणित होती है कि उन्होंने कविता के क्षेत्र में कालिदास व भारवि की कीर्ति प्राप्त की थी। इस उल्लेख से न केवल हमें रविकीर्ति की काव्य प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है किन्तु उससे उक्त दो महा-कवियों के काल-निर्णय में बड़ी सहायता मिली है क्योंकि इससे उनके काल की अन्तिम सीमा सुनिश्चित हो जाती है। यह मंदिर अपने पूर्ण रूप में सुरक्षित नहीं रह सका। उसका बहुत कुछ अंश ध्वस्त हो चुका है। तथापि उसका इतना भाग फिर भी सुरक्षित है कि जिससे उसकी

वाहुवली मदिर ध्वस्त अवस्था मे विद्यमान है। किन्तु उसका गर्भगृह, सुखनासी, मडप व सुन्दर सोपान-पथ तथा गर्भगृह के भीतर की सुन्दर मूर्ति अब भी दर्शनीय हैं। इस काल की कला का पूर्ण परिचय कराने वाला वह पचकूट वस्ति नामक मदिर है जो ग्राम के उत्तरी वाह्य भाग मे स्थित है। एक छोटे से द्वार के भीतर आगरण मे पहुचने पर हमे एक विशाल स्तम्भ के दर्शन होते हैं, जिसपर प्रचुरता से सुन्दर चित्रकारी की गई है। आगे मुख्य मदिर के गर्भालय मे एक स्तम्भमय मडप से होकर पहुचा जाता है। मडप मे भी जैन देविया व यक्षिणिया स्थापित हैं। गर्भगृह के दोनो पार्श्वों मे भी दो अपेक्षाकृत छोटी भित्तिया हैं। इस मदिर से उत्तर की ओर वह छोटा सा पार्श्वनाथ मदिर है जिसकी छत की चित्रकारी मे हमे तत्कालीन दक्षिण भारतीय शैली का सर्वोत्कृष्ट और अद्‌भुत स्वरूप देखने को मिलता है। इसी के सम्मुख चन्द्रनाथ मदिर है, जो अपेक्षाकृत पीछे का वना है।

तीर्थहल्लि से अगुम्बे की ओर जाने वाले मार्ग पर गुड्ड नामक तीन हजार फुट से अधिक ऊची एक पहाडी है, जिस पर अनेक ध्वसावशेष दृष्टिगोचर होते हैं, और उस स्थान को एक प्राचीन जैन तीर्थ सिद्ध करते है। एक पार्श्वनाथ मन्दिर अब भी इस पहाडी पर शोभायमान है, जो आसपास की सुविस्तृत पर्वत श्रेणियो व उर्वरा घाटियो को भव्यता प्रदान कर रहा है। पर्वत के शिखर पर एक प्राकृतिक जलकुड के तट पर इस मदिर का उच्च अधिष्ठान है। द्वार सुन्दरता से उत्कीर्ण है। सम्मुख मानस्तम्भ है। मडप के स्तम्भ भी चित्रमय हैं, तथा गर्भगृह मे पार्श्वनाथ की विशाल कायोत्सर्ग मूर्ति है जिसे एक दीर्घकाय नाग लपेटे हुए है, और ऊपर अपने सप्तमुखी फरण की छाया किये हुए है। मूर्ति के शरीर पर नाग के दो लपेटे स्पष्ट दिखाई देते हैं, जैसा अन्यत्र प्राय नही देखा जाता। पहाड के नीचे उतरते-हुए हमे जैन मदिरो के ध्वसावशेष मिलते हैं। तीर्थकरो की सुन्दर मूर्तिया व चित्रकारी-युक्त पाषाण-खड प्रचुरता से यत्र-तत्र विखरे दिखाई देते हैं, जिनसे इस स्थान का प्राचीन समृद्ध इतिहास आखो के सम्मुख झूल जाता है।

धारवाड जिले मे गडग रेलवे स्टेशन से सात मील दक्षिण-पूर्व की ओर लकुडी (लौकिक गुडी) नामक ग्राम है, जहा दो सुन्दर जैन मन्दिर हैं। इनमे के वडे मदिर में सन् ११७२ ई० का शिलालेख है। यह भी ऐहोल व पट्टदकल के मदिरो के समान विशाल पाषाण-खडो से विना किसी चूने-सीमेन्ट के निर्मित किया गया है। नाना भूमिकाओं द्वारा ऊपर को उठता हुआ द्राविडी शिखर सुस्पष्ट है। यहा खुरहरे रेतीले पत्थर का नही, किन्तु चिकने काले पत्थर का उपयोग किया गया, और इस

ग्रहण करता है जो ऊपर की ओर क्रमशः चारों ओर सिकुड़ता जाता है, और ऊपर जाकर एक स्तूपिका का आकार ग्रहण कर लेता है। ये छोटी-छोटी स्तूपिकाएं व शिखराकृतियां उसके नीचे के तलों के कोणों पर भी स्थापित की जाती हैं जिससे मन्दिर की बाह्याकृति शिखरमय दिखाई देने लगती है। बेसर शैली के शिखर की आकृति वर्तुलाकार ऊपर को उठकर अग्रभाग पर चपटी ही रह जाती है जिससे वह कोठी के आकार का दिखाई देता है। यह शैली स्पष्टतः प्राचीन चैत्यों की आकृति का अनुसरण करती है। आगामी काल के हिन्दू व जैन मन्दिर इन्हीं शैलियों, और विशेषतः नागर व द्राविड़ शैलियों पर बने पाये जाते हैं।

ऐहोल का मेघुटी जैन मंदिर द्राविड़ शैली का सर्व प्राचीन कहा जा सकता है। इसी प्रकार का दूसरा जैन मंदिर इसी के समीप पट्टदकल ग्राम से पश्चिम की ओर एक मील पर स्थित है। इसमें किसी प्रकार का उत्कीर्णन नहीं है, व प्रांगण का घेरा पूरा बन भी नहीं पाया है। किन्तु शिखर का निर्माण स्पष्टतः द्राविड़ी शैली का है जो क्रमशः सिकुड़ती हुई भूमिकाओं द्वारा ऊपर को उठता गया है। क्रमोन्नत भूमिकाओं की कपोत-पालियों में उसकी रूपरेखा का वही आकार-प्रकार अभिव्यक्त होता गया है। सबसे ऊपर सुन्दर स्तूपिका बनी है। इस मंदिर के निर्माण का काल भी वही ७ वीं ८वीं शती है। यही शैली मद्रास से ३२ मील दक्षिण की ओर समुद्रतट पर स्थित मामल्लपुर के सुप्रसिद्ध रथों के निर्माण में पाई जाती है। वे भी प्रायः इसी काल की कृतियां हैं।

द्राविड़ शैली का आगामी विकास हमें दक्षिण के नाना स्थानों में पूर्ण व ध्वस्त अवस्था में वर्तमान अनेक जैन मंदिरों में दिखाई देता है। इनमें से यहां केवल कुछ का ही उल्लेख करना पर्याप्त है। तीर्थहल्लि के समीप हुंबच एक अति प्राचीन जैन केन्द्र रहा है व सन् ८९७ के एक लेख में वहां के मंदिर का उल्लेख है। किन्तु वहां के अनेक मंदिर ११ वीं शती में वीरसान्तर आदि सान्तरवंशी राजाओं द्वारा निर्मापित पाये जाते हैं। इनमें वही द्राविड़ शैली वही अलंकरणरीति तथा सुन्दरता से उत्कीर्ण स्तम्भों की सत्ता पाई जाती है जो इस काल की विशेषता है। जैन मठ के समीप आदिनाथ का मंदिर विशेष उल्लेखनीय है। यह दुतल्ला है, जिसका ऊपरी भाग अभी कुछ काल पूर्व टीन के तख्तों से ढक दिया गया है। बाहरी दीवालों पर अनुरूप आकृतियां उत्कीर्ण हैं। किन्तु ये बहुत कुछ घिस व टूट फूट गई हैं। ऊपर के तल्ले पर जाने से मंदिर का शिखर अब भी देखा जा सकता है। इस मंदिर में दक्षिण भारतीय शैली की कांस्य मूर्तियों का अच्छा संग्रह है। इसी मंदिर के समीप की पहाड़ी पर

वाहुवली मदिर ध्वस्त अवस्था मे विद्यमान है । किन्तु उसका गर्भगृह, सुखनासी, मडप व सुन्दर सोपान-पथ तथा गर्भगृह के भीतर की सुन्दर मूर्ति अब भी दर्शनीय हैं । इस काल की कला का पूर्ण परिचय कराने वाला वह पंचकूट वस्ति नामक मदिर है जो ग्राम के उत्तरी वाह्य भाग मे स्थित है । एक छोटे मे द्वार के भीतर प्रागण मे पहुचने पर हमे एक विशाल स्तम्भ के दर्शन होते हैं, जिसपर प्रचुरता से सुन्दर चित्रकारी की गई है। आगे मुख्य मदिर के गर्भालय मे एक स्तम्भमय मडप से होकर पहुचा जाता है। मडप मे भी जैन देविया व यक्षिणिया स्थापित हैं । गर्भगृह के दोनो पार्श्वों मे भी दो अपेक्षाकृत छोटी भित्तिया है। इस मदिर से उत्तर की ओर वह छोटा सा पार्श्वनाथ मदिर है जिसकी छत की चित्रकारी मे हमे तत्कालीन दक्षिण भारतीय शैली का सर्वोत्कृष्ट और अद्‌भुत स्वरूप देखने को मिलता है । इसी के सम्मुख चन्द्रनाथ मदिर है, जो अपेक्षाकृत पीछे का वना है ।

तीर्थहल्लि से अगुम्वे की ओर जाने वाले मार्ग पर गुड्ड नामक तीन हजार फुट से अधिक ऊची एक पहाडी है, जिस पर अनेक ध्वसावशेप दृष्टिगोचर होते हैं, और उस स्थान को एक प्राचीन जैन तीर्थ सिद्ध करते है । एक पार्श्वनाथ मन्दिर अव भी इस पहाडी पर शोभायमान है, जो आसपास की सुविस्तृत पर्वत श्रेणियो व उर्वरा घाटियो को भव्यता प्रदान कर रहा है । पर्वत के शिखर पर एक प्राकृतिक जलकुड के तट पर इस मदिर का उच्च अधिष्ठान है। द्वार सुन्दरता से उत्कीर्ण है । सम्मुख मानस्तम्भ हैं। मडप के स्तम्भ भी चित्रमय हैं, तथा गर्भगृह मे पार्श्वनाथ की विशाल कायोत्सर्ग मूर्ति है जिसे एक दीर्घकाय नाग लपेटे हुए है, और ऊपर अपने सप्तमुखी फण की छाया किये हुए है । मूर्ति के शरीर पर नाग के दो लपेटे स्पष्ट दिखाई देते हैं, जैसा अन्यत्र प्राय नही देखा जाता । पहाड के नीचे उतरते-हुए हमे जैन मदिरो के ध्वसावशेप मिलते हैं । तीर्थंकरो की सुन्दर मूर्तिया व चित्रकारी-युक्त पापाण-खड प्रचुरता से यत्र-तत्र विखरे दिखाई देते हैं, जिनसे इस स्थान का प्राचीन समृद्ध इतिहास आखो के सम्मुख झूल जाता है ।

धारवाड जिले मे गडग रेलवे स्टेशन से सात मील दक्षिण-पूर्व की ओर लकुडी (लोक्कि गुडी) नामक ग्राम है, जहा दो सुन्दर जैन मन्दिर हैं । इनमे के वडे मदिर मे सन् ११७२ ई० का शिलालेख है । यह भी ऐहोल व पट्टदकल के मदिरो के समान विशाल पापाण-खडो से विना किसी चूने-सीमेन्ट के निर्मित किया गया है । नाना भूमिकाओ द्वारा ऊपर को उठता हुआ द्राविडी शिखर सुस्पष्ट है । यहा खुरहरे रेतीले पत्थर का नही, किन्तु चिकने काले पत्थर का उपयोग किया गया, और इस

ग्रहण करता है जो ऊपर की ओर क्रमशः चारों ओर सिकुड़ता जाता है, और ऊपर जाकर एक स्तूपिका का आकार ग्रहण कर लेता है। ये छोटी-छोटी स्तूपिकाएं व शिखराकृतियां उसके नीचे के तल्लों के कोणों पर भी स्थापित की जाती हैं जिससे मन्दिर की बाह्याकृति शिखरमय दिखाई देने लगती है। बेसर शैली के शिखर की आकृति वर्तुलाकार ऊपर को उठकर अग्रभाग पर चपटी ही रह जाती है जिससे वह चोटी के आकार का दिखाई देता है। यह शैली स्पष्टतः प्राचीन चैत्यों की आकृति का अनुसरण करती है। आगामी काल के हिन्दू व जैन मन्दिर इन्हीं शैलियों और विशेषतः नागर व द्राविड़ शैलियों पर बने पाये जाते हैं।

ऐहोल का मेगुटी जैन मंदिर द्राविड़ शैली का सर्व प्राचीन कहा जा सकता है। इसी प्रकार का दूसरा जैन मंदिर इसी के समीप पट्टदकल ग्राम से पश्चिम की ओर एक मील पर स्थित है। इसमें किसी प्रकार का उत्कीर्णन नहीं है, व प्रांगण का घेरा पूरा बन भी नहीं पाया है। किन्तु शिखर का निर्माण स्पष्टतः द्राविड़ी शैली का है जो क्रमशः सिकुड़ती हुई भूमिकाओं द्वारा ऊपर को उठाया गया है। क्रमोन्नत भूमिकाओं की कपोत-पालियों में उसकी रूपरेखा का वही आकार-प्रकार अभिव्यक्त होता गया है। सबसे ऊपर सुन्दर स्तूपिका बनी है। इस मंदिर के निर्माण का काल भी वही ७ वीं शती है। यही शैली मद्रास से ३२ मील दक्षिण की ओर समुद्रतट पर स्थित मामल्लपुर के सुप्रसिद्ध रथों के निर्माण में पाई जाती है। ये भी प्रायः इसी काल की कृतियां हैं।

द्राविड़ शैली का आगामी विकास हमें दक्षिण के नाना स्थानों में पूर्ण व ध्वस्त अवस्था में वर्तमान अनेक जैन मंदिरों में दिखाई देता है। इनमें से यहां केवल कुछ का ही उल्लेख करना पर्याप्त है। तीर्थहल्लि के समीप हुंबच एक अति प्राचीन जैन केन्द्र रहा है व सन् ८९७ के एक लेख में वहां के मंदिर का उल्लेख है। किन्तु वहां के अनेक मंदिर ११ वीं शती में वीरशान्तर आदि सान्तरवंशी राजाओं द्वारा निर्मापित पाये जाते हैं। इनमें यही द्राविड़ शैली वही अलंकरणरीति तथा सुन्दरता से उत्कीर्ण स्तम्भों की सत्ता पाई जाती है, जो इस काल की विशेषता है। जैन मठ के समीप आदिनाथ का मंदिर विशेष उल्लेखनीय है। यह दुतल्ला है, जिसका ऊपरी भाग अभी कुछ काल पूर्व टीन के तख्तों से ढक दिया गया है। बाहरी दीवालों पर अत्युत्कृष्ट आकृतियां उत्कीर्ण हैं। किन्तु ये बहुत कुछ घिस व टूट फूट गई हैं। ऊपर के तल्ले पर जाने से मंदिर का शिखर अब भी देखा जा सकता है। इस मंदिर मे दक्षिण भारतीय शैली की कांस्य मूर्तियों का अच्छा संग्रह है। इसी मंदिर के समीप की पहाड़ी पर

हलेवीड मे होय्सलेश्वर मदिर के समीप हल्लि नामक ग्राम मे एक ही घेरे के भीतर तीन जैनमदिर हैं, जिनमे पार्श्वनाथ मदिर विशेष उल्लेखनीय है। मदिर के अधिष्ठान व वाह्य भित्तियो पर वडी सुन्दर आकृतिया वनी हैं। नवरग मडप मे शिखर युक्त अनेक वेदिकाए हैं, जिनमे पहले २४ तीर्थकरो की मूर्तिया प्रतिष्ठित रही होगी। छत की चित्रकारी इतनी उत्कृष्ट है कि जैसी सम्भवत हलेवीड भर मे अन्यत्र कही नही पाई जाती। यह छत १२ अतिसुन्दर आकृति वाले काले पाषाण के स्तम्भो पर आधारित है। इन स्तम्भो की रचना, खुदाई और सफाई देखने योग्य है। उनकी घुटाई तो ऐसी की गई है कि उसमे आज भी दर्शक दर्पण के समान अपना मुख देख सकता है। पार्श्वनाथ की १४ फुट ऊची विशाल मूर्ति सप्तफणी नाग से युक्त है। मूर्ति की मुखमुद्रा सच्चे योगी की ध्यान व शान्ति की छटा को लिये हुए हैं। शेष दो आदिनाथ व शातिनाथ के मदिर भी अपना अपना सौन्दर्य रखते हैं। ये सभी मन्दिर १२वी शती की कृतिया हैं।

होय्सल काल के पश्चात् विजयनगर राज्य का युग प्रारम्भ होता है, जिसमे द्राविड वास्तु-कला का कुछ और भी विकास हुआ। इस काल की जैन कृतियो के उदाहरण **गनीगित्ति, तिरूमल्लाइ, तिरुपरुत्तिकुडरम, तिरुप्पनमूर, मूडविद्री** आदि स्थानो मे प्रचुरता से पाये जाते हैं। इनमे वर्तमान मे सवसे प्रसिद्ध मूडविद्री का चन्द्र-नाथ मदिर है, जिसका निर्माण १४वी शती मे हुआ है। यह मदिर एक घेरे के भीतर है। द्वार से प्रवेश करने पर प्रागण मे अतिसुन्दर मानस्तम्भ के दर्शन होते हैं। मन्दिर मे लगातार तीन मडप-शालाएं हैं, जिनमे होकर विमान (शिखर युक्त गर्भगृह) मे प्रवेश होता है। मडपो के अलग-अलग नाम हैं—तीर्थंकरमडप, गद्दीमडप व चित्रमडप। मदिर की वाह्याकृति काष्ठ-रचना का स्मरण कराती है। किन्तु भीतरी समस्त रचना पाषाणोचित ही है। स्तम्भ वडे स्थूल और कोई १२ फुट ऊचे हैं, जिनका निचला भाग चौकोर है व शेष ऊपरी भाग गोलाकर घुमावदार व कमल-कलियों की आकृतियो से अलकृत है। चित्रमडप के स्तम्भ विशेष रूप से उत्कीर्ण हैं। उनपर कमलदलो की खुदाई असाधारण सौष्ठव और सावधानी से की गई है।

जैन विहार का सर्वप्रथम उल्लेख पहाड़पुर (जिला राजशाही-बगाल) के उस ताम्रपत्र के लेख मे मिलता है जिसमे पचस्तूप निकाय या कुल के निर्ग्रन्थ श्रमणाचार्य गुहनदि तथा उनके शिष्य-प्रशिष्यो से अधिष्ठित विहार मदिर मे अर्हंतो की पूजा-अर्चा के निमित्त अक्षयदान दिये जाने का उल्लेख है। यह गुप्त स० १५९ (ई० ४७२) का है। लेख मे इस विहार की स्थिति वट-गोहाली मे वतलाई गई है। अनुमानत यह

परिवर्तन के अनुसार स्थापत्य में भी कुछ सूक्ष्मता व लालित्य का वैशिष्ट्य आ गया है। ऊपर की ओर उठती हुई भूमिकाओं की कपोतपालियों भी कुछ विशेष सूक्ष्मता व लालित्य को लिये हुए हैं। कोनों पर व बीच-बीच में टोपियों के निर्माण ने एक नवीन कलात्मकता उत्पन्न की है, जो आगामी काल में उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। ऊपर के तल्ले में भी गर्भगृह व तीर्थंकर की मूर्ति है, तथा शिखर-भाग इतना ऊंचा उठा हुआ है कि जिससे एक विशेष भव्यता का निर्माण हुआ है। शिखर की स्तूपिका की बनावट में एक विशेष संतुलन दिखाई देता है। भित्तियों पर भी चित्रकारी की विशेषता है। छोटे-छोटे कमानीदार आलों पर कीर्तिमुखों का निर्माण एक नई कला है, जो इससे पूर्व की कृतियों में प्राय दृष्टिगोचर नहीं होती। ऐसे प्रत्येक आले में एक-एक पद्मासन जिनमूर्ति उत्कीर्ण है। भित्तियां स्तम्भाकृतियों से विभाजित हैं, जिनके कुछ अन्तरालों में छोटी-छोटी मंडपाकृतियां बनाई गई हैं। यहां महावीर भगवान् की बड़ी सुन्दर मूर्ति विराजमान थी जो इधर कुछ वर्षों से दुर्भाग्यतः विलुप्त हो गई है। भीतरी मंडप के द्वार पर पूर्वोक्त लेख खुदा हुआ है। ऊपर पद्मासन जिनमूर्ति है और उसके दोनों ओर चन्द्र-सूर्य दिखाये गये हैं। सकुंडी के इस जैन मंदिर ने द्राविड़ वास्तु-शिल्प को बहुत प्रभावित किया है।

द्राविड़ वास्तु-कला चालुक्य काल में किस प्रकार पुष्ट हुई यह हम देख चुके। इसके पश्चात् होयसल राजवंश के काल में (१२ वी शती में) उसमें और भी वैशिष्ट्य व सौष्ठव उत्पन्न हुआ जिसकी विशेषता है अलंकरण की रीति में समुन्नति। इस काल की वास्तु-कला न केवल पूर्वकालीन पाषाणोत्कीर्णन कला को आगे बढ़ाती है, किन्तु उसपर तत्कालीन दक्षिण भारत की चंदन हाथीदांत व धातु की निर्मितियों आदि का भी प्रभाव पड़ा है। इसके फलस्वरूप पाषाण पर भी कारीगरों की छैनी अधिक कौशल से चली है। इस कौशल के दर्शन हमें जिननाथपुर व हलेबीड के जैनमन्दिरों में होते हैं। जिननाथपुर श्रवण बेलगोला से एक मील उत्तर की ओर है। ग्राम का नाम ही बतला रहा है कि यहां जैन मंदिरों की प्रख्याति रही है। यहां का शांतिनाथ मंदिर विशेष उल्लेखनीय है। इसे रेचिमय्य नामक सज्जन ने बनवाकर सन् १२ ई के लगभग सागरनन्दि सिद्धान्तदेव को सौंपा था। गर्भगृह के द्वारपालों की मूर्तियां देखने योग्य हैं। नवरंग के स्तम्भों पर बड़ी सुन्दर व बारीक चित्रकारी की गई है। छतों की खुदाई भी देखने योग्य है। बाह्य भित्तियों पर रेखा-चित्रों व बेल-बूटों की प्रचुरता से खुदाई की गई है तथा तीर्थंकरों व यक्ष-यक्षियों आदि की प्रतिमाएं भी सौन्दर्य-पूर्ण बनी हैं। गर्भगृह में शान्तिनाथ भगवान् की सिंहासनस्थ मूर्ति भी कौशलपूर्ण रीति से बनी है।

सभावना का सकेत भी किया है। (भा० वि० भ० इति० भाग ५-६३७)

मध्यभारत मे आने पर हमे दो स्थानो पर प्राचीन जैन तीर्थों के दर्शन होते हैं। इनकी विख्याति शताव्दियो तक रही, और क्रमश अधिकाधिक मदिर निर्माण होते रहे और उनमे मूर्तिया प्रतिष्ठित कराई जाती रही, जिनसे ये स्थान देवनगर ही वन गये। इनमे से प्रथम स्थान है—देवगढ़ जो झासी जिले के अन्तर्गत ललितपुर रेलवे स्टेशन से १६ मील तथा जारवलौन स्टेशन से ६ मील दूर वेतवा नदी के तट पर है। देवगढ की पहाडी कोई एक मील लम्बी व ६ फर्लांग चौडी है। पहाडी पर चढते हुए पहले गढ के खडहर मिलते हैं, जिनकी पाषाण-कारीगरी दर्शनीय है। इस गढ के भीतर क्रमश दो और कोट हैं, जिनके भीतर अनेक मदिर जीर्ण अवस्था मे दिखाई देते हैं। कुछ मदिर हिन्दू हैं, किन्तु अधिकाश जैन, जिनमे ३१ मदिर गिने जा चुके हैं। इनमे मूर्तियो, स्तम्भो, दीवालो, शिलाओ आदि पर शिलालेख भी पाये गये है, जिनके आधार से इन मदिरो का निर्माण आठवी से लेकर वारहवी शती तक का सिद्ध होता है। सवसे वडा १२ वें नम्वर का शातिनाथ मदिर है, जिसके गर्भगृह मे १२ फुट ऊची खड्गासन प्रतिमा है। गर्भगृह के सम्मुख लगभग ४२ फुट का चौकोर मडप है जिसमे छह-छह स्तम्भो की छह कतारें हैं। इस मडप के मध्य मे भी वेदी पर एक मूर्ति विराजमान है। मडप के सम्मुख कुछ दूरी पर एक और छोटा सा चार स्तम्भो का मडप है जिनमे से एक स्तम्भ पर भोजदेव के काल (वि० स० ६१६, ई० सन् ८६२) का एक लेख भी उत्कीर्ण है। लेख मे वि० स० के साथ-साथ शक स० ७८४ का भी उल्लेख है। वडे मडप मे वाहुवली की एक मूर्ति है जिसका विशेष वर्णन आगे करेंगे। यथार्थत यही मदिर यहा का मुख्य देवालय है, और इसी के आसपास अन्य व अपेक्षा-कृत इससे छोटे मदिर हैं। गर्भगृह और मुखमडप प्राय सभी मदिरो का दिखाई देता है, या रहा है। स्तम्भो की रचना विशेष दर्शनीय है। इनमे प्राय नीचे-ऊपर चारो दिशाओ मे चार-चार मूर्तियाँ उत्कीर्ण पाई जाती है। यत्र-तत्र भित्तियो पर भी प्रतिमाए उत्कीर्ण हैं। कुछ मदिरो के तोरण-द्वार भी कलापूर्ण रीति से उत्कीर्ण हैं। कही-कही मदिर के सम्मुख मानस्तम्भ भी दिखाई देता है। प्रथम मदिर प्राय १२ वें मदिर के सदृश, किन्तु उससे छोटा है। पाचवा मदिर सहस्रकूट चैत्यालय है, जो वहुत कुछ अक्षत है और उसके कूटों पर कोई १००८ जिन प्रतिमाए उत्कीर्ण हैं। जिन मदिरो के शिखरो का आकार देखा या समझा जा सकता है, उन पर से इनका निर्माण नागर शैली का सुस्पष्ट है। पुरातत्व विभाग की सन् १६१८ की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार देवगढ से कोई २०० शिलालेख मिले हैं, जिनमे से कोई ६० मे उनका लेखन-काल भी

विहार वही होना चाहिये जो पहाड़पुर की खुदाई से प्रकाश में आया है। सातवीं शती के पश्चात् किसी समय इस विहार पर बौद्धों का अधिकार हो गया और वह सोमपुर महाविहार के नाम से प्रख्यात हुआ। किन्तु ७ वीं शती में हुवेनत्सांग ने अपने यात्रा वर्णन में इस विहार का कोई उल्लेख नहीं किया जिससे स्पष्ट है कि उस समय तक यह बौद्ध केन्द्र नहीं बना था। बैन्जामिन् रोलैण्ड (आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ इंडिया) के मतानुसार अनुमानतः पहले यह ब्राह्मणों का केन्द्र रहा है और पीछे इस पर बौद्धों का अधिकार हुआ। किन्तु यह बात सर्वथा इतिहास-विरुद्ध है। एक तो उस प्राचीन काल में उक्त प्रदेश में ब्राह्मणों के ऐसे केन्द्र या देवालय आदि स्थापित होने के कोई प्रमाण नहीं मिलते और दूसरे बौद्धों ने कभी ब्राह्मण आयतनों पर अधिकार किया हो, इसके भी उदाहरण पाना दुर्लभ है। उक्त ताम्रपत्रलेख के प्रकाश से यह सिद्ध हो जाता है कि यहां पांचवीं शताब्दी में जैन विहार विद्यमान था और इस स्थान का प्राचीन नाम वट-गोहाली था। सम्भव है यहां उस समय कोई महान् वटवृक्ष रहा हो और उसके आसपास जैन मुनियों के निवास योग्य गुफाओं की आवली (पंक्ति) रही हो जिससे इसका नाम वट-गोहाली (वट-गुफा-आवली) पड़ गया हो। जैसा अन्यत्र कहा जा चुका है षट्खंडागम के प्रकाण्ड विद्वान् टीकाकार वीरसेन और जिनसेन इसी पंचस्तूपान्वय के आचार्य थे। अतएव यह जैन विहार विद्या का भी महान् केन्द्र रहा हो तो आश्चर्य नहीं। प्रतीत होता है ई० की प्रारम्भिक शताब्दियों में पूर्व में यह वट-गोहाली विहार, उत्तर में मथुरा का विहार, पश्चिम में सौराष्ट्र में गिरिनगर की चन्द्र-गुफा और दक्षिण में श्रवणबेलगोला ये देश की चारों दिशाओं में धर्म व शिक्षा प्रचार के सुदृढ़ जैन केन्द्र रहे हैं।

खुदाई से अभिव्यक्त पहाड़पुर विहार बड़े विशाल आकार का रहा है, और अपनी रचना व निर्मिति में अपूर्व गिना गया है। इसका परकोटा कोई एक हजार वर्ग का रहा है, जिसके चारों ओर १७५ से भी अधिक गुफाकार कोष्ठ रहे हैं। इस चौक की चारों दिशाओं में एक-एक विशाल द्वार रहा है, और चौक के ठीक मध्य में स्वस्तिक के आकार का सर्वतोभद्र मंदिर है, जो अनुमानतः साढ़े तीन सौ फुट लम्बा-चौड़ा है। उसके चारों ओर प्रदक्षिणा बनी हुई है। मंदिर तीन तल्लों का रहा है, जिसके दो तल्ले प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। विद्वानों ने इस विहार की रचना को बड़ा विलक्षण (अपूर्व) माना है, तथा उसकी तुलना बर्मा के पैगान तथा जावा के लोरो जोंग्रांग आदि मंदिरों से की है। किन्तु स्पष्टतः जैन परम्परा में चतुर्मुखी मंदिरों का प्रचार बराबर चला आया है व आबू के चौमुखी मंदिर में भी पाया जाता है, और दीक्षित महोदय ने इस

सिंहासन के प्रमाण से छोटी तथा कला की दृष्टि से सामान्य है। यह मदिर पार्श्वनाथ मदिर के समीप ही उत्तर की ओर स्थित है। इस मदिर मे भी पूर्वोक्त प्रकार से तीन ही कोष्ठ हैं, जिनमे से अर्द्धमडप बहुत पीछे का बना हुआ है। इसके प्रवेश द्वार पर चतुर्भुज देवी की मूर्ति है और उससे ऊपर १६ स्वप्नो के चिन्ह उत्कीर्ण हैं। शान्तिनाथ मदिर की विशेषता यह है कि उसमें शान्तिनाथ तीर्थंकर की १५ फुट ऊची खड्गासन प्रतिमा विराजमान है, जिसकी प्रतिष्ठा का काल वि० स० १०८५ ई० (सन् १०२८) अकित है। इसी से कुछ पूर्व इस मदिर का निर्माण हुआ होगा। शेष मदिरो का निर्माण-काल भी इसी के कुछ आगे-पीछे का प्रतीत होता है। इस मूर्ति के अतिरिक्त वहा पाई जाने वाली अन्य तीर्थंकरो व यक्ष-यक्षिणियो की मूर्तिया कलापूर्ण हैं। तीर्थंकर मूर्तियो के दोनो पार्श्वो मे प्राय दो चमर-वाहक, सम्मुख बैठी हुई दो उपासिकाए तथा मूर्तियो के अगल-बगल कुछ ऊपर हस्ति-आरुढ इन्द्र व इन्द्राणी की आकृतिया पाई जाती है, तथा पीठपर दोनो ओर सिंह की आकृतिया भी दिखाई देती हैं। खजराहो के ये समस्त मदिर अधिष्ठान से शिखर तक नाना प्रकार की कलापूर्ण आकृतियो से उत्कीर्ण हैं।

खजराहो के जैन मन्दिरों की विशेषता यह है कि उनमे मडप की अपेक्षा शिखर की रचना का ही अधिक महत्व है। अन्यत्र के समान भमिति और देव-कुलिकाए भी नही है, तथा रचना व अलकृति मे जिनमूर्तियो के अतिरिक्त अन्य ऐसी विशेषता नही है जो उन्हे यहा के हिन्दू व बौद्ध मन्दिरो से पृथक् करती हो। एक ही काल और सम्भवत उदार सहिष्णु एक ही नरेश के सरक्षण मे बनवाये जाने से उनमे विचार-पूर्वक समत्व रखा गया प्रतीत होता है। किन्तु यहाँ पाये जाने वाले दो अन्य मन्दिरो के सम्बन्ध मे जेम्स फरगुसन साहब का अभिमत उल्लेखनीय है। चौसठ योगिनी मन्दिर की भमिति व देवकुलिकाओ के सम्बन्ध मे उनका कहना है कि "मन्दिर निर्माण की यह रीति यहाँ तक जैन विशेषता लिये हुए है कि इसके मूलत जैन होने मे मुझे कोई सशय नही है।" मध्यवर्ती मन्दिर अब नही है, और फर्गुसन साहब के मतासुसार आश्चर्य नही जो वह प्राचीन बौद्ध चैत्यो के समान काष्ठ का रहा हो। और यदि यह बात ठीक हो तो यही समस्त प्राचीनतम जैन मन्दिर सिद्ध होता है। उसी प्रकार घटाई मन्दिर के अवशिष्ट मडप को भी वे उसकी रचनाशैली पर से जैन स्वीकार करते हैं। इसमे प्राप्त खडित लेख की लिपि पर से कनिंघम साहब ने उसे छठी-सातवी शती का अनुमान किया है, और फर्गुसन साहब उसकी शैली पर से भी यही काल-निर्णय करते हैं।

ग्वालियर राज्य मे विदिशा से १४० मील दक्षिण-पश्चिम की ओर ग्यारसपुर

अंकित हैं, जिनसे वे वि. सं. ६११ से लेकर वि. सं० १८७६ तक के पाये जाते हैं। तात्पर्य यह कि इस क्षेत्र का महत्व १६ वीं शती तक बना रहा है। लिपि-विकास व भाषा की दृष्टि से भी इन लेखों का बड़ा महत्व है।

मध्य भारत का दूसरा देवालय-नगर खजराहो छतरपुर जिले के पन्ना नामक स्थान से २७ मील उत्तर व महोबा से ३४ मील दक्षिण की ओर है। यहां शिव विष्णु व जैन मंदिरों की ३० से ऊपर संख्या है। जैन मंदिरों में विशेष उल्लेखनीय तीन हैं—पार्श्वनाथ आदिनाथ और शांतिनाथ-जिनमें प्रथम पार्श्वनाथ सबसे बड़ा है। इसकी लम्बाई चौड़ाई ६८×३४ फुट है। इसका मुखमंडप ध्वस्त हो गया है। महामंडप अन्तराल और गर्भगृह सुरक्षित हैं और वे एक ही प्रदक्षिणा-मार्ग से घिरे हुए हैं। गर्भगृह से सटकर पीछे की ओर एक पृथक् देवालय बना हुआ है, जो इस मंदिर की एक विशेषता है। प्रदक्षिणा की दीवार में आभ्यन्तर की ओर स्तम्भ हैं जो छत को आधार देते हैं। दीवार में प्रकाश के लिये जालीदार वातायन हैं। मंडप की छत पर का उत्कीर्णन उत्कृष्ट शैली का है। छत के मध्य में लोलक को बेलबूटों व उड़ती हुई मानवाकृतियों से अलंकृत किया गया है। प्रवेशद्वार पर गरुडवाहिनी दशभुज (सरस्वती) मूर्ति भी बड़ी सुन्दर बनी है। गर्भगृह की बाह्य भित्तियों पर अप्सराओं की मूर्तियां इतनी सुन्दर हैं कि उन्हें अपने ढंग की सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता है। उत्तर की ओर बच्चे को दूध पिलाती हुई, पत्र लिखती हुई पैर में से कांटा निकालती हुई एवं शृंगार करती हुई स्त्रियों आदि की मूर्तियां इतनी सजीव और कलापूर्ण हैं कि वैसी अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। ये सब भाव लौकिक जीवन के सामान्य व्यवहारों के हैं, धार्मिक नहीं। यह इस मंदिर की कलाकृतियों की अपनी विशेषता है। उसके बाहर की भित्तियों पर निचले भाग में कलापूर्ण उत्कीर्णन है और ऊपर की ओर अनेक पट्टियों में तीर्थंकरों एवं हिन्दू देव-देवियों की बड़ी सुन्दर आकृतियां बनी हैं। इस प्रकार इस मंदिर में हम नाना धर्मों एवं धार्मिक व लौकिक जीवन का अद्भुत समन्वय पाते हैं। मन्दिर के गर्भगृह में वेदी भी बड़ी सुन्दर आकृति की बनी है, और उसपर बैल की आकृति उत्कीर्ण है। इससे प्रतीत होता है कि आदितः इस मंदिर के मूल नायक वृषभनाथ तीर्थंकर थे क्योंकि वृषभ उन्हीं का चिन्ह है। अनुमानतः वह मूर्ति कभी समय नष्ट भ्रष्ट हो गई और तत्पश्चात् उसके स्थान पर पार्श्वनाथ की वर्तमान मूर्ति स्थापित कर दी गई। मंदिर व सिंहासन की कलापूर्ण निर्मिति की अपेक्षा यह मूर्ति हीन-कलात्मक है। इससे भी यही बात सिद्ध होती है। ऐसी ही कुछ स्थिति आदिनाथ मंदिर की भी है, क्योंकि उसमें जो आदिनाथ की मूर्ति विराजमान है वह

जस्य हुआ हो ।"

मध्यप्रदेश का तीसरा जैन तीर्थ दमोह के समीप कुडलपुर नामक स्थान है, जहा एक कुडलाकार पहाडी पर २५-३० जैन मदिर बने हुए हैं। पहाडी के मध्य एक घाटी मे बना हुआ महावीर का मदिर अपनी विशालता, प्राचीनता व मान्यता के लिये विशेष प्रसिद्ध है । यहा बडेबाबा महावीर की विशाल मूर्ति होने के कारण यह बडेबाबा का मदिर कहलाता है। पहाडी पर का प्रथम मदिर भी अपने सौन्दर्य व रचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। अपने शिखर के छह तल्लो के कारण यह छह घरिया का मदिर कहलाता है। अधिकाश मदिरो मे पूर्वोक्त तीर्थ-क्षेत्रो के सदृश मुगलशैली का प्रभाव दिखाई देता है। पहाडी के नीचे का तालाब और उसके तटवर्ती नये मदिरो की शोभा भी दर्शनीय है।

मध्यप्रदेश के जिला नगर खरगोन से पश्चिम की ओर दश मील पर ऊन नामक ग्राम मे तीन-चार प्राचीन जैन मन्दिर हैं। इनमे से एक पहाडी पर है जिसकी मरम्मत होकर अच्छा तीर्थस्थान बन गया है। शेष मन्दिर भग्नावस्था मे पुरातत्व विभाग के सरक्षण मे हैं। मन्दिर पूर्णत पाषाण-खडो मे निर्मित, चपटी छत व गर्भगृह और सभामडप युक्त तथा प्रदक्षिणा-रहित हैं जिनसे उनकी प्राचीनता सिद्ध होती है। भित्तियो और स्तम्भो पर सर्वांग उत्कीर्णन है जो खजुराहो के मन्दिरो की कला से मेल खाता है। चतुर्द्वार होने से दो मन्दिर **चौबारा डेरा** कहलाते हैं। खभो पर की कुछ पुरुष-स्त्री रूप आकृतिया श्रृगारात्मक अतिसुन्दर और पूर्णत सुरक्षित हैं। कुछ प्रतिमाओ पर लेख है जिनमे सवत् १२५८ व उसके आसपास का उल्लेख है। अत यह तीर्थ कम से कम १२-१३ वीं शती का तो अवश्य है। इस तीर्थ स्थान को प्राचीन सिद्धक्षेत्र **पावागिरि** ठहराया गया है जिसका **प्राकृत निर्वाणकाण्ड** मे निम्न प्रकार दो बार उल्लेख आया है —

रायसुआ वेण्णि जणा लाड-णरिंदाण पच-कोडीओ ।
पावागिरि-वर-सिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥५॥
पावागिरि-वर-सिहरे सुवण्णभद्दाइ-मुणिवरा चउरो ।
चलणा-णई-तडग्गे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥१३॥

यहा पावागिरि से लाट (गुजरात) के नरेशो तथा सुवर्णभद्रादि चार मुनियो द्वारा निर्वाण प्राप्त किये जाने का उल्लेख है। यह प्रदेश गुजरात से लगा हुआ है। उल्लिखित चलना या चेलना नदी सभवत ऊन के समीप बहने वाली वह सरिता है जो अब चदेरी या चिरूड कहलाती है। नि. का की उपर्युक्त १३ वी गाथा से पूर्व ही

में भी एक भग्न जैन मन्दिर का मंडप विद्यमान है जो अपने विन्यास व स्तम्भों की रचना आदि में खजराहो के घंटाई मंडप के ही सदृश है। उसका निर्माण-काल भी फर्गुसन साहब ने सातवीं शती अथवा निश्चय ही १० वीं शती से पूर्व अनुमान किया है। इसी ग्यारसपुर में संभवतः इसी काल का एक अन्य मन्दिर भी है जो इतना जीर्ण-शीर्ण हो गया है और उसका जीर्णोद्धार इस तरह किया गया है कि उसका समस्त मौलिक रूप ढक गया है। यहीं ग्राम में एक संभवतः ११ वीं शती का अति सुन्दर पाषाण-तोरण भी है। यथार्थतः फर्गुसन साहब के मतानुसार यहां आसपास के समस्त प्रदेश में इतने भग्नावशेष विद्यमान हैं कि यदि उनका विधिवत् संकलन व अध्ययन किया जाय तो भारतीय वास्तु-कला और विशेषतः जैन वास्तुकला, के इतिहास के बड़े दीर्घ रिक्त स्थानों की पूर्ति की जा सकती है।

मध्यप्रदेश में तीन और जैन तीर्थ हैं जहां पहाड़ियों पर अनेक प्राचीन मन्दिर बने हुए हैं और आज तक भी नये मन्दिर अविच्छिन्न क्रम से बनते जाते हैं। ऐसा एक तीर्थ बुंदेलखंड में दतिया के समीप स्वर्णगिरि (सोनागिरि) है। यहां एक नीची पहाड़ी पर लगभग १   छोटे-बड़े एवं नाना आकृतियों के जैन मन्दिर हैं। जिस रूप में ये मन्दिर विद्यमान हैं वह बहुत प्राचीन प्रतीत नहीं होता। उसमें मुसलमानी शैली का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उनके शिखर प्रायः मुगलकालीन गुम्बज के आकार के हैं। शिखर का प्राचीन स्वदेशीय रूप क्वचित् ही दृष्टिगोचर होता है, और खुले भागों का रूप मुसलमानी कोणाकार तोरण जैसा दिखाई देता है। यद्यपि इसका इतिहास स्पष्ट नहीं है कि इस तीर्थक्षेत्र में प्राचीनतम मन्दिर कब क्यों और कैसे बने तथापि इसकी कुछ सामग्री यहां के समस्त मन्दिरों मूर्तियों व लेखों के अध्ययन से संकलित की जा सकती है।

दूसरा तीर्थक्षेत्र बैतूल जनपदान्तर्गत मुक्तागिरि है। यहां एक अतिसुन्दर पहाड़ी की घाटी के समतल भाग में कोई २०-२५ जैन मन्दिर हैं, जिनके बीच लगभग ६   फुट ऊंचा जलप्रपात है। इसका दृश्य विशेषतः वर्षाकाल में अत्यन्त रमणीक प्रतीत होता है। ये मन्दिर भी सोनागिरि के समान बहुत प्राचीन नहीं हैं, और अपने शिखर आदि के संबंध में मुसलमानी शैली का अनुकरण करते हैं। किन्तु यहां की मूर्तियों पर के लेखों से ज्ञात होता है कि १४ वीं शती में यहां कुछ मंदिर अवश्य रहे होंगे। इस तीर्थ के विषय में भी जेम्स फर्गुसन साहब ने अपनी हिस्ट्री ऑफ इंडिया एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर (लंदन १८७६) में कहा है कि "समस्त भारत में इसके सदृश दूसरा स्थान पाना दुर्लभ है, जहां प्रकृति की शोभा का वास्तुकला के साथ ऐसा सुन्दर सामं

जस्य हुआ हो।"

मध्यप्रदेश का तीसरा जैन तीर्थ दमोह के समीप कुडलपुर नामक स्थान है, जहा एक कुडलाकार पहाडी पर २५-३० जैन मदिर वने हुए हैं। पहाडी के मध्य एक घाटी मे वना हुआ महावीर का मदिर अपनी विशालता, प्राचीनता व मान्यता के लिये विशेष प्रसिद्ध है। यहा वडेवावा महावीर की विशाल मूर्ति होने के कारण यह वडेवावा का मदिर कहलाता है। पहाडी पर का प्रथम मदिर भी अपने सौन्दर्य व रचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। अपने शिखर के छह तल्लो के कारण यह छह घरिया का मदिर कहलाता है। अधिकाश मदिरो मे पूर्वोक्त तीर्थ-क्षेत्रो के सदृश मुगलशैली का प्रभाव दिखाई देता है। पहाडी के नीचे का तालाव और उसके तटवर्ती नये मदिरो की शोभा भी दर्शनीय है।

मध्यप्रदेश के जिला नगर खरगोन से पश्चिम की ओर दश मील पर ऊन नामक ग्राम मे तीन-चार प्राचीन जैन मन्दिर हैं। इनमे से एक पहाडी पर है जिसकी मरम्मत होकर अच्छा तीर्थस्थान वन गया है। शेष मन्दिर भग्नावस्था मे पुरातत्व विभाग के सरक्षण मे हैं। मन्दिर पूर्णत पाषाण-खडो मे निर्मित, चपटी छत व गर्भगृह और सभामडप युक्त तथा प्रदक्षिणा-रहित हैं जिनसे उनकी प्राचीनता सिद्ध होती है। भित्तियो और स्तम्भो पर सर्वांग उत्कीर्णन है जो खजुराहो के मन्दिरो की कला से मेल खाता है। चतुर्द्वार होने से दो मन्दिर **चौवारा डेरा** कहलाते हैं। खभो पर की कुछ पुरुष-स्त्री रूप आकृतिया शृगारात्मक अतिसुन्दर और पूर्णत सुरक्षित हैं। कुछ प्रतिमाओ पर लेख हैं जिनमे सवत् १२५८ व उसके आसपास का उल्लेख है। अत यह तीर्थ कम से कम १२-१३ वी शती का तो अवश्य है। इस तीर्थ स्थान को प्राचीन सिद्धक्षेत्र **पावागिरि** ठहराया गया है जिसका **प्राकृत निर्वाणकाण्ड** मे निम्न प्रकार दो वार उल्लेख आया है —

रायसुआ वेण्णि जणा लाड-णरिंदाण पच-कोडीओ।
पावागिरि-वर-सिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥५॥
पावागिरि-वर-सिहरे सुवण्णभद्दाइ-मुणिवरा चउरो।
चलणा-णई-तडग्गे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥१३॥

यहा पावागिरि से लाट (गुजरात) के नरेशो तथा सुवर्णभद्रादि चार मुनियो द्वारा निर्वाण प्राप्त किये जाने का उल्लेख है। यह प्रदेश गुजरात से लगा हुआ है। उल्लिखित चलना या चेलना नदी सभवत ऊन के समीप वहने वाली वह सरिता है जो अव चंदेरी या चिरूड कहलाती है। नि. कां की उपर्युक्त १३ वी गाथा से पूर्व ही

रेवा (नर्मदा) के समस्तट, उसके पश्चिम तट पर सिद्धवर कूट तथा बड़वानी नगर के दक्षिणमें चूलगिरि शिखर का सिद्ध क्षेत्र के रूप में उल्लेख है। इन्हीं स्थलों के समीपवर्ती होने से यह स्थान पावागिरि प्रमाणित होता है। ग्राम के आसपास और भी अनेक खंडहर दिखाई देते हैं। जनश्रुति है कि यहां बल्लाल नामक नरेश ने व्याधि से मुक्त होकर सौ मन्दिर बनवाने का संकल्प किया था किन्तु अपने जीवन में वह ९९ ही बनवा पाया। इस प्रकार एक मन्दिर कम रह जाने से यह स्थान 'ऊन' नाम से प्रसिद्ध हुआ (इन्दौर स्टेट गजैटियर, भाग १ पृ ६६६)। हो सकता है ऊन नाम की सार्थकता सिद्ध करने के लिये ही यह आख्यान गढ़ा हो। किन्तु यदि उसमें कुछ ऐतिहासिकता हो तो बल्लाल नरेश होयसल वंश के वीर-बल्लाल (द्वि) हो सकते हैं जिनके गुरु एक जैन मुनि थे। (पृ ४)

मध्यप्रदेश के पश्चात् हमारा ध्यान राजपूताने के मंदिरों की ओर जाता है। अजमेर के समीप बड़ली ग्राम से एक स्तम्भ-खंड मिला है जिसे वहाँ के भैरोंजी के मंदिर का पुजारी तमाखू कूटने के काम में लाया करता था। यह षट्कोण स्तम्भ का खंड रहा है जिसके तीन पहलू इस पाषाण-खंड में सुरक्षित हैं और उनपर ११ × १ ½ इंच स्थान में एक लेख खुदा हुआ है। इसकी लिपि विद्वानों के मतानुसार अशोक की लिपियों से पूर्वकालीन है। भाषा प्राकृत है और उपलब्ध लेख-खंड पर से इतना स्पष्ट पढ़ा जाता है कि वीर भगवान् के लिये अथवा भगवान् के ८४ वें वर्ष में मध्यमिका में कुछ निर्माण कराया गया। इस पर से अनुमान होता है कि महावीर निर्वाण से ८४ वर्ष पश्चात् (ई पू ४४३) में दक्षिण-पूर्व राजपूताने की उस अति-प्राचीन व इतिहास प्रसिद्ध मध्यमिका नामक नगरी में कोई मंडप या चैत्यालय बनवाया गया था।

दुर्भाग्यतः इसके दीर्घकाल पश्चात् तक की कोई निर्मितियां हमें उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु साहित्य में प्राचीन जैन मन्दिरों आदि के बहुत से उल्लेख मिलते हैं। उदाहरणार्थ जैन हरिवंशपुराण की प्रशस्ति में इसके कर्ता जिनसेनाचार्य ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि शक संवत् ७ ५ (ई ७८३) में उन्होंने वर्धमानपुर के पार्श्वालय (पार्श्वनाथ के मंदिर) की अन्नराज-वसति में बैठकर हरिवंशपुराण की रचना की और उसका जो भाग शेष रहा उसे वहीं के शान्तिनाथ मन्दिर में बैठकर पूरा किया। उस समय उत्तर में इन्द्रायुध दक्षिण में कृष्ण के पुत्र श्रीवल्लभ व पश्चिम में वत्सराज तथा सौरमंडल में वीरवराह नामक राजाओं का राज्य था। यह वर्धमानपुर सौराष्ट्र का वर्तमान बढ़वान माना जाता है। किन्तु मैंने अपने एक लेख में सिद्ध किया है कि

हरिवंशपुराण मे उल्लिखित वर्धमानपुर मध्यप्रदेश के धार जिले मे स्थित वर्तमान वदनावर है, जिससे १० मील दूरी पर स्थित वर्तमान दुतरिया नामक गाव प्राचीन दोस्तरिका होना चाहिये, जहा की प्रजा ने, जिनसेन के उल्लेखानुसार, उस शान्तिनाथ मदिर में विशेष पूजा-अर्चा का उत्सव किया था। इस प्रकार वर्धमानपुर मे आठवी शती में पार्श्वनाथ और शान्तिनाथ के दो जैन मदिरो का होना सिद्ध होता है। शान्तिनाथ मदिर ४०० वर्ष तक विद्यमान रहा। इसका प्रमाण हमे वदनावर से प्राप्त अच्छुप्ता-देवी की मूर्ति पर के लेख मे पाया जाता है, क्योकि उसमे कहा गया है कि सम्वत् १२२६ (ई० ११७२) की वैशाख कृष्ण सप्तमी को वह मूर्ति वर्धमानपुर के शान्तिनाथ चैत्यालय मे स्थापित की गई (जैन सि० भा० १२, २, पृ० ६ आदि, तथा जैन एन्टीक्वेरी १७, २, पृ० ५६)। इसके पश्चात् वहा के उक्त मन्दिर कब ध्वस्त हुए, कहा नही जा सकता।

जोधपुर से पश्चिमोत्तर दिशा मे ३२ मील पर **ओसिया** रेलवे स्टेशन के समीप ही ओसिया नामक ग्राम के बाह्य भाग मे अनेक प्राचीन हिन्दू और जैन मदिर हैं, जिनमे महावीर मदिर अब भी एक तीर्थक्षेत्र माना जाता है। यह मदिर एक घेरे के बीच मे स्थित है। घेरे से सटे हुए अनेक कोष्ठ बने हैं। मदिर बहुत सुन्दराकृति है। विशेषत उसके मडप के स्तम्भो की कारीगरी दर्शनीय है। इसकी शिखरादि-रचना नागर शैली की है। यहा एक शिलालेख भी है, जिसमे उल्लेख है कि ओसिया का महावीर मदिर गुर्जर-प्रतीहार नरेश वत्सराज (नागभट द्वितीय के पिता ७७०-८०० ई०) के समय मे विद्यमान था, तथा उसका महामडप ई० सन् ९२६ मे निर्माण कराया गया था। मंदिर मे पीछे भी निर्माण-कार्य होता रहा है, किन्तु उसका मौलिक रूप नष्ट नही होने पाया। उसका कलात्मक सन्तुलन बना हुआ है, और ऐतिहासिक महत्व रखता है।

मारवाड मे ही दो और स्थानो के जैन मन्दिर उल्लेखनीय हैं। फालना रेलवे स्टेशन के समीप **सादडी** नामक ग्राम मे ११ वी शती से १६ वी शती तक के अनेक हिन्दू व जैन मन्दिर हैं। विशेष महत्वपूर्ण जैन मन्दिर वर्तमान जैन धर्मशाला के घेरे मे स्थित हैं। शैली मे ये मन्दिर पूर्वोक्त प्रकार के ही हैं, और शिखर नागर शैली के ही बने हुए हैं। मारवाड-जोधपुर रेलवे लाइन पर मारवाड-पल्ली स्टेशन के समीप **नौलखा** नामक वह जैन मन्दिर है जिसे अल्हणदेव ने सम्वत् १२१८ (ई० सन् ११६१) मे बनवाया था। किन्तु इसमे जो तीर्थंकरो की मूर्तिया हैं उनमें वि० सं० ११४४ से १२०१ तक के लेख पाये जाते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उक्त मन्दिर

से पूर्व भी यहाँ मन्दिर रहा है।

अब हम आबू के जैन मन्दिरों पर आते हैं, जहाँ न केवल जैन कला किन्तु भारतीय वास्तुकला अपने सर्वोत्कृष्ट विकसित रूप में पाई जाती है। आबूरोड स्टेशन से कोई १८ मील तथा आबू कैम्प से डेढ़ मील पर देलवाड़ा नामक स्थान है जहाँ ये जैन मन्दिर पाये जाते हैं। ग्राम के समीप समुद्रतल से चार-पांच हजार फुट ऊँची पहाड़ी पर एक विशाल परकोटे के भीतर विमल-वसही लूण-वसही पित्तलहर, चौमुखा और महावीर स्वामी नामक पांच मन्दिर हैं। इन मन्दिरों की ओर जाने वाले पथ की दूसरी बाजू पर एक दिगम्बर जैनमन्दिर है। इन सब मन्दिरों में कला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं प्रथम दो। विमलवसही के निर्माण-कर्ता विमलशाह पोरवाड़ वंशी, तथा चालुक्यवंशी नरेश भीमदेव प्रथम के मंत्री व सेनापति थे। उनके कोई पुत्र नहीं था। उन्होंने अपना अपार धन व्यय करके प्राचीन वृत्तान्तानुसार, स्वर्ण मुद्राएं बिछा-कर यह भूमि प्राप्त की और उसपर आदिनाथ तीर्थंकर का मन्दिर बनवाया। यह मन्दिर पूरा का पूरा श्वेत संगमरमर पत्थर का बना हुआ है। जनश्रुति के अनुसार इस मन्दिर के निर्माण में १८ करोड़ ५३ लाख सुवर्ण मुद्राओं का व्यय हुआ। संगमर मर की बड़ी-बड़ी शिलाएं पहाड़ी के तल से हाथियों द्वारा उतनी ऊँची पहाड़ी पर पहुंचाई गई थीं। तथा आदिनाथ तीर्थंकर की सुवर्ण-मिश्रित पीतल की ४ फुट ३ इंच की विशाल पद्मासन मूर्ति बनवाकर प्रतिष्ठित की। यह प्रतिष्ठा वि सं १ ८८ (ई १ ३१) में मोहम्मद गौरी द्वारा सोमनाथ मन्दिर के विनाश से ठीक सात वर्ष पश्चात् हुई। यह मूर्ति प्रौढ़ दादा के नाम से विख्यात हुई पाई जाती है। इस मन्दिर को बीच-बीच में दो-तीन बार क्षति पहुंची जिसका पुनरुद्धार विमलशाह के वंशजों द्वारा वि सं १२ ६ और १२४५ में व १३६८ में किया गया। इस मन्दिर की रचना निम्न प्रकार है —

एक विशाल चतुष्कोण १२८×७५ फुट लम्बा-चौड़ा प्रांगण चारों ओर देवकुलों से घिरा हुआ है। इन देवकुलों की संख्या ५४ है, और प्रत्येक में एक प्रधान मूर्ति तथा उसके आश्रित अन्य प्रतिमाएं विराजमान हैं। इन देवकुलों के सम्मुख चारों ओर दोहरे स्तम्भों की मंडपाकार प्रदक्षिणा है। प्रत्येक देवकुल के सम्मुख ४ स्तम्भों की मंडपिका आ जाती है, और इस प्रकार कुल स्तम्भों की संख्या २१२ है। प्रांगण के ठीक मध्य में मुख्य मन्दिर है। पूर्व की ओर से प्रवेश करते हुए दर्शक को मन्दिर के नाना भाग इस प्रकार मिलते हैं:—

(१) हस्तिशाला-(२५×३ फुट) इसमें ६ स्तम्भ हैं, तथा हाथियों पर

आरूढ विमलशाह और उनके वशजो की मूर्तिया हैं जिन्हे उनके एक वशज पृथ्वीपाल ने ११५० ई० के लगभग निर्माण कराया था। (२) इसके आगे २५ फुट लम्बा-चौडा **मुख-मडप** है। (३) और उससे आगे देवकुलों की पक्ति व **भमिति** और **प्रदक्षिणा-मडप** है, जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है। तत्पश्चात् मुख्य मन्दिर का रगमडप या **सभा-मडप** मिलता है, जिसका गोल शिखर २४ स्तम्भो पर आधारित है। प्रत्येक स्तम्भ के अग्रभाग पर तिरछे शिलापट आरोपित हैं जो उस भव्य छत को धारण करते हैं। छत की पद्मशिला के मध्य मे बने हुए लोलक की कारीगरी अद्वितीय और कला के इतिहास में विख्यात है। उत्तरोत्तर छोटे होते हुए चन्द्रमडलो (ददरी) युक्त कचुलक कारीगरी सहित १६ विद्याधरियो की आकृतिया अत्यन्त मनोज्ञ हैं। इस रगमडप की समस्त रचना व उत्कीर्णन के कौशल को देखते हुए दर्शक को ऐसा प्रतीत होने लगता है, जैसे मानो वह किसी दिव्य लोक मे आ पहुचा हो। रगशाला से आगे चलकर **नवचौकी** मिलती है, जिसका यह नाम उसकी छत के ९ विभागो के कारण पडा है। इससे आगे **गूढ़मडप** है। वहा से मुख्य प्रतिमा का दर्शन-वदन किया जाता है। इसके सम्मुख वह मूल **गर्भगृह** है, जिसमे ऋषभनाथ की धातु प्रतिमा विराजमान है।

इसी मन्दिर के सम्मुख **लूण-वसही** है जो उसके मूलनायक के नाम से नेमिनाथ मन्दिर भी कहलाता है, और जिसका निर्माण ढोलका के बघेलवशी नरेश वीर धवल के दो मत्री भ्राता तेजपाल और वस्तुपाल ने सन् १२३२ ई० मे कराया था। तेजपाल मत्री के पुत्र लूणसिंह की स्मृति मे बनवाये जाने के कारण मन्दिर का यह नाम प्रसिद्ध हुआ। इस मन्दिर का विन्यास व रचना भी प्राय आदिनाथ मन्दिर के सदृश है। यहा भी उसी प्रकार का प्रागण, देवकुल तथा स्तम्भ-मडपो की पक्ति विद्यमान है। विशेषता यह है कि इसकी **हस्तिशाला** उस प्रागण के बाहर नही, किन्तु भीतर ही है। **रगमडप,, नवचौकी, गूढ़मडप** और **गर्भगृह** की रचना पूर्वोक्त प्रकार की ही है। किन्तु यहा रगमडप के स्तम्भ कुछ अधिक ऊचे हैं, और प्रत्येक स्तम्भ की बनावट व कारीगरी भिन्न है। मडप की छत कुछ छोटी है, किन्तु उसकी रचना व उत्कीर्णन का सौन्दर्य वसही से किसी प्रकार कम नही है। इसके रचना-सौन्दर्य की प्रशसा करते हुए फर्गुसन साहब ने कहा है कि "यहा सगमरमर पत्थर पर जिस परिपूर्णता, जिस लालित्य व जिस सन्तुलित अलकरण की शैली से काम किया गया है, उसकी अन्य कही भी उपमा मिलना कठिन है।"

इन दोनो मदिरो मे सगमरमर की कारीगरी को देखकर बडे बडे कला-

विशारद आश्चर्य चकित होकर दाँतों तले अंगुली दबाये बिना नहीं रहते। यहां भारतीय शिल्पियों ने जो कला-कौशल व्यक्त किया है, उससे कला के क्षेत्र में भारत का मस्तिष्क सदैव गर्व से ऊंचा उठा रहेगा। कारीगर की छैनी ने यहां काम नहीं किया। संगमरमर को घिस घिस कर उसमें वह सूक्ष्मता व कांच जैसी चमक व पारदर्शिता लाई गई है जो छैनी द्वारा लाई जानी असम्भव थी। कहा जाता है कि इन कारीगरों को घिसकर निकाले हुए संगमरमर के चूर्ण के प्रमाण से वेतन दिया जाता था। तात्पर्य यह कि इन मंदिरों के निर्माण से एक जिनालय के शब्दों में भवन ने अलंकार का रूप धारण कर लिया है जिसे शब्दों में समझाना असम्भव है। मंदिरों का दर्शन करके ही कोई उनकी अद्भुत कला के सौन्दर्य की अनुभूति कर सकता है। बिना देखे उसकी कोई कल्पना करना शक्य नहीं।

लूणवसही से पीछे की ओर पित्तलहर नामक जैन मन्दिर है, जिसे गुर्जर वंश के भीमाशाह ने १५ वीं शती के मध्य में बनवाया। यहां के वि. सं. १४८३ के एक लेख में कुछ भूमि व ग्रामों के दान दिये जाने का उल्लेख है, तथा वि. सं. १४८९ के एक अन्य लेख में कहा गया है कि आबू के चौहानवंशी राजा राजधर देवड़ा चुंडा ने यहां के तीन मन्दिरों-अर्थात् विमलवसही, लूणवसही और पित्तलहर-की तीर्थयात्रा को आनेवाले यात्रियों को सदैव के लिये कर से मुक्त किया। इस मंदिर का पित्तलहर नाम पड़ने का कारण यह है कि यहां मूलनायक आदिनाथ तीर्थंकर की १०८ मन पीतल की मूर्ति प्रतिष्ठित है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठा सं. १५२५ में सुन्दर और गदा नामक व्यक्तियों ने कराई थी। गुरु-गुण-रत्नाकर काव्य के अनुसार, ये दोनों अहमदाबाद के तत्कालीन सुल्तान महमूद बेगड़ा के मंत्री थे। इससे पूर्व की प्रतिष्ठित मूर्ति किसी कारणवश यहां से मेवाड़ के कुम्भल मेर नामक स्थान को पहुंचा दी गई थी। इस मंदिर की बनावट भी पूर्वोक्त दो मन्दिरों जैसी ही है। मूल गर्भगृह, गूढ़मंडप और नव-चौकी तो परिपूर्ण हैं किन्तु रंग-मंडप और भमिति कुछ अपूर्ण ही रह गये हैं। गूढ़मंडप में आदिनाथ की पंचतीर्थिक पाषाण प्रतिमा है, तथा अन्य तीर्थंकर प्रतिमाएं हैं। विशेष ध्यान देने योग्य यहां महावीर के प्रमुख गणधर गौतम स्वामी की पीत पाषाण की मूर्ति है। भमिति की देवकुलिकाओं में नाना तीर्थंकरों की मूर्तियां विराजमान हैं। एक स्थान पर भ. आदिनाथ के गणधर पुंडरीक स्वामी की प्रतिमा भी है।

चौमुखा मंदिर में भगवान् पार्श्वनाथ की चतुर्मुखी प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठा खरतर गच्छ के मुनियों द्वारा कराई जाने से यह मंदिर खरतर वसही

भी कहलाता है। कुछ मूर्तियो पर के लेखो से इस मदिर का निर्माणकाल वि० स० १५१५ के लगभग प्रतीत होता है। मदिर तीन तल्ला है, और प्रत्येक तल पर पार्श्व-नाथ की चौमुखी प्रतिमा विराजमान है।

पाचवा **महावीर मदिर** देलवाडा से पूर्वोत्तर दिशा मे कोई साढ़े तीन मील पर है। इसका निर्माण भी १५वी शती मे हुआ था। वर्तमान में इसके मूलनायक भ० आदिनाथ हैं, जिनके पार्श्वों मे पार्श्वनाथ और शान्तिनाथ तीर्थंकरो की मूर्तिया हैं, किन्तु मदिर की ख्याति महावीर के नाम से ही है। अनुमानत बीच मे कभी मूलनायक का स्थानान्तरण किया गया होगा। वह मदिर एक परकोटे के मध्य मे स्थित है और गर्भ-गृह के सम्मुख शिखरयुक्त गूढमडप भी है। उसके सम्मुख खुला चबूतरा है, जिसपर या तो नवचौकी और सभामडप बनाये ही नही जा सके, अथवा बनकर कभी विध्वस्त हो गये।

देलवाडा का **दिग० जैन मदिर** वहा से अचलगढ की ओर जाने वाले मार्ग के मुख पर ही है। इस मदिर मे एक शिलालेख है, जिसके अनुसार वि० सं० १४६४ मे गोविंद सघाधिपति यहा मूलसघ, बलात्कार गण, सरस्वती गच्छ के भट्टारक पद्मनदी के शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र सहित तीर्थयात्रा को आये, और उन्होंने उस मदिर का निर्माण कराया। उस समय आबू के राजा राजधरदेवडा चूडा का राज्य था।

राजपूताने का एक अन्य उल्लेखनीय जैन मंदिर जोधपुर राज्यान्तर्गत गोडवाड जिले मे राणकपुर का है जो सन् १४३९ में बनवाया गया था। यह विशाल चतुर्मुखी मदिर ४०,००० वर्ग फुट भूमि पर बना हुआ है, और उसमे २९ मडप हैं, जिनके स्तम्भो की सख्या ४२० है। इन समस्त स्तम्भो की बनावट व शिल्प पृथक्-पृथक् है, और अपनी-अपनी विशेषता रखती है। मदिर का आकार चतुर्मुखी है। बीच मे मुख्य मदिर है जिसकी चारो दिशाओ मे पुन चार मदिर हैं। इनमे शिखरो के अतिरिक्त मडपो के भी और उनके आसपास ८६ देवकुलिकाओ के भी अपने-अपने शिखर हैं, जिनकी आकृति दूर से ही अत्यन्त प्रभावशाली दिखाई देती है। शिखरो का सौन्दर्य और सन्तुलन बहुत चित्ताकर्षक है और यही बात उसकी अन्तरग कलाकृतियों के विषय में भी पाई जाती है। सर्वत्र वैचित्र्य और सामजस्य का अद्भुत सयोग दिखाई देता है। दर्शक मदिर के भीतर जाकर मडपो, उनके स्तम्भों व खुले प्रागणो मे से जाता हुआ प्रकाश और छाया के अद्भुत प्रभावों से चमत्कृत हो जाता है। मुख्य गर्भगृह स्वस्तिकाकार है और उसके चारो ओर चार द्वार हैं। यहा आदिनाथ की श्वेत सगमरमर की चतु-र्मुखी मूर्ति प्रतिष्ठित है। यह दुतल्ला है, और दूसरे तल में भी यही रचना है। इस

चौमुखी मंदिर का विन्यास प्रायः उसी प्रकार का है, जैसा कि पहाड़पुर के महाविहार का पाया जाता है।

राजपूताने की एक और सुन्दर व कलापूर्ण निर्मिति है चित्तौड़ का कीर्तिस्तम्भ। इसके निर्माता व निर्माण काल के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद रहा। किन्तु हाल में ही नांदगांव के दिगम्बर जैन मंदिर की धातुमयी प्रतिमा पर सं० १५४१ ई (सन् १४८४) का एक लेख मिला है जिसके अनुसार मेदपाट देश के चित्रकूट नगर में इस कीर्ति-स्तम्भ का निर्माण चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र के चैत्यालय के सम्मुख जीजाशाह के पुत्र पूर्णसिंह ने करवाया था। इससे स्पष्ट है कि स्तम्भ की रचना १५ वीं सदी में ई० सन् १४८४ से पूर्व ही हो चुकी थी। जीजाशाह के पुत्र पूर्णसिंह बघेरवाल जाति के थे। और उन्होंने कारंजा (जिला अकोला-बरार) के मूलसंघ सेनगण पुष्करगच्छ के भट्टारक सोमसेन के उपदेश से इस स्तम्भ के अतिरिक्त १०८ शिखरबद्ध मंदिरों का उद्धार कराया जिन-बिंब बनवाये और प्रतिष्ठाएं कराई अनेक श्रुतभंडारों की स्थापना कराई और बंदी छुड़वाये ऐसा भी उक्त लेख में उल्लेख है।

लेख से स्पष्ट है कि यह स्तम्भ एक जैन मंदिर के सम्मुख बनवाया गया था, जिससे यह मानस्तम्भ प्रतीत होता है। यह स्तम्भ लगभग ७५ फुट ऊंचा है, और उसका नीचे का व्यास ३१ फुट तथा ऊपर का १५ फुट है। इसमें सात तल्ले हैं, जिनके ऊपर गंधकुटी रूप छत्री बनी हुई है। यह छत्री एक बार विद्युत् से आहत होकर ध्वस्त हो गई थी किन्तु उसे महाराणा फतहसिंह ने लगभग अस्सी हजार के व्यय से पुनः पूर्ववत् ही निर्माण करा दिया। इस शिखर की कुटी में अवश्य ही चतुर्मुखी तीर्थंकर मूर्ति रही होगी। स्तम्भ के समस्त तलों के चारों भागों पर आदिनाथ व अन्य तीर्थंकरों की नग्न मूर्तियां विराजमान हैं जिससे आश्रित यह स्तम्भ आदि तीर्थंकर का ही स्मारक प्रतीत होता है। इस कीर्तिस्तम्भ की बाह्य निर्मिति अलंकृतियों से भरी हुई है।

चित्तौड़ के किले पर कुछ इसी प्रकार का एक दूसरा कीर्ति-स्तम्भ भी है जिसमें ६ तल हैं और जो हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियों से अलंकृत है। यह पूर्वोक्त स्तम्भ से बहुत पीछे उसी के अनुकरण रूप महाराणा कुम्भ का बनवाया हुआ है।

जैन तीर्थों में सौराष्ट्र प्रदेश में शत्रुंजय (पालीताणा) पर्वत पर जितने जैन मंदिर हैं उतने अन्यत्र कहीं नहीं। शत्रुंजय माहात्म्य के अनुसार यहां प्रथम तीर्थंकर के समय से ही जैन मंदिरों का निर्माण होता आया है। वर्तमान में वहां पाये जाने वाले मंदिरों में सबसे प्राचीन वसही विमलशाह (११ वीं शती) का है जिन्होंने आबू पर विमलवसही बनवाया है और दूसरा राजा कुमारपाल (१२वीं शती) का बनवाया हुआ है।

विशालता व कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से विमलवसही ट्रक का **आदिनाथ मंदिर** सबसे महत्वपूर्ण है। यह मंदिर सन् १५३० मे बना है, किन्तु इसके भी प्रमाण मिलते हैं कि उससे पूर्व वहा ई० सन् ६६० का बना हुआ एक मंदिर था। यहा की १० वी शती की निर्मित पुण्डरीक की प्रतिमा सौन्दर्य मे अतिश्रेष्ठ मानी गयी है। चौथा उल्लेखनीय **चतुर्मुख मंदिर** है जो सन् १६१८ का बना हुआ है। इसकी चारो दिशाओ मे चार प्रवेश-द्वार हैं। पूर्वद्वार रगमडप के सम्मुख है, तथा तीन अन्य द्वारो के सम्मुख भी मुख-मडप बने हुए है। ये सभी मडप दुतल्ले हैं और ऊपर के तल मे मुखमडपिकाओ से युक्त वातायन भी हैं। उपर्युक्त व अन्य मदिर, गर्भगृह, मडपो व देवकुलिकाओ की रचना, शिल्प व सौन्दर्य मे देलवाडा के विमलवसही व लूणवसही का ही हीनाधिक मात्रा मे अनुकरण करते हैं।

सौराष्ट्र का दूसरा महान् तीर्थक्षेत्र है **गिरनार**। इस पर्वत का प्राचीन नाम ऊर्जयन्त व रैवतक गिरि पाया जाता है, जिसके नीचे वसे हुए नगर का नाम गिरिनगर रहा होगा, जिसके नाम से अब स्वय पर्वत ही गिरिनार (गिरिनगर) कहलाने लगा न। जूनागढ से इस पर्वत की ओर जाने वाले मार्ग पर ही वह इतिहास-प्रसिद्ध विशाल शिला मिलती है जिसपर अशोक, रुद्रदामन् और स्कंदगुप्त सम्राटो के शिलालेख खुदे हुए है, और इस प्रकार जिस पर लगभग १००० वर्ष का इतिहास लिखा हुआ है। जूनागढ के समीप ही बावाप्यारा मठ के पास वह जैन गुफा है, जो पूर्वोक्त प्रकार से पहली-दूसरी शती की **धरसेनाचार्य की चन्द्रगुफा** प्रतीत होती है। इस प्रकार यह स्थान ऐतिहासिक व धार्मिक दोनो दृष्टियो से अतिप्राचीन व महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। गिरि-नगर पर्वत का जैनधर्म से इतिहासातीत काल से सम्बन्ध इसलिये पाया जाता है, क्योंकि यहा पर ही २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ ने तपस्या की थी और निर्वाण प्राप्त किया था। इस तीर्थ का सर्वप्राचीन उल्लेख समन्तभद्रकृत वृहत्स्वयभूस्तोत्र (५वी शती) मे मिलता है जहा नेमिनाथ की स्तुति मे कहा गया है कि—

ककुद भुव खचर-योषिदुषित-शिखरैरलकृत
मेघ-पटल-परिवीत-तटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा।
वहतीति तीर्थमृषिभिश्च सततमभिगम्यतेऽद्य च
प्रीति-वितत-हृदयै परितो भृशमूर्जयन्त इति विश्रुतोऽचल. ॥१२८॥

इस स्तुति के अनुसार समन्तभद्र के समय मे ऊर्जयन्त (गिरनार) पर्वत पर नेमिनाथ तीर्थंकर की मूर्ति या चरणचिन्ह प्रतिष्ठित थे, शिखर पर विद्याधरी अंबिका की मूर्ति भी विराजमान थी, और ऋषिमुनि वहा की निरन्तर तीर्थ-यात्रा किया करते थे।

वर्तमान में यहां का सबसे प्रसिद्ध विशाल व सुन्दर मंदिर नेमिनाथ का है। रैवतक गिरि-कल्प के अनुसार इसका निर्माण चालुक्य नरेश जयसिंह के दंडाधिप सज्जन ने खंगार राज्य पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् सम्वत् ११८५ में करवाया था। इसके शिखर पर सुवर्ण का आमलक मालव देश के मुकुटमंडन भावड़ने और पद्या (सोपान-पथ) का निर्माण कुमारपाल नरेन्द्र द्वारा नियुक्त सौराष्ट्र के दंडाधिप श्रीश्रीमाल कुल के व्यक्ति ने सम्वत् १२२ में कराया था। मंदिर के मूलनायक की प्रतिमा प्रारंभ लेपमय थी और उसका लेप कालानुसार गलित हो गया था, तब काश्मीर से तीर्थयात्रा पर आये हुए अजित और रतन नामक दो भाइयों ने उसके स्थान पर दूसरी प्रतिमा स्थापित की। मंदिर के प्रांगण में कोई सत्तर देवकुलिकाएं हैं। इनके बीच मंदिर बना हुआ है जिसका मंडप बड़ी सुन्दरता से अलंकृत है। मुख्य मंदिर के विमान के विशाल शिखर के आसपास अनेक छोटे-छोटे शिखरों का पुंज है जिससे उसका दृश्य बहुत भव्य दिखाई देता है। इस काल की जैन वास्तु-कला का यह एक वैशिष्ट्य है। यहां का दूसरा उल्लेखनीय मंदिर है वस्तुपाल द्वारा निर्मापित मल्लिनाथ तीर्थंकर का। इस मंदिर का विन्यास एक विशिष्ट प्रकार का है। रंगमंडप के प्रवेश-द्वार की दिशा को छोड़कर शेष तीन दिशाओं में उससे सटे हुए तीन मंदिर हैं। मध्य का मंदिर मूलनायक मल्लिनाथ का है। आजू-बाजू के दोनों मंदिर रचना में स्तम्भयुक्त मण्डपों के सदृश हैं और उनमें ठोस पाषाण की बड़ी कारीगरी दिखाई देती है। उत्तर दिशा का मंदिर चौकोर अधिष्ठान पर मेरु की रचना से युक्त है, तथा दक्षिण दिशा का मंदिर सम्मेदशिखर की प्रतिकृति है।

यह प्राचीन और शैली व कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण उपलब्ध जैन मंदिरों का अति संक्षिप्त और स्फुट परिचय मात्र है। यथार्थतः तो समस्त देश हिमालय से दक्षिणी समुद्र तक व सौराष्ट्र से बंगाल तक जैन मंदिरों व उनके भग्नावशेषों से भरा पड़ा हुआ है। जहां अब जैन मंदिर नहीं हैं या उनके खंडहर मात्र अवशिष्ट हैं, वहां के विषय में जेम्स फर्गुसन साहब का अभिमत ध्यान देने योग्य है। उनका कथन है "गांधारप्रदेश अथवा जहां भी मुसलमान संख्या में बसे वहां प्राचीन जैन मंदिरों के पाने की आशा करना व्यर्थ है। उन लोगों ने अपने धर्म के जोश में मंदिरों को नष्ट भ्रष्ट कर डाला है, तथा जिन सुन्दर स्तम्भों तोरणों आदि को नष्ट नहीं किया उनका बड़े चाव से अपनी मस्जिदों आदि के निर्माण में उपयोग कर लिया। अजमेर दिल्ली कन्नौज धार व अहमदाबाद की विशाल मस्जिदें यथार्थतः जैन-मंदिरों की ही परिवर्तित निर्मितियां हैं।"

फर्गुसन साहब ने यह भी समझाया है कि किस प्रकार से जैन मंदिर मस्जिदों

मे विपरिवर्तित किये गये हैं। "आबू के विमलवसही की रचना की ओर ध्यान दीजिये जहा एक विशाल प्रागण के चारो ओर भमिति और मध्य मे मुख्य मदिर व मडप है। यह प्राचीन जैन मदिरो की साधारण रचना थी। इस मध्य के मदिर और मडप को नष्ट करके तथा देवकुलिकाओ के द्वार वद कर के एक ऐसा खुला प्रागण अपने चारो ओर स्तम्भो की दोहरी पक्ति सहित मिल जाता है, जो मस्जिद का विशेष आकार है। इसमे मस्जिद का एक वैशिष्ट्य शेष रह जाता है, और वह है मक्का (पश्चिम) की ओर उसका प्रमुख द्वार। इस वैशिष्ट्य को इस दिशा के छोटे स्तम्भो को हटाकर उनके स्थान पर मध्य मडप से सुविशाल स्तम्भो को स्थापित करके प्राप्त किया गया है। यदि मूल मे दो मडप रहे, तो दोनो को उस दरवाजे के दोनो ओर पुनर्निर्मित कर दिया गया। इस प्रकार विना एक भी नये स्तम्भ के एक ऐसी मस्जिद तैयार हो जाती थी, जो सुविधा और सौन्दर्य की दृष्टि से उनके लिये अपूर्व थी। इस प्रकार के रचना-परिवर्तन के उदाहरण अजमेर का अढाई दिन का झोपडा, दिल्ली की कुतुवमीनार के समीप की मस्जिद, एव कन्नौज, माडू (धार राज्य), अहमदावाद आदि की मस्जिदें आज भी विद्यमान हैं, और वे मुसलमान काल से पूर्व की जैन वास्तु-कला के अध्ययन से लिये वडे उपयुक्त साधन हैं।" (हिस्ट्री ओफ इडिया एन्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, पृ २६३-६४)

यहा प्रश्न हो सकता है कि क्या देश के बाहर भी जैन मदिरो का निर्माण हुआ? अन्यत्र कहा जा चुका है कि महावश के अनुसार लका मे वौद्ध धर्म के प्रवेश से वहुत पूर्व ही वहा निर्ग्रन्थ मुनि पहुच चुके थे, और उनके लिये अनुराधपुर मे पाडुकाभय नरेश ने ई० पू० ३६० के लगभग निवास स्थान व देवकुल (मदिर) निर्माण कराये थे। जावा के व्रम्वनम् नामक स्थान का एक मदिर-समूह, फर्गुसन साहव के मतानुसार, मूलत जैन रहा है। न केवल उसकी मध्यवर्ती मदिर व भमिति की सैकडो देवकुलि-काए जैन मदिरो की सुविख्यात शैली का अनुसरण करती हैं, किन्तु उनमे प्रतिष्ठित जिन ध्यानस्थ पद्मासन मूर्तियो को सामान्यत वौद्ध कहा जाता है, वे सव जिन मूर्तिया ही प्रतीत होती हैं। इतिहास मे भले ही इस वात के प्रमाण न मिलें कि जैन धर्म कव जावा द्वीप मे पहुचा होगा, किन्तु यह उदाहरण इस वात का तो प्रमाण अवश्य है कि जैन मदिरो की वास्तुकला ने दसवी शती से पूर्व जावा मे प्रवेश कर लिया था।

अवनितलगतानां कृत्रिमाकृत्रिमाणां
वनभवनगताना दिव्यवैमानिकानाम्।
इह मनुजकृताना देवराजार्चिताना
जिनवर-निलयानां भावतोऽह स्मरामि ॥"

जैन मूर्तिकला

अतिप्राचीन जैन मूर्तियां—

जैनधर्म में मूर्तिपूजा सम्बन्धी उल्लेख प्राचीनतम काल से पाये जाते हैं। जैन आगमों में जैन तीर्थंकरों व यक्षों की मूर्तियों संबंधी उल्लेखों के अतिरिक्त कलिंग नरेश खारवेल के ई० पू० द्वितीय शती के हाथीगुम्फा वाले शिलालेख से प्रमाणित है कि नंदराज के राज्यकाल अर्थात् ई० पू० चौथी-पांचवीं शती में जिन-मूर्तियां प्रतिष्ठित की जाती थीं। ऐसी ही एक जिनमूर्ति को नंदराज कलिंग से अपहरण कर ले गये थे और उसे खारवेल कोई दो-तीन शती पश्चात् वापिस लाये थे। कुषाण काल की तो अनेक जिन मूर्तियां मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से प्राप्त हुई हैं, जो मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। एक प्राचीन मस्तकहीन जिन प्रतिमा पटना संग्रहालय में सुरक्षित है जो लोहानीपुर से प्राप्त हुई थी। इस मूर्ति पर चमकदार पालिश होने से उसके मौर्यकालीन होने का अनुमान किया जाता है। इससे प्राचीन मूर्तियां भारतवर्ष में कहीं प्राप्त नहीं होती थीं किन्तु सिन्धुघाटी की खुदाई में मोहेनजोदड़ो व हड़प्पा से जो मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, उनसे भारतीय मूर्तिकला का इतिहास ही बदल गया है, और उसकी परंपरा उस काल से सहस्रों वर्ष पूर्व की प्रमाणित हो चुकी है। सिन्धुघाटी की मुद्राओं पर प्राप्त लेखों की लिपि अभी तक अज्ञात होने के कारण वहां की संस्कृति के सम्बन्ध में अभी तक निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। तथापि वहां तक मूर्ति-निर्माण आकृति व भावाभिव्यंजन के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है, उस पर से उक्त लोहानीपुर की मस्तकहीन नग्न मूर्ति व हड़प्पा से प्राप्त मस्तकहीन नग्न मूर्ति में बड़ा साम्य पाया जाता है, और पूर्वोक्त परम्परा के आधार से हड़प्पा की मूर्ति वैदिक व बौद्ध मूर्तिप्रणाली से सर्वथा विसदृश व जैन-प्रणाली के पूर्णतया अनुकूल सिद्ध होती है। ऋग्वेद में शिश्न देवों अर्थात् नग्न देवों के जो उल्लेख हैं उनमें इन देवों अथवा उनके अनुयायियों को यज्ञ से दूर रखने व उनका नाश करने की इन्द्र से प्रार्थना की गई है। (ऋग्वेद ७ २१ ५ व १० ९९, ३)। जिस प्रकार यह मूर्ति खड्गासन की दृष्टि से समता रखती है, उसी प्रकार अनेक मुद्राओं पर की ध्यानस्थ व मस्तिष्क पर त्रिशूलयुक्त मूर्ति जैन पद्मासन मूर्ति से तुलनीय है। एक मुद्रा में इस मूर्ति के आसपास हाथी बैल सिंह व मृग आदि वनचर जीव दिखाये गये हैं, जिस पर से उसके पशुपति

नाथ की पूर्वगामी मूर्ति होने की कल्पना की जाती है। जो हो, इस मूर्ति में हमे जैन, बौद्ध व शैव ध्यानस्थ मूर्तियो का पूर्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है। यथार्थत तो इस प्रकार के आसन से ध्यान का सबध जितना श्रमण परम्परा से है, उतना वैदिक परम्परा से नही; और श्रमण-परम्परा की जितनी प्राचीनता जैन धर्म मे पाई जाती है, उतनी बौद्ध धर्म मे नही। मूर्ति के सिर पर स्थापित त्रिशूल उस त्रिशूल से तुलनीय है जो अति-प्राचीन जैन-तीर्थंकर मूर्तियो के हस्त व चरण तलो पर पाया जाता है, जिसपर धर्म-चक्र स्थापित देखा जाता है, और विशेषत जो रानी-गुम्फा के एक तोरण के ऊपर चित्रित है। इस विषय मे यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पश्चिम भारत से जैन-धर्म का अतिप्राचीन सबध पाया जाता है। एव जिस असुर जाति से सबद्ध सिन्धघाटी की सभ्यता अनुमानित की जाती है, उन असुरो, नागो और यक्षो द्वारा जैनधर्म व मुनियो की नाना सकटो की अवस्था मे रक्षा किये जाने के उल्लेख पाये जाते हैं।

कुषाण कालीन जैन मूर्तिया—

इतिहास-कालीन जैन मूर्तियो के अध्ययन की प्रचुर सामग्री हमे मथुरा के सग्रहालय मे एकत्रित उन ४७ मूर्तियो मे प्राप्त होती है, जिनका व्यवस्थित परिचय डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने वहा की सूची के तृतीय भाग मे कराया है। इनमे से अनेक मूर्तियो के आसनो पर लेख भी खुदे मिले हैं, जिनसे उनका काल-विभाजन भी सुलभ हो जाता है। कुषाण-कालीन मूर्तियो पर पाचवें से लेकर ९० वें वर्ष तक का उल्लेख है। अनेक लेखो मे ये वर्ष शक सम्वत् के अनुमान किये जाते हैं। कुछ लेखो मे कुषाणवशी कनिष्क, हुविष्क व वासुदेव राजाओ का उल्लेख भी हुआ है। तीर्थंकरो की समस्त मूर्तिया दो प्रकार की पाई जाती हैं—एक खडी हुई, जिसे कायोत्सर्ग या खड्गासन कहते हैं, और दूसरी बैठी हुई पद्मासन। समस्त मूर्तिया नग्न व नासाग्र-दृष्टि, ध्यानमुद्रा मे ही हैं। नाना तीर्थंकरो मे भेद सूचित करने वाले वे बैल आदि चिन्ह इन पर नहीं पाये जाते, जो परवर्ती काल की प्रतिमाओ मे। अधिकाश मूर्तियो के वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिन्ह पाया जाता है, तथा हस्ततल व चरणतल एव सिंहासन पर धर्मचक्र, उष्णीष तथा ऊर्णा (भौहो के बीच रोमगुच्छ) के चिन्ह भी बहुत सी मूर्तियो मे पाये जाते हैं। अन्य परिकरों में प्रभावल (भामण्डल), दोनो पार्श्वों में चमरवाहक तथा सिंहासन के दोनो ओर सिंह भी उत्कीर्ण रहते हैं। कभी-कभी ये सिंह आसन को धारण किये हुए दिखाये गये हैं। कुछ मूर्तियो का सिंहासन उठे हुए पद्म (उत्थित पद्मासन) के रूप मे दिखाया गया है। कुछ मे तीर्थंकर की मूर्ति पर छत्र

भी अंकित है, और एक के सिंहासन पर बालक को गोद में बैठाये अम्बिका यक्षिणी की प्रतिमा भी है। ये उस काल की जिन-मूर्तियों के सामान्य लक्षण प्रतीत होते हैं। केवल दो तीर्थंकरों की मूर्तियां अपने किसी विशेष लक्षण से युक्त पाई जाती हैं। वे हैं आदिनाथ जिनका केशकलाप पीछे की ओर कंधों से नीचे तक बिखरा हुआ दिखाया गया है और पार्श्वनाथ जिनके सिर पर सप्तफणी नाग छाया किये हुए है। आदिनाथ के तपस्याकाल में उनकी लम्बी जटाओं का उल्लेख प्राचीन जैन साहित्य में अनेक स्थानों पर आया है। उदाहरणार्थ रविषेणाचार्य कृत पद्मपुराण (६७६ ई.) में कहा गया है—

वातोद्धूता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः।
धूमालय इव ध्यान-वह्निसक्तस्य कर्मणः॥ (प. पु. ३,२८८)

तथा—

स रेजे भगवान् दीर्घजटाजालहृतांशुमान्॥ (वही ४,५)

इसी प्रकार पार्श्वनाथ तीर्थंकर के नागफण-रूपी छत्र का भी एक इतिहास है जिसका सुन्दर संक्षिप्त वर्णन समन्तभद्र कृत स्वयम्भूस्तोत्र में इस प्रकार मिलता है—

तमालनीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः प्रकीर्णभीमाशनि-वायुवृष्टिभिः।
बलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रुतो महामना यो न चचाल योगतः॥ १३१॥
बृहत्फणामण्डल-मण्डपेन यं स्फुरत्तडित्पिंगरुचोपसर्गिणाम्।
जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसंध्यातडिदम्बुदो यथा॥ १३२॥

जिस समय पार्श्वनाथ अपनी तपस्या में निश्चल भाव से ध्यानारूढ़ थे तब उनका पूर्वजन्म का बैरी कमठासुर नाना प्रकार के उपद्रवों द्वारा उनको ध्यान से विचलित करने का प्रयत्न करने लगा। उसने प्रचण्ड वायु चलाई घनघोर वृष्टि की मेघों से वज्रपात कराया तथापि भगवान् ध्यान से विचलित नहीं हुए। उनकी ऐसी तपस्या से प्रभावित होकर धरणेन्द्र नाग ने आकर अपने विशाल फणा-मण्डल को उनके ऊपर तान कर, उनकी उपद्रव से रक्षा की। इसी घटना का प्रतीक हम पार्श्वनाथ के नाग-फणा चिन्ह में पाते हैं।

कुछ मूर्तियों का परिचय—

(१) महाराज वासुदेवकालीन सम्वत्सर ८४ की आदिनाथ की मूर्ति (बी ४)—मूर्ति ध्यानस्थ पद्मासीन है। यद्यपि मस्तक और बाहु खंडित हैं तथापि तरोंचा हुआ किनारीदार प्रभावल बहुत कुछ सुरक्षित है। वक्षस्थल पर श्रीवत्स एवं हाथों और

चरणो के तलो पर चक्रचिन्ह विद्यमान हैं। आसन पर एक स्तभ के ऊपर धर्मचक्र है। उसकी १० स्त्री-पुरुष पूजा कर रहे हैं, जिनमे से दो धर्मचक्रस्तम्भ के समीप घुटना टेके हुए हैं, और शेष खडे हैं। कुछ के हाथो मे पुष्प हैं, और कुछ हाथ जोडे हुए हैं। सभी की मुखमुद्रा वदना के भाव को लिए हुए है। इस मूर्ति को लेख मे स्पष्टत भगवान् अर्हन्त ऋषभ की प्रतिमा कहा है।

(२) **पार्श्वनाथ की एक सुन्दर मूर्ति** (वी ६२) का सिर और उसपर नागफरणा मात्र सुरक्षित मिला है। फणों के ऊपर स्वस्तिक, रत्नपात्र, त्रिरत्न, पूर्णघट और मीन-युगल, इन मगल-द्रव्यो के चिन्ह बने हुये हैं। सिर पर घुघराले बाल हैं। कान कुछ लम्बे, आखो की भौंहे ऊर्णा से जुडी हुई व कपोल भरे हुए हैं।

(३) **पाषाण-स्तभ** (वी ६८) ३ फुट ३ इच ऊचा है, और उसके चारो ओर चार नग्न जिन-मूर्तिया हैं। श्रीवत्स सभी के वक्षस्थल पर है, और तीन मूर्तियो के साथ भामण्डल भी है, व उनमे से एक के सिर की जटाए कधो पर बिखरी हुई हैं। चतुर्थ मूर्ति के सिर पर सप्तफरणी नाग की छाया है। इनमे से अतिम दो स्पष्टत आदिनाथ और पार्श्वनाथ की मूर्तिया हैं।

(४) इतिहास की दृष्टि से एक **स्तम्भ का पीठ** उल्लेखनीय है। इसके ऊपर का भाग जिसमे चारो ओर जिनप्रतिमायें रही हैं, टूट गया है, किन्तु उनके चरणो के चिन्ह बचे हुए हैं। इस पीठ के एक भाग पर धमचक्र खुदा हुआ है, जिसकी दो पुरुष व दो स्त्रिया पूजा कर रहे हैं, तथा दो बालक हाथो मे पुष्पमालाए लिए खडे हैं। इस पाषाण पर लेख भी खुदा है, जिसके अनुसार यह अभिसार-निवासी भटिट्दाम का आर्य ऋषिदास के उपदेश से किया हुआ दान है। डा० अग्रवाल का मत है कि यह उक्त धार्मिक पुरुष उसी अभिसार प्रदेश का निवासी रहा होगा जिसका यूनानी लेखको ने भी उल्लेख किया है, और जो वर्तमान पेशावर विभाग के पश्चिमोत्तर का हजारा जिला सिद्ध होता है। उसने मथुरा मे आकर जैनधर्म स्वीकार किया होगा। किन्तु इससे अधिक उचित यह प्रतीतहोता है कि हजारा निवासी वह व्यक्ति पहले से जैनधर्मा-वलम्बी रहा होगा और मथुरा के स्तूपो और मदिरो की तीर्थयात्रा के लिए आया होगा, तभी उसने वह **सर्वतोभद्र प्रतिमा** प्रतिष्ठित कराई। प्रथम शती मे पश्चिमोत्तर प्रदेश में जैनधर्म का अस्तित्व असम्भव नही है।

(५) एक और ध्यान देने योग्य प्रतिमा (२५०२) है, तीर्थंकर **नेमिनाथ** की। इसके दाहिनी ओर चार भुजाओ व सप्त फणो युक्त नागराज की प्रतिमा है, जिसके ऊपर के बाए हाथ में हल का चिन्ह होने से वह **बलराम** की मानी गई है। बायी ओर

चतुर्भुज विष्णु की मूर्ति है, जिनके ऊपर के दाहिने हाथ में गदा व बाएं हाथ में चक्र है। तीर्थंकर की मूर्ति के ऊपर मेघस-फणों का वितान है। समवायांग सूत्र के अनुसार मेघस नेमिनाथ का बोधिवृक्ष है। हिन्दू पुराणानुसार बलराम शेषनाग के अवतार माने गये हैं। इस प्रकार की ऐसे ही बलराम और वासुदेव की प्रतिमाओं से अंकित और भी अनेक मूर्तियां पाई गई हैं, (जैन एन्टी भाग २, पृष्ठ ११)। ऐसी ही एक और प्रतिमा (२४८८) है, जिसमें तीर्थंकर के दाहिनी ओर फणायुक्त नाग हाथ जोड़े खड़ा है। यह भी बलराम उपासक सहित नेमिनाथ की मूर्ति मानी गई है। नेमिनाथ की मूर्ति के साथ वासुदेव और बलभद्र के सम्बद्ध होने का उल्लेख समन्तभद्र ने अपने बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र में किया है। नेमिनाथ की स्तुति करते हुए वे कहते हैं —

द्युतिमद्-रथांग-रविबिम्बकिरण-जटिलांशुमंडलः।
नील-जलजदलराशि-वपुः सहबन्धुभिर्गरुडकेतुरीश्वरः॥
हलभृच्च ते स्वजनभक्तिमुदितहृदयौ जनेश्वरौ।
धर्मविनय रसिकौ सुतरां चरणारविन्द-युगलं प्रणेमतुः॥ १२१॥

अर्थात् चक्रधारी गरुडकेतु (वासुदेव) और हलधर, ये दोनों भ्राता प्रमुदित होकर विनय से आपकी वन्दना करते हैं।

गुप्तकालीन जैन मूर्तियां—

कुषाणकाल के पश्चात् अब हम गुप्तकालीन तीर्थंकर प्रतिमाओं की ओर ध्यान दें। यह युग ईसा की चौथी शती से प्रारम्भ होता है। इस युग की १७ प्रतिमाओं का परिचय उक्त मथुरा संग्रहालय की सूची में कराया गया है। जिस पर से इस युग की निम्न विशेषतायें प्राप्त होती हैं। तीर्थंकर मूर्तियों के सामान्य लक्षण तो वे ही पाये जाते हैं जो कुषाणकाल में विकसित हो चुके थे किन्तु उनके परिकरों में अब कुछ वैशिष्ट्य दिखाई देता है। प्रतिमाओं का पद्मासन कुछ अधिक सौन्दर्य व घुंघरालेपन को लिये हुए पाया जाता है। प्रभामंडल में विशेष सजावट दिखाई देती है (बी १ बी ६ आदि)। धर्मचक्र व उसके उपासकों का चित्रण पूर्ववत् होते हुए कहीं कहीं उसके पार्श्वों में मृग भी उत्कीर्ण दिखाई देते हैं। बौद्ध मूर्तियों में इस प्रकार मृगों का चित्रण बुद्ध भगवान् के सारनाथ के मृगदाव में प्रथम बार धर्मोपदेश का प्रतीक माना गया है। सम्भव है यहां भी उसी अलंकरण शैली ने स्थान पा लिया हो। आगे चलकर हम मृग को शान्तिनाथ भगवान् का विशेष चिन्ह स्वीकृत पाते हैं। इस प्रकार की एक प्रतिमा (बी ७५) के सिंहासन पर एक पार्श्व में अपनी देवी सहित धनपति कुबेर और दूसरे

पार्श्व मे अपनी बाई जघा पर बालक को बैठाये हुए मातृदेवी (अम्बिका) की प्रतिमा दिखाई देती है। इनके ऊपर दोनो ओर चार-चार कमलासीन प्रतिमाए दिखाई गई हैं, जो सूर्य, चन्द्र, मगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, और राहु, इन आठ ग्रहों की प्रतीक मानी गई हैं। इस अलकरण के आधार पर यह प्रतिमा गुप्त-युग से मध्य-युग के संधि-काल की मानी गई है, क्योकि यह प्रतिमाशैली उस काल मे अधिक विकसित हुई थी (बी ६५, ६६)। नवग्रह और अष्ट-प्रातिहार्य युक्त एक जिन-प्रतिमा मध्यप्रदेश मे जबलपुर के समीप सलीमानाबाद से भी एक वृक्ष के नीचे प्राप्त हुई थी, जो वहा की जनता द्वारा खैरामाई के नाम से पूजी जाती है (देखो-खडहरो का वैभव, पृ-१८०)। इसी प्रकार की सधिकालीन वह एक प्रतिमा (१२८८) है जिसके सिंहासन पर पार्श्वस्थ सिंहो के बीच मीन-युगल दिखलाया गया है जिनके मुख खुले हुए है, और उनसे सूत्र लटक रहा है। आगे चलकर मीन अरनाथ तीर्थंकर का चिन्ह् पाया जाता है। आदिनाथ की प्रतिमा अभी तक उन्ही कन्धो पर बिखरे हुए केशो सहित दिखाई देती है। उसका वृषभ, तथा अन्य तीर्थंकरो के अलग-अलग चिन्ह् यहा तक अधिक प्रचार मे आये नही पाये जाते, तथापि उनका उपयोग प्रारम्भ हुआ प्रमाणित होता है। इस सबध मे राजगिर के वैभार पर्वत की नेमिनाथ की वह मूर्ति ध्यान देने योग्य है जिसके सिंहासन के मध्य मे धर्मचक्र की पीठ पर धारण किये हुए एक पुरुष और उसके दोनो पार्श्वों मे शखो की आकृतिया पाई जाती हैं। इस मूर्ति पर के खडित लेख मे चन्द्रगुप्त का नाम पाया जाता है, जो लिपि के आधार पर गुप्तवशी नरेश चन्दगुप्त-द्वितीय का वाची अनुमान किया जाता है। गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के काल मे गुप्त स० १०६ की बनी हुई विदिशा के समीप की उदयगिरि की गुफा मे उत्कीर्ण वह पार्श्वनाथ की मूर्ति भी इस काल की मूर्तिकला के लिए ध्यान देने योग्य है। दुर्भाग्यत मूर्ति खडित हो चुकी है, तथापि उसके ऊपर का नागफण अपने भयकर दातो से बडा प्रभावशाली और अपने देव की रक्षा के लिये तत्पर दिखाई देता है। उत्तरप्रदेश के कहाऊ नामक स्थान से प्राप्त गुप्त स० १४१ के लेख सहित वह स्तम्भ भी यहा उल्लेखनीय है जिसमे पार्श्वनाथ की तथा अन्य चार तीर्थंकरो की प्रतिमाए उत्कीर्ण हैं। इसी काल की अनेक जैन प्रतिमायें ग्वालियर के पास के किले, बेसनगर, बूढ़ी चदेरी व देवगढ आदि अनेक स्थानो से प्राप्त हुई हैं। देवगढ़ की कुछ मूर्तियो का वहा के मदिरो के साथ उल्लेख किया जा चुका है। यहा की मूर्तियो में गुप्त व गुप्तोत्तर कालीन जैन मूर्तिकला के अध्ययन की प्रचुर सामग्री विद्यमान है। दो-चार मूर्तियो की बनावट की ओर ध्यान देने से वहा की शैलियो की विविधता स्पष्ट की जा सकती है। वहा के १२ वें मदिर

के मंडप में ध्यानस्थ जिनप्रतिमा को देखिये जिसका मस्तक विशाल अधर स्थूल व खूब उठे हुए तथा भृकुटियां कुछ अधिक ऊपर को उठी हुई दिखाई देती हैं। यहां ध्यान व एकाग्रता का भाव खूब पुष्ट है किन्तु लावण्य एवं परिकरात्मक साज-सज्जा का अभाव है। उसी मंदिर के गर्भगृह में शान्तिनाथ की विशाल खड्गासन प्रतिमा की ओर ध्यान दीजिये जो अपने कलात्मक गुणों के कारण विशेष गौरवशाली है। भामंडल की सजावट तथा पार्श्वस्थ द्वारपालों का लावण्य व भावभंगिमा गुप्तकाल की कला के अनुकूल है फिर भी परिकरों के साथ मूर्ति का तादात्म्य नहीं हो पाया। लोक से ध्यान का केन्द्र प्रधान मूर्ति ही है, जो अपने गाम्भीर्य व विरक्तिभाव युक्त कठोर मुद्रा द्वारा दर्शक के मन में भयमिश्रित पूज्यभाव उत्पन्न करती है। उक्त दोनों मूर्तियों से सर्वथा भिन्न शैली की वह पद्मासन प्रतिमा है जो १२ वें मंदिर के गर्भगृह में विराजमान है। इस मूर्ति में लावण्य प्रसाद, अनुकम्पा आदि सद्गुण उतने ही सुस्पष्ट हैं, जितने ध्यान और विरक्ति के भाव। ज्ञान ध्यान और लोक-कल्याण की भावना इस मूर्ति के अंग-अंग से फूट फूट कर निकल रही है। परिकरों की सजावट भी अनुकूल ही है प्रभावल खूब अलंकृत है। दोनों पार्श्वों के द्वारपाल ऊपर गज सिंह व गन्धर्व आदि की आकृतियां भी सुंदर और आकर्षक हैं। ये गुण २१ वें मंदिर के दक्षिण-पश्चिम के देवकुल में स्थित प्रतिमा में और भी अधिक विकसित दिखाई देते हैं। यहां चारों ओर की आकृतियां व अलंकरण इतने समृद्ध हुए हैं कि दर्शक को उनका आकर्षण मुख्य प्रतिमा से कम नहीं रहता। इस कारण मुख्य प्रतिमा समस्त दृश्य का एक अंगमात्र बन गई है। यह अलंकरण की समृद्धि मध्यकाल की विशेषता है।

तीर्थंकर मूर्तियों के चिन्ह—

प्रतिमाओं पर पृथक्-पृथक् चिन्हों का प्रदर्शन मध्य युग में (नवीं सदी ई० से) धीरे-धीरे प्रचार में आया पाया जाता है। इस युग की उक्त मथुरा संग्रहालय की सूची में जिन ११ तीर्थंकर प्रतिमाओं का उल्लेख किया गया है, उनमें आदिनाथ की मूर्ति (बी २१ व बी ७१) पर वृषभ का चिन्ह, नेमिनाथ की प्रतिमा (बी २२ व ११ ४ बी ७७) पर शंख का तथा शांतिनाथ की मूर्ति (१४ ४) पर मृग का चिन्ह पाया जाता है। शेष मूर्तियों पर ऐसे विशेष चिन्हों का अंकन नहीं है। एक मूर्ति (ए १) पर श्रीवत्स का चिन्ह दिखाया गया है। कुछ के चूचकों के स्थान पर चक्राकृति बनी है। कुछ के हस्त-तलों पर चतुर्दल पुष्प पाया जाता है। मूर्तियों पर तीन छत्रों का अंकन भी देखा जाता है। कुछ मूर्तियों पर कुबेर व गोद में बालक सहित माता (बी १४)

तथा **नवग्रह** (बी ६६) भी बने हैं। तीर्थंकर नेमिनाथ की मूर्ति के पार्श्वों मे **बलदेव** की एक हाथ मे प्याला लिये हुए, तथा अपने शख चक्रादि लक्षणो सहित **वासुदेव** की चतुर्भुज मूर्तिया भी हैं (२७३८)। **यक्ष-यक्षिणी** आदि शासन देवताओ का आसनो पर अकन भी प्रचुरता से पाया जाता है। आदिनाथ की एक पद्मासन मूर्ति के साथ शेष २३ तीर्थंकरो की भी पद्मासनस्थ प्रतिमाए उत्कीर्ण हैं। इससे पूर्व कुषाण व गुप्त कालो मे प्राय चार तीर्थंकरो वाली **सर्वतोभद्र** मूर्तिया पाई गई हैं। **प्रभावल** व **सिंहासनो** का अलकरण विशेष अधिक पाया जाता है। एक आदिनाथ की मूर्ति (बी २१) के सिंहासन की किनारी पर से **पुष्पमालाए** लटकती हुई व **धर्मचक्र** को स्पर्श करती हुई दिखाई गई हैं। कुछ मूर्तिया काले व श्वेत सगमरमर की बनी हुई भी पाई गई हैं। कुछ मूर्तियो के ऊपर देवो द्वारा **दुदभी** बजाने की आकृति भी अकित है। ये ही सक्षेपत इस काल की मूर्तियो की विशेषताए हैं। इस काल मे तीर्थंकरो के जो विशेष चिन्ह निर्धारित हुए, व जो यक्ष-यक्षिणी प्रत्येक तीर्थंकर के अनुचर ठहराये गये, व जिन चैत्यवृक्षो का उनके केवलज्ञान से सबध स्थापित किया गया, उनकी तालिका (त्रि० प्र० ४,६०४-०५, ६१६-१८, ९३४-४० के अनुसार) निम्न प्रकार है।

क्रमसख्या	**तीर्थंकर नाम**	**चिन्ह**	**चैत्यवृक्ष**	**यक्ष**	**यक्षिणी**
१	ऋषभनाथ	बैल	न्यग्रोध	गोवदन	चक्रेश्वरी
२	अजितनाथ	गज	सप्तपर्ण	महायक्ष	रोहिणी
३	सभवनाथ	अश्व	शाल	त्रिमुख	प्रज्ञप्ति
४	अभिनदननाथ	बदर	सरल	यक्षेश्वर	वज्रशृखला
५	सुमतिनाथ	चकवा	प्रियगु	तुम्बुरव	वज्राकुशा
६	पद्मप्रभु	कमल	प्रियंगु	मातग	अप्रति चक्रेश्वरी
७	सुपार्श्वनाथ	नद्यावर्त	शिरीष	विजय	पुरुषदत्ता
८	चन्द्रप्रभु	अर्द्धचन्द्र	नागवृक्ष	अजित	मनोवेगा
९	पुष्पदन्त	मकर	अक्ष (बहेडा)	ब्रह्म	काली
१०	शीतलनाथ	स्वस्तिक	धूलि(मालिवृक्ष)	ब्रह्मेश्वर	ज्वालामालिनी
११	श्रेयासनाथ	गेंडा	पलाश	कुमार	महाकाली
१२	वासुपूज्य	भैंसा	तेंदू	षण्मुख	गौरी
१३	विमलनाथ	शूकर	पाटल	पाताल	गाधारी
१४	अनतनाथ	सेही	पीपल	किन्नर	वैरोटी
१५	धर्मनाथ	वज्र	दधिपर्ण	किंपुरुष	सोलसा

१६	शान्तिनाथ	हरिण	नंदी	गरुड़	महामानसी
१७	कुंथुनाथ	छाग	तिलक	गंधर्व	मानवी
१८	अरनाथ	तगरकुसुम(मत्स्य)	आम्र	कुबेर	महामानसी
१९	मल्लिनाथ	कलश	कंकेली (अशोक)	वरुण	जया
२	मुनिसुव्रतनाथ	कूर्म	चम्पक	भृकुटि	विजया
२१	नमिनाथ	उत्पल	बकुल	गोमेध	अपराजिता
२२	नेमिनाथ	शंख	मेषश्रृंग	पार्श्व	बहुरूपिणी
२३	पार्श्वनाथ	सर्प	धव	मातंग	कुष्मांडी
२४	महावीर	सिंह	शाल	गुह्यक	पद्मा सिद्धायि

समवायांगसूत्र में भी प्रायः यही चैत्यवृक्षों की नामावली पाई जाती है। केवल इतना है कि यहां चौथे स्थान पर 'प्रियक' छठे स्थान पर छत्राह, नौवें मामी १ वें पर पिलंखु, ११ १२ १३ पर तिंदुग पाटल और जम्बू, व १९ व अशोक २२ वें पर वेतस नाम अंकित है।

विशालता की दृष्टि से मध्यप्रदेश में बड़वानी नगर के समीप चूलगिरि या पर्वश्रेणी के उपभाग में उत्कीर्ण ८४ फुट ऊंची खड्गासन प्रतिमा है जो बावनगज नाम से प्रसिद्ध है। इसके एक ओर यक्ष और दूसरी ओर यक्षिणी भी उत्कीर्ण चूलगिरि के शिखर पर दो मन्दिरों में तीन-चार मूर्तियों पर संवत् ११८ का उल्ले है जिससे इस तीर्थक्षेत्र की प्रतिष्ठा कम से कम १४ वीं शती से सिद्ध है। देश के प्र समस्त भागों के दिगम्बर जैन मंदिरों में ऐसी जिन-प्रतिमाएं विराजमान पाई जाती जिनमें उनके साहू जीवराज पापड़ीवाल द्वारा सं १५४८ (१४९० ई) में प्रतिष्ठि कराए जाने का तथा भट्टारक जिनचन्द्र या भानुचन्द्र का स्थान मुड़ासा का व ए या रावल शिवसिंह का उल्लेख मिलता है। मुड़ासा पश्चिम राजस्थान में ईडर से पां छह मील दूर एक ग्राम है। एक किंवदंती प्रचलित है कि सेठ जीवराज पापड़ीवाल एक लाख मूर्तियां प्रतिष्ठित कराकर उनका सर्वत्र पूजानिमित्त वितरण कराया था

धातु की मूर्तियां—

यहां तक जिन मूर्तियों का परिचय कराया गया वे पाषाण निर्मित हैं। धा निर्मित प्रतिमाएं भी अतिप्राचीन काल से प्रचार में पाई जाती हैं। कांस्य (ताम सीसा मिश्रित धातु) की बनी हुई एक पार्श्वनाथ की प्रतिमा बम्बई के प्रिंस ऑ वेल्स संग्रहालय में है। दुर्भाग्य से इसका पादपीठ नष्ट हो गया है और वह भी पर

नही कि यह कहा से प्राप्त हुई थी। प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा मे है, और उसका दाहिना हाथ व नागफण खडित है, किन्तु नाग के शरीर के मोड पृष्ठ-भाग मे पैरो से लगाकर ऊपर तक स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसकी आकृति पूर्वोक्त लोहानीपुर की मस्तकहीन मूर्ति से तथा हडप्पा के लाल-पाषाण की सिर-हीन मूर्ति से बहुत साम्य रखती है। विद्वानो का मत है कि यह मूर्ति मौर्यकालीन होनी चाहिये, और वह ई० पू० १०० वर्ष से इस ओर की तो हो ही नही सकती।

इसी प्रकार की दूसरी धातु-प्रतिमा आदिनाथ तीर्थंकर की है, जो बिहार मे आरा के चौसा नामक स्थान मे प्राप्त हुई है, और पटना सग्रहालय मे सुरक्षित है। यह भी खड्गासन मुद्रा मे है, और रूप-रेखा मे उपर्युक्त पार्श्वनाथ की मूर्ति से साम्य रखती है। तथापि अगो की आकृति, केश-विन्यास एव प्रभावल की शोभा के आधार पर यह गुप्त-कालीन अनुमान की जाती है। इसी के साथ प्राप्त हुई अन्य प्रतिमाए पटना सग्रहालय मे हैं, जो अपनी बनावट की शैली द्वारा मौर्य व गुप्त काल के बीच की शृखला को प्रकट करती हैं।

धातु की सवस्त्र जिन-प्रतिमा राजपूताने मे सिरोही जनपद के अन्तर्गत वसन्तगढ़ नामक स्थान से मिली है। यह ऋषभनाथ की खड्गासन प्रतिमा है, जिस पर स० ७४४ (ई० ६८७) का लेख है। इसमे धोती का पहनावा दिखाया गया है। उसकी धोती की सिकुडन बाए पैर पर विशेष रूप से दिखाई गयी है। इससे सभवत कुछ पूर्व की वे पाच धातु प्रतिमाए हैं जो वलभी से प्राप्त हुई हैं, और प्रिन्स-आफ-वेल्स-सग्रहालय मे सुरक्षित हैं। ये प्रतिमाए भी सवस्त्र हैं, किन्तु इनमे धोती का प्रदर्शन वैसे उग्र रूप से नही पाया जाता, जैसा वसन्तगढ की प्रतिमा मे। इस प्रकार की धोती का प्रदर्शन पाषाण मूर्तियो मे भी किया गया पाया जाता है, जिसका एक उदाहरण रोहतक (पजाब) मे पार्श्वनाथ की खड्गासन मूर्ति है। प्रिन्स आफ वेल्स सग्रहालय की चाहरडी (खानदेश) से प्राप्त हुई आदिनाथ की प्रतिमा १० वी शती की धातुमय मूर्ति का एक सुन्दर उदाहरण है।

इसी प्रकार की धातु-प्रतिमाओ मे वे मूर्तिया भी उल्लेखनीय हैं जो जीवन्त स्वामी की कही जाती हैं। आवश्यकचूर्णि, निशीथचूर्णि व वसुदेवहिंडी मे उल्लेख मिलता है कि महावीर तीर्थंकर के कुमारकाल मे जब वे अपने राज-प्रासाद मे ही धर्म-ध्यान किया करते थे, तभी उनकी एक चन्दन की प्रतिमा निर्माण कराई गई थी, जो वीतिभय पट्टन (सिंधु-सौवीर) के नरेश उदयन के हाथ पडी। वहा से उज्जैन के राजा प्रद्योत उसकी अन्य काष्ठ-घटित प्रतिकृति (प्रतिमा) को उसके स्थान पर छोड-

कर इस प्रतिमा को अपने राज्य में ले आये और उसे विदिशा में प्रतिष्ठित कराया, जहां वह दीर्घकाल तक पूजी जाती रही। इस साहित्यिक कथानक को हाल ही अकोटा (बड़ौदा जनपद) से प्राप्त दो जीवन्तस्वामी की ब्रोन्ज-धातु निर्मित प्रतिमाओं से ऐतिहासिक समर्थन प्राप्त हुआ है। इनमें से एक पर लेख है, जिसमें उसे जिवन्त-सामि-प्रतिमा कहा है और यह उल्लेख है कि उसे चन्द्रकुलकी [illegible] आर्यिका ने दान दिया था। लिपि पर से यह छठी शती के मध्यभाग की अनुमान की गई है। ये मूर्तियां कायोत्सर्ग ध्यानमुद्रा में हैं, किन्तु शरीर पर अलंकरण एवं रा[illegible] कुमारोचित है। मस्तक पर ऊंचा मुकुट है, जिसके नीचे केशकलाप दोनों कंधों के [illegible] झूल रहे हैं। गले में हारादि आभरण, कानों में कुंडल, दोनों बाहुओं पर [illegible] व हाथों में कड़े और कटिबन्ध आदि आभूषण हैं। मुंह पर स्मित व प्रसन्न भाव झलक रहा है। इनकी भावाभिव्यक्ति व अलंकरण में गुप्तकालीन व तदुत्तर शैली का प्रभाव स्पष्ट है।

लगभग १४वीं शती से पीतल की जिनमूर्तियों का भी प्रचार हुआ पाया जाता है। कहीं कहीं तो पीतल की बड़ी विशाल भारी ठोस मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं। आबू के पित्तलहर मंदिर में विराजमान आदिनाथ की पीतल की मूर्ति लेखानुसार १०८ मन की है, और वह वि. सं. १५२५ में प्रतिष्ठित की गई थी। मूर्ति अपने परिकर सहित ८ फुट ऊंची पद्मासन है, और वह मेहसाणा (उत्तर गुजरात) के सूत्रधार मंडन के पुत्र देवा द्वारा निर्माण की गई थी।

बाहुबलि की मूर्तियां—

ब्रोन्ज की प्रतिमाओं में विशेष उल्लेखनीय है बाहुबलि की वह प्रतिमा जो अभी कुछ वर्ष पूर्व ही बम्बई के प्रिन्स आफ वेल्स संग्रहालय में आई है। बाहुबलि आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र व भरत चक्रवर्ती के भ्राता थे और उन्हें तक्षशिला का राज्य दिया गया था। पिता के तपस्या धारण कर लेने के पश्चात् भरत चक्रवर्ती हुए और उन्होंने बाहुबलि को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिये विवश करना चाहा। इस पर दोनों भाइयों में युद्ध हुआ। जिस समय युद्ध के बीच विजयश्री संशयावस्था में पड़ी हुई थी उसी समय बाहुबलि को इस सांसारिक मोह और आसक्ति से वैराग्य हो गया और उन्होंने अपने लिए केवल एक पैर भर पृथ्वी रखकर शेष समस्त राज्य-वैभव भूमि व परिग्रह का परित्याग कर दिया। उन्होंने पोदनपुर में निश्चल खड़े होकर ऐसी घोर तपस्या की कि उनके पैरों के समीप वल्मीक चढ़ गये व शरीर के अंग प्रत्यंगों से

महासर्प व लताए लिपट गईं। बाहुबलि की इस घोर तपस्या का वर्णन जिनसेन कृत महापुराण (३६, १०४-१८५) मे किया गया है। रविषेणाचार्य ने अपने पद्मपुराण मे सक्षेपत. कहा है—

सत्यज्य स ततो भोगान् भूत्वा निर्वस्त्रभूषण. ।
वर्षं प्रतिमया तस्थौ मेरुवन्निष्प्रकम्पक ॥
वल्मीकविवरोद्यातैरत्युग्रैः स महोरगै. ।
श्यामादीना च वल्लीभिः वेष्टित. प्राप केवलम् ॥ (प० पु० ४, ७६-७७)

इस वर्णन मे जो वमीठो व लता के शरीर मे लिपटने का विशेप रूप से उल्लेख किया गया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक के सम्मुख बाहुबलि की इन लक्षणो से युक्त कोई मूर्तिमान् प्रतिमा थी। काल की दृष्टि के उस समय **बादामी की गुफा की बाहुबलि मूर्ति** बन चुकी सिद्ध होती है। रविषेणाचार्य उससे परिचित रहे हो तो आश्चर्य नही। बादामी की यह मूर्ति लगभग सातवी शती मे निर्मित साढे सात फुट ऊची है। दूसरी प्रतिमा ऐलोरा के **छोटे कैलाश** नामक जैन-शिलामदिर की इन्द्रसभा की दक्षिणी दीवार पर उत्कीर्ण है। इस गुफा का निर्माण-काल लगभग ८ वी शती माना जाता है। तीसरी मूर्ति **देवगढ़** के शान्तिनाथ मदिर (८६२ ई०) मे है, जिसकी उपर्युक्त मूर्तियो से विशेषता यह है कि इसमे वामी, कुक्कुट सर्प, व लताओ के अतिरिक्त मूर्ति पर रेंगते हुए बिच्छू, छिपकली आदि जीव-जन्तु भी अकित किये गये हैं, और इन उपसर्गकारी जीवो का निवारण करते हुए एक देव-युगल भी दिखया गया है। किन्तु इन सबसे विशाल और सुप्रसिद्ध मैसूर राज्य के अन्तर्गत **श्रवणबेल गोला** के विन्ध्य-गिरि पर बिराजमान वह मूर्ति है जिसकी प्रतिष्ठा गगनरेश राजमल्ल के महामत्री चामुडराय ने १०-११ वीं शती मे कराई थी। यह मूर्ति ५६ फुट ६ इच ऊची है और उस पर्वत पर दूर से ही दिखाई देती है। उसके अगो का सतुलन, मुख का शात और प्रसन्न भाव, वल्मीक व माधवी लता के लपेटन इतनी सुन्दरता को लिए हुए हैं कि जिनकी तुलना अन्यत्र कही नही पाई जाती। इसी मूर्ति के अनुकरण पर **कारकल** मे सन् १४३२ ई० मे ४१ फुट ६ इच ऊची, तथा **वेणूर** मे १६०४ ई० मे ३५ फुट ऊची अन्य दो विशाल पाषाण मूर्तिया प्रतिष्ठित हुईं। धीरे-धीरे इस प्रकार की बाहुबलि की मूर्ति का उत्तर भारत मे भी प्रचार हुआ है। इधर कुछ दिनो से बाहुबलि की मूर्तिया अनेक जैन मदिरो मे प्रतिष्ठित हुई हैं।

किन्तु जो **ब्रोन्ज-धातु निर्मित** मूर्ति अब प्रकाश मे आई है। वह उपर्युक्त समस्त प्रतिमाओं से प्राचीन अनुमान की जाती है। उसका निर्माणकाल सम्भवत. सातवी

शती व उसके भी कुछ वर्ष पूर्व प्रतीत होता है। यह प्रतिमा एक गोलाकार पीठ पर खड़ी है, और उसकी ऊंचाई २ इंच है। माधवी-लता पत्तों सहित पैरों और बाहुओं से लिपटी हुई है। सिर के बाल कंधे कभी से पीछे की ओर लौटाये हुए दिखाई देते हैं तथा उनकी जटाएं पीठ व कंधों पर बिखरी हैं। भौंहें ऊपर को चढ़ी-हुई व उभरी बनाई गई हैं। कान नीचे को उतरे व छिदे हुए हैं। नाक पैनी व झुकी हुई है। कपोल व ठोढ़ी खूब मांसल व भरे हुए हैं। मुखाकृति लम्बी व गोल है। वक्षस्थल चौड़ाई को लिए हुए चिकना है व चूचुक चिन्ह मात्र दिखाये गये हैं। नितम्ब-भाग गुलाई लिए हुए है। पैर सीधे और घुटने भले प्रकार दिखाये गये हैं। बाहुएं विश्राम करती से नीचे की ओर शरीर आकृति के बराबर का अनुकरण कर रही हैं। हस्ततल अधोभागों से घुटनों के द्वारा जुड़े हुए हैं जिससे बाहुओं को सहारा मिले। इस प्रतिमा का आकृति निर्माण अतिसुन्दर हुआ है। मुख पर ध्यान व आध्यात्मिकता का तेज भले प्रकार झलकाया गया है। इस आकृति-निर्माण में श्री उमाकांत शाह ने इसकी तुलना-बादामी गुफा में उपलब्ध बाहुबलि की प्रतिमा से तथा ऐहोल की मूर्तियों से की है, जिनका निर्माण-काल ६ वीं ७ वीं शती है।

चक्रेश्वरी पद्मावती आदि यक्षियों की मूर्तियां—

जैन मूर्तिकला में तीर्थंकरों के अतिरिक्त जिन अन्य देवी-देवताओं को रूप प्रदान किया गया है उनमें यक्षों और यक्षिणियों की प्रतिमाएं भी ध्यान देने योग्य हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के अनुयायी एक यक्ष और एक यक्षिणी माने गये हैं। आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ की यक्षिणी का नाम चक्रेश्वरी है। इस देवी की एक ढाई फुट ऊंची पाषाण मूर्ति मथुरा संग्रहालय में विराजमान है। यह मूर्ति एक गरुड़ पर आधारित आसन पर स्थित है। इसका सिर व भुजाएं टूट-फूट गई हैं, तथापि उसका प्रभावल प्रफुल्ल कमलाकार सुअलंकृत विद्यमान है। भुजाएं दस रही हैं और हाथ में एक चक्र रहा है। मूर्ति के दोनों पार्श्वों में एक-एक द्वारपालिका है, जिनमें दायीं ओर वाली एक चमर, तथा बायीं ओर वाली एक पुष्पमाला लिये हुए हैं। ये दोनों प्रतिमाएं भी कुछ खंडित हैं। प्रधान मूर्ति के ऊपर पद्मासन व ध्यानस्थ जिन-प्रतिमा है, जिसके दोनों ओर मंगलमालाएं लिये हुए उड़ती हुई मूर्तियां बनी हैं। यह मूर्ति भी कंकाली टीले से प्राप्त हुई है, और कनिंघम साहब ने इसे ब्राह्मण-परम्परा की दशभुजी देवी समझा था। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में ही कटनी के समीप बिलहरी ग्राम के लक्ष्मणसागर के तट पर एक मंदिर में चक्रेश्वरी की मूर्ति खैरमाई के नाम से पूजी-जा

रही है, किन्तु मूर्ति के मस्तक पर जो आदिनाथ की प्रतिमा है, वह उसे स्पष्टत जैन परम्परा की घोषित कर रही है। चक्रेश्वरी की मूर्तिया देवगढ के मदिरो मे भी पाई गई हैं। श्रवणबेलगोला (मैसूर) के चन्द्रगिरि पर्वत पर शासन-वस्ति नामक आदिनाथ के मदिर के द्वार पर आजू-बाजू गोमुख यक्ष और चक्रेश्वरी यक्षी की सुन्दर प्रतिमाए हैं। यह मदिर लेखानुसार शक १०४६ (१११७ ई०)से पूर्व बन चुका था। वहा के अन्यान्य मदिरो में नाना तीर्थंकरो के यक्ष-यक्षियो की प्रतिमाए विद्यमान हैं (देखिए जै० शि० स० भाग एक, प्रस्तावना)। इनमे अक्कन बस्ति नामक पार्श्वनाथ मदिर की साढ़ेतीन फुट ऊची घरेणेन्द्र यक्ष और पद्मावती यक्षी की मूर्तिया विशेष उल्लेखनीय हैं। इस मदिर का निर्माणकाल वहाँ के लेखानुसार शक ११०३ (११८१ ई०)है। कत्तले बस्ति मे भी यह मूर्ति है। पद्मावती की इससे पूर्व व पश्चात्-कालीन मूर्तिया जैनमदिरो मे बहुतायत से पाई जाती हैं। इनमे खडगिरि (उडीसा) की एक गुफा मूर्ति सबसे प्राचीन प्रतीत होती है। नालदा व देवगढ़ की मूर्तिया ७ वी ८ वी शती की हैं। मध्यकाल से लगाकर इस देवी की पूजा विशेष रूप से लोक प्रचलित हुई पाई जाती है।

अम्बिका देवी की मूर्ति—

तीर्थंकरो के यक्ष-यक्षिणियो मे सबसे अधिक प्रचार व प्रसिद्धि नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका देवी की पाई जाती है। इस देवी की सब से प्राचीन व विख्यात मूर्ति गिरनार (ऊर्जयन्त) पर्वत की अम्बादेवी नामक टोक पर है, जिसका उल्लेख समन्तभद्र ने अपने बृहत्स्वयंम्भूस्तोत्र (पद्य १२७) मे खचरयोषित (विद्याधरी) नाम से किया है (पृ० ३३९)। जिनसेन ने भी अपने हरिवश-पुराण(शक् ७०५)में इस देवी का स्मरण इस प्रकार किया है—

> ग्रहीतचक्राप्रतिचक्रदेवता तथोर्जयन्तालय-सिंहवाहिनी।
> शिवाय यस्मिन्निह सन्निधीयते क्व तत्र विघ्ना. प्रभवन्ति शासने ॥
>
> (ह० पु० प्रशस्ति)

इस देवी की एक उल्लेखनीय पाषाण-प्रतिमा १ फुट ९ इच ऊची मथुरा सग्रहालय मे है। अम्बिका एक वृक्ष के नीचे सिंह पर स्थित कमलासन पर विराजमान है। बाया पैर ऊपर उठाया हुआ व दाहिना पृथ्वी पर है। दाहिने हाथ मे फलो का गुच्छा है, व बाया हाथ बायी जघा पर बैठे हुए बालक को सम्हाले है। बालक वक्षस्थल पर झूलते हुए हार से खेल रहा है। अधोभाग वस्त्रालकृत है और ऊपर वक्षस्थल पर दोनो स्कधो से पीछे की ओर डाली हुई ओढ़नी है। सिर पर सुन्दर मुकुट है, जिसके

पीछे श्रीमनोज्ञ प्रभावल भी है। कण्ठ में दो लड़ियों वाला हार, हाथों में चूड़ियां कटि में मेखला व पैरों में नूपुर आभूषण हैं। बालक नग्न है, किन्तु कण्ठ में हार, बाहुओं में भुजबंध कलाई में कड़े तथा कमर में करधनी पहने हुए है। अम्बिका की बायीं से एक दूसरा बालक खड़ा है, जिसका दाहिना हाथ अंबिका के दाहिने घुटने पर है। इस खड़े हुए बालक के दूसरी ओर गणेश की एक छोटी सी मूर्ति है, जिसके बाएं हाथ में मोदक-पात्र है, जिसे उनकी सूंड स्पर्श कर रही है। उसके ठीक दूसरे पार्श्व में एक अन्य आसीन मूर्ति है जिसके दाहिने हाथ में एक पात्र और बाएं में मोहरों की थैली है, और इसलिए धनद-कुबेर की मूर्ति प्रतीत होती है। कुबेर और गणेश की मूर्तियों के अपने-अपने कुछ लम्बाकार प्रभामंडल भी बने हैं। इन सबके दोनों पार्श्वों में चमरधारी मूर्तियां हैं। आसन से नीचे की पट्टी में आठ नर्तकियां हैं। ऊपर की ओर पुष्प-मेखलिका बनी है जिसके मध्य भाग में पद्मासन व ध्यानस्थ जिनमूर्ति है। इसके दोनों ओर दो चतुर्भुजी मूर्तियां कमलों पर त्रिभंगी मुद्रा में खड़ी हैं। दाहिनी ओर की मूर्ति के हाथों में हल व मूसल होने से वह स्पष्टतः बलराम की तथा बायीं ओर की चतुर्भुज मूर्ति के बाएं हाथों में चक्र व शंख तथा दाहिने हाथों में पद्म व गदा होने से वह वासुदेव की मूर्ति है। दोनों के गलों में वैजयन्ती मालाएं पड़ी हुई हैं। बलभद्र और वासुदेव सहित नेमिनाथ तीर्थंकर की स्वतंत्र मूर्तियां मथुरा व लखनऊ के संग्रहालयों में विद्यमान हैं। प्रस्तुत अम्बिका की मूर्ति में हमें जैन व वैदिक परम्परा के अनेक देवी-देवताओं का सुन्दर समीकरण मिलता है, जिसका वर्णनात्मक रूप हम जैन पुराणों में पाते हैं।

पुण्यास्रव-कथाकोष की यक्षी की कथा के अनुसार गिरिनार की अग्निला नाम की धर्मवती ब्राह्मण-महिला अपने पति की कोप-भाजन बनकर अपने प्रियंकर और शुभंकर नामक दो अल्प-वयस्क पुत्रों को लेकर गिरिनार पर्वत पर एक मुनिराज की शरण में चली गई। वहां बालकों के क्षुधाग्रस्त होने पर उसके धर्म के प्रभाव से वहां एक आम्रवृक्ष अकाल में ही फल उठा। उसकी लुम्बिकाओं (गुच्छों) द्वारा उसने उन बालकों की क्षुधा को शान्त किया। इधर उसके पति सोमशर्मा को अपनी भूल का पता चला तो वह उसे मनाने आया। अग्निला समझी कि वह उसे मारने आया है। अतएव वह तत्कालीन तीर्थंकर नेमिनाथ का ध्यान करती हुई पर्वत के शिखर से कूद पड़ी और शुभ ध्यान से मरकर नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका हुई। उसका पति भी तत्समय मरकर सिंह के रूप में उसका वाहन हुआ। इस प्रकार अम्बिका के दो पुत्र आम्रवृक्ष और आम्रफलों की लुम्बिका और सिंहवाहन ये उस देवी की मूर्ति के लक्षण

बने। इसी कथानक का सार आशाधर कृत प्रतिष्ठासार (१३ वी शती) मे अम्बिका के वन्दनात्मक निम्न श्लोक मे मिलता है —

सव्यैकव्युपग-प्रियकरसुतप्रीत्यै करे बिभ्रती।
दिव्याम्रस्तवक शुभकर-करश्लिष्टान्यहस्तांगुलिम्॥
सिंहभर्तृचरे स्थिता हरितभामाम्रद्रुमच्छायगाम्।
वदारु दशकार्मुकोच्छ्रयजिन देवीमिहाम्बा यजे॥

अम्बिका की ऐसी मूर्तिया उदयगिरि-खडगिरि की नवमुनि-गुफा तथा ढक की गुफाओ मे भी पाई जाती हैं। इनमे इस मूर्ति के दो ही हाथ पाये जाते हैं, जैसा कि ऊपर वर्णित मथुरा की गुप्तकालीन प्रतिमा मे भी है। किन्तु दक्षिण मे जिनकाची के एक जैन मठ की दीवाल पर चित्रित अम्बिका चतुर्भुज है। उसके दो हाथो मे पाश और अकुश हैं, तथा अन्य दो हाथ अभय और वरद मुद्रा मे हैं। वह आम्रवृक्ष के नीचे पद्मासन विराजमान है, और पास मे बालक भी हैं। मैसूर राज्य के अगडि नामक स्थान के जैनमदिर मे अम्बिका की द्विभुज-मूर्ति खडी हुई बहुत ही सुन्दर है। उसकी त्रिभग शरीराकृति कलात्मक और लालित्यपूर्ण है। देवगढ़ के मदिरो मे तथा आबू के विमल-वसही मे भी अम्बिका की मूर्ति दर्शनीय है। मथुरा सग्रहालय मे हाल ही आई हुई (३३८२) पूर्व-मध्यकालीन मूर्ति मे देवी दो स्तभो के बीच ललितासन बैठी है। दाया पैर कमल पर है। देवी अपनी गोद के शिशु को अत्यत वात्सल्य से दोनो हाथो से पकडे हुए है। केशपाश व कठहार तथा कुडलो की आकृतिया बडी सुन्दर हैं। बाए किनारे सिंह बैठा है।

सरस्वती की मूर्ति—

मथुरा के ककाली टीले से प्राप्त सरस्वती की मूर्ति (जे २४) लखनऊ के सग्रहालय मे एक फुट साढ़े नौ इच ऊची है। देवी चौकोर आसन पर विराजमान है। सिर खडित है। बायें हाथ मे सूत्र से बधी हुई पुस्तक है। दाहिना हाथ खडित है, किन्तु अभय मुद्रा मे रहा प्रतीत होता है। वस्त्र साडी जैसा है, जिसका अचल कधो को भी आच्छादित किये है। दोनों हाथों की कलाइयों पर एक-एक चूडी है, तथा दाहिने हाथ मे चूडी से ऊपर जपमाला भी लटक रही है। देवी के दोनो ओर दो उपासक खडे हैं, जिनके केश सुन्दरता से सवारे गये हैं। दाहिनी ओर के उपासक के हाथ में कलश है, तथा बांई ओर का उपासक हाथ जोडे खडा है। दाहिनी ओर का उपासक कोट पहने हुए है, जो शक जाति के ट्यूनिक जैसा दिखाई देता है। पाद-पीठ पर एक

लेख भी है, जिसके अनुसार "सब जीवों को हित व सुखकारी यह सरस्वती की प्रतिमा सिंहपुत्र-गोप नामक लुहार कारक (शिल्पी) ने दान किया और उसे एक जैन मंदिर की रंगशाला में स्थापित की"। यह मूर्तिदान कोटिक-गण वाचकाचार्य आर्यदेव को संवत् ५४ में किया था। लिपि आदि पर से यह वर्ष शक संवत् का प्रतीत होता है। अत: इसका काल ७८+५४=१३२ ई० कुषाण राजा हुविष्क के समय में पड़ता है। लेख में जो अन्य नाम आये हैं, वे सभी उसी कंकाली टीले से प्राप्त सम्वत् ५२ की जैन प्रतिमा के लेख में भी उल्लिखित हैं। जैन परम्परा में सरस्वती की पूजा कितनी प्राचीन है, यह इस मूर्ति और उसके लेख से प्रमाणित होता है। सरस्वती की इतनी प्राचीन प्रतिमा अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं हुई। इस देवी की हिन्दू मूर्तियां गुप्तकाल से पूर्व की नहीं पायी जाती अर्थात् वे सब इससे दो तीन सदी पश्चात् की हैं। सरस्वती की मूर्ति अनेक स्थानों के जैन मंदिरों में प्रतिष्ठित पाई जाती है, किन्तु अधिकांश ज्ञात प्रतिमाएं मध्यकाल की निर्मितियां हैं। उदाहरणार्थ देवगढ़ के १६वें मंदिर के बाहिरी बरामदे में सरस्वती की खड़ी हुई चतुर्भुज मूर्ति है, जिसका काल वि० सं० ११२६ के लगभग सिद्ध होता है। राजपूताने में सिरोही जनपद के अजारी नामक स्थान के महावीर जैन मंदिर में प्रतिष्ठित मूर्ति के आसन पर वि० सं० १२६९ खुदा हुआ है। यह मूर्ति कहीं द्विभुज कहीं चतुर्भुज कहीं मयूरवाहिनी और कहीं हंसवाहिनी पाई जाती है। एक हाथ में पुस्तक अवश्य रहती है। अन्य हाथ व हाथों में कमल, अक्षमाला और वीणा अथवा इनमें से कोई एक या दो पाये जाते हैं अथवा दूसरा हाथ अभय मुद्रा में दिखाई देता है। जैन प्रतिष्ठा-ग्रंथों में इस देवी के ये सभी लक्षण भिन्न-भिन्न रूप से पाये जाते हैं। उसकी जटाओं और चन्द्रकला का भी उल्लेख मिलता है। धवला टीका के कर्ता वीरसेनाचार्य ने इस देवी की श्रुत-देवता के रूप में कल्पना की है, जिसके द्वादशांग वाणी रूप बारह अंग हैं, सम्यग्दर्शन रूप तिलक है, और उत्तम चारित्र रूप आभूषण हैं। आकोटा से प्राप्त सरस्वती की धातु-प्रतिमा (११वीं सदी से पूर्व की बड़ौदा संग्रहालय में) द्विभुज खड़ी हुई है। मुख-मुद्रा बड़ी प्रसन्न है। मुकुट का प्रभावल भी है। ऐसी ही एक प्रतिमा वसंतगढ़ से भी प्राप्त हुई है। देवियों की पूजा की परम्परा बड़ी प्राचीन है यद्यपि उनके नामों, स्वरूपों तथा स्थापना व पूजा के प्रकारों में निरंतर परिवर्तन होता रहा है। भगवती सूत्र (११, ११ ४२९) में उल्लेख है कि राजकुमार महाबल के विवाह के समय उसे प्रचुर वस्त्राभूषणों के अतिरिक्त श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, नन्दा और भद्रा की आठ-आठ प्रतिमायें भी उपहार रूप दी गई थी। इससे अनुमानतः विवाह के पश्चात् प्रत्येक सम्पन्न कुटुम्ब में ये प्रतिमायें

कुलदेवता के रूप मे प्रतिष्ठित की जाती थी ।

अच्युता या अच्छुप्ता देवी की मूर्ति—

अच्युता देवी की एक मूर्ति **वदनावर** (मालवा) से प्राप्त हुई है। देवी घोडे पर आरूढ है। उसके चार हाथ हैं। दोनो दाहिने हाथ टूट गये हैं। ऊपर के वाए हाथ मे एक ढाल दिखाई देती है, और नीचे का हाथ घोडे की रास सम्हाले हुए है। दाहिना पैर रकाव मे है और वाया उस पैर की जघा पर रखा हुआ है। इस प्रकार मूर्ति का मुख सामने व घोडे का उसके वायी ओर है। देवी के गले और कानो मे अलकार है। मूर्ति के ऊपर मडप का आकार है, जिस पर तीन जिन-प्रतिमाए वनी हैं। चारो कोनो पर भी छोटी-छोटी जैन आकृतिया हैं। यह पाषाण-खड ३ फुट ६ इच ऊचा है। इस पर एक लेख भी है, जिसके अनुसार अच्युता देवी की प्रतिमा को सम्वत् १२२६ (ई० ११७२) मे कुछ कुटुम्वो के व्यक्तियो ने **वर्द्धमानपुर** के शान्तिनाथ चैत्यालय मे प्रस्थापित की थी। इस लेख पर से सिद्ध है कि आधुनिक वदनावर प्राचीन वर्द्धमानपुर का अपभ्रश रूप है। मैं अपने एक लेख में वतला चुका हू, तथा ऊपर मदिरो के सवंध में भी उल्लेख किया जा चुका है, कि सम्भवत यही वह वर्द्धमानपुर का शान्ति-नाथ मदिर है जहा शक स० ७०५ (ई० ७८३) में आचार्य जिनसेन ने **हरिवश-पुराण** की रचना पूर्ण की थी।

नैगमेश (नैमेश) की मूर्ति—

मथुरा के ककाली टीले से प्राप्त भग्नावशेषो में एक तोरण-खड पर नेमेश देव की प्रतिमा वनी है और उसके नीचे **भगव नेमेसो** ऐसा लिखा है। इस नेमेश देव की मथुरा-सग्रहालय में अनेक मूर्तिया हैं। कुषाण कालीन एक मूर्ति (ई १) एक फुट साढे तीन इच ऊची है। मुखाकृति वकरे के सदृश है, व वाए हाथ से दो शिशुओ को धारण किये है, जो उसकी जघा पर लटक रहे हैं। उसके कधो पर भी सम्भवत वालक रहे हैं, जो खडित हो गये हैं, केवल उनके पैर लटक रहे हैं। एक अन्य छोटी सी मूर्ति (न० ६०६) साढ़े चार इच की है, जिसमें कधो पर वालक वैठे हुए दिखायी देते हैं। यह भी कुषाण कालीन है। तीसरी मूर्ति साढे आठ इच ऊची है और उसमें दोनो कधो पर एक-एक वालक वैठा हुआ है। दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है, और वाए में मोहरो की थैली जैसी कोई वस्तु है। कधो पर वालक वैठाए हुए नेगमेश की और दो मूर्तिया (न० ११५१, २४८२) हैं। एक मूर्ति का केवल सिर मात्र सुरक्षित है (न० १००१)।

एक अन्य मूर्ति (नं २५४७) एक फुट पांच इंच ऊंची है, जिसमें प्रत्येक कंधे पर दो बालक बैठे दिखाई देते हैं, तथा दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है।

कुछ मूर्तियां अजामुख देवी की हैं। एक मूर्ति (ई २) एक फुट चार इंच ऊंची है, जिसमें देवी के स्तन स्पष्ट हैं। उसके बाएं हाथ में एक तकिया है, जिस पर एक बालक अपने दोनों हाथ वक्षस्थल पर रखे हुए लटका है। देवी का दाहिना हाथ खंडित है किन्तु अनुमानतः वह कंधे की ओर उठ रहा है। इसी प्रकार की दूसरी मूर्ति (ई १) में स्तनों पर हार लटक रहा है। तीसरी मूर्ति (नं ७९९) साढ़े आठ इंच ऊंची है। देवी अजामुख है, किन्तु वह किसी बालक को धारण नहीं किये है। उसके दाहिने हाथ में कमल और बाएं हाथ में प्याला है। एक अन्य मूर्ति (ई १२१) दस इंच ऊंची है, जिसमें देवी अपनी बायीं जंघा पर बालक को बैठाये है और बाएं हाथ से उसे पकड़े है। दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है। सिर पर साढ़े पांच इंच व्यास का प्रभावल भी है। स्तनों पर सुस्पष्ट हार भी है। एक अन्य छोटी सी मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। यह केवल पांच इंच ऊंची है, किन्तु उसमें अजामुख देवी की चार भुजाएं हैं, और वह एक पर्वत पर ललितासन विराजमान है। उसकी बायीं जंघा पर बालक बैठा है जो प्याले को हाथों में लिए हुए दूध पी रहा है। देवी के हाथों में त्रिशूल प्याला व पाश है। उसके दाहिने पैर के नीचे उसके वाहन की आकृति कुछ अस्पष्ट है जो सम्भवतः बैल या भैंसा होगा।

कुछ मूर्तियां ऐसी भी हैं जिनमें यह मातृदेवी अजामुख नहीं किन्तु स्त्री-मुख बनाई गई है। ऐसी एक मूर्ति (ई ४) १ फुट १ इंच ऊंची है जिसमें देवी एक शिशु को अपनी गोद में सुलाये हुए है। देवी का दाहिना हाथ अभयमुद्रा में है। मूर्ति कुषाण कालीन है। इसी प्रकार की बालक को सुलाये हुए एक दूसरी मूर्ति भी है। बालकों सहित एक अन्य उल्लेखनीय मूर्ति (नं २७८) १ फुट साढ़े सात इंच ऊंची व ९ इंच चौड़ी है, जिसमें एक पुरुष व स्त्री पास-पास एक वृक्ष के नीचे ललितासन में बैठे हैं। वृक्ष के ऊपरी भाग में छोटी सी ध्यानस्थ जिन-मूर्ति बनी हुई है, और वृक्ष की पींड़ (तना) पर गिरगिट चढ़ता हुआ दिखाई देता है। पाद-पीठ पर एक दूसरी आकृति है, जिसमें बायां पैर ऊपर उठाया हुआ है, और उसके दोनों ओर ९ बालक खेल रहे हैं। इसी प्रकार की एक मूर्ति चंदेरी (म प्र) में भी पाई गई है, तथा एक अन्य मूर्ति प्रयाग नगरपालिका के संग्रहालय में भी है।

उपर्युक्त समस्त मूर्तियां मूलतः एक जैन आख्यान से संबंधित हैं, और अपने विकासक्रम को प्रदर्शित कर रही हैं। कल्प-सूत्र के अनुसार इन्द्र की आज्ञा से उनके

हरिनैगमेश नामक अनुचर देव ने महावीर को गर्भरूप मे देवानदा की कुक्षि से निकाल कर त्रिशला रानी की कुक्षि में स्थापित किया था । इस प्रकार हरिनैगमेशी का सबध बाल-रक्षा से स्थापित हुआ जान पडता है । इस हरिनैगमेश की मुखाकृति प्राचीन चित्रो व प्रतिमाओं मे बकरे जैसी पाई जाती है । नेमिनाथ-चरित मे कथानक है कि सत्यभामा की प्रद्युम्न सदृश पुत्र को प्राप्त करने की अभिलाषा को पूरा करने के लिए कृष्ण ने नैगमेश देव की आराधना की, और उसने प्रकट होकर उन्हें एक हार दिया जिसके पहनने से सत्यभामा की मनोकामना पूरी हुई । इस आख्यान से नैगमेश देव का सतानोत्पत्ति के साथ विशेष सबध स्थापित होता है । उक्त देव व देवी की प्राय समस्त मूर्तिया हार पहने हुए हैं, जो सम्भवत इस कथानक के हार का प्रतीक है । डा० वासुदेवशरणजी का अनुमान है कि उपलम्य मूर्तियो पर से ऐसा प्रतीत होता है कि सतान-पालन मे देव की अपेक्षा देवी की उपासना अधिक औचित्य रखती है, अतएव देव के स्थान पर देवी की कल्पना प्रारम हुई । तत्पश्चात् अजामुख का परित्याग करके सुन्दर स्त्री-मुख का रूप इस देव-देवी को दिया गया, और फिर देव-देवी दोनो ही एक साथ बालको सहित दिखलाए जाने लगे । (जैन एनटी० १६३७ प्र० ३७ आदि) सभव है शिशु के पालन-पोषण में बकरी के दूध के महत्व के कारण इस अजामुख देवता की प्रतिष्ठा हुई हो ?

कुछ मूर्तियो मे, उदाहरणार्थ देवगढ़ के मदिरो मे व चन्द्रपुर (झासी) से प्राप्त मूर्तियो मे, एक वृक्ष के नीचे पास-पास बैठे हुए पुरुष और स्त्री दिखाई देते हैं, और वे दोनो ही एक बालक को लिए हुए हैं । पुरातत्व विभाग के भूतपूर्व संचालक श्री दयाराम साहनी का मत है कि यह दृश्य भोगभूमि के युगल का है ।

जैन चित्रकला

चित्रकला के प्राचीन उल्लेख—

भारतवर्ष में चित्रकला का भी बडा प्राचीन इतिहास है । इस कला के साहित्य मे बहुत प्राचीन उल्लेख पाये जाते हैं, तथापि इस कला के सुन्दरतम उदाहरण हमे अजन्ता की गुप्त-कालीन बौद्ध गुफाओं मे मिलते हैं । यहा यह कला जिस विकसित रूप मे प्राप्त होती है, वह स्वय बतला रही है कि उससे पूर्व भी भारतीय कलाकारो ने अनेक वैसे भित्तिचित्र दीर्घकाल तक बनाए होंगे, तभी उनको इस कला का वह कौशल और अभ्यास प्राप्त हो सका जिसका प्रदर्शन हम उन गुफाओ में पाते हैं । किन्तु चित्र-

कला की आधारभूत सामग्री भी उसकी प्रकृति अनुसार ही बड़ी ललित और कोमल होती है। भित्ति का लेप और उसपर कलाकार के हाथों की स्याही की रेखाएं तथा रंगों का विन्यास काल की तथा धूप, वर्षा, पवन, आदि प्राकृतिक शक्तियों की करालता को उतना नहीं सह सकती जितना वास्तु व मूर्तिकला की पाषाणमयी कृतियां। इस कारण गुप्त काल से पूर्व के चित्रकलात्मक उदाहरण या तो नष्ट हो गये या बचे तो ऐसी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में जिससे उनके मौलिक स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करना असम्भव हो गया है।

प्राचीनतम जैन साहित्य में चित्रकला के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। छठे जैन श्रुतांग नायाधम्म-कहाओ में धारणी देवी के शयनागार का सुन्दर वर्णन है जिसका छत लताओं पुष्पवल्लियों तथा उत्तम जाति के चित्रों से अलंकृत था (ना क १९)। इसी श्रुतांग में मल्लदिन्न राजकुमार द्वारा अपने प्रमदवन में चित्रसभा बनवाने का वर्णन है। उसने चित्रकारों की श्रेणी को बुलवाया और उनसे कहा कि मेरे लिए एक चित्र-सभा बनाओ और उसे हाव भाव विलास विभ्रमों से सुसज्जित करो। चित्रकार-श्रेणी ने इस बात को स्वीकार कर लिया और अपने-अपने घर जाकर तूलिकाएं और वर्ण (रंग) लाकर वे चित्र-रचना में प्रवृत्त हो गये। उन्होंने भित्तियों का विभाजन किया भूमि को लेपादि से सजाया और फिर उक्त प्रकार के चित्र बनाने लगे। उनमें से एक चित्रकार को ऐसी सिद्धि प्राप्त थी कि किसी भी द्विपद व चतुष्पद प्राणी का एक अंग मात्र देखकर उसकी पूरी रूपाकृति निर्माण कर सकता था। उसने राजकुमारी मल्लि के चरणांगुष्ठ को पर्दे की ओट से देखकर उसकी यथावत् सर्वांगाकृति चित्रित कर दी (ना क ८ ७८)। इसी श्रुतांग में अन्यत्र (१३ ९९) मणिकार श्रेष्ठि नंद द्वारा राजगृह के उद्यान में एक चित्रसभा बनवाने का उल्लेख है, जिसमें सैकड़ों स्तम्भ थे व नाना प्रकार के काष्ठकर्म (लकड़ी की कारीगरी) पुस्तकर्म (चूने सिमेंट की कारीगरी) चित्रकर्म (रंगों की कारीगरी) लेप्यकर्म (मिट्टी की आकृतियां) तथा नाना द्रव्यों को गूंथकर, वेष्टितकर, भरकर व जोड़कर बनाई हुई विविध आकृतियां निर्माण कराई गई थीं। बृहत्कल्पसूत्र भाष्य (२ ६, २६२) में एक गणिका का कथानक है, जो ६४ कलाओं में प्रवीण थी। उसने अपनी चित्रसभा में नाना प्रकार के नाना जातियों व व्यवसायों के पुरुषों के चित्र लिखाये थे। जो कोई उसके पास आता उसे वह अपनी उस चित्र-सभा के चित्र दिखलाती और उसकी प्रतिक्रियाओं पर से उसकी रुचि व स्वभाव को जानकर उसके साथ तदनुसार व्यवहार करती थी। आवश्यक टीका के एक पद्य में चित्रकार का उदाहरण देकर बतलाया है कि किसी भी व्यवसाय का अभ्यास हो उसमें

पूर्ण प्रवीणता प्राप्त कराता है। चूर्णिकार ने इस बात को समझाते हुए कहा है कि निरंतर अभ्यास द्वारा चित्रकार रूपों के समुचित प्रमाण को बिना नापे-तौले ही साध लेता है। एक चित्रकार के हस्त-कौशल का उदाहरण देते हुए आवश्यक टीका में यह भी कहा है कि एक शिल्पी ने मयूर का पंख ऐसे कौशल से चित्रित किया था कि राजा उसे यथार्थ वस्तु समझकर हाथों में लेने का प्रयत्न करने लगा। आव० चूर्णिकार ने कहा है कि सूत्र के अर्थ को स्पष्ट करने में भाषा और विभाषा का वही स्थान है जो चित्रकला में। चित्रकार जब किसी रूप का संतुलित माप निश्चय कर लेता है, तब वह भाषा, और प्रत्येक अंगोपांग का प्रमाण निश्चित कर लेता है तब विभाषा, एवं जब नेत्रादि अंग चित्रित कर लेता है तब वह वार्ता की स्थिति पर पहुंचता है। इस प्रकार जैन साहित्यिक उल्लेखों से प्रमाणित है कि जैन परम्परा में चित्रकला का प्रचार अति प्राचीन काल में हो चुका था और यह कला सुविकसित तथा सुव्यवस्थित हो चुकी थी।

भित्ति-चित्र—

जैन चित्रकला के सबसे प्राचीन उदाहरण हमें तामिल प्रदेश के तंजोर के समीप सित्तन्नवासल की उस गुफा में मिलते हैं जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। किसी समय इस गुफा में समस्त भित्तियां व छत चित्रों से अलंकृत थे, और गुफा का यह अलंकरण महेन्द्रवर्मा प्रथम के राज्य काल (ई० ६२५) में कराया गया था। शैव धर्म स्वीकार करने से पूर्व यह राजा जैनधर्मावलम्बी था। वह चित्रकला का इतना प्रेमी था कि उसने दक्षिण-चित्र नामक शास्त्र का संकलन कराया था। गुफा के अधिकांश चित्र तो नष्ट हो चुके हैं, किन्तु कुछ अब भी इतने सुव्यवस्थित हैं कि जिनसे उनका स्वरूप प्रकट हो जाता है। इनमें आकाश में मेघों के बीच नृत्य करती हुई अप्सराओं की तथा राजा-रानी की आकृतियां स्पष्ट और सुन्दर हैं। छत पर के दो चित्र कमल-सरोवर के हैं। सरोवर के बीच एक युगल की आकृतियां हैं, जिनमें स्त्री अपने दाहिने हाथ से कमलपुष्प तोड रही है, और पुरुष उसमें सटकर बाएं हाथ में कमल-नाल को कंधे पर लिए खडा है। युगल का यह चित्रण बडा ही सुन्दर है। ऐसा भी अनुमान किया गया है कि ये चित्र तत्कालीन नरेश महेन्द्रवर्मा और उनकी रानी के ही हैं। एक ओर हाथी अनेक कमलनालों को अपनी सूंड में लपेट कर उखाड रहा है, कहीं गाय कमलनाल चर रही है, हंस-युगल क्रीडा कर रहे हैं, पक्षी कमल मुकुलों पर बैठे हुए हैं, व मत्स्य पानी में चल-फिर रहे हैं। दूसरा चित्र भी इसी का क्रमानुगामी है। उसमें एक मनुष्य तोडे हुए कमलों से भरी हुई टोकरी लिये हुए है, तथा हाथी और बैल क्रीडा कर रहे हैं।

कला की आधारभूत सामग्री भी उसकी प्रकृति अनुसार ही बड़ी ललित और कोमल होती है। भित्ति का लेप और उसपर कलाकार के हाथों की स्याही की रेखाएं तथा रंगों का विन्यास काल की तथा धूप वर्षा पवन, आदि प्राकृतिक शक्तियों की करालता को उतना नहीं सह सकती जितना वास्तु व मूर्तिकला की पाषाणमयी कृतियां। इस कारण मुस्लिम काल से पूर्व के चित्रकलात्मक उदाहरण या तो नष्ट हो गये या बचे तो ऐसी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में जिससे उनके मौलिक स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करना असम्भव हो गया है।

प्राचीनतम जैन साहित्य में चित्रकला के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। छठे जैन श्रुतांग नायाधम्म-कहाओ में धारणी देवी के शयनागार का सुन्दर वर्णन है जिसका छत लताओं पुष्पवल्लियों तथा उत्तम जाति के चित्रों से अलंकृत था (ना क १९)। इसी श्रुतांग में मल्लदिन्न राजकुमार द्वारा अपने प्रमदवन में चित्रसभा बनवाने का वर्णन है। उसने चित्रकारों की श्रेणी को बुलवाया और उनसे कहा कि मेरे लिए एक चित्र-सभा बनाओ और उसे हाव भाव विलास विभ्रमों से सुसज्जित करो। चित्रकार श्रेणी ने इस बात को स्वीकार कर लिया और अपने-अपने घर जाकर तूलिकाएं और वर्ण (रंग) लाकर वे चित्र-रचना में प्रवृत्त हो गये। उन्होंने भित्तियों का विभाजन किया भूमि को लेपादि से सजाया और फिर उक्त प्रकार के चित्र बनाने लगे। उनमें से एक चित्रकार को ऐसी सिद्धि प्राप्त थी कि किसी भी द्विपद व चतुष्पद प्राणी का एक अंग मात्र देखकर उसकी पूरी रूपाकृति निर्माण कर सकता था। उसने राजकुमारी मल्लि के चरणांगुष्ठ को पर्दे की ओट से देखकर उसकी यथावत् सर्वांगाकृति चित्रित कर दी (ना क ८ ७८)। इसी श्रुतांग में अन्यत्र (१३ ९९) मणिकार श्रेष्ठि नंद द्वारा राजगृह के उद्यान में एक चित्रसभा बनवाने का उल्लेख है जिसमें सैकड़ों स्तम्भ थे व नाना प्रकार के काष्ठकर्म (लकड़ी की कारीगरी) पुस्तकर्म (चूने सिमेंट की कारीगरी) चित्रकर्म (रंगों की कारीगरी) लेप्यकर्म (मिट्टी की आकृतियां) तथा नाना द्रव्यों को गूंथकर वेष्टितकर भरकर व जोड़कर बनाई हुई विविध आकृतियां निर्माण कराई गई थीं। बृहत्कल्पसूत्र भाष्य (२ ५, २६२) में एक गणिका का कथानक है जो ६४ कलाओं में प्रवीण थी। उसने अपनी चित्रशाला में नाना प्रकार के नाना जातियों व व्यवसायों के पुरुषों के चित्र लिखाये थे। जो कोई उसके पास आता उसे वह अपनी उस चित्र-सभा के चित्र दिखलाती और उसकी अभिरुचियों पर से उसकी रुचि व स्वभाव को जानकर उसके साथ तदनुसार व्यवहार करती थी। आवश्यक टीका में एक कथा में चित्रकार का उदाहरण देकर बतलाया है कि किसी भी व्यवसाय का अभ्यास ही उसमें

हैं। एक देवता चतुर्भुज व त्रिनेत्र दिखाई देता है, जो सम्भवत इन्द्र है। ये सब चित्र काली भित्ति पर नाना रगो से वनाए गये हैं। रगो की चटक अजन्ता के चित्रो के समान है। देवो, आर्यों व मुनियो के चित्रो मे नाक व ठुड्डी का अकन कोणात्मक तथा दूसरी आख मुखाकृति के वाहर को निकली हुई सी वनाई गई है। आगे की चित्रकला इस शैली से बहुत प्रभावित पायी जाती है।

श्रवणबेलगोला के जैनमठ मे अनेक सुन्दर भित्ति-चित्र विद्यमान हैं। एक मे पार्श्वनाथ **समोसरण** में विराजमान दिखाई देते हैं। नेमिनाथ की **दिव्य-ध्वनि** का चित्रण भी सुन्दरता से किया गया है। एक वृक्ष और छह पुरुषो द्वारा जैनधर्म की छह लेश्याओ को समझाया गया है, जिनके अनुसार वृक्ष के फलों को खाने के लिए कृष्णलेश्या वाला व्यक्ति सारे वृक्ष को काट डालता है, नीललेश्या वाला व्यक्ति उसकी वडी-वडी शाखाओं को, कपोतलेश्या वाला उसकी टहनियो को, पीतलेश्या वाला उसके कच्चे-पके फलो को और पद्मलेश्या वाला केवल पके फलो को तोडता है। किन्तु शुक्ललेश्या वाला व्यक्ति वृक्ष को लेशमात्र भी हानि नही पहुचाता हुआ पककर गिरे हुए फलो को चुनकर खाता है। मठ के चित्रो मे ऐसे अन्य भी धार्मिक उपदेशो के दृष्टान्त पाये जाते हैं। यहा एक ऐसा चित्र भी है, जिसमें मैसूर नरेश कृष्णराज ओडयर (तृतीय) का **दशहरा दरवार** प्रदर्शित किया गया है।

ताडपत्रीय चित्र—

जैन मंदिरो में भित्ति-चित्रो की कला का विकास ११ वी शती तक विशेष रूप से पाया जाता है। तत्पश्चात् चित्रकला का आधार ताडपत्र वना। इस काल से लेकर १४-१५ वीं शती तक के हस्तलिखित ताडपत्र ग्रथ जैन शास्त्र-भडारो में सहस्रो की संख्या मे पाये जाते हैं। चित्र वहुधा लेख के ऊपर, नीचे व दायें-बाए हाशियो पर, और कहीं पत्र के मध्य में भी वने हुए हैं। ये चित्र वहुधा शोभा के लिए, अथवा धार्मिक रुचि वढाने के लिए अंकित किये गये हैं। ऐसे चित्र वहुत ही कम हैं जिनका विषय ग्रथ से संवंध रखता हो।

सवसे प्राचीन चित्रित ताडपत्र ग्रथ दक्षिण मे मैसूर राज्यान्तर्गत मूडविद्री तथा उत्तर में पाटन (गुजरात) के जैन भंडारों मे मिले हैं। मूडविद्री मे **षट्खंडागम की ताड़पत्रीय प्रतियां**, उसके ग्रथ व चित्र दोनो दृष्टियों से वडी महत्वपूर्ण हैं। दिगम्बर जैन परम्परानुसार सुरक्षित साहित्य में यही रचना सवसे प्राचीन है। इसका मूल द्वितीय शती, तथा टीका ९ वीं शती में रचित सिद्ध होती है। मूडविद्री के इस ग्रथ

हाथियों का रंग भूरा व बैलों का रंग मटियाला है। विद्वानों का अनुमान है कि ये चित्र तीर्थंकर के समवसरण की वाटिका-भूमि के हैं, जिनमें मध्य-मध्य पुष्प-निर्मित मण्डप दीखते हैं।

इसी चित्र का अनुकरण एलोरा के कैलाशनाथ मंदिर के एक चित्र में भी पाया जाता है। यद्यपि यह मंदिर शैव है, तथापि इसमें उक्त चित्र के अतिरिक्त एक ऐसा भी चित्र है जिसमें एक दिगम्बर मुनि को पालकी में बैठाकर यात्रा निकाली जा रही है। पालकी को चार मनुष्य पीछे की ओर व आगे एक मनुष्य धारण किये हैं। पालकी पर छत्र भी लगा हुआ है। आगे-आगे पांच योद्धा भालों और ढालों से सुसज्जित चल रहे हैं। इन योद्धाओं की मुखाकृति केशविन्यास मौंछें, दाढ़ी व मुखों की बनावट तथा कर्ण-कुण्डल बड़ी सजीवता को लिए हुए हैं। दायीं ओर इनके स्वागत के लिये आती हुई सात स्त्रियां और उनके आगे उसी प्रकार से सुसज्जित सात योद्धा दिखाई देते हैं। योद्धाओं के पीछे ऊपर की ओर छत्र भी लगा हुआ है। स्त्रियां सिरों पर कलश आदि मंगल द्रव्य धारण किये हुए हैं। उनकी साड़ी की पहनावट दक्षिणी ढंग की कच्छ है, तथा उत्तरीय दाहिनी बाजू से बांये कंधे पर जाता हुआ है। उसके पीछे ढालतलवार चले हुए दिखाई देते हैं। इस प्रकार यह दृश्य भट्टारक सम्प्रदाय के जैनमुनि के राजद्वार पर स्वागत का प्रतीक होता है। डा० मोतीचन्द्रजी का अनुमान है कि एक हिन्दू मंदिर में इस जैन दृश्य का अस्तित्व १२ वी शती में मंदिर के जैनियों द्वारा बलात् स्वाधीन किये जाने की सम्भावना को सूचित करता है। किन्तु समस्त जैनधर्म के इतिहास को देखते हुए यह बात असम्भव सी प्रतीत है। यह चित्र सम्भवतः चित्र निर्माता की धार्मिक उदारता अथवा उसपर किसी जैन मुनि के विशेष प्रभाव का प्रतीक है। एलोरा के इन्द्रसभा नामक जैनमंदिर (८ वीं से १ वी शती है) में भी रंगीन चित्रकारियों के चिन्ह विद्यमान हैं किन्तु वे इतने छिन्न-भिन्न हैं, और धुंधले हो गये हैं कि उनका विषय वृत्तान्त पाना असम्भव है।

१ ११ वीं शती में जैनियों ने अपने मंदिरों में चित्रनिर्माण द्वारा दक्षिण प्रदेश में चित्रकला को खूब पुष्ट किया। उदाहरणार्थ तिरु मलाई के जैनमंदिर में अब भी चित्रकारी के सुन्दर उदाहरण विद्यमान हैं जिनमें देवता व किंपुरुष आकाश में मेघों के बीच उड़ते हुए दिखाई देते हैं। देव मंडलिबद्ध होकर समोसरण की ओर जा रहे हैं। गंधर्व व अप्सराएं भी बने हैं। एक देव फूलों के बीच खड़ा हुआ है। श्वेत वस्त्र धारण किये अप्सराएं पंक्तिबद्ध स्थित हैं। एक चित्र में दो मुनि आमने सामने बैठे दिखाई देते हैं। कहीं दिगंबर मुनि आहार देने वाली महिला को धर्मोपदेश दे रहे

आकृतिया बहुत हैं, और वे प्राय उसी शैली की हैं जैसी ऊपर वर्णित पट्खडागम की। हा, एक चक्र के भीतर हस्तिवाहक का, तथा अन्यत्र पुष्पमालाए लिए हुए दो अप्सराओ के चित्र विशेष है। इनमे भी पट्खडागम के चित्रो के समान पहली आख की आकृति मुख-रेखा के बाहर नही निकली। ११२७ ई० मे लिखित खम्भात के शान्तिनाथ जैनमदिर मे स्थित नगीनदास भडार की ज्ञाताधर्मसूत्र की ताडपत्रीय प्रति के पद्मासन महावीर तीर्थंकर आस पास चौरी वाहको सहित, तथा सरस्वती देवी का त्रिभग चित्र उल्लेखनीय हैं। देवी चतुर्भुज है। ऊपर के दोनो हाथो मे कमलपुष्प तथा निचले हाथो मे अक्षमाला व पुस्तक है। समीप मे हस भी है। देवी के मुख की प्रसन्नता व अगो का हाव-भाव और विलास सुन्दरता से अकित किया गया है।

वडोदा जनपद के अन्तर्गत छाणी के जैन-ग्रथ-भडार की ओघनिर्युक्ति की ताडपत्रीय प्रति (ई० ११६१) के चित्र विशेष महत्व के हैं क्योकि इनमे १६ विद्यादेवियों तथा अन्य देवियो और यक्षों के सुन्दर चित्र उपलब्ध हैं। विद्यादेवियो के नाम हैं— रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रश्रृखला, वज्राकुशी, चक्रेश्वरी, पुरुपदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गाधारी, महाज्वाला, मानवी, वैरोट्या, अच्छुप्ता, मानसी, और महामानसी। अन्य देव-देवी हैं – कापर्दीयक्ष, सरस्वती, अम्बिका, महालक्ष्मी, ब्रह्मशान्ति। सभी देविया चतुर्भुज व भद्रासन हैं। हाथो मे वरद व अभय मुद्रा के अतिरिक्त शक्ति, अकुश, धनुष, वाण, श्रृखला, शख, असि, ढाल, पुष्प, फल व पुस्तक आदि चिन्ह हैं। मस्तक के नीचे प्रभावल, सिर पर मुकुट, कान मे कर्णफूल व गले मे हार भी विद्यमान है। अम्बिका के दो ही हाथ हैं। दाहिने हाथ मे वालक, और वाए हाथ मे आम्रफलो के गुच्छे सहित डाली। इन सव आकृतियो मे परली आख निकली हुई है, तथा नाक व ठुड्डी की कोणाकृति स्पष्ट दिखाई देती है। शोभाकन समस्त रूढि-आत्मक है। इस जैनग्रथ मे इन चित्रो का अस्तित्व यह वतलाता है कि इस काल की कुछ जैन उपासना-विधियो मे अनेक वैष्णव व शैवी देवी-देवताओ को भी स्वीकार कर लिया गया था।

सन् १२८८ मे लिखित सुवाहु-कथादि कथा-सग्रह की ताडपत्र प्रति में २३ चित्र हैं, जिनमें से अनेक अपनी विशेपता रखते हैं। एक में भगवान् नेमिनाथ की वरयात्रा का सुन्दर चित्रण है। कन्या राजीमती विवाह-मडप में वैठी हुई है, जिसके द्वार पर खडा हुआ मनुष्य हस्ति-आरूढ नेमीनाथ का हाथ जोडकर स्वागत कर रहा है। नीचे की ओर मृगाकृतिया वनी हैं। दो चित्र वलदेव मुनि के हैं। एक में मृगादि पशु वलदेव मुनि का उपदेश श्रवण कर रहे हैं, और दूसरे में वे एक वृक्ष के नीचे मृग सहित खडे ए रथवाही से आहार ग्रहण कर रहे हैं। इस ग्रथ के चित्रो में डा० मोतीचन्द के

की तीन प्रतियों में सबसे पीछे की प्रति का लेखन काल ११११ ई. के लगभग है। इसमें पांच ताड़पत्र चित्रित हैं। इनमें से दो ताड़पत्र तो पूरे चित्रों से भरे हैं, दो के मध्यभाग में लेख हैं, और दोनों तरफ कुछ चित्र तथा एक में पत्र तीन भागों में विभाजित है, और तीनों भागों में लेख हैं किन्तु दोनों छोरों पर एक-एक चक्राकृति बनी है। चक्र की परिधि में भीतर की ओर अनेक कोणाकृतियां और मध्यभाग में उसी प्रकार का दूसरा छोटा सा चक्र है। इन दोनों के बलय में कुछ अंतराल से छह चौकोर आकृतियां बनी हैं। जिन दो पत्रों के मध्य में लेख और साधु-साधु चित्र हैं, उनमें से एक पत्र में पहले बेलबूटेदार किनारी और फिर दो-दो विविध प्रकार की सुन्दर योनाकृतियां हैं। दूसरे पत्र में दाईं ओर खड्गासन नग्न मूर्तियां हैं, जिनके सन्मुख दो स्त्रियां नृत्य जैसी भाव-मुद्रा में खड़ी हैं। इनका केशों का जूड़ा चक्राकार व पुष्पमाला युक्त है, तथा उत्तरीय बाएं कंधे के नीचे से बाएं के ऊपर फैला हुआ है। पत्र के वामी ओर पद्मासन जिनमूर्ति प्रभावल-युक्त है। सिंहासन पर कुछ पशुओं की आकृतियां बनी हैं। मूर्ति के दोनों ओर दो मनुष्य-आकृतियां हैं, और उनके पार्श्व में स्वतंत्र रूप से खड़ी हुई, और दूसरी कमलासीन हंसयुक्त देवी की मूर्तियां हैं। जो दो पत्र पूर्णतः चित्रों से अलंकृत हैं उनमें से एक के मध्य में पद्मासन जिनमूर्ति है, जिसके दोनों ओर एक-एक देव खड़े हैं। इस चित्र के दोनों ओर समान रूप से दो-दो पद्मासन जिनमूर्तियां हैं, जिनके सिरके पीछे प्रभावल उसके दोनों ओर चमर, और ऊपर की ओर दो चक्रों की आकृतियां हैं। तत्पश्चात् दोनों ओर एक-एक चतुर्भुजी देवी की भद्रासन मूर्ति है, जिनके दाहिने हाथ में अंकुश और बाएं हाथ में कमल है। अन्य दो हाथ वरद और अभय मुद्रा में हैं। दोनों छोरों के चित्रों में गुरु अपने सन्मुख हाथ जोड़े बैठे श्रावकों को धर्मोपदेश दे रहे हैं। उनके बीच में स्थापनाचार्य रखा है। दूसरे पत्र के मध्यभाग में पद्मासन जिनमूर्ति है और उसके दोनों ओर सात-सात साधु नाना प्रकार के आसनों व हस्त-मुद्राओं सहित बैठे हुए हैं। इन ताड़पत्रों की सभी आकृतियां बड़ी सजीव और कला-पूर्ण हैं। विशेष बात यह है कि इन चित्रों में कहीं भी परली आंख मुखरेखा से बाहर की ओर निकली हुई दिखाई नहीं देती। नासिका व ठुड्डी की आकृति भी कोणाकार नहीं है, जैसी कि हम आगे विकसित हुई पश्चिमी जैनशैली में पाते हैं।

उक्त चित्रों के समकालीन पश्चिम की चित्रकला के उदाहरण निशीथ-चूर्णि की पाटन के संघवी-पाड़ा के भंडार में सुरक्षित ताड़पत्रीय प्रति में मिलते हैं। यह प्रति उसकी प्रशस्ति अनुसार भृगुकच्छ (भड़ौच) में सोलंकी नरेश जयसिंह (ई. १०९४ से ११४३) के राज्यकाल में लिखी गई थी। इसमें अलंकरणात्मक चमत्कार

का प्रयोग भी परिमित है। प्राय भूमि लाल पकी हुई ईटो के रगकी, और आकृतियो मे ीले, सिंदूर जैसे लाल, नीले और सफेद तथा क्वचित् हरे रग का उपयोग हुआ है। किन्तु सन् १३५० और १४५० ई० के बीच मे एक शती के जो ताडपत्रीय चित्रो के उदाहरण मिले हैं, उनमे शास्त्रीय व सौंदर्य की दृष्टि से कुछ वैशिष्ट्य देखा जाता है। आकृति-अकन अधिक सूक्ष्मतर व कौशल से हुआ है। आकृतियो मे विषय की दृष्टि से तीर्थंकरो के जीवन की घटनाए भी अधिक चित्रित हुई हैं, और उनमे विवरणात्मकता लाने का प्रयत्न दिखाई देता है, तथा रगलेप मे वैचित्र्य और विशेष चटकीलापन आया है। इसीकाल मे **सुवर्णरग** का प्रयोग प्रथमवार दृष्टिगोचर होता है। यह सव मुसलमानो के साथ आई हुई **ईरानी चित्रकला का प्रभाव** माना जाता है, जिसके बल से आगे चलकर **अकबर** के काल (१६ वी शती) मे वह **भारतीय ईरानी चित्रशैली** विकसित हुई, जो **मुगल-शैली** के नाम से सुप्रसिद्ध हुई पाई जाती हैं, इस शैली की प्रतिनिधि रचनाए अधिकाश **कल्पसूत्र** की प्रतियो मे पाई जाती है, जिनमे सवसे महत्वपूर्ण ईडर के 'आनद जी मगलजी पेढी' के ज्ञानभडार की वह प्रति है जिसमे ३४ चित्र हैं, जो महावीर के और कुछ पार्श्वनाथ व नेमिनाथ तीर्थंकरो की जीवन-घटनाओ से सवद्ध हैं। इसमे सुवर्ण रग का प्रथम प्रयोग हुआ है। आगे चलकर तो ऐसी भी रचनाए मिलती हैं जिनमे न केवल चित्रो मे ही सुवर्ण रग का प्रचुर प्रयोग हुआ है, किन्तु समस्त ग्रथ-लेख ही सुवर्ण की स्याही से किया गया है, अथवा समस्त भूमि ही सुवर्ण-लिप्त की गई है, और उसपर **चादी** की स्याही से लेखन किया गया है। कल्पसूत्र की आठ ताडपत्र तथा बीस कागज की प्रतियो पर से लिए हुए ३७४ चित्रो सहित कल्पसूत्र का प्रकाशन भी हो चुका है। (**पवित्रकल्पसूत्र**, अहमदावाद, १९५२)। प्रोफेसर नार्मन ब्राउन ने अपने '**दी स्टोरी आफ कालक**' (वाशिंगटन, १९३३) नामक ग्रथ मे ३९ चित्रो का परिचय कराया है, तथा साराभाई नवाव ने अपने **कालक कथा-सग्रह** (अहमदावाद, १९५८) मे ६ ताडपत्र और ९ कागज की प्रतियो परसे ८८ चित्र प्रस्तुत किये हैं। डा० मोतीचन्द ने अपने '**जैन मिनिएचर पेंटिंग्स फ्राम वेस्टर्न इडिया**' (अहम दावाद, १९४९) मे २६२ चित्र प्रस्तुत किए हैं, और उनके आधार से जैन चित्रकला का अति महत्वपूर्ण आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

कागज पर चित्र—

कागज का आविष्कार चीन देश मे १०५ ई० मे हुआ माना जाता है। १०वी

मतानुसार पशु व वृक्षों का चित्रण ताड़पत्र में प्रथम बार अवतरित हुआ है, तथा इन चित्रों में पश्चिमी भारत की चित्र-शैली स्थिरता को प्राप्त हो गई है। कोणाकार रेखांकन व नासिका और ठुड्डी का चित्रण तथा परली आंख की आकृति मुख रेखा से बाहर निकली हुई यहाँ स्थिरता हुई दिखायी देती है।

इस चित्रशैली के नामकरण के संबंध में मतभेद है। नार्मन ब्राउन ने इसे श्वेताम्बर जैन शैली कहा है क्योंकि उनके मतानुसार इसका प्रयोग इसी जैन ग्रन्थों में ही हुआ है, तथा परली आंख को निकली हुई अंकित करने का कारण उन्होंने उस सम्प्रदाय में प्रचलित तीर्थंकर मूर्तियों में कृत्रिम आंख लगाना है। डा० कुमार स्वामी ने इसे जैनकला तथा श्री एन. सी. मेहता ने गुजराती शैली कहा है। श्री रायकृष्णदास का मत है कि इस शैली में हमें भारतीय चित्रकला का ह्रास दिखाई देता है। अतः उसे इस काल में विकसित हुई भाषा के अनुसार अपभ्रंश शैली कहना उचित होगा। किन्तु इन सबसे शताब्दियों पूर्व तिब्बतीय इतिहासज्ञ तारानाथ (१६ वीं शती ई०) ने पश्चिम भारतीय शैली का उल्लेख किया है, और डा० मोतीचन्द ने इसी नाम का औचित्य स्वीकार किया है क्योंकि उपलब्ध प्रमाणों पर से इस शैली का उद्गम और विकास पश्चिम भारत में ही विशेषतः गुजरात-राजपूताना प्रदेश में हुआ सिद्ध होता है। तारानाथ के मतानुसार पश्चिमी कला-शैली मारु (मारवाड़) के शृंगधर नामक कुशल चित्रकार ने प्रारम्भ की थी और यह हर्षवर्धन (६१० से ६५० ई०) के समय में हुआ था। यह शैली क्रमशः नेपाल और काश्मीर तक पहुंच गई। इस शैली के उपलब्ध प्रमाणों से स्पष्ट है कि यदि इसकी उत्पत्ति नहीं तो विशेष पुष्टि अवश्य ही जैन परम्परा के भीतर हुई, और इसीलिए उसका जैनशैली नाम अनुचित नहीं। पीछे इस शैली को अन्य पश्चिम प्रदेश के बाहर के लोगों ने तथा जैनेतर सम्प्रदायों ने भी अपनाया तो इससे उसकी उत्पत्ति व पुष्टि पर आधारित 'पश्चिमी' व 'जैन' कला कहने में कोई अनौचित्य प्रतीत नहीं होता। इस आधार पर श्री साराभाई नवाब ने जो इस शैली के लिये पश्चिमी जैनकला नाम सुझाया है वह भी सार्थक है।

ऊपर जिन ताड़पत्रीय चित्रों का परिचय कराया गया है, उसके सामान्य लक्षण ये हैं:—विषय की दृष्टि से वे तीर्थंकरों, देव-देवियों, मुनियों व धर्मरक्षकों की आकृतियों तक ही प्रायः सीमित हैं। संयोजन व पृष्ठभूमि की समस्याएं चित्रकार के सम्मुख नहीं उठीं। उक्त आकृतियों की मुद्राएं भी बहुत कुछ सीमित और संक्षिप्त हैं आकृति-अंकन रेखात्मक है, जिससे उनमें त्रिगुणात्मक गहराई नहीं आ सकी। रंगों

का प्रयोग भी परिमित है। प्राय भूमि लाल पकी हुई ईंटो के रगकी, और आकृतियो में ीले, सिंदूर जैसे लाल, नीले और सफेद तथा क्वचित् हरे रग का उपयोग हुआ है। किन्तु सन् १३५० और १४५० ई० के वीच मे एक शती के जो ताडपत्रीय चित्रो के उदाहरण मिले हैं, उनमे शास्त्रीय व सौंदर्य की दृष्टि से कुछ वैशिष्टय देखा जाता है। आकृति-अकन अधिक सूक्ष्मतर व कौशल से हुआ है। आकृतियो मे विपय की दृष्टि से तीर्थंकरो के जीवन की घटनाए भी अधिक चित्रित हुई हैं, और उनमें विवरणात्मकता लाने का प्रयत्न दिखाई देता है, तथा रगलेप मे वैचित्र्य और विशेप चटकीलापन आया है। इसीकाल मे **सुवर्णरग** का प्रयोग प्रथमवार दृष्टिगोचर होता है। यह सब मुसलमानो के साथ आई हुई **ईरानी चित्रकला का प्रभाव** माना जाता है, जिसके वल से आगे चलकर अकवर के काल (१६ वी शती) मे वह **भारतीय ईरानी चित्रशैली** विकसित हुई, जो **मुगल-शैली** के नाम से सुप्रसिद्ध हुई पाई जाती हैं, इस शैली की प्रतिनिधि रचनाए अधिकाश कल्पसूत्र की प्रतियो मे पाई जाती है, जिनमे सवसे महत्वपूर्ण ईडर के 'आनद जी मगलजी पेढी' के ज्ञानभडार की वह प्रति है जिसमे ३४ चित्र हैं, जो महावीर के और कुछ पार्श्वनाथ व नेमिनाथ तीर्थंकरो की जीवन-घटनाओ से सवद्ध हैं। इसमे सुवर्ण रग का प्रथम प्रयोग हुआ है। आगे चलकर तो ऐसी भी रचनाए मिलती हैं जिनमे न केवल चित्रो मे ही सुवर्ण रग का प्रचुर प्रयोग हुआ है, किन्तु समस्त ग्रथ-लेख ही सुवर्ण की स्याही से किया गया है, अथवा समस्त भूमि ही सुवर्ण-लिप्त की गई है, और उसपर चादी की स्याही से लेखन किया गया है। कल्पसूत्र की आठ ताडपत्र तथा वीस कागज की प्रतियो पर से लिए हुए ३७४ चित्रो सहित कल्पसूत्र का प्रकाशन भी हो चुका है। (पवित्रकलपसूत्र, अहमदावाद, १९५२)। प्रोफेसर नार्मन व्राउन ने अपने 'दी स्टोरी आफ कालक' (वार्शिगटन, १९३३) नामक ग्रथ मे ३९ चित्रो का परिचय कराया है, तथा साराभाई नवाव ने अपने कालक कथा-सग्रह (अहमदावाद, १९५८) मे ६ ताडपत्र और ९ कागज की प्रतियों परसे ८८ चित्र प्रस्तुत किये हैं। डा० मोतीचन्द ने अपने **'जैन मिनिएचर पेंटिग्स फ्राम वैस्टर्न इडिया'** (अहम दावाद, १९४९) मे २६२ चित्र प्रस्तुत किए हैं, और उनके आधार से जैन चित्रकला का अति महत्वपूर्ण आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

कागज पर चित्र—

कागज का आविष्कार चीन देश मे १०५ ई० मे हुआ माना जाता है। १०वी

११ वीं शती में इसका निर्माण अरब देशों में होने लगा, और वहां से भारत में आया। मुनि जिनविजय जी को जैसलमेर के जैन भंडार से ध्वन्यालोक-लोचन की एक प्रति का अंतिम पत्र मिला है जो जिनचन्द्रसूरि के लिये लिखी गई थी तथा जिसका लेखन-काल जिनविजय जी के मतानुसार, सन् ११६० के लगभग है। कारंजा जैन भण्डार से उपासकाचार (रत्नकरंड श्रावकाचार) की प्रभाचन्द्र कृत टीका सहित कागज की प्रति का लेखनकाल वि० सं० १४१५ (ई० सन् १३५८) है। किन्तु कागज की सबसे प्राचीन चित्रित प्रति ई० १४२७ में लिखित वह कल्पसूत्र है जो लंदन की इंडिया आफिस लायब्रेरी में सुरक्षित है। इसमें ११ चित्र हैं और उसी के साथ जुड़ी हुई कालकाचार्य-कथा में अन्य १३। इस ग्रन्थ के समस्त ११३ पत्र चांदी की स्याही से काली व लाल पृष्ठभूमि पर लिखे गये हैं। कुछ पृष्ठ लाल या काली भूमि पर सुवर्ण की स्याही से लिखित भी हैं। प्रति के हाशियों पर शोभा के लिए हाथियों व हंसों की पंक्तियां पुष्प पत्तियां अथवा कमल आदि बने हुए हैं। लक्ष्मणगणी कृत सुपासणाह-चरियं की एक सचित्र प्रति पाटन के श्री हेमचन्द्राचार्य जैन-ज्ञानभंडार में सम्वत् १४७९ (ई० १४२२) में दे० भावचन्द्र के शिष्य हीरानंद मुनि द्वारा चित्रित है। इसमें कुल ३७ चित्र हैं जिनमें से ६ पूरे पत्रों में व शेष पत्रों के अर्ध व तृतीय भाग में हाशियों में बने हैं। इनमें सुपार्श्व तीर्थंकर के अतिरिक्त सरस्वती, मातृस्वप्न, विवाह, समवसरण, देशना आदि के चित्र बड़े सुन्दर हैं। इसके पश्चात्कालीन कल्पसूत्र की अनेक सचित्र प्रतियां नाना जैन भण्डारों में पाई गई हैं, जिनमें विशेष उल्लेखनीय बड़ौदा के नरसिंहजी ज्ञानभण्डार में सुरक्षित है। यह प्रति यवनपुर (जौनपुर, उ० प्र०) में हुसैनशाह के राज्य में वि० सं० १५२२ में हर्षिणी श्राविका के आदेश से लिखी गई थी। इसमें ८६ पृष्ठ हैं, और समस्त लेखन सुवर्ण-स्याही से हुआ है। इसमें आठ चित्र हैं, जिनमें ऋषभदेव का राज्याभिषेक, भरत-बाहुबलि युद्ध, महावीर की माता के स्वप्न, कोशा का नृत्य आदि चित्रित हैं। इन चित्रों में लाल भूमि पर पीले, हरे, नीले आदि रंगों के अतिरिक्त सुवर्ण का भी प्रचुर प्रयोग है। आकृतियों में पश्चिमी शैली के पूर्वोक्त लक्षण सुस्पष्ट हैं। स्त्रियों की मुखाकृति विशेष परिष्कृत पाई जाती है, और उनके ओष्ठ लाक्षारस से रंजित दिखाए गए हैं। अन्य विशेष उल्लेखनीय कल्पसूत्र की अहमदाबाद के देवसेन पाड़ा की प्रति है, जो भड़ौच के समीप गंधारबंदर के निवासी सागण और जूठ श्रेष्ठियों के बंधुओं द्वारा लिखाई गई थी। यह भी सुवर्ण स्याही से लिखी गई है। कला की दृष्टि से इसके कोई २५ २६ चित्र इस प्रकार के ग्रंथों में सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं, क्योंकि इनमें भरत नाट्य शास्त्र में वर्णित नाना नृत्य-मुद्राओं का अंकन पाया जाता है। एक चित्र में महावीर द्वारा

चडकौशिक नाग के वशीकरण की घटना दिखाई गई है। इसकी किनारियो का चित्रण भी वहुत सुन्दर हुआ है, और वह ईरानी-कला से प्रभावित माना जाता है। उसमें अकवरकालीन मुगलशैली का आभास मिलता है।

कागज की उपर्युक्त सचित्र प्रतिया श्वेताम्वर-परम्परा की हैं, जो प्रकाश में आ चुकी हैं, और विशेषज्ञो द्वारा उनके चित्रो का अध्ययन भी किया जा चुका है। दुर्भाग्यत. दिगम्वर जैन भण्डारो की इस दृष्टि से अभी तक खोज शोध होनी शेष है। अनेक शास्त्र-भण्डारो मे सचित्र प्रतियो का पता चला है। उदाहरणार्थ—दिल्ली के एक शास्त्र-भण्डार में पुष्पदत कृत अपभ्रश महापुराण की एक प्रति है, जिसमें सैकडो चित्र तीर्थंकरो के जीवन की घटनाओ को प्रदर्शित करने वाले विद्यमान हैं। नागौर के शास्त्र-भण्डार में एक यशोधर-चरित्र की प्रति है, जिसके चित्रो की उसके दर्शको ने वड़ी प्रशसा की है। नागपुर के शास्त्र-भण्डार से सुगधदशमी कथा की प्रति मिली है जिसमें उस कथा को उदाहृत करने वाले ७० से अधिक चित्र हैं। वम्वई के ऐलक पन्नालाल दिगम्वर जैन सरस्वती भवन मे भक्तामर स्तोत्र की सचित्र प्रति है जिसमें लगभग ४० चित्र हैं, जिनमें आदिनाथ का चतुर्मुख कमलासन प्रतिविम्व भी है। इसके एक ओर दिग० साधु व दूसरी ओर कोई मुकुट-धारी नरेश उपासक के रूप में खडे हैं। नेमीचन्द्र कृत त्रिलोकसागर की सचित्र प्रतिया मिलती हैं, जिनमें नेमीचन्द्र व उनके शिष्य महामत्री चामुण्डरायके चित्र पाये जाते हैं। इन सव चित्रो के कलात्मक अध्ययन की वडी आवश्यकता है। उससे जैन चित्रकला पर प्रकाश पडने की ओर भी अधिकआशा की जा सकती है।

कागज का आधार मिलने पर चित्रकला की रीति में कुछ विकास और परि-वर्तन हुआ। ताडपत्र में विस्तार की दृष्टि से चित्रकार के हाथ वधे हुए थे। उसे दो-ढाई इच से अधिक चौडा क्षेत्र ही नही मिल पाता था। कागज में यह कठिनाई जाती रही, और चित्रण के लिए यथेष्ट लम्वान-चौडान मिलने लगा, जिससे रुचि अनुसार चित्रो के बडे-छोटे आकार निर्माण व सम्पुजन में वडी सुविधा उत्पन्न हो गई। रगो के चुनाव में भी विस्तार हुआ। ताडपत्र पर रगो को जमाना एक कठिन कार्य था। कागज रग को सरलता से पकड लेता है। इसके अतिरिक्त सोने-चादी के रगों का भी उपयोग प्रारभ हुआ। इसके पूर्व सुवर्ण के रग का भी उपयोग वहुत ही अल्प मात्रा में तूलिका को थोडा सा डुवाकर केवल आभूषणों के अकन के लिए किया जाता था। सम्भवतः उस समय सुवर्ण की महगाई भी इसका एक कारण था। किन्तु इस काल मे सुवर्ण कुछ अधिक सुलभ प्रतीत होता है। अथवा चित्रकला की ओर धनिक रुचियो का ध्यान आकर्षित हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप न केवल चित्रण में, किन्तु

ग्रंथ लेखन में भी सुवर्ण व चांदी की स्याहियों का प्रचुरता से प्रयोग होने लगा। सुवर्ण की चमक से चित्रकार यहां तक प्रभावित हुए पाये जाते हैं कि बहुधा समस्त चित्रभूमि सुवर्ण-लिप्त कर दी जाने लगी एवं जैन मुनियों के वस्त्र भी सुवर्ण-रंजित प्रदर्शित किये जाने लगे। जितना अधिक सुवर्ण का उपयोग उतना अधिक सौन्दर्य इस भावना को कलाभिरुचि की एक विकृति ही कहना चाहिए। तथापि इसमें संदेह नहीं कि नाना रंगों के बीच सुवर्ण के समुचित उपयोग से कागज पर की चित्रकारी में एक अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न हो गया है।

काष्ठ चित्र—

जैन शास्त्रभण्डारों में काष्ठ के ऊपर भी चित्रकारी के कुछ नमूने प्राप्त हुए हैं। ये काष्ठ ताड़पत्रीय ग्रंथों की प्रतियों की रक्षा के लिए उनके ऊपर-नीचे रखे जाते थे। ऐसा एक सचित्र काष्ठ चित्रपट मुनि जिनविजय जी को जैसलमेर के ज्ञान-भण्डार से प्राप्त हुआ है। यह २७ इंच लम्बा और ३ इंच चौड़ा है। रंग ऐसे पक्के हैं कि वे पानी से धुलते नहीं। पट के मध्य में जैन मंदिर की आकृति है, जिसमें एक जिनमूर्ति विराजमान है। मूर्ति के दोनों ओर परिचारक खड़े हैं। दाहिनी ओर कोष्ठक में दो उपासक प्रजलि-मुद्रा में खड़े हैं दो व्यक्ति डिंडिम बजाने में मस्त हैं, और दो नर्तकियां नृत्य कर रही हैं। ऊपर की ओर आकाश में एक किन्नरी उड़ रही है। बाएं प्रकोष्ठ में तीन उपासक हाथ जोड़े हैं, और एक किन्नर आकाश में उड़ रहा है। इस मध्यवर्ती चित्र के दोनों ओर व्याख्यान-सभा हो रही है। एक में आचार्य जिनदत्त सूरि विराजमान हैं, और उनका नाम भी लिखा है। उनके सम्मुख पं जिनरक्षित बैठे हुए हैं। अन्य उपासक-उपासिकाएं भी हैं। मुनि के सम्मुख स्थापनाचार्य रखा हुआ है और उसपर महावीर का नाम भी लिखा है। दाहिनी ओर की व्याख्यान-सभा में आचार्य जिनदत्त गुणचन्द्राचार्य से विचार-विमर्श कर रहे हैं। इन दोनों के बीच में भी स्थापनाचार्य बना हुआ है। मुनि जिनविजय जी का अनुमान है कि यह चित्रपट जिनदत्त सूरि के जीवन-काल का ही हो तो आश्चर्य नहीं। उनका जन्म वि सं ११३२ और स्वर्गवास वि सं १२११ में हुआ सिद्ध है। सम्भव है उपर्युक्त चित्रण उनके मारवाड़ अन्तर्गत विक्रमपुर के मंदिर में दीक्षामहोत्सव के काल का ही हो। मुनि जिनविजय जी द्वारा जैसलमेर के ज्ञान-भण्डार से एक और सचित्र काष्ठ-पट का पता चला है, जो ३ इंच लम्बा और ३ इंच चौड़ा है। इसमें वादिदेव सूरि और आचार्य कुमुदचन्द्र के बीच हुए शास्त्रार्थ सम्बन्धी नाना घटनाओंका चित्रण किया गया है। श्री साराभाई नवाब

के संग्रह मे एक १२ वी शती का काष्ठ-पट ३० इच लम्बा तथा पौने तीन इच चौडा है, जिसमे **भरत और बाहुबलि** के युद्ध का विवरण चित्रित है। इसमे हाथी, हस, सिंह, कमलपुष्प आदि के चित्र बहुत सुन्दर बने हैं। वि० स० १४५६ मे लिखित **सूत्रकृताग-वृत्ति** की ताडपत्रीय प्रति का काष्ठ-पट साढे चौतीस इच लम्बा और तीन इच चौडा महावीर की घटनाओ से चित्रित पाया गया है। इसी प्रकार स० १४२५ मे लिखित **धर्मोपदेशमाला** का काष्ठ-पट सवा पैंतीस इच लम्बा और सवा तीन इच चौडा है, और उसपर पार्श्वनाथ की जीवन-घटनाए चित्रित हैं। ये सभी काष्ठ-चित्र सामान्यत उसी पश्चिमी शैली के हैं, जिसका ऊपर परिचय दिया जा चुका है।

वस्त्र पर चित्रकारी—

वस्त्र पर चित्र बनाने की कला भारत वर्ष मे बडी प्राचीन है। पालि ग्रथो व जैन आगमो मे इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं। महावीर का शिष्य, और पश्चात् विरोधी मखलि गोशाल का पिता, व दीक्षित होने से पूर्व स्वय गोशाल, चित्रपट दिखाकर जीविका चलाया करते थे। किन्तु वस्त्र बहुत नश्वर द्रव्य है, और इसलिए स्वभावत इसके बहुत प्राचीन उदाहरण उपलब्ध नही हैं। फिर भी १४ वी शती के आगे के अनेक सचित्र जैन वस्त्र-पट पाये जाते हैं। एक **चिन्तामणि** नामक वस्त्र-पट साढे उन्नीस इच लम्बा तथा साढे सत्तरह इच चौडा वि० स० १४११ (ई० १३५४) का बना बीकानेर निवासी श्री अगरचन्द्र नाहटा के सग्रह मे है। इसमे पद्मासन पार्श्वनाथ, उनके यक्ष-यक्षिणी धरणेन्द्र-पद्मावती तथा चौरी-वाहको का चित्रण है। ऊपर की ओर पार्श्व-यक्ष और वैरोट्या-देवी तथा दो गधर्व भी बने हुए हैं। नीचे **तरुणप्रभाचार्य** और उनके दो शिष्यो के चित्र हैं। ऐसा ही एक **मत्र-पट** श्री साराभाई नवाब के सग्रह मे है, जिसमे महावीर के प्रधान गणधर गौतम स्वामी कमलासन पर विराजमान हैं, और उनके दोनो ओर मुनि स्थित हैं। मण्डल के बाहर अश्वारूढ़ काली तथा भैरव एव धरणेंद्र और पद्मावती के भी चित्र हैं। यह चित्रपट **भावदेव सूरि** के लिए वि० स० १४१२ मे बनाया गया था। एक जैन वस्त्र-पट डा० कुमारस्वामी के सग्रह मे भी है, जो उनके मतानुसार १६ वी शती का, किन्तु डा० मोतीचन्द्र जी के मतानुसार १५ वी शती के प्रारभ का है। पट के वामपार्श्व मे पार्श्वनाथ के समवसरण की रचना है। इसके आजू-बाजू यक्ष-यक्षिणियो के अतिरिक्त ओंकार की पाच आकृतिया, चन्द्रकला की आकृति पर आसीन सम्भवत पाच सिद्ध, तथा सुधर्मास्वामी और नवग्रहो के चित्र हैं। पट के मध्य में पार्श्वनाथ की प्रतिमा ध्वजायुक्त व शिखरबद्ध मदिर मे विराजमान

चित्रित की गई है। अनुमान किया गया है कि यह मंदिर शत्रुंजय का है और वे पांच बिम्बमूर्तियां पांच पाण्डवों की हैं जिन्होंने शत्रुंजय से मोक्ष प्राप्त किया था। ऐसे और भी अनेक वस्त्रपट प्राप्त हुए हैं। इनका उपयोग सम्भवतः उपासना व ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने के लिए किया जाता था। किन्तु कला की दृष्टि से भी इनका बड़ा महत्व है।

उपसंहार

उपर्युक्त चार व्याख्यानो मे जैनधर्म के इतिहास, साहित्य, तत्त्वज्ञान और कला का जो सक्षेप परिचय दिया गया है उससे उसकी मौलिक प्रेरणाओं और साधनाओ द्वारा भारतीय सस्कृति की परिपुष्टि का स्वरूप समझा जा सकता है। इस धर्म की आधार-भूमि उतनी ही प्राचीन है जितनी प्राचीनतम वैदिक परम्परा, क्योंकि ऋग्वेद मे ही केशी जैसे वातारशना मुनियो की उन साधनाओ का उल्लेख है जो उन्हे वैदिक ऋषियो से पृथक् तथा श्रमण मुनियों से अभिन्न प्रमाणित करती हैं। केशी और आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का एकत्व भी हिन्दू और जैन पुराणो से सिद्ध होता है।

कोशल से प्रारम्भ होकर यह श्रमण धर्म पूर्व की ओर विदेह और मगध, तथा पश्चिम की ओर तक्षशिला व सौराष्ट्र तक फैला, एव अन्तिम तीर्थंकर महावीर द्वारा ईस्वी पूर्व छठी शती मे अपना सुव्यवस्थित स्वरूप पाकर उनके अनुयायिओं द्वारा अखिल देश व्यापी बना। उसने समय-समय पर उत्तर और दक्षिण भारत के विभिन्न राजवंशो एव बहुजन समाज को प्रभावित किया, तथा अपने आन्तरिक गुणो के फल-स्वरूप वह अविच्छिन्न धारावाही रूप से आज तक देश मे अपना अस्तित्व सुरक्षित रखे हुए है।

जिन आन्तरिक गुणो के बल पर जैनधर्म गत तीन-चार हजार वर्षों से इस देश के जन-जीवन मे व्याप्त है वे हैं उसकी आध्यात्मिक भूमिका, नैतिक विन्यास एव व्यवहारिक उपयोगिता और सन्तुलन। यहां प्रकृति के जड और चेतन तत्त्वो की सत्ता को स्वीकार कर चेतन को जड से ऊपर उठाने और परमात्मत्व प्राप्त कराने की कला का प्रतिपादन किया गया है। विश्व के अनादि-अनन्त प्रवाह में जड-चेतन रूप द्रव्यो के नाना रूपो और गुणो के विकास के लिये यहा किसी एक ईश्वर की इच्छा व अधीनता को स्वीकार नहीं किया गया, जीव और अजीव तत्त्वो के परिणामी नित्यत्व गुण के द्वारा ही समस्त विकार और विकास के मर्म को समझने-समझाने का प्रयत्न किया गया है। सत्ता स्वय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, और ऐसी सत्ता रखने वाले समस्त द्रव्य गुण-पर्याय-युक्त हैं। इन्हीं मौलिक सिद्धान्तों मे जैन-दर्शन-सम्मत पदार्थों के नित्यानित्यत्व स्वरूप का मर्म अन्तर्निहित है। इस जानकारी के अभाव में प्राणी भ्रान्त हुए भटकते और बन्धन मे पडे रहते हैं। इस तथ्य की ओर सच्ची दृष्टि और उसका सच्चा ज्ञान एव तदनुसार आचरण हो जाने पर ही कोई पूर्ण स्वातन्त्र्य व

बन्धन-मुक्ति रूप मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। यही जैन दर्शनानुसार, जीवन का सर्वोच्च ध्येय और लक्ष्य है।

व्यावहारिक दृष्टि से विरोध में सामञ्जस्य कलह में शान्ति व जीव मात्र के प्रति आत्मीयता का भाव उत्पन्न होना ही सच्चा दर्शन ज्ञान और चारित्र है जिसकी आनुषंगिक साधनायें हैं—अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप व्रत तथा क्षमा मृदुता आदि गुण। नाना प्रकार के व्रतों और उपवासों, भावनाओं और तपस्याओं ध्यानों और योगों का उद्देश्य यही विश्वधर्मीन आत्मवृत्ति प्राप्त करना है। समत्व का बोध और अभ्यास कराना ही अनेकान्त व स्याद्वाद जैसे सिद्धान्तों का साध्य है।

जीवन में इस वृत्ति को स्थापित करने के लिये तीर्थंकरों और आचार्यों ने जो उपदेश दिया वह सहस्त्रों जैन ग्रंथों में ग्रथित है। ये ग्रंथ नाना प्रदेशों और भिन्न-भिन्न युगों की विविध भाषाओं में लिखे गये। अर्धमागधी शौरसेनी महाराष्ट्री और अपभ्रंश प्राकृतों एवं संस्कृत में जैन धर्म का विपुल साहित्य उपलब्ध है जो अपने भाषा विषय, शैली व सजावट के गुणों द्वारा अपनी विशेषता रखता है। आधुनिक लोक-भाषाओं व उनकी साहित्यिक विधाओं के विकास को समझने के लिये तो यह साहित्य अतिशय महत्वपूर्ण है।

साहित्य के अतिरिक्त गुफाओं स्तूपों मन्दिरों और मूर्तियों तथा चित्रों आदि ललित कला की निर्मितियों द्वारा भी जैन धर्म ने न केवल लोक का आध्यात्मिक व नैतिक स्तर उठाने का प्रयत्न किया है, किन्तु समस्त देश के भिन्न-भिन्न भागों को सौन्दर्य से सजाया है। इनके दर्शन से हृदय विमुग्ध और आनन्द-विभोर हो जाता है।

जैन धर्म की इन विविध और विपुल उपलब्धियों को जाने-समझे बिना भारतीय संस्कृति का ज्ञान परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। जैन धर्म ने वर्ण-जाति रूप समाज विभाजन को कभी महत्व नहीं दिया। यह बात राष्ट्रीय दृष्टि से ध्यान देने योग्य है। आज के ईर्ष्या और संघर्ष के विष से दग्ध संसार को जीवमात्र के कल्याण और उत्कर्ष की भावनाओं से ओत-प्रोत इस उपदेशामृत की बड़ी आवश्यकता है।

"अहंकार-ममत्व-हीणं सत्ता-हीणं च जं मए भणियं।
तं खमउ सत्थदेवय अम्ह वि दुक्खक्खयं दिन्तु ॥"
"अक्षर-मात्र-पद-स्वरहीनं व्यंजन-संधि-विवर्जित-रेफम्।
साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्र-समुद्रे ॥"

१ शिवयशा का स्तूपवाला आयागपट, मथुरा (पृ० ३०४)

२ मथुरा का जिनमूर्तियुक्त आयागपट (पृ १ ४)

३ दुमजली गर्भ गुम्फा (पृ० २०८)

४ उदयगिरि रानीगुम्फा के तोरण द्वार पर त्रिरत्न व अशोक वृक्ष
(पृष्ठ २०८ व ३८३)

५. रानी गुम्फा का भित्ति चित्र (पृ० ३ ८)
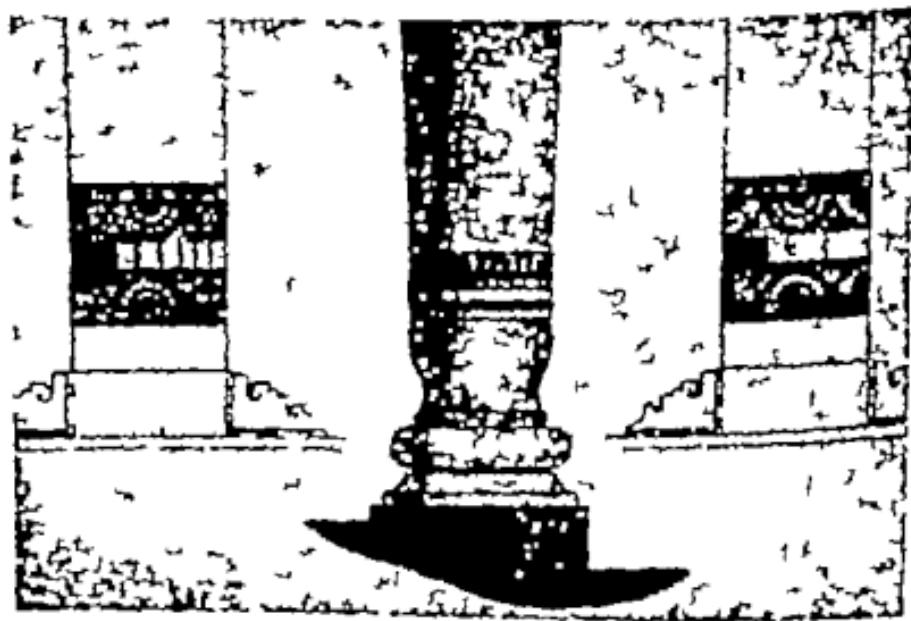
६ तेरापुर की प्रधान गुफा के स्तम्भों की चित्रकारी (पृ ३११)
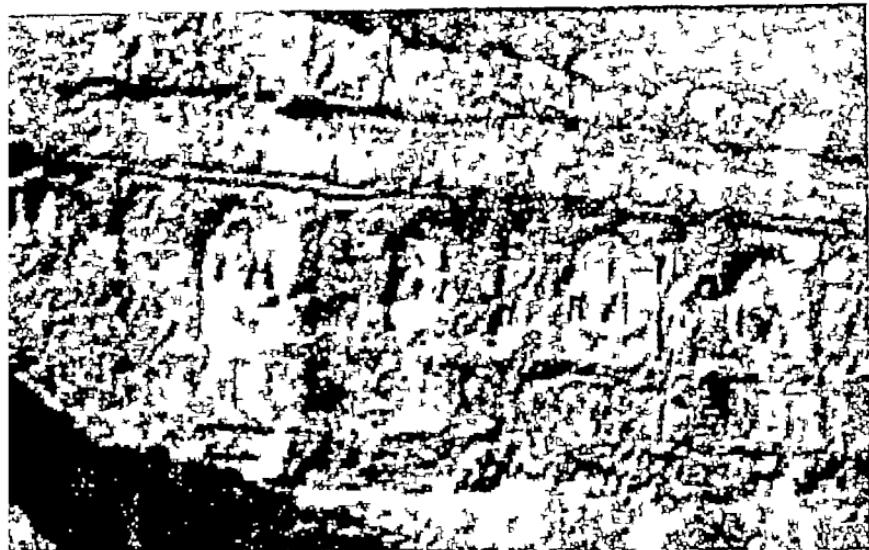
७ तेरापुर की प्रधान गुफा के भित्ति चित्र (पृ० ३११ व ३६३)
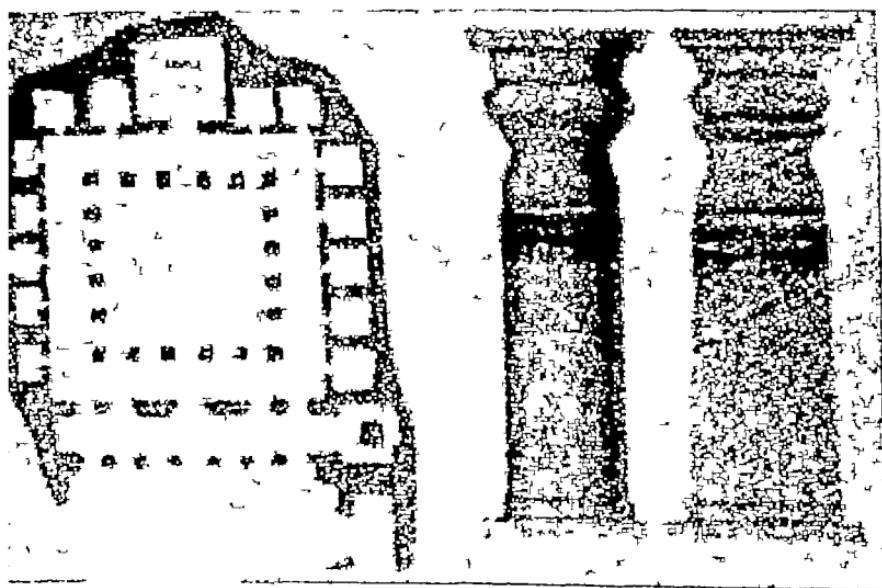
८ तेरापुर की तीसरी गुफा का विन्यास व स्तम्भ (पृ० ३११)

९. एलोरा की इन्द्रसभा का ऊपरी मंजिल (पृ. ११४)

१०. ऐहोल का मेगुटी जैन मंदिर (पृ. १२२)
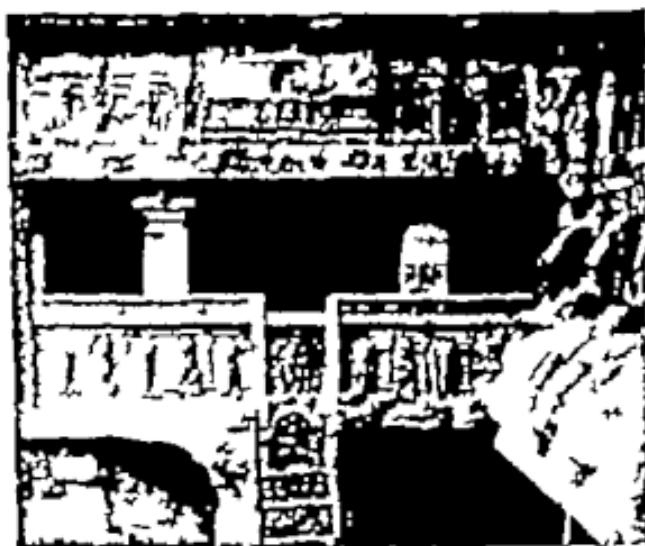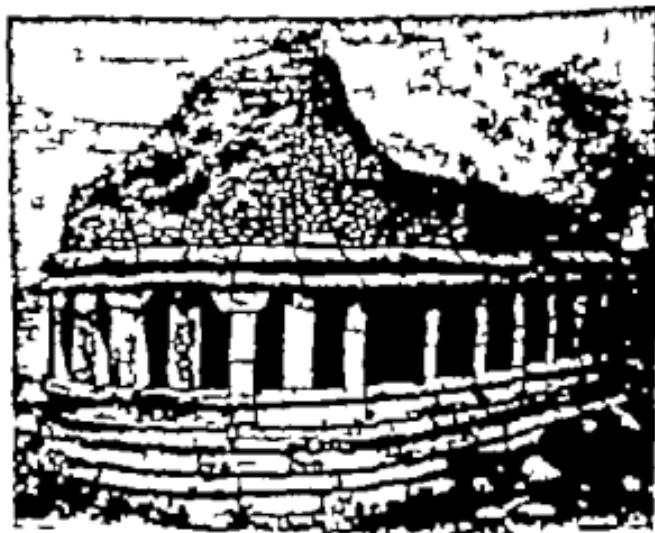
१२. खजराहो के जैन मंदिरों का सामूहिक दृश्य (पृ० ३२८)
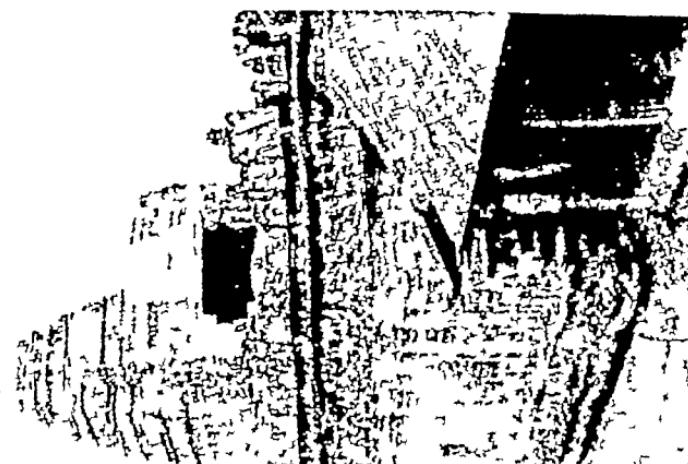
कुंडी का जैन मंदिर (पृ० ३२३)

११ खजुराहो के पार्श्वनाथ मंदिर के भित्ति चित्र (पृ. १२८)
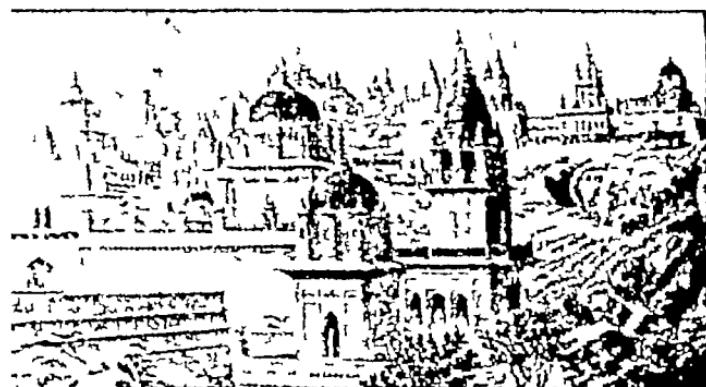
४ सोनागिरि के जैन मदिरो का सामूहिक दृश्य (पृ० ३३०)
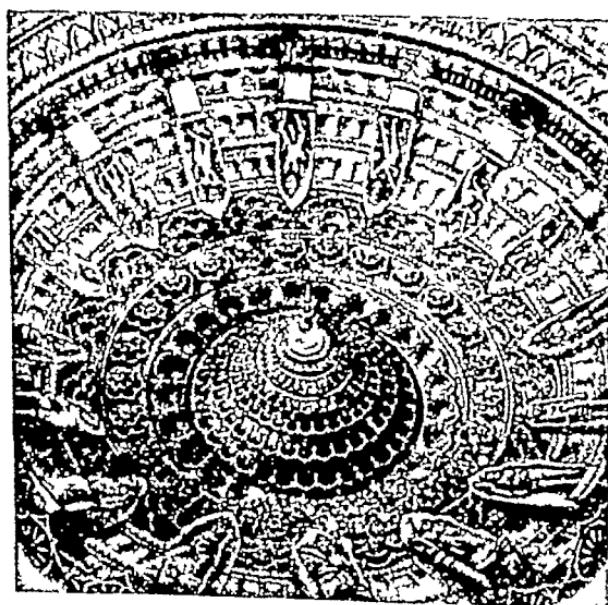
१५ आबू जैन मदिर के छत की कारीगरी (पृ० ३३५)

१८. राणकपुर का जैन मंदिर (पृ ३३७)
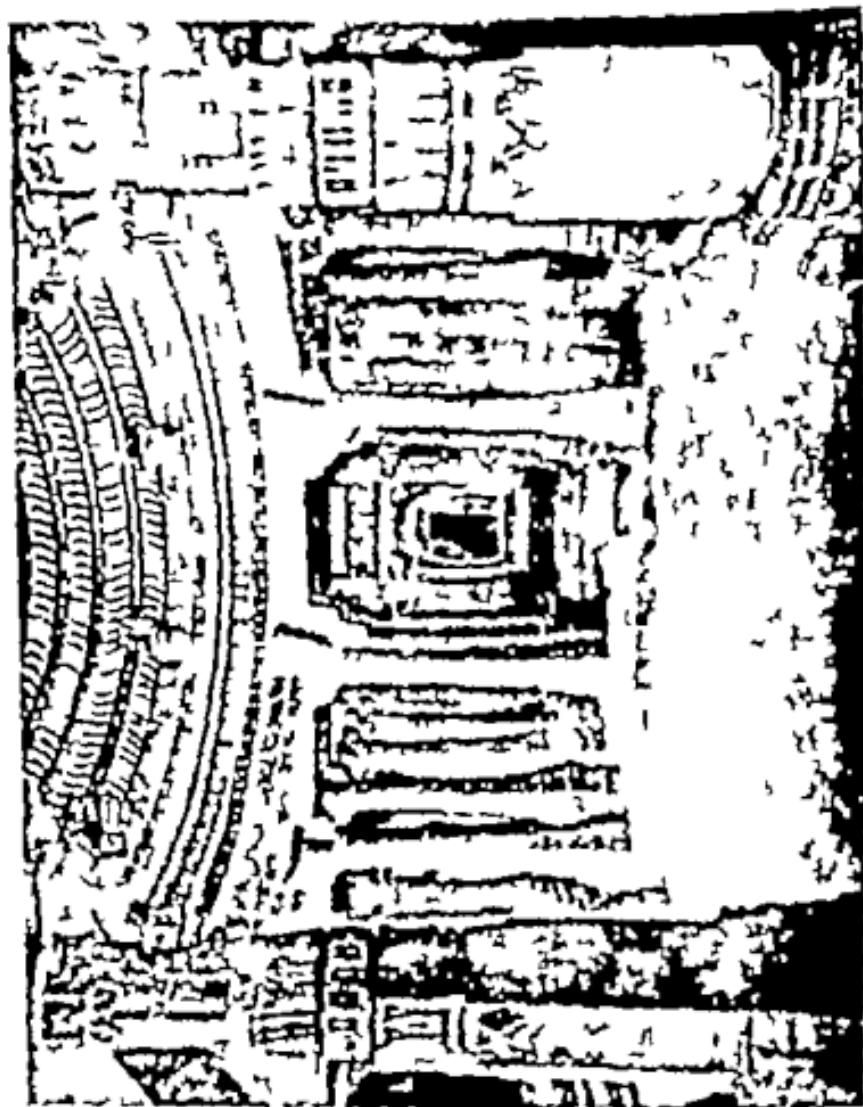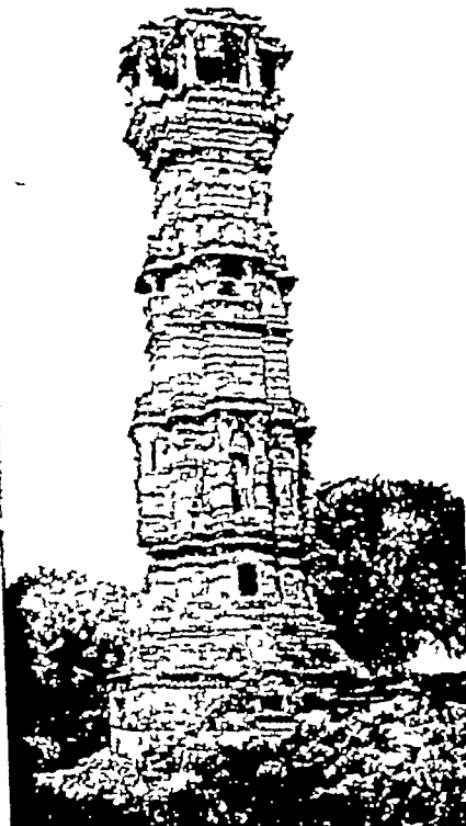
१७ चित्तौड का जैन कीर्तिस्तम्भ (पृ० ३३८)

१९ लोहानीपुर की मस्तकहीन जिन मूर्ति (पृ १९२)

२ सिन्धुघाटी की मस्तकहीन मूर्ति (पृ १९१)
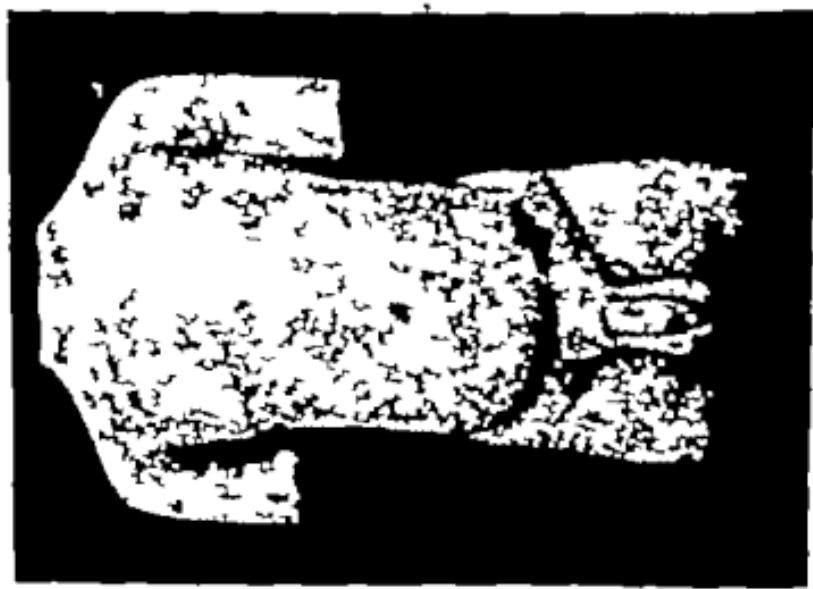
२१, सिंघघाटी की त्रिश्रृंगयुक्त ध्यानस्थ मूर्ति (पृ० ३४२)

२२ ऋषभ की खड्गासन धातु प्रतिमा, चौसा, बिहार (पृ० ३५१)

२५ तेरापुर गुफा के पद्मासन पार्श्वनाथ (पृ ३१२)

२४ तेरापुर गुफा के खड्गासन पार्श्वनाथ (पृ ३१२)

२५ पार्श्वनाथ की पद्मासन मूर्ति, उदयगिरि, विदिशा (पृ० ३११ व ३४७)

२६ देवगढ की पद्मासन जिन प्रतिमा (पृ० ३२७ व ३४७)

२८ देवगढ़ की पद्मासन जिन प्रतिमा

२७ देवगढ़ की पद्मासन जिन प्रतिमा

२९ देवगढ़ की खड्गासन जिन प्रतिमा (पृ० ३२७ व ३४७)

३० जीवन्त स्वामी की धातु प्रतिमा, अकोट (पृ० ३५२)
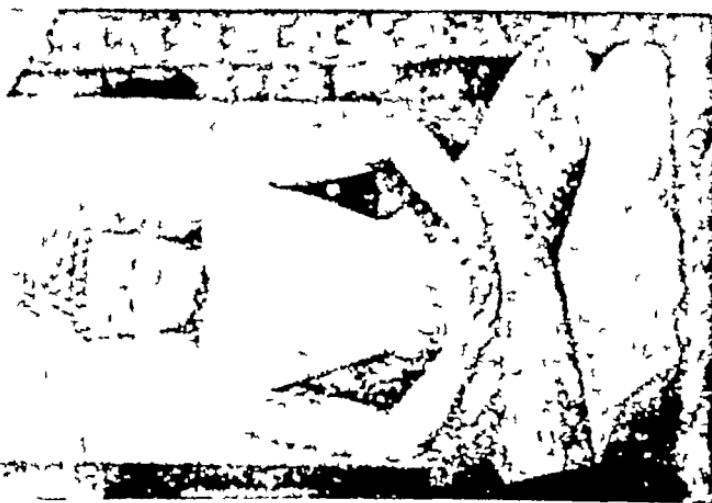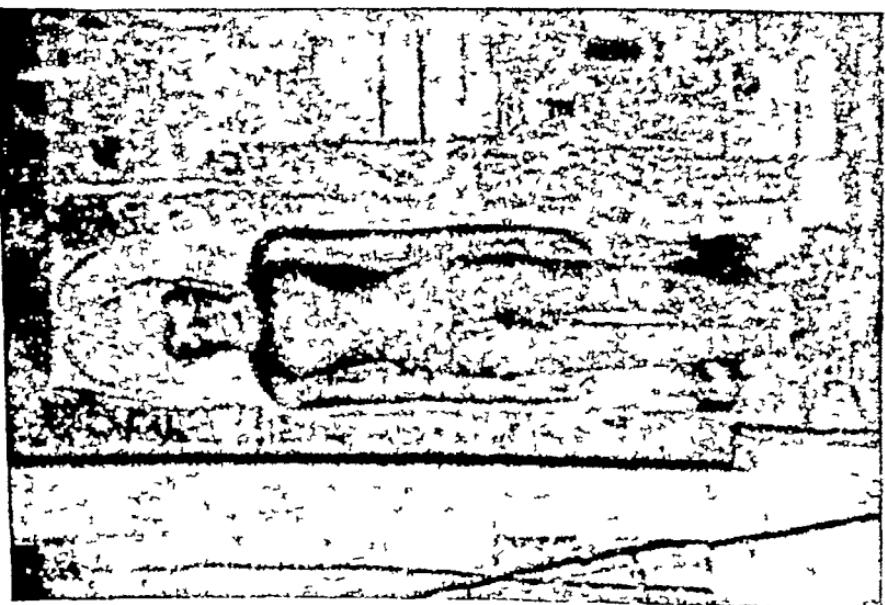
११ श्रवणबेलगोला के गोम्मटेश्वर बाहुबलि (पृ ३५३)

३२ वाहुवलि की धातु प्रतिमा (पृ० ३५३)

१४ चन्द्रपुर, झाँसी की युगल प्रतिमा (पृ ३१२)

११ देवगढ़ जैन मंदिर की युगल प्रतिमा (पृ० ३१२)
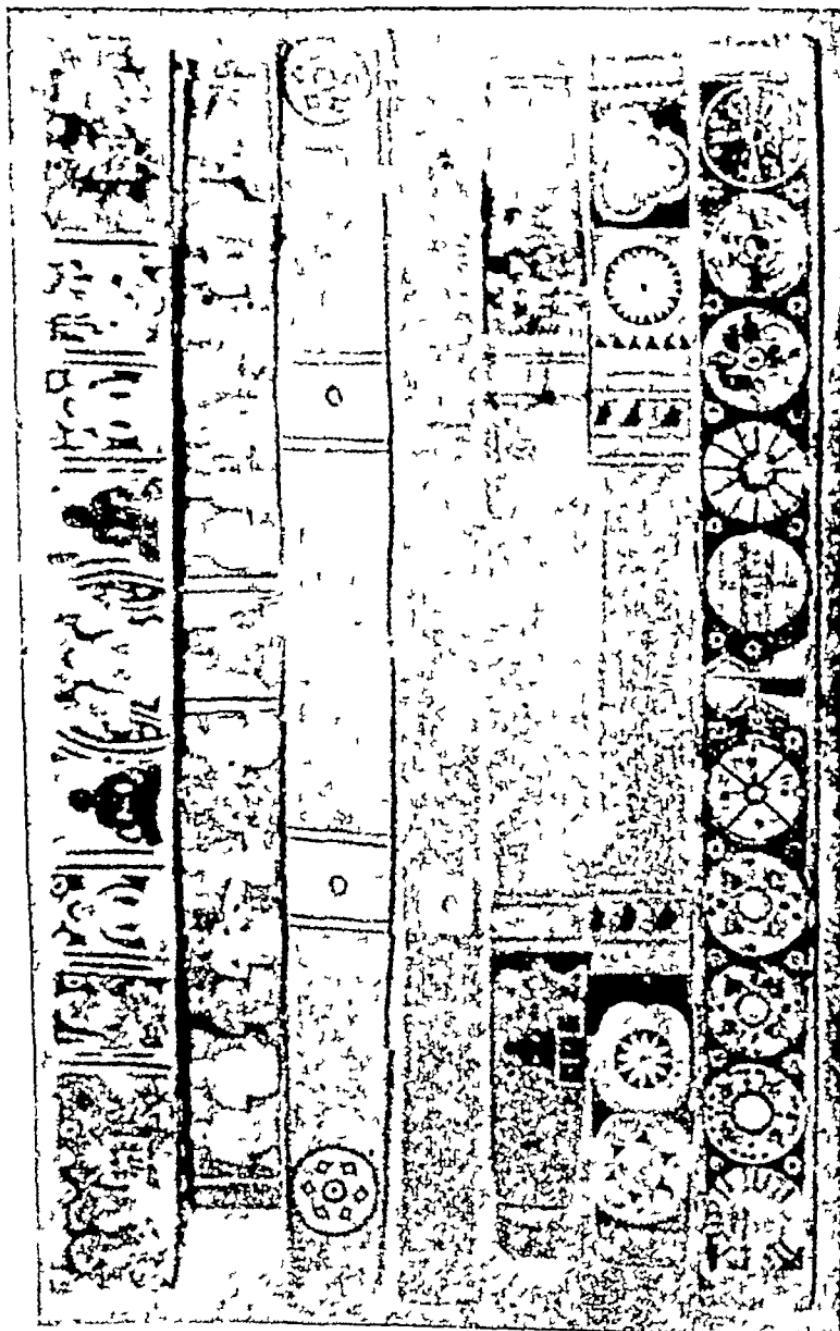
३५ मूडबिद्री के सिद्धांत ग्रन्थों के ताडपत्रीय चित्र (पृ० ३६५)

११ सुपासनाह चरिय का कागद चित्र (पृ १७)

ग्रन्थ-सूची

सूचना – व्याख्यानो में प्राय आधारभूत ग्रंथो का कुछ संकेत यथास्थान कर दिया गया है। विशेष परिचय व अध्ययन के लिये निम्न ग्रंथ उपयोगी होंगे :—

व्याख्यान १

जैन इतिहास

✓1 History and Culture of the Indian People, Vol I—V (Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay)

2 Mysore and Coorg from the Inscriptions, by B Rice (London, 1909)

✓ 3 Studies in South Indian Jainism, by M S R Iyyangar & B Seshgiri Rao (Madras, 1922)

✓ 4 Rashtrakutas and their Times — A S Altekar (Poona, 1934)

5 Mediaval Jainism, by B A Saletore (Bombay, 1938)

6 Jainism and Karnataka Culture, by S R Sharma (Dharwar, 1940)

✓ 7 Traditional Chronology of the Jainas, by S Shah (Stuttgart, 1935)

✓ 8 Jainism in North India, by C J Shah (London, 1932)

✓ 9 Life in Ancient India as depicted in the Jaina Canons, by J C Jain (Bombay, 1947)

10 Jainism, the oldest living religion, by Jyotiprasad Jain (Banaras, 1951)

11 Jainism in South India, by P B Desai (Sholapur, 1957)

✓ 12 Yasastilaka and Indian Culture, by K K Handiqui (Sholapur, 1949)

13 Jainism in Gujrat, by C B Seth (Bombay, 1953)

✓ 14 Jaina System of Education, by B C Dasgupta (Calcutta, 1942)

✓ 15 Jain Community — A Social Survey, by V A Sangave (Bombay, 1959)

✓ 16 History of Jaina Monachism, by S B Deo (Poona, 1956)

17 Repertoire di Epigraphie Jaina, by A Guerinot (Paris, 1908)

१८ श्रमण भगवान् महावीर—कल्याणविजय (जालोर, १९४१)
१९ वीर निर्वाण संवत् और जैनकाल गणना—कल्याण विजय (नागरी प्रचारिणी पत्रिका १–४ काशी १९३)
२० जैन लेख संग्रह (भा १–३) पू च नाहर (कलकत्ता १९१८–२९)
२१ पट्टावली समुच्चय—दर्शनविजय (वीरमगाम गुजरात १९३३)
२२ जैन शिलालेख संग्रह भाग १–३ (मा दि जै ग्रंथमाला बम्बई)
२३ भट्टारक सम्प्रदाय—वि जोहरापुरकर (शोलापुर, १९५८)
२४ जैन सिद्धान्त भास्कर (पत्रिका) भा १–२२, सिद्धान्त भवन आरा
२५ अनेकान्त (पत्रिका) भा १–१२ (वीर सेवामन्दिर, दिल्ली)

व्याख्यान २

जैन साहित्य

26 Outline of the Religious Literature of India, by J N Farquhar (Oxford, 1920)

27 A History of Indian Literature, Vol II (Jaina Lit), by M Winternitz (Calcutta, 1933)

28 History of the Jaina Canonical Literature, by H R Kapadia (Bombay, 1941)

29 Die Lehre Der Jainas, by W Schubring, (Berlin, 1935)

30 Die Jaina Handschriften, by W Schubring (Leifozing, 1944)

31 Essai De Bibliography Jaina, by A Guerinot (Paris, 1906)

32 Jaina Bibliography Chhotelal Jain (Calcutta, 1945)

33 Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts in C P & Berar (Nagpur, 1926)

34 Prakrit Languages and their Contribution to Indian Culture, by S K Katre (Bombay, 1945)

35 Die Kosmographic der Inder, by H Kierfel (Leipzig, 1920)

३६ जैन ग्रथावलि – (जै श्वे काफरेंस, वम्बई, १९०८)

३७ जिन रत्न कोश– ह दा वेलणकर (पूना, १९४४)

३८ राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो की ग्रथ-सूची, भा १–४, कस्तूरचन्द्र कासलीवाल (जयपुर)

३९ जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास (गुज) – मो द देसाई (वम्बई, १९३३)

४० प्राकृत साहित्य का इतिहास–जगदीशचन्द्र जैन (चौखभा विद्या भवन, वराणसी, १९६१)

४१ प्राकृत और उसका साहित्य–हरदेव वाहरी (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली)

४२ अपभ्रश साहित्य–हरिवश कोछड (दिल्ली, १९५६)

४३ जैन ग्रथ और ग्रथकार–फतेहचन्द वेलानी (जै स स मडल, वनारस, १९५०)

४४ जैन ग्रथ प्रशस्ति सग्रह–जु कि मुख्तार और परमानन्द शास्त्री, (दिल्ली, १९५४)

४५ पुरातन जैन वाक्य सूची (प्रस्तावना) – जु कि मुख्तार (सहारनपुर १९५०)

४६ जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश–जु कि मुख्तार (कलकत्ता, १९५६)

४७ जैन साहित्य और इतिहास–नाथूराम प्रेमी (वम्बई, १९५६)

४८ प्रकाशित जैन साहित्य – जैन मित्र मडल, धर्मपुरा, दिल्ली १९५८

ग्रंथमालायें जिनमें महत्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं

१ आगमोदय समिति सूरत व बम्बई
२ जीवराज जैन ग्रंथमाला (जैन संस्कृति संरक्षक संघ शोलापुर)
३ जैन आत्मानंद सभा भावनगर
४ जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर
५ देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फंड बम्बई व सूरत
६ माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला बम्बई
७ मूर्तिदेवी जैन ग्रंथमाला (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी)
८ यशोविजय जैन ग्रंथमाला बनारस व भावनगर
९ रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला (परमश्रुत प्रभावक मंडल बम्बई)
१ सिंघी जैन ग्रंथमाला (भारतीय विद्याभवन बम्बई)

अर्धमागधी जैनागम

पृ ५५ से ७५ तक जिन ४५ आगम ग्रंथोंका परिचय दिया गया है उनका मूलपाठ टीकाओं सहित दो तीन बार कलकत्ता बम्बई व अहमदाबाद से सन् १८७५ और उसके पश्चात् प्रकाशित हो चुका है। ये प्रकाशन आलोचनात्मक रीति से नहीं हुए। इनमें का अन्तिम संस्करण आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित है। किन्तु यह भी अब दुर्लभ हो गया है। स्थानकवासी सम्प्रदाय में मान्य ३२ सूत्रों का पहले अमोलक ऋषि द्वारा हिन्दी अनुवाद सहित हैदराबाद से (१९१८) व हाल ही मूलमात्र प्रकाशन सूत्रागम प्रकाशन समिति द्वारा किया गया है (गुड़गांव पंजाब १९५१) विशेष सावधानी से भूमिकादि सहित प्रकाशित कुछ ग्रंथ निम्न प्रकार हैं —

४६ आचाराङ्ग– ह याकोबी (पा टै सो लंदन १८८२)
उन्हीं का अंग्रेजी अनुवाद (सै बु ई २२) प्रथम श्रुतस्कंध (शब्दकोष व पाठ-भेदों सहित) —वा शुब्रिंग लीपजिग १९१ अहमदाबाद सं १९८)

५ सूत्रकृताङ्ग (निर्युक्ति सहित) — प ल वैद्य (पूना १९२८) शीलाङ्ककृत टीका व हिन्दी अनुवादादिसहित भा १–३ —जवाहिरलाल महाराज (राजकोट वि सं १९९३–९५

५१ भगवती शतक १–२ हिन्दी विषयानुवाद शब्दकोष आदि मदनकुमार महता (कलकत्ता वि सं २ ११)

शौरसेनी जैनागम–द्रव्यानुयोग

६७ षट्खंडागम (धवला टीका स) भाग १–१६ भूमिका हिन्दी अनुवाद अनुक्रमणिका दि सहित – डॉ हीरालाल (अमरावती व विदिशा १९३९–१९५९)
६८ महाबंध –भाग १–७ हिन्दी भूमिका अनुवादादि सहित (भारतीय ज्ञानपीठ काशी १९४७–१९५८)
६९ कसाय पाहुड (जय धवला टीका स) (जैन संघ मथुरा १९४४ आदि)
७० कसाय पाहुड – सूत्र और चूर्णि अनुवादादि सहित (वीरशासन संघ कलकत्ता १९५५)
७१ गोम्मटसार – जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड – अंग्रेजी अनुवाद सहित – जे एल. जैनी (सेक्रेड बुक्स आफ दि जैन्स आरा पं ५, ६, ७) हिन्दी अनुवाद सहित (रायचंद्र शास्त्रमाला बम्बई, १९२७–२८)
७२ पञ्चसंग्रह (प्राकृत) – संस्कृत टीका व प्राकृत वृत्ति हिन्दी भूमिका अनुवादादि सहित (ज्ञानपीठ काशी १९६)
७३ पञ्चसंग्रह (अमितगति मं) (मा ग्रं बम्बई, १९२७)
७४ पञ्चसंग्रह (चन्द्रर्षि) स्वोपज्ञवृत्ति स (आगमोदय समिति बम्बई, १९२७) मलयगिरि टीका सहित (जामनगर, १९७८)
७५ कर्मप्रकृति (शिवशर्म) – मलयगिरि और यशोवि टीकाओं सहित (जैनधर्म प्रसा सभा भावनगर)
७६ कर्मविपाक (कर्मग्रंथ १) – पं सुखलालकृत भूमिका व हिन्दी अनुवाद सहित (आगरा १९३९)
७७ कर्मस्तव (कर्मग्रंथ २) –हिन्दी अनुवाद सहित (आगरा १९१८)
७८ बंधस्वामित्व (कर्मग्रंथ ३) हि अ सहित (आगरा १९२७)
७९ षडशीति (कर्मग्रंथ ४) पं सुखलाल कृत प्रस्तावना अनुवादादि सहित (आगरा १९२२)
८० शतक (कर्मग्रंथ ५) पं कैलाशचन्द्रकृत भूमिका व्याख्या सहित (आगरा १९४२)
८१ सप्ततिका प्रकरण (क. ग्रंथ ६) पं फूलचन्द्रकृत प्रस्तावना व्याख्या सहित (आगरा १९४८)
८२ प्रवचनसार (कुंदकुंद) – अमृतचन्द्र व जयसेनकृत संस्कृत टीका हेमराज कृत हिन्दी व्याख्या व डॉ उपाध्ये कृत अंग्रेजी प्रस्तावना अनुवादादि सहित (रायचन्द्र शा मा बम्बई, १९३५)

शौरसेनी जैनागम—द्रव्यानुयोग

६७ षट्खंडागम (धवला टीका स) भाग १–१६ भूमिका हिन्दी अनुवाद अनुक्रमणिकादि सहित – डॉ हीरालाल (अमरावती व विदिशा १९३९–१९५९)

६८ महाबंध –भाग १–७ हिन्दी भूमिका अनुवादादि सहित (भारतीय ज्ञानपीठ काशी १९४७–१९५८)

६९ कसाय पाहुड (जय धवला टीका स) (जैन संघ मथुरा १९४४ आदि)

७ कसाय पाहुड – सूत्र और चूर्णि अनुवादादि सहित (वीरशासन संघ कलकत्ता १९५५)

७१ गोम्मटसार – जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड – अंग्रेजी अनुवाद सहित – जे एल जैनी (सेक्रेड बुक्स आफ दि जैन्स भाग ५, ६ ७) हिन्दी अनुवाद सहित (रायचंद्र शास्त्रमाला बम्बई, १९२७–२८)

७२ पञ्चसंग्रह (प्राकृत) – संस्कृत टीका व प्राकृत वृत्ति हिन्दी भूमिका अनुवादादि सहित (ज्ञानपीठ काशी १९६०)

७३ पञ्चसंग्रह (अमितगति सं) (मा ग्रं बम्बई, १९२७)

७४ पञ्चसंग्रह (चन्द्रर्षि) स्वोपज्ञवृत्ति स (आगमोदय समिति बम्बई, १९२७) मलयगिरि टीका सहित (जामनगर, १९७९)

७५ कर्मप्रकृति (शिवशर्म) – मलयगिरि और यशोवि टीकाओं सहित (जैनधर्म प्रसा सभा भावनगर)

७६ कर्मविपाक (कर्मग्रंथ १) – पं सुखलालकृत भूमिका व हिन्दी अनुवाद सहित (आगरा १९३९)

७७ कर्मस्तव (कर्मग्रंथ २) –हिन्दी अनुवाद सहित (आगरा १९१८)

७८ बंधस्वामित्व (कर्मग्रंथ ३) हि. अ सहित (आगरा १९२७)

७९ षडशीति (कर्मग्रंथ ४) पं सुखलाल कृत प्रस्तावना अनुवादादि सहित (आगरा १९२२)

८ शतक (कर्मग्रंथ ५) पं कैलाशचन्द्रकृत भूमिका व्याख्या सहित (आगरा १९४२)

८१ सप्ततिका प्रकरण (क ग्रंथ ६) पं फूलचन्द्रकृत प्रस्तावना व्याख्या सहित (आगरा १९४८)

८२ प्रवचनसार (कुन्दकुन्द) – अमृतचन्द्र व जयसेनकृत संस्कृत टीका हेमराज कृत हिन्दी व्याख्या व डॉ उपाध्ये कृत अंग्रेजी प्रस्तावना अनुवादादि सहित (रायचंद्र शा मा बम्बई, १९३५)

शौरसेनी जैनागम–ग्रन्थानुयोग

६७ षट्खण्डागम (धवला टीका स) भाग १–१६ भूमिका हिन्दी अनुवाद अनुक्रमणिका दि सहित – डॉ हीरालाल (अमरावती व विदिशा १९३९–१९५९)
६८ महाबंध –भाग १–७ हिन्दी भूमिका अनुवादादि सहित (भारतीय ज्ञानपीठ काशी १९४७–१९५८)
६९ कसाय पाहुड (जय धवला टीका स) (जैन संघ मथुरा १९४४ आदि)
७ कसाय पाहुड – सूत्र और चूर्णि अनुवादादि सहित (वीरशासन संघ कलकत्ता १९५५)
७१ गोम्मटसार – जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड – अंग्रेजी अनुवाद सहित – जे एल. जैनी (सेक्रेड बुक्स आफ दि जैन्स भाग ५, ६ ७) हिन्दी अनुवाद सहित (रायचंद्र शास्त्रमाला बम्बई, १९२७–२८)
७२ पञ्चसंग्रह (प्राकृत) – संस्कृत टीका व प्राकृत वृत्ति हिन्दी भूमिका अनुवादादि सहित (ज्ञानपीठ काशी १९६)
७३ पञ्चसंग्रह (अमितगति सं) (मा ग्रं बम्बई, १९२७)
७४ पञ्चसंग्रह (चन्द्रर्षि) स्वोपज्ञवृत्ति स (आगमोदय समिति बम्बई, १९२७) मलयगिरि टीका सहित (जामनगर, १९७८)
७५ कर्मप्रकृति (शिवशर्म) – मलयगिरि और यशोवि टीकाओं सहित (जैनधर्म प्रसा सभा भावनगर)
७६ कर्मविपाक (कर्मग्रंथ १) – पं सुखलालकृत भूमिका व हिन्दी अनुवाद सहित (आगरा १९३९)
७७ कर्मस्तव (कर्मग्रंथ २) –हिन्दी अनुवाद सहित (आगरा १९१८)
७८ बंधस्वामित्व (कर्मग्रंथ ३) हि. अ सहित (आगरा १९२७)
७९ षडशीति (कर्मग्रंथ ४) पं सुखलाल कृत प्रस्तावना अनुवादादि सहित (आगरा १९२२)
८ शतक (कर्मग्रंथ ५) पं कैलाशचन्द्रकृत भूमिका व्याख्या सहित (आगरा १९४२)
८१ सप्ततिका प्रकरण (क ग्रंथ ६) पं फूलचन्द्रकृत प्रस्तावना व्याख्या सहित (आगरा १९४८)
८२ प्रवचनसार (कुंदकुंद) – अमृतचन्द्र व जयसेनकृत संस्कृत टीका हेमराज कृत हिन्दी व्याख्या व डॉ उपाध्ये कृत अंग्रेजी प्रस्तावना अनुवादादि सहित (रायचंद्र शा मा बम्बई, १९३५)

शौरसेनी जैनागम–द्रव्यानुयोग

६७ षट्खंडागम (धवला टीका स) भाग १–१६ भूमिका हिन्दी अनुवाद अनुक्रमणिका वि सहित – डॉ हीरालाल (अमरावती व विदिशा १९३९–१९५९)
६८ महाबंध –भाग १–७ हिन्दी भूमिका अनुवादादि सहित (भारतीय ज्ञानपीठ काशी १९४७–१९५८)
६९ कषाय पाहुड (जय धवला टीका स) (जैन संघ मथुरा १९४४ आदि)
७ कषाय पाहुड – सूत्र और चूर्णि अनुवादादि सहित (वीरशासन संघ कलकत्ता १९५५)
७१ गोम्मटसार – जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड – अंग्रेजी अनुवाद सहित – जे एल. जैनी (सेक्रेड बुक्स आफ दि जैन्स आरा ग्रं ५, ६, ७) हिन्दी अनुवाद सहित (रायचंद्र शास्त्रमाला बम्बई, १९२७–२८)
७२ पञ्चसंग्रह (प्राकृत) – संस्कृत टीका व प्राकृत वृत्ति हिन्दी भूमिका अनुवादादि सहित (ज्ञानपीठ काशी १९६)
७३ पञ्चसग्रह (अमितगति सं) (मा ग्रं बम्बई, १९२७)
७४ पञ्चसग्रह (चन्द्रर्षि) स्वोपज्ञवृत्ति स (आगमोदय समिति बम्बई, १९२७) मलयगिरि टीका सहित (जामनगर, १९७८)
७५ कर्मप्रकृति (शिवशर्म) – मलयगिरि और यशोवि टीकाओं सहित (जैनधर्म प्रसा सभा भावनगर)
७६ कर्मविपाक (कर्मग्रंथ १) – पं सुखलालकृत भूमिका व हिन्दी अनुवाद सहित (आगरा १९३९)
७७ कर्मस्तव (कर्मग्रंथ २) –हिन्दी अनुवाद सहित (आगरा १९१८)
७८ बंधस्वामित्व (कर्मग्रंथ ३) हि. अ सहित (आगरा १९२७)
७९ षडशीति (कर्मग्रंथ ४) पं सुखलाल कृत प्रस्तावना अनुवादादि सहित (आगरा १९२२)
८ शतक (कर्मग्रंथ ५) पं कैलाशचन्द्रकृत भूमिका व्याख्या सहित (आगरा १९४२)
८१ सप्ततिका प्रकरण (क ग्रंथ ६) पं फूलचन्द्रकृत प्रस्तावना व्याख्या सहित (आगरा १९४८)
८२ प्रवचनसार (कुंदकुंद) – अमृतचन्द्र व जयसेनकृत संस्कृत टीका हेमराज कृत हिन्दी व्याख्या व डॉ उपाध्ये कृत अंग्रेजी प्रस्तावना अनुवादादि सहित (रायचंद्र शा मा बम्बई, १९३५)

शौरसेनी जैनागम—द्रव्यानुयोग

६७ षट्खंडागम (धवला टीका स) भाग १–१६ मूमिका हिन्दी अनुवाद अनुक्रमणिका वि सहित – डॉ हीरालाल (अमरावती व विदिशा १९३९–१९५९)
६८ महाबंध –भाग १–७ हिन्दी भूमिका अनुवादादि सहित (भारतीय ज्ञानपीठ काशी १९४७–१९५८)
६९ कसाय पाहुड (जय धवला टीका स) (जैन संघ मथुरा १९४४ आदि)
७ कसाय पाहुड – सूत्र और चूर्णि अनुवादादि सहित (वीरशासन संघ कलकत्ता, १९५५)
७१ गोम्मटसार – जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड – अंग्रेजी अनुवाद सहित – जे एल. जैनी (सेक्रेड बुक्स आफ दि जैन्स आरा ग्रं ५, ६, ७) हिन्दी अनुवाद सहित (रायचंद्र शास्त्रमाला बम्बई, १९२७–२८)
७२ पञ्चसंग्रह (प्राकृत) – संस्कृत टीका व प्राकृत वृत्ति हिन्दी भूमिका अनुवादादि सहित (ज्ञानपीठ काशी १९६)
७३ पञ्चसंग्रह (अमितगति सं) (मा ग्रं बम्बई, १९२७)
७४ पञ्चसंग्रह (चन्द्रर्षि) स्वोपज्ञवृत्ति स (आगमोदय समिति बम्बई, १९२७) मलयगिरि टीका सहित (जामनगर, १९७८)
७५ कर्मप्रकृति (शिवशर्म) – मलयगिरि और यशोवि टीकाओं सहित (जैनधर्म प्रसा सभा भावनगर)
७६ कर्मविपाक (कर्मग्रंथ १) – पं सुखलालकृत भूमिका व हिन्दी अनुवाद सहित (आगरा १९३९)
७७ कर्मस्तव (कर्मग्रंथ २) –हिन्दी अनुवाद सहित (आगरा १९१८)
७८ बंधस्वामित्व (कर्मग्रंथ ३) हि अ सहित (आगरा १९२७)
७९ षडशीति (कर्मग्रंथ ४) पं सुखलाल कृत प्रस्तावना अनुवादादि सहित (आगरा १९२२)
८ शतक (कर्मग्रंथ ५) पं कैलाशचन्द्रकृत भूमिका व्याख्या सहित (आगरा १९४२)
८१ सप्ततिका प्रकरण (क. ग्रंथ ६) पं फूलचन्द्रकृत प्रस्तावना व्याख्या सहित (आगरा १९४८)
८२ प्रवचनसार (कुंदकुंद) – अमृतचन्द्र व जयसेनकृत संस्कृत टीका हेमराज कृत हिन्दी व्याख्या व डॉ उपाध्ये कृत अंग्रेजी प्रस्तावना अनुवादादि सहित (रायचंद्र शा मा बम्बई, १९३५)

जैन न्याय

९१ सन्मतिसूत्र (सिद्धसेन) — अभयदेव टीका स भा १–५ (गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद, १९२१-३१) अंग्रेजी अनु व भूमिका स (जै श्वे ऐज्यु बोर्ड बम्बई १९३९)

९२ नयचक्रसंग्रह (देवसेन) सं छाया स (मा दि जै ग्रं १६ बम्बई, १९२०) नयचक्र–हिन्दी अनु स (शोलापुर १९४९)

९३ आलाप पद्धति (देवसेन) — (सनातन जैन ग्रं बम्बई, १९२० व मा दि जैन ग्रं बम्बई, १९२०)

९४ आप्तमीमांसा (समन्तभद्र) — जयचन्द्र कृत हिन्दी अर्थ स (अनन्तकीर्ति ग्रं मा ४ बम्बई) अकलंक कृत अष्टशती व वसुनन्दि टीका (सन जै बनारस १९१४) विद्यानन्दि कृत अष्टसहस्री टीका (अकलोज शोला-पुर १९१५)

९५ युक्त्यनुशासन (समन्तभद्र) (मूल मा दि जै ग्रं १५ बम्बई) जु मुख्तार कृत हिन्दी व्याख्या स (वीरसेवा मन्दिर सरसावा १९५१)

९६ अन्ययोग व्यवच्छेद (हेमचन्द्र) मल्लिषेण कृत स्याद्वाद मञ्जरी टीका जगदीशचन्द्र कृत हिन्दी अनुवाद स (रायचन्द्र जै शा बम्बई १९३५)

९७ न्यायावतार (सिद्धसेन) — सतीशचन्द्र वि भू कृत अंग्रेजी अनुवाद व चन्द्रप्रभसूरि कृत विवृत्ति के अवतरणों स (कलकत्ता १९०९) सिद्धर्षिकृत टीका व देवभद्र कृत टिप्पण व प ल वैद्य कृत अंग्रेजी प्रस्तावना स (श्वे जैनसभा बम्बई १९२८)

९८ विशेषावश्यक भाष्य (जिनभद्र) — हेमचन्द्र टीका स (य जै ग्रं बनारस वि सं २४२७-४१) गुज अनु स (आगमोदय स बम्बई, १९२४-२७)

९९ अकलंक ग्रंथत्रय (लघीयस्त्रय न्यायविनिश्चय प्रमाणसंग्रह) महेन्द्र कु कृत प्रस्तावना व टिप्पणों स (सिंघी जैन ग्रंथमाला अहमदाबाद–कलकत्ता, १९३९)

१०० न्यायकुमुदचन्द्र (प्रभाचन्द्र) भा १–२ महेन्द्र कु कृत प्रस्तावना स (मा दि जै ग्रं बम्बई, १९३८ १९४१)

१०१ न्यायविनिश्चय विवरण (वादिराज) भा १–२ महेन्द्र कु कृत प्रस्तावना स (भारतीय ज्ञानपीठ काशी १९४९ १९५४)

जैन न्याय

९१ सन्मतिसूत्र (सिद्धसेन) – अभयदेव टीका स भा १–५ (गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद १९२१ ३१) अंग्रेजी अनु व भूमिका स (जै श्वे ऐज्यु बोर्ड बम्बई १९३८)

९२ नयचक्रसंग्रह (देवसेन) स छाया स (मा दि जै ग्रं १६ बम्बई, १९२) नयचक्र–हिन्दी अनु स (शोलापुर १९४९)

९३ आलाप पद्धति (देवसेन) – (सनातन जैन ग्रं बम्बई, १९२ व मा दि जैन ग्रं बम्बई, १९२)

९४ आप्तमीमांसा (समन्तभद्र) – जयचन्द्र कृत हिन्दी अर्थ स (अनन्तकीर्ति ग्रं मा. ४ बम्बई अकलंक कृत अष्टशती व वसुनन्दि टीका (सन. जै बनारस १९१४) विद्यानन्दि कृत अष्टसहस्री टीका (अकलंक शोला पुर १९१५)

९५ युक्त्यनुशासन (समन्तभद्र) (मूल मा दि. जै ग्रं १५ बम्बई) जु मुख्तार कृत हिन्दी व्याख्या स (वीरसेवा मन्दिर, सरसावा १९५१)

९६ अन्ययोग व्यवच्छेद (हेमचन्द्र) मल्लिषेण कृत स्याद्वाद मञ्जरी टीका जगदीशचन्द्र कृत हिन्दी अनुवाद स (रायचन्द्र जै शा बम्बई १९३५)

९७ न्यायावतार (सिद्धसेन) – सतीशचन्द्र वि भू कृत अंग्रेजी अनुवाद व चन्द्रप्रभसूरि कृत विवृति के अवतरणों स (कलकत्ता १९ ९) सिद्धर्षिकृत टीका व देवभद्र कृत टिप्पण व प ल वैद्य कृत अंग्रेजी प्रस्तावना स (श्वे जैनसभा बम्बई १९२८)

९८ विशेषावश्यक भाष्य (जिनभद्र) – हेमचन्द्र टीका स (य जै ग्रं बनारस वि स २४२७-४१) गुज अनु स (आगमोदय स बम्बई, १९२४-२७)

९९ अकलंक ग्रंथत्रय (लघीयस्त्रय न्यायविनिश्चय प्रमाणसंग्रह) महेन्द्र कु कृत प्रस्तावना व टिप्पणों स (सिंघी जैन ग्रंथमाला अहमदाबाद–कलकत्ता १९३९)

१ न्यायकुमुदचन्द्र (प्रभाचन्द्र) भा १–२ महेन्द्र कु कृत प्रस्तावना स (मा दि जै ग्रं बम्बई, १९३८ १९४१)

१ १ न्यायविनिश्चय विवरण (वादिराज) भा १–२ महेन्द्र कु कृत प्रस्तावना स. (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९४९, १९५४)

जैन न्याय

९१ सन्मतिसूत्र (सिद्धसेन) – अभयदेव टीका स भा १–५ (गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद, १९२१ ३१) अंग्रेजी अनु व भूमिका स (जै श्वे ऐज्यु बोर्ड बम्बई १९३९)

९२ नयचक्रसंग्रह (देवसेन) सं छाया स (मा दि जै ग्र १६ बम्बई, १९२) नयचक्र–हिन्दी अनु स (सोलापुर. १९४९)

९३ आलाप पद्धति (देवसेन) – (सनातन जैन ग्र बम्बई, १९२ व मा दि. जैन ग्रं बम्बई, १९२)

९४ आप्तमीमांसा (समन्तभद्र) – जयचन्द्र कृत हिन्दी अर्थ स (अनन्तकीर्ति ग्रं मा ४ बम्बई, अकलंक कृत अष्टशती व वसुनन्दि टीका (सन जै बनारस १९१४) विद्यानन्दि कृत अष्टसहस्री टीका (अकलोज सोला- पुर १९१५)

९५ युक्त्यनुशासन (समन्तभद्र) (मूल मा दि जै ग्रं १६ बम्बई) जु मुख्तार कृत हिन्दी व्याख्या स (वीरसेवा मन्दिर सरसावा १९५१)

९६ अन्ययोग व्यवच्छेद (हेमचन्द्र) मल्लिषेण कृत स्याद्वाद मञ्जरी टीका जगदीशचन्द्र कृत हिन्दी अनुवाद स (रायचन्द्र जै शा बम्बई १९३५)

९७ न्यायावतार (सिद्धसेन) – सतीशचन्द्र वि भू कृत अंग्रेजी अनुवाद व चन्द्रप्रभसूरि कृत विवृति के अवतरणों स (कलकत्ता १९ ९) सिद्धर्षिकृत टीका व देवभद्र कृत टिप्पण व प ल वैद्य कृत अंग्रेजी प्रस्तावना स (श्वे जैनसभा बम्बई १९२८)

९८ विशेषावश्यक भाष्य (जिनभद्र) – हेमचन्द्र टीका स (य जै ग्रं बनारस वि स २४२७-४१) गुज अनु स (आगमोदय स बम्बई १९२४ २७)

९९ अकलंक ग्रंथत्रय (लघीयस्त्रय न्यायविनिश्चय प्रमाणसंग्रह) महेन्द्र कु कृत प्रस्तावना व टिप्पणों स (सिंघी जैन ग्रंथमाला अहमदाबाद–कलकत्ता, १९३९)

१ न्यायकुमुदचन्द्र (प्रभाचन्द्र) भा १–२ महेन्द्र कु कृत प्रस्तावना स (मा. दि जै ग्रं बम्बई १९३८ १९४१)

१ १ न्यायविनिश्चय विवरण (वादिराज) भा. १–२ महेन्द्र कु कृत प्रस्तावना स. (भारतीय ज्ञानपीठ काशी १९४९ १९५४)

११५ जैनतर्कभाषा (यशोविजय) तात्पर्य संग्रह वृत्ति स (सिंघी ग्रं १९३८)
११६ ज्ञानबिन्दु (यशोविजय) — पं सुखलाल कृत प्रस्तावना व टिप्पणों स (सिंघी ग्रं १९४२)

करणानुयोग

११७ लोकविभाग (सिंहसूरि) — भाषानुवाद स (जीवराज ग्रं शोलापुर, १९६२)
११८ तिलोयपण्णत्ति (यतिवृषभ) भा १–२ प्रस्ता व हिन्दी अनु स (जीवराज ग्र शोलापुर, १९४३ १९५२)
११९ त्रिलोकसार (नेमिचन्द्र) माधवचंद्रकृत टीका स (मा ग्रं बम्बई, वि सं २४४४)
१२० जम्बूद्वीपपण्णत्ति (पद्मनन्दि) — प्रस्ता हिन्दी अनु स (जीवराज ग्रं शोलापुर, १९५८)
१२१ लघुक्षेत्रसमास (रत्नशेखर) — सचित्र गुज व्याख्या स (मुक्तिकमल जैन मोहन माला बड़ौदा १९३४)
१२२ बृहत्क्षेत्र समास (जिनभद्र) मलयगिरि टीका स (जैनधर्म प्र स भावनगर, सं १९७७)
१२३ बृहत्संग्रहणीसूत्र (चन्द्रसूरि) सचित्र गुज व्याख्या स (मक्तिकमल जैन मो बड़ौदा १९३६)
१२४ विचारसार (प्रद्युम्नसूरि) — आगमोदय स सूरत १९२३)
१२५ ज्योतिष्करण्डक — सटीक (रतलाम १९२८)

चरणानुयोग

१२६ मूलाचार (वट्टकेर) भा १–२ वसुनन्दि टीका स (मा ग्रं बम्बई, वि. सं १९७७ १९८) मनोहरलाल कृत हिन्दी अनु स (अनन्तकीर्ति ग्रं बम्बई, १९१९)
१२७ भगवती आराधना (शिवार्य) — सदासुखकी भाषावचनिका स (अनन्तकीर्ति ग्रं बम्बई, वि सं १९८९) मूलाराधना — अपराजित और आशाधर की सं टीकाओं व हिन्दी अनु स (शोलापुर, १९३५)
१२८ अनगार धर्मामृत (आशाधर) स्वोपज्ञ टीका स (मा ग्रं बम्बई, १९१९)
१२९ पञ्चवस्तुक (हरिभद्र)—स्वोपज्ञ टीका स (देवचन्द लालभाई ग्रं बम्बई, १९३२)
१३ सम्यक्त्वसप्तति (हरिभद्र)—संघतिलक टीका स (दे ला ग्रं बम्बई, १९१३)
१३१ जीवानुशासन (देवसूरि) — (हेमचन्द्र — ग्रंथा. पाटन १९२८)

११५ जैनतर्कभाषा (यशोविजय) तात्पर्य संग्रह वृत्ति स (सिंघी ग्रं १९३८)
११६ ज्ञानबिन्दु (यशोविजय) – पं सुखलाल कृत प्रस्तावना व टिप्पणों स (सिंघी ग्रं १९४२)

करणानुयोग

११७ लोकविभाग (सिंहसूरि) – भाषानुवाद स (जीवराज ग्रं शोलापुर, १९६२)
११८ तिलोयपण्णत्ति (यतिवृषभ) भा १–२ प्रस्ता व हिन्दी अनु स (जीवराज ग्रं शोलापुर, १९४३ १९५२)
११९ त्रिलोकसार (नेमिचन्द्र) माधवचन्द्रकृत टीका स (मा ग्रं बम्बई, वि सं २४४४)
१२ जम्बूद्वीपपण्णत्ति (पद्मनन्दि) – प्रस्ता हिन्दी अनु स (जीवराज ग्रं शोलापुर, १९५८)
१२१ लघुक्षेत्रसमास (रत्नशेखर) – सचित्र गुज व्याख्या स (मुक्तिकमल जैन मोहन माला बड़ौदा १९३४)
१२२ बृहत्क्षेत्र समास (जिनभद्र) मलयगिरि टीका स (जैनधर्म प्र स भावनगर, सं १९७७)
१२३ बृहत्संग्रहणीसूत्र (चन्द्रसूरि) सचित्र गुज व्याख्या स (मक्तिकमल जैन मो बड़ौदा १९३९)
१२४ विचारसार (प्रद्युम्नसूरि) – आगमोदय स सूरत १९२३)
१२५ ज्योतिष्करण्डक – सटीक (रतलाम १९२८)

चरणानुयोग

१२६ मूलाचार (वट्टकेर) भा १–२ वसुनन्दि टीका स (मा ग्रं बम्बई, वि सं १९७७ १९८) मनोहरलाल कृत हिन्दी अनु स (अनन्तकीर्ति ग्रं बम्बई, १९१९)
१२७ भगवती आराधना (शिवार्य) – सदासुखकी भाषावचनिका स (अनन्तकीर्ति ग्रं बम्बई वि सं १९८९) मूलाराधना – अपराजित और आशाधर की सं टीकाओं व हिन्दी अनु स (शोलापुर, १९३५)
१२८ अनगार धर्मामृत (आशाधर) स्वोपज्ञ टीका स (मा ग्रं बम्बई, १९१९)
१२९ पञ्चवस्तुक (हरिभद्र)–स्वोपज्ञ टीका स (देवचन्द लालभाई ग्रं बम्बई, १९१२)
१३ सम्यक्त्वसप्तति (हरिभद्र)–संघतिलक टीका स (दे. ला ग्रं बम्बई, १९१३)
१३१ जीवानुशासन (देवसूरि) – (हेमचन्द्र – ग्रंथा. पाटन १९२८)

११५ जैनतर्कभाषा (यशोविजय) तात्पर्य संग्रह वृत्ति स (सिंघी ग्रं १९३८)
११६ ज्ञानबिन्दु (यशोविजय) — पं सुखलाल कृत प्रस्तावना व टिप्पणों स (सिंघी ग्रं १९४२)

करणानुयोग

११७ लोकविभाग (सिंहसूरि) — भाषानुवाद स (जीवराज ग्रं शोलापुर, १९६२)
११८ तिलोयपण्णत्ति (यतिवृषभ) भा १–२ प्रस्ता व हिन्दी अनु स (जीवराज ग्रं शोलापुर, १९४३ १९५२)
११९ त्रिलोकसार (नेमिचन्द्र) माधवचंद्रकृत टीका स (मा ग्रं बम्बई, वि सं २४४४)
१२ जम्बूदीवपण्णत्ति (पद्मनन्दि) — प्रस्ता हिन्दी अनु स (जीवराज ग्रं शोलापुर, १९५८)
१२१ लघुक्षेत्रसमास (रत्नशेखर) — सचित्र गुज व्याख्या स (मुक्तिकमल जैन मोहन माला बड़ौदा १९३४)
१२२ बृहत्क्षेत्र समास (जिनभद्र) मलयगिरि टीका स (जैनधर्म प्र स भावनगर, सं. १९७७)
१२३ बृहत्संग्रहणीसूत्र (चन्द्रसूरि) सचित्र गुज व्याख्या स (मुक्तिकमल जैन मो. बड़ौदा १९१९)
१२४ विचारसार (प्रद्युम्नसूरि) — आगमोदय स सूरत १९२३)
१२५ ज्योतिष्करण्डक — सटीक (रतलाम १९२८)

चरणानुयोग

१२६ मूलाचार (वट्टकेर) भा १–२ वसुनन्दि टीका स (मा ग्र बम्बई, वि सं १९७७ १९८) मनोहरलाल कृत हिन्दी अनु स (अनन्तकीर्ति ग्रं बम्बई, १९१९)
१२७ भगवती आराधना (शिवार्य) — सदासुखकी भाषावचनिका स (अनन्तकीर्ति ग्रं बम्बई, वि सं १९८९) मूलाराधना — अपराजित और आशाधर की सं टीकाओं व हिन्दी अनु स. (शोलापुर, १९३५)
१२८ अनगार धर्मामृत (आशाधर) स्वोपज्ञ टीका स (मा ग्रं बम्बई, १९१९)
१२९ पञ्चवस्तुक (हरिभद्र)—स्वोपज्ञ टीका स (देवचन्द लालभाई ग्रं बम्बई, १९१२)
१३ सम्यक्त्वसप्तति (हरिभद्र)—संघतिलक टीका स. (दे. ला ग्रं बम्बई, १९१३)
१३१ जीवानुशासन (देवसूरि) — (हेमचन्द्र – ग्रंथा. पाटन १९२८)

ध्यान-योग

१४९ कार्तिकेयानुप्रेक्षा (स्वामिकुमार) — शुभचन्द्र टीका पं कैलाशचन्द्र कृत हि अनु डॉ उपाध्ये कृत अं प्रस्तावनादि स (रायचन्द्र शा., अगास १९६)

१५ योगबिन्दु (हरिभद्र) — सटीक (जैन ध प्र स भावनगर, १९११)

१५१ योगदृष्टि समुच्चय (हरिभद्र) स्वोपज्ञ टीका स (दे ला बम्बई, १९११)

१५२ योगविंशिका (हरिभद्र) पातञ्जल योगसूत्र सटीक व पं सुखलाल की भूमिका स (आ सं भावनगर, १९२२)

१५३ षोडषक (हरिभद्र यशोभद्र व यशोविजय टीकाओं स (दे ला बम्बई १९११)

१५४ परमात्म प्रकाश (योगीन्द्र) ब्रह्मदेव कृत सं टीका व दौलतराम कृत हिन्दी टीका-डॉ उपाध्ये कृत अं प्रस्तावना व पं जगदीशचन्द्र कृत हिन्दी अन स (रायचन्द्र शा अगास १९६)

१५५ पाहुड दोहा (रामसिंह) — डॉ ही ला जैनकृत भूमिका हि अनु आदि स (कारंजा जैन सीरीज १९३३)

१५६ इष्टोपदेश (पूज्यपाद) आशाधर टीका मन्यकुमार कृत हि अनु व चम्पतराय कृत अं अनु और टिप्पणी स (रायचन्द्र शा बम्बई, १९५४)

१५७ समाधितंत्र (पूज्यपाद) प्रभाचन्द्र टीका परमानन्द कृत हि अनु व जु मुख्तार कृत प्रस्तावना स (वीर सेवा मन्दिर, सरसावा १९३९)

१५८ द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका (यशोविजय) —सटीक (जै ध प्र स भावनगर, सं १९६६)

१५९ आत्मानुशासन (गुणभद्र) — प्रभाचन्द्र टीका अंग्रेजी हिन्दी प्रस्ता हिन्दी अनु स (जीवराज जै ग्रं सोलापुर, १९६१) जु जैनी कृत अंग्रेजी अनु स (अजिताश्रम लखनऊ १९२८) वंशीधर कृत हिन्दी टीका (जैन ग्रं र का बम्बई १९१६)

१६ सुभाषितरत्नसंदोह (अमितगति) —निर्णयसागर बम्बई, १९ ९) हि अनु स (हरि द कलकत्ता १९१७)

१६१ योगसार (अमितगति) — (सनातन जै ग्रं कलकत्ता १९१८)

१६२ ज्ञानार्णव (शुभचन्द्र) — हि अनु स (रायचन्द्र शा बम्बई, १९ ७)

१६३ योगशास्त्र (हेमचन्द्र) स्वोपज्ञ वृत्ति स (जै ध प्र स भावनगर, १९२६)

१६४ अध्यात्म रहस्य (आशाधर) हिन्दी व्याख्या जु मुख्तार कृत (वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली १९५७)

ध्यान-योग

१४९ कार्तिकेयानुप्रेक्षा (स्वामिकुमार) – शुभचन्द्र टीका पं. कैलाशचन्द्र कृत हि. अनु डॉ उपाध्ये कृत अं. प्रस्तावनादि स (रायचंद्र शा., अगास १९६)
१५ योगबिन्दु (हरिभद्र) – सटीक (जैन ध प्र स भावनगर, १९११)
१५१ योगदृष्टि समुच्चय (हरिभद्र) स्वोपज्ञ टीका स (दे ला बम्बई, १९११)
१५२ योगविंशिका (हरिभद्र) पातञ्जल योगसूत्र सटीक व पं. सुखलाल की भूमिका स (आ ग्रं भावनगर, १९२२)
१५३ षोडशक (हरिभद्र यशोभद्र व यशोविजय टीकाओं स (दे ला बम्बई १९११)
१५४ परमात्म प्रकाश (योगीन्द्र) ब्रह्मदेव कृत सं टीका व दौलतराम कृत हिन्दी टीका, डॉ उपाध्ये कृत अं. प्रस्तावना व पं जगदीशचन्द्र कृत हिन्दी अनु स. (रायचन्द्र शा अगास १९६)
१५५ पाहुड दोहा (रामसिंह) – डॉ ही ला जैनकृत भूमिका हि अनु, आदि स. (कारंजा जैन सीरीज १९३३)
१५६ इष्टोपदेश (पूज्यपाद) आशाधर टीका धन्यकुमार कृत हि. अनु व चम्पतराय कृत अं अनु और टिप्पणों स (रायचन्द्र शा बम्बई, १९५४)
१५७ समाधितंत्र (पूज्यपाद) प्रभाचन्द्र टीका परमानन्द कृत हि. अनु व जु मुख्तार कृत प्रस्तावना स (वीर सेवा मन्दिर, सरसावा १९३९)
१५८ द्वात्रिंशद्‌द्वात्रिंशिका (यशोविजय) – सटीक (जै ध प्र स भावनगर, सं १९६६)
१५९ आत्मानुशासन (गुणभद्र) – प्रभाचन्द्र टीका अंग्रेजी हिन्दी प्रस्ता हिन्दी अनु स (जीवराज जै ग्रं सोलापुर, १९६१) जु जैनी कृत अंग्रेजी अनु स (अजिताश्रम लखनऊ १९२८) वंशीधर कृत हिन्दी टीका (जैन ग्रं र. का बम्बई १९१६)
१६ सुभाषितरत्नसंदोह (अमितगति) –निर्णयसागर बम्बई, १९ ९) हि. अनु स (हरि. बे कलकत्ता १९१७)
१६१ योगसार (अमितगति) – (सनातन जै ग्रं कलकत्ता १९१८)
१६२ ज्ञानार्णव (शुभचन्द्र) – हि अनु स (रायचन्द्र शा., बम्बई, १९ ७)
१६३ योगशास्त्र (हेमचन्द्र) स्वोपज्ञ वृत्ति स (जै ध प्र स भावनगर, १९२६)
१६४ अध्यात्म रहस्य (आशाधर) हिन्दी व्याख्या जु मुख्तार कृत (वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली १९५७)

ध्यान–योग

१४९ कार्तिकेयानुप्रेक्षा (स्वामिकुमार) – शुभचन्द्र टीका पं. कैलाशचन्द्र कृत हि. अनु. डॉ. उपाध्ये कृत अं. प्रस्तावनादि स. (रायचन्द्र शा. अगास १९६)

१५० योगबिन्दु (हरिभद्र) – सटीक (जैन ध. प्र. स. भावनगर, १९११)

१५१ योगदृष्टि समुच्चय (हरिभद्र) स्वोपज्ञ टीका स. (दे. ला. बम्बई, १९११)

१५२ योगविंशिका (हरिभद्र) पातञ्जल योगसूत्र सटीक व पं. सुखलाल की भूमिका स. (आ. ध. भावनगर, १९२२)

१५३ योगशतक (हरिभद्र यशोभद्र व यशोविजय टीकाओं स. (दे. ला. बम्बई १९११)

१५४ परमात्म प्रकाश (योगीन्द्र) ब्रह्मदेव कृत सं. टीका व दौलतराम कृत हिन्दी टीका, डॉ. उपाध्ये कृत अं. प्रस्तावना व पं. जगदीशचन्द्र कृत हिन्दी अनु. स. (रायचन्द्र शा. अगास १९६)

१५५ पाहुड दोहा (रामसिंह) – डॉ. ही. ला. जैनकृत भूमिका हि. अनु. आदि स. (कारंजा जैन सीरीज १९३३)

१५६ इष्टोपदेश (पूज्यपाद) आशाधर टीका चम्पतराय कृत हि. अनु. व चम्पतराय कृत अं. अनु. और टिप्पणों स. (रायचन्द्र शा., बम्बई, १९५४)

१५७ समाधितंत्र (पूज्यपाद) प्रभाचन्द्र टीका परमानन्द कृत हि. अनु. व जु. मुख्तार कृत प्रस्तावना स. (वीर सेवा मन्दिर, सरसावा १९३९)

१५८ द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका (यशोविजय) – सटीक (जै. ध. प्र. स. भावनगर, सं. १९६६)

१५९ आत्मानुशासन (गुणभद्र) – प्रभाचन्द्र टीका अंग्रेजी हिन्दी प्रस्ता. हिन्दी अनु. स. (जीवराज जै. ग्रं. शोलापुर, १९६१) जु. जैनी कृत अंग्रेजी अनु. स. (अजिताश्रम लखनऊ १९२८) वंशीधर कृत हिन्दी टीका (जैन ग्रं. र. का. बम्बई १९१६)

१६० सुभाषितरत्नसंदोह (अमितगति) – निर्णयसागर बम्बई, १९ ९) हि. अनु. स. (हरि. दे. कलकत्ता १९१७)

१६१ योगसार (अमितगति) – (सनातन जै. ग्रं. कलकत्ता १९१८)

१६२ ज्ञानार्णव (शुभचन्द्र) – हि. अनु. स. (रायचन्द्र शा., बम्बई १९ ७)

१६३ योगशास्त्र (हेमचन्द्र) स्वोपज्ञ वृत्ति स. (जै. ध. प्र. स. भावनगर, १९२६)

१६४ अध्यात्म रहस्य (आशाधर) हिन्दी व्याख्या जु. मुख्तार कृत (वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली १९५७)

१८ विषापहार स्तोत्र (धनञ्जय) – चन्द्रकीर्ति टीका नाथूराम प्रेमी कृत पद्यानुवाद व पं पन्नालाल कृत गद्यानुवाद स (सन्मति कुटीर, चन्दावाड़ी बम्बई, १९५६)

१८१ एकीभावस्तोत्र (वादिराज) – चन्द्रकीर्ति टीका व परमानन्द शास्त्री कृत अनु स (वीरसेवा मं सरसावा १९४)

१८२ जिनचतुर्विंशतिका (भूपाल) – आशाधर टीका भूधरदास व मन्यकुमार कृत पद्यानु व पं पन्नालाल कृत गद्यानु स (सन्मति कुटीर, चन्दावाड़ी बम्बई, १९५८)

१८३ सरस्वतीस्तोत्र (बप्पभट्टि) आगमो. स बम्बई, १९२६, चतुर्विंशिका पृ २१४)

१८४ वीतराग स्तोत्र (हेमचन्द्र) – प्रभानन्द और सोमोदय गणि टीकाओं स (दे ला बम्बई, १९११)

१८५ यमकमय चतुर्विंशति जिनस्तुति (जिनप्रभ) – भीमसी माणक बम्बई, प्रकरण रत्नाकर–४

१८६ जिनस्तोत्ररत्नकोष (मुनिसुन्दर) – यशो बनारस १९ ६

१८७ साधारण जिनस्तवन (कुमारपाल) – बम्बई, १९१६ (सोमतिलक) आगमो. बम्बई, १९२१

१८८ नमिनक्तामर स्तोत्र (भावरत्न) – आगमो बम्बई, १९२६

१८९ सरस्वती भक्तामरस्तोत्र (धर्मसिंह) आगमो. बम्बई, १९२७

प्रथमानुयोग प्राकृत

१९ पउमचरिय (विमलसूरि) – मूलमात्र याकोबी सम्पा (जै ध प्र स भावनगर, १९१४)

✓ १९१ चउप्पन्नमहापुरिसचरिय (शीलाङ्क) – प्राकृत ग्रंथ परिषद् वाराणसी १९६१)

१९२ पासनाहचरिय (गुणचन्द्र) अहमदाबाद १९४५, गुज अनु आत्मा भावनगर, सं २ ५

१९३ सुपासनाहचरिय (लक्ष्मण गणि) – पं हरगो सेठ सम्पा (जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला बनारस १९१९)

१९४ महावीर चरिय (गुणचन्द्र) दे ला बम्बई, १९२१ गुज अनु आत्मा सं १९९४)

१९५ महावीरचरित (नेमिचन्द्र-देवेन्द्रगणि) जैन आत्मा भावनगर, सं १९७३

१९६ सुरसुन्दरीचरिय – (नमिविज्ञानग्रं (सं २) गुज अनु (धनीशाला सं १९८६)

१८ विषापहार स्तोत्र (धनञ्जय) – चन्द्रकीर्ति टीका नाथूराम प्रेमी कृत पद्यानुवाद व पं पन्नालाल कृत गद्यानुवाद स (सन्मति कुटीर, चन्दावाड़ी बम्बई, १९५६)

१८१ एकीभावस्तोत्र (वादिराज) – चन्द्रकीर्ति टीका व परमानन्द शास्त्री कृत अनु स (वीरसेवा मं सरसावा १९४)

१८२ जिनचतुर्विंशतिका (भूपाल) – आशाधर टीका भूधरदास व चम्पकुमार कृत पद्यानु व पं पन्नालाल कृत गद्यानु स (सन्मति कुटीर, चन्दावाड़ी बम्बई, १९५८)

१८३ सरस्वतीस्तोत्र (बप्पभट्टि) आगमो स बम्बई, १९२६ चतुर्विंशिका पृ २६४)

१८४ वीतराग स्तोत्र (हेमचन्द्र) – प्रभानन्द और सोमोदय गणि टीकाओं स (वे आ बम्बई, १९११)

१८५ यमकमय चतुर्विंशति जिनस्तुति (जिनप्रभ) – भीमसी माणक बम्बई, प्रकरण रत्नाकर-४

१८६ जिनस्तोत्ररत्नकोष (मुनिसुन्दर) – यशो बनारस १९ ९

१८७ साधारण जिनस्तवन (कुमारपाल) – बम्बई, १९३६ (सोमतिलक) आगमो बम्बई, १९२६

१८८ नेमिभक्तामर स्तोत्र (भावरत्न) – आगमो बम्बई, १९२६

१८९ सरस्वती भक्तामरस्तोत्र (धर्मसिंह) आगमो. बम्बई, १९२७

प्रथमानुयोग प्राकृत

१९ पउमचरिय (विमलसूरि) – मूलमात्र याकोबी सम्पा (जै ध प्र स भावनगर, १९१४)

✓ १९१ चउपन्नमहापुरिसचरिय (शीलाङ्क) – प्राकृत ग्रन्थ परिषद् वाराणसी १९६१)

१९२ पासनाहचरिय (गुणचन्द्र) अहमदाबाद १९४२, गुज अनु आत्मा भावनगर, सं २ ५

१९३ सुपासनाहचरिय (लक्ष्मण गणि) – पं हरगो सेठ सम्पा (जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला बनारस १९१९)

१९४ महावीर चरिय (गुणचन्द्र) दे ला बम्बई, १९२९ गुज अनु आत्मा सं १९९४)

१९५ महावीरचरिय (नेमिचन्द्र-देवेन्द्रगणि) जैन आत्मा भावनगर सं १९७३

१९६ तरङ्गलोला – (नेमिविज्ञानसं (सं २) गुज अनु (पालीताणा सं १९८९)

२१६ उपदेशमाला (धर्मदास) रामविजय व सिद्धर्षि टीकाएं (हीरालाल हंसराज जामनगर सं १६३४) ऋषभदेवजी केशरीमल संस्था इन्दौर, १६३६)
२१७ उपदेशपद (हरिभद्र) – मुनिचन्द्र टीका स जैनधर्म प्र स पालीताना १६०६, मुक्तिकमल जै मो बड़ौदा १६२३-२५)
२१८ धर्मोपदेशमाला विवरण (जयसिंह) – सिंघी बम्बई, १६४६
२१६ शीलोपदेशमाला (जयकीर्ति) तरङ्गिणी टीका स (हीरालाल हंसराज जामनगर १६ ६)
२२ आख्यानमणिकोश (देवेन्द्र नेमिचन्द्र) आम्रदेव कृत टीका स (प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी)
२२१ भवभावना (मल हेमचन्द्र) सोपज्ञ वृत्ति स ऋषभदेव के जै श्वे संस्था रतलाम सं १६६२
२२२ कुमारपालप्रतिबोध (सोमप्रभ) – गा ओ सी बड़ौदा १६२ गुज अनु आत्मानन्द सभा स १६८३ डॉ आल्सडर्फ कृत अपभ्रंश संकलन जर्मन प्रस्ता अनु स हेमचन्द्र १६२८
२२३ जयन्तीप्रकरण (मानतुङ्ग) – पन्यास मणिवि ग्रं अहमदाबाद सं २ ६
२२४ कथारत्नकोष (गुणचन्द्र) – जैनआत्मा स भावनगर, १६४४
२२५ विजयचन्द्रचरित्र (चन्द्रप्रभ) जै ध प्र स भावनगर, १६ ६ गुज अनुवाद वही सं १६६२
२२६ संवेगरंगशाला (जिनचन्द्र) निर्णयसागर बम्बई, १६२४
२२७ विवेकमंजरी (आसाड) – बालचन्द्र टीका स विविध सा शा मा बनारस सं १६७५
२२८ उपदेश रत्नाकर (मुनिसुन्दर) जै न वि प्र वर्ग पालीताना सं १६६४ दे ला बम्बई, १६२२
२२६ कथामहोदधि (सोमचन्द्र) कर्पूर प्रकर स ही हं जामनगर, १६१६
२३ वर्धमानदेशना (शुभवर्धन) जै ध प्र सभा भावनगर बालाभाई छगनलाल अहमदाबाद सं १६६

प्रथमानुयोग अपभ्रंश

२३१ पउमचरिउ (स्वयंभू) भाग १ ३ ह च भायाणी कृत प्रस्ता स (सिंघी जा वि भ बम्बई १६५३ १६६) देवेन्द्रकुमार कृत हि अनु स १-२६ संधि भा १-३ भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १६५७-५८

२१६ उपदेशमाला (धर्मदास) रामविजय व सिद्धर्षि टीकाएं (हीरालाल हंसराज जामनगर. सं १९३४) ऋषभदेवजी केसरीमल संस्था इन्दौर, १९३९)
२१७ उपदेशपद (हरिभद्र) – मुनिचन्द्र टीका स जैनधर्म प्र व पालीताना १९ ६, मक्तिकमल जै मो बड़ौदा १९२३ २५)
२१८ धर्मोपदेशमाला विवरण (जयसिंह) – सिंघी बम्बई, १९४९
२१९ शीलोपदेशमाला (जयकीर्ति) तरङ्गिणी टीका स (हीरालाल हंसराज जामनगर १९ ९)
२२ आख्यानमणिकोष (देवेन्द्र नेमिचन्द्र) आम्रदेव कृत टीका स (प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी)
२२१ भवभावना (मल-हेमचन्द्र) स्वोपज्ञ वृत्ति स ऋषभदेव के जै श्र संस्था रतलाम सं १९९२
२२२ कुमारपालप्रतिबोध (सोमप्रभ) – गा ओ सी बड़ौदा १९२ गुज अनु आत्मा सभा सं १९८३ डॉ आल्सडर्फ कृत अपभ्रंश संकलन जर्मन प्रस्ता अनु स हेमबर्ग १९२८
२२३ जयन्तीप्रकरण (मानतुङ्ग) – पन्यास मणिवि व अहमदाबाद सं २ ६
२२४ कथारसकोष (पुष्पचन्द्र) – जैनआत्मा स भावनगर, १९४४
२२५ विजयचन्द्रचरित (चन्द्रप्रभ) जै ध प्र स भावनगर १९ ६, गुज अनुवाद वही सं १९६२
२२६ संवेगरंगशाला (जिनचन्द्र) निर्णयसागर, बम्बई, १९२४
२२७ विवेकमंजरी (आषाढ़) – बालचन्द्र टीका स विविध सा शा मा बनारस सं १९७५
२२८ उपदेश रत्नाकर (मुनिसुन्दर) जै ध वि प्र वर्ग पालीताना सं १९६४ दे ला. बम्बई, १९२२
२२९ कथामहोदधि (सोमचन्द्र) कर्पूर प्रकर स ही हं जामनगर, १९१६
२३ धर्मानन्दवेशना (शुभवर्धन) जै ध प्र सभा भावनगर, बालाभाई छगनलाल अहमदाबाद सं १९६

प्रथमानुयोग अपभ्रंश

२३१ पउमचरिउ (स्वयंभू) भाग १ ३ ह भू भायाणी कृत प्रस्ता स (सिंघी भा वि म बम्बई, १९५३ १९६) देवेन्द्रकुमार कृत हि. अनु स १–२६ संधि भा. १–२ भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५७–५८

२१६ उपदेशमाला (धर्मदास) रामविजय व सिद्धर्षि टीकाएं (हीरालाल हंसराज जामनगर सं १९३४) ऋषभदेवजी केशरीमल संस्था इन्दौर, १९३६)
२१७ उपदेशपद (हरिभद्र) – मुनिचन्द्र टीका स जैनधर्म प्र स पालीताना १९०९, मणिविजय ग्रं मो बड़ौदा १९२३-२५)
२१८ धर्मोपदेशमाला विवरण (जयसिंह) – सिंघी बम्बई, १९४९
२१९ शीलोपदेशमाला (जयकीर्ति) तरङ्गिणी टीका स (हीरालाल हंसराज जामनगर १९ ९)
२२ आख्यानमणिकोष (देवेन्द्र नेमिचन्द्र) आम्रदेव कृत टीका स (प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी)
२२१ भवभावना (मल-हेमचन्द्र) स्वोपज्ञ वृत्ति स ऋषभदेव के पी श्वे संस्था रतलाम सं १९९२
२२२ कुमारपालप्रतिबोध (सोमप्रभ) – गा ओ सी बड़ौदा १९२ गुज अनु आत्मानन्द सभा सं १९८३ डॉ आल्सडर्फ कृत अपभ्रंश अंश जर्मन प्रस्ता अनु स हैम्बर्ग १९२८
२२३ जयन्तीप्रकरण (मानतुङ्ग) – पन्यास मणिविजय ग्रं अहमदाबाद सं २ ६
२२४ कथारत्नकोष (गुणचन्द्र) – जैनआत्मा सं भावनगर, १९४४
२२५ विजयचन्द्रचरित (चन्द्रप्रभ) जै ध प्र स भावनगर, १९ ६ गुज अनुवाद वही सं १९९२
२२६ कथारत्नकोष (जिनचन्द्र) निर्णयसागर, बम्बई, १९२४
२२७ विवेकमंजरी (आसाड) – बालचन्द्र टीका स विविध सा दा मा बनारस सं १९७५
२२८ उपदेश रत्नाकर (मुनिसुन्दर) जै ध वि प्र वर्ग पालीताना सं १९६४ दे ला बम्बई १९२२
२२९ कथामहोदधि (सोमचन्द्र) कर्पूर प्रकर स ही हं जामनगर, १९१६
२३ वर्धमानदेशना (शुभवर्धन) जै ध प्र सभा भावनगर बालाभाई छगनलाल अहमदाबाद सं १९६

प्रथमानुयोग अपभ्रंश

२३१ पउमचरिउ (स्वयंभू) भाग १ ३ डा यू भायाणी कृत प्रस्ता स (सिंघी भा वि भ बम्बई १९५३ १९६) देवेन्द्रकुमार कृत हि अनु स १-२६ संधि भा १-३ भारतीय ज्ञानपीठ काशी १९५७-५८

२१६ उपदेशमाला (धर्मदास) रामविजय व सिद्धर्षि टीकाएं (हीरालाल हसराज जामनगर, सं १९३४) ऋषभदेवजी केशरीमल संस्था इन्दौर, १९३६)
२१७ उपदेशपद (हरिभद्र) – मुनिचन्द्र टीका स जैनधर्म प्र स., पालीताना १९०९, मक्तिकमल जै मो बड़ौदा १९२३-२५)
२१८ धर्मोपदेशमाला विवरण (जयसिंह) – सिंघी बम्बई, १९४९
२१९ शीलोपदेशमाला (जयकीर्ति) तरङ्गिणी टीका स (हीरालाल हसराज जामनगर १९ ९)
२२ आख्यानमणिकोष (देवेन्द्र नेमिचन्द्र) आम्रदेव कृत टीका स (प्राकृत टैक्स्ट सोसायटी)
२२१ भवभावना (मल-हेमचन्द्र) सोपज्ञ वृत्ति स ऋषभदेव के पै श्वे संस्था रतलाम सं १९९२
२२२ कुमारपालप्रतिबोध (सोमप्रभ) – गा ओ सी बड़ौदा १९२ गुज अनु आत्मानन्द सभा सं १९८३ डॉ आल्सडर्फकृत अपभ्रंश संकलन जर्मन प्रस्ता अनु स हेमचन्द्र १९२८
२२३ जयन्तीप्रकरण (मानतुङ्ग) – पन्यास मणिवि ग्रं अहमदाबाद सं २ ६
२२४ कथारत्नकोष (गुणचन्द्र) – जैनआत्मा ग्रं भावनगर, १९४४
२२५ विजयचन्द्रचरित (चन्द्रप्रभ) जै ध प्र स भावनगर १९ ६, गुज अनुवाद वही सं १९६२
२२६ संवेगरंगशाला (जिनचन्द्र) निर्णयसागर, बम्बई, १९२४
२२७ विवेकमंजरी (आसाड़) – बालचन्द्र टीका स विविध सा मा मा बनारस सं १९७५
२२८ उपदेश रत्नाकर (मुनिसुन्दर) जै ध वि प्र वर्ग पालीताना सं १९६४ दे ला बम्बई, १९२२
२२९ कथामहोदधि (सोमचन्द्र) कर्पूर प्रकर स ही ह जामनगर, १९१६
२३ वर्धमानदेशना (शुभवर्धन) जै ध प्र सभा भावनगर, बालाभाई छगनलाल अहमदाबाद, सं १९६

प्रथमानुयोग अपभ्रंश

२३१ पउमचरिउ (स्वयम्भू) भाग १ २ ह. भू भायाणी कृत प्रस्ता स (सिंघी भा वि भ बम्बई, १९५३ १९६) देवेन्द्रकुमार कृत हि. अनु स १-५६ संधि भा १-३ भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५७-५८

२४९ बालभारत (अमरचन्द्र) निर्णयसागर बम्बई, १८९४ १९२६)
/ २५ पुराणसार संग्रह (दामनन्दि)–हि. अनु स (भा ज्ञा काशी भा १-२ १९५४-५५)
२५१ चन्द्रप्रभचरित (वीरनन्दि) नि सा बम्बई, १९१२ १९२६
२५२ वासुपूज्यचरित (वर्धमान) जै ध प्र स भावनगर, स १९६६) हीरालाल हंसराज जामनगर, १९२८–९
२५३ धर्मशर्माभ्युदय (हरिचन्द्र) नि सा बम्बई, १८८८
२५४ शान्तिनाथ चरित (अजितप्रभ) जै ध प्र स भावनगर, सं १९७१
२५५ शान्तिनाथ पुराण (सकलकीर्ति) हि अनु जिनवाणी प्र कलकत्ता १९३९ दुलीचन्द पन्नालाल देवरी १९२६
२५६ मल्लिनाथ चरित (विनयचन्द्र) यशो जै ग्र भावनगर नि स २४३८
२५७ नेमिनिर्वाण काव्य (वाग्भट) नि सा बम्बई, १८९६
२५८ नेमिदूत काव्य (विक्रम) नि सा बम्बई, काव्यमाला नं २
२५९ पार्श्वाभ्युदय (जिनसेन) – योगिराज टीका स नि सा बम्बई, १९ ९, इसमें ग्रथित मेघदूत पाठक कृत अ अनु स पूना १८९४ १९१६
२६० पार्श्वनाथ चरित (वादिराज) – मा दि जै ग्रं बम्बई १९१६ हि अ पं श्रीलाल कृत जयचन्द्र जैन कलकत्ता १९२२
२६१ पार्श्वनाथ चरित (भावदेव) – य जै ग्रं बनारस १९१२, अं आचार्य ब्लूमफील्ड कृत बाल्टीमोर १९१९
२६२ वर्धमान (महावीर) चरित (असग) पं खूबचन्द कृत हि. अनु स (मूलचन्द किसनदास कापड़िया सूरत १९१८ मराठी अनु स शोलापुर, १९३१
२६३ यशस्तिलकचम्पू (सोमदेव) श्रुतसागर टीका स नि सा बम्बई, १९ १
२६४ यशोधर चरित (वादिराज) सरस्वती विलास सी तंजोर, १९१२ हि अनु उदयलाल कृत हिन्दी जै सा प्रसा कार्या बम्बई, १९१४
२६५ जीवंधर चम्पू (हरिचन्द्र) सर वि तंजोर १९ ५, हि. अनु स भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५८
२६६ गद्यचिन्तामणि (वादीभसिंह) टी एस कुप्पूस्वामी शास्त्री सम्पा मद्रास १९ २
२६७ क्षत्रचूडामणि (वादीभसिंह) स वि तंजोर १९ ३ हि अनु स जै ग्रं र. कार्या बम्बई १९१ सरल प्रज्ञा पुस्तकमाला मंडावरा पूर्वार्ध १९३२, उत्तरार्ध १९४

२४९ धर्मशर्माभ्युदय (हरिचन्द्र) निर्णयसागर, बम्बई, १८९४ १९२९)
✓ २५० पुराणसार संग्रह (दामनन्दि)–हि. अनु. स (भा. ज्ञा काशी ना १ २ १९५४-५५)
२५१ चन्द्रप्रभचरित (वीरनन्दि) नि सा बम्बई, १९१२ १९२६
२५२ वासुपूज्यचरित (वर्धमान) जै ध प्र. स भावनगर, स १९९९) हीरालाल हंसराज जामनगर, १९२८–१
२५३ धर्मशर्माभ्युदय (हरिचन्द्र) नि. सा बम्बई, १८८८
२५४ शान्तिनाथ चरित (अजितप्रभ) जै ध प्र स भावनगर, स १९७३
२५५ शान्तिनाथ पुराण (सकलकीर्ति) हि. अनु. जिनवाणी प्र कलकत्ता १९३९ दुलाचन्द पन्नालाल देवरी १९२३
२५६ मल्लिनाथ चरित (विनयचन्द्र) यशो जै ग्रं म भावनगर नि. स २४३८
२५७ नेमिनिर्वाण काव्य (वाग्भट) नि सा बम्बई, १८९६
२५८ नेमिदूत काव्य (विक्रम) नि. सा बम्बई, काव्यमाला म २
२५९ पार्श्वाभ्युदय (जिनसेन) – योगिराज टीका स नि. सा बम्बई १९ ९, इसमें प्रथित मेघदूत पाठक कृत अं अनु स पूना १८९४ १९१६
२६ पार्श्वनाथ चरित (वादिराज) – मा दि. जै ग्रं बम्बई १९१६, हि. अ पं श्रीलाल कृत जयचन्द्र जैन कलकत्ता १९२२
२६१ पार्श्वनाथ चरित (भ ्देव) – य. जै ग्रं बनारस १९१२, अं भावार्थ ब्लुमफील्ड कृत बाल्टीमोर १९१९
२६२ वर्धमान (महावीर) चरित (असग) प खूबचन्द कृत हि. अनु स (मूलचन्द किसनदास कापडिया सूरत १९१८ मराठी अनु स सोलापुर, १९३१
२६३ यशस्तिलकचम्पू (सोमदेव) श्रुतसागर टीका स नि. सा बम्बई, १९ १
२६४ यशोधर चरित (वादिराज) सरस्वती विलास सी तंजोर, १९१२ हि. अनु उदयलाल कृत हिन्दी जै सा प्रसा कार्या. बम्बई, १९१४
२६५ जीवंधर चम्पू (हरिचन्द्र) सर. वि. तंजोर १९ ५, हि. अनु स भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५८
२६६ गद्यचिन्तामणि (वादीभसिंह) टी एस कुप्पुस्वामी शास्त्री सम्पा नाटेसन कं मद्रास, १९ २
२६७ क्षत्रचूडामणि (वादीभसिंह) स वि. तंजोर, १९ ३ हि. अनु. स जै ग्रं र. कार्या. बम्बई १९१ सरल ग्रन्थ पुस्तकमाला मराबाद पूर्वार्ध १९१२, उत्तरार्ध १९४

२४९ बालभारत (अमरचन्द्र) निर्णयसागर, बम्बई, १८९४ १९२६)
२५० पुराणसारसंग्रह (दामनन्दि)–हि अनु स (मा ज्ञा काशी भा १ २ १९५४ ५५)
२५१ चन्द्रप्रभचरित (वीरनन्दि) नि सा बम्बई, १९१२ १९२६
२५२ वासुपूज्यचरित (वर्धमान) जै ध प्र स भावनगर, सं १९६६) हीरालाल हंसराज
जामनगर, १९२८–९
२५३ धर्मशर्माभ्युदय (हरिचन्द्र) नि सा बम्बई, १८८८
२५४ शान्तिनाथ चरित (अजितप्रभ) जै ध प्र स भावनगर, सं १९७१
२५५ शान्तिनाथ पुराण (सकलकीर्ति) हि. अनु जिनवाणी प्र कलकत्ता १९३९
बुलाचन्द पन्नालाल देवरी १९२१
२५६ मल्लिनाथ चरित्र (विनयचन्द्र) यशो जै ग्रं भावनगर नि सं २४३८
२५७ नेमिनिर्वाण काव्य (वाग्भट) नि सा बम्बई, १८९६
२५८ नेमिदूत काव्य (विक्रम) नि सा बम्बई काव्यमाला में २
२५९ पार्श्वाभ्युदय (जिनसेन) – योगिराज टीका स नि सा बम्बई १९ १ इसमें
ग्रथित मेघदूत पाठक कृत अं अनु स पूना १८९४ १९१६
२६ पार्श्वनाथ चरित (वादिराज) – मा दि जै ग्रं बम्बई १९१६ हि अ पं श्रीलाल
कृत जयचन्द्र जैन कलकत्ता १९२२
२६१ पार्श्वनाथ चरित्र (भावदेव) – य जै ग्रं बनारस १९१२ अं आचार्य ब्लूमफील्ड
कृत बाल्टीमोर १९१९
२६२ वर्धमान (महावीर) चरित्र (असग) पं खूबचन्द्र कृत हि. अनु स (मूलचन्द
किसनदास कापड़िया सूरत १९१८ मराठी अनु स शोलापुर, १९३१
२६३ यशस्तिलकचम्पू (सोमदेव) श्रुतसागर टीका स नि सा बम्बई, १९ १
२६४ यशोधर चरित्र (वादिराज) सरस्वती विलास सी तंजोर, १९१२ हि अनु उदय-
लाल कृत हिन्दी जै सा प्रसा कार्या बम्बई, १९१४
२६५ जीवंधर चम्पू (हरिचन्द्र) सर. वि तंजोर १९ ५, हि अनु स भारतीय ज्ञानपीठ
काशी १९५८
२६६ गद्यचिन्तामणि (वादीभसिंह) टी एम कुप्पूस्वामी शास्त्री सम्पा मार्टेसन के
मद्रास १९ २
२६७ क्षत्रचूडामणि (वादीभसिंह) स वि तंजोर १९ ३ हि अनु स जै ग्रं र. कार्या
बम्बई १९१ नरम प्रज्ञा पुस्तकमाला मंडावरा पूर्वार्ध १९१२ उत्त
रार्ध १९४

२१२ धम्मकम्मेष्ठिकथानक (जिनकीर्ति) हर्टेलकृत मं व जर्मन अनु स लीपजिग १९२२
२१३ पालगोपाल कथानक (जिनकीर्ति) हर्टेल लीपजिग १९१७
२१४ मलयसुन्दरी कथा (माणिक्यसुन्दर) बम्बई, १९१८
२१५ पापबुद्धिधर्मबुद्धि कथा (कामघटकथा) ही हं जामनगर, १९ १
२१६ प्रद्युम्नयमाहात्म्य (धनेश्वर) ही हं जामनगर, १९ ८
२१७ प्रभावकचरित्र (प्रभाचन्द्र) नि सा बम्बई, १९ ९
२१८ प्रबन्धचिन्तामणि (मेरुतुङ्ग) सिंघी जै मी शान्तिनिकेतन १९३३ टानीकृत
  अं अनु बिब इंडी कलकत्ता १८९९ १९ १ गुज अनु स रामचन्द्र
  दीनानाथ बम्बई, १८८८
२१९ प्रबन्धकोष (राजशेखर) सिंघी जै मी शान्तिनिकेतन १९३५ ही हं जामनगर
  १९१३ हमचन्द्र सभा पाटन १९२१
२ बृहत्कथाकोष (हरिषेण) डॉ उपाध्ये कृत अं प्रस्ता म भारतीय विद्याभवन
  बम्बई १९४३
२ १ धर्मपरीक्षा (अमितगति) – हि अनु स जै ग्रं र बम्बई १९ ८
  जै सि प्र कलकत्ता १९ ८
२ २ आराधना कथाकोष (नेमिदत्त) (हि. अनु स) जै हीराबाग बम्बई १९१५
२ ३ अन्तरकथासंग्रह (राजशेखर) बम्बई, १९१८ गुज अनु जै ध प्र स भावनगर
  में १९७८ इटालियन अनु ७–१४ कथाओं का बेनजिमा १८८८
२ ४ भरतेश्वर बाहुबलिवृत्ति (कथाकोष-शुभशील) दे ला बम्बई १९३२ गुज अनु
  मनसुखलाल हाथीसिंह अहमदाबाद १९ ९
२ ५ दानकल्पद्रुम (जिनकीर्ति) दे ला बम्बई १९ ९
२ ६ धर्मकल्पद्रुम (उदयधर्म) दे ला बम्बई, सं १९७१
२ ७ सम्यक्त्वकौमदी (जिनहर्ष) जै आ स भावनगर सं १९७
२ ८ कथारत्नाकर (हेमविजय) ही हं जामनगर १९११ हर्टेल कृत जर्मन अनु
  मुनचेन १९२

संस्कृत नाटक

२ ९ निर्भयभीमव्यायोग (रामचन्द्र) यशो. जै ग्रं मं १९ भावनगर
२१० नलविलास (रामचन्द्र) गा ओ सी बड़ौदा १९२६
२११ कौमुदी नाटक (रामचन्द्र) जै आ. स म ९९ भावनगर में १९७१

२९२ सम्यक्त्वकौमुदी-कथानक (जिनकीर्ति) हर्टलकृत मं न जर्मन मनु स लीपजिग १९२२
२९३ पालगोपाल कथानक (जिनकीर्ति) हर्टल लीपजिग १९१७
२९४ मलयसुन्दरी कथा (माणिक्यसुन्दर) बम्बई, १९१८
२९५ पापबुद्धिधर्मबुद्धि कथा (कामघटकथा) ही हं जामनगर १९ १
२९६ शत्रुञ्जयमाहात्म्य (धनेश्वर) ही हं जामनगर १९ ८
२९७ प्रभावकचरित (प्रभाचन्द्र) नि सा बम्बई, १९ ९
२९८ प्रबन्धचिन्तामणि (मेरुतुङ्ग) सिंघी जै सी शान्तिनिकेतन १९३३ टानीकृत अं अनु बिब इंडी कलकत्ता १८९९ १९ १ गुज अनु म रामचन्द्र दीनानाथ बम्बई १८८८
२९९ प्रबन्धकोश (राजशेखर) सिंघी जै सी शान्तिनिकेतन १९३५ ही हं जामनगर १९११ हेमचन्द्र सभा पाटन १९२१
३ बृहत्कथाकोश (हरिषेण) डॉ उपाध्ये कृत अं प्रस्ता ग भारतीय विद्याभवन बम्बई १९४३
३ १ धर्मपरीक्षा (अमितगति) – हि अनु म जै ग्रं र बम्बई १९ ८
जै सि प्र कलकत्ता १९ ८
३ २ आराधना कथाकोश (नेमिदत्त) (हि अनु म) बै हीराबाग बम्बई १९१५
३ ३ सम्यक्त्वसप्तति (राजशेखर) बम्बई १९१८ गुज अनु जै ध प्र स भावनगर स १९७८ टर्नीकृत अनु ७–१४ कथाओं का वेनेजिया १८८८
✓ ३ ४ भरतेश्वर बाहुबलिवृत्ति (कथाकोश-शुभशील) द ला बम्बई १९३२ गुज अनु मगनलाल हाथीसिंह अहमदाबाद १९ १
३ ५ दानकल्पद्रुम (जिनकीर्ति) दे ला बम्बई १९०९
३ ६ धर्मकल्पद्रुम (उदयधर्म) दे ला बम्बई र्ग १९७३
३ ७ सम्यक्त्वकौमुदी (जिनहर्ष) जै आ स भावनगर सं १९७०
३ ८ कथारत्नाकर (हेमविजय) ही हं जामनगर १९११ हर्टल कृत जर्मन अनु मुनचेन १९२

संस्कृत नाटक

३ ९ निर्भयभीमव्यायोग (रामचन्द्र) यशो जै ग्रं मं १९ भावनगर
३१ नलविलास (रामचन्द्र) गा ओ सी बड़ौदा १९२६
३११ कौमुदी नाटक (रामचन्द्र) जै आ स मं १९ भावनगर सं १९७३

१११ स्वयंभूछन्दस (स्वयंभू) १ १ वेलणकर सम्पा. बम्बई, रा ए सो जर्नल १९३५
४–८ बम्बई यूनी जर्नल नव १९३६
११२ कविदर्पण – वेलणकर सम्पा भं ओ रि इं जर्नल पूना १९३५
११३ छन्दकोश (रत्नशेखर) वेलणकर सम्पा बम्बई, यूनी ज १९३२
११४ छन्दोनुशासन (हेमचन्द्र) वेलणकर सम्पा मूलजी बम्बई, १९१२
११५ रत्नमञ्जूषा (छन्दोविचिति) सभाष्य वेलणकर सम्पा भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
१९४९

कोश

११६ पाइयलच्छीनाममाला (धनपाल) भावनगर सं १९७३
११७ देसीनाममाला (हेमचन्द्र) पिशल और बूलर सम्पा बम्बई, सं पी १८८
मु बनर्जी सम्पा कलकत्ता १९३१
११८ नाममाला व अनेकार्थनिघण्टु (धनञ्जय) अमरकीर्ति भाष्य स भारतीय ज्ञा. काशी
१९५
११९ अभिधान चिन्तामणि (हेमचन्द्र) स्वोपज्ञ टीका स यशो जै ग्रं ४१ ४२ भावनगर
नि सा २४४१ २४४६ मूलमात्र जसवन्तलाल गिरधर लाल शाह,
अहमदाबाद सं २ १३

१११ स्वयंभूछन्दस (स्वयंभू) १ ३ वेलणकर सम्पा. बम्बई, रा ए सो जर्नल १९१२
४–८ बम्बई, यूनी जर्नल नव १९३६
११२ कविदर्पण – वेलणकर सम्पा भं ओ रि इं जर्नल पूना १९३५
११३ छन्दःकोश (रत्नशेखर) वेलणकर सम्पा बम्बई, यूनी ज १९१२
११४ छन्दोनुशासन (हेमचन्द्र) देवकरण मूलजी बम्बई १९१२
११५ रत्नमञ्जूषा (छन्दोविचिति) सभाष्य वेलणकर सम्पा भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
१९४९

कोश

११६ पाइयलच्छीनाममाला (धनपाल) भावनगर सं १९७३
११७ देशीनाममाला (हेमचन्द्र) पिशेल और ब्यूलर सम्पा बम्बई, सं वी १८८
मु बनर्जी सम्पा कलकत्ता १९३१
११८ नाममाला व अनेकार्थनिघण्टु (धनञ्जय) अमरकीर्ति भाष्य स भारतीय ज्ञा काशी
१९५
११९ अभिधान चिन्तामणि (हेमचन्द्र) स्वोपज्ञ टीका स यशो ग्रं ग्रं ४१ ४२ भावनगर
नि सा २४४१ २४४६ मूलमात्र वसन्तलाल गिरधर लाल शाह
अहमदाबाद सं २ १३

व्याख्यान ४

जैन कला

363 Origin and Early History of Caityas, V R. R Dikshitar (Ind. Hist Q XIV 1938)
364 Jaina Stupa and other Antiquities from Mathura V Smith (Allahabad, 1901)
365 Mohenjodaro and the Indus Valley Civilization Vol I III J Marshall (London 1931)
366 Note on Pre-Historic Antiquities from Mohenjodaro — R P Chanda (Modern Review 1924)
367 History of Fine Art in India and Ceylon — V Smith (Oxford 1930)
368 Indian Architecture — Percy Brown (Bombay)
369 Paharpur Copperplate Grant of Gupta Year 159 (Ep Ind. XX p 61 ff)
370 Yakshas — Part I II — A.K Coomaraswamy (Washington, 1928-31)
371 Yaksha Worship in Early Jain Literature — U P Shah (J O Instt III 1953)
372 Muni Vairadeva of Sona Bhandar Cave Inscription — U P Shah (J Bihar R S Patna 1953)
373 Studies in Jaina Art — U P Shah (J C S Banaras 1955)
374 History of Indian and Eastern Architecture— J Ferguson (London 1910)
375 Jaina Temples from Devagadh Fort — H D Sankalia (J I S O.A IX, 1941)
376 Khandagiri — Udayagiri Caves — T N Ramchandran & Chhotelal Jain (Calcutta 1951)
377 The Mancapuri Cave — T N Ramchandran (I H Q XXVII 1951)
378 Holy Abu — Jina Vijay (Bhavnagar 1954)
379 A Guide to Rajgir — Kuraishi & Ghose (Delhi 1939)
380 Archaeology in Gwaliar State — M B Garde (Gwaliar 1934)
381 Cave Temples of India — Fergusson & Burgess (London 1880)

व्याख्यान ४

जैन कला

363 Origin and Early History of Caityas, V R. R Dikshitar (Ind. Hist. Q XIV 1938)
364 Jaina Stupa and other Antiquities from Mathura V Smith (Allahabad 1901)
365 Mohenjodaro and the Indus Valley Civilization Vol I III J Marshall (London, 1931)
366 Note on Pre-Historic Antiquities from Mohenjodaro — R P Chanda (Modern Review 1924)
367 History of Fine Art in India and Ceylon — V Smith (Oxford 1930)
368 Indian Architecture — Percy Brown (Bombay)
369 Paharpur Copperplate Grant of Gupta Year 159 (Ep Ind. XX p 61 ff)
370 Yakshas — Part I II — A K. Coomaraswamy (Washington, 1928-31)
371 Yaksha Worship in Early Jain Literature — U P Shah (J O Instt. III 1953)
372 Muni Vairadeva of Sona Bhandar Gave Inscription — U P Shah (J Bihar R.S Patna 1953)
373 Studies in Jaina Art — U P Shah (J C.S Banaras 1955)
374 History of Indian and Eastern Architecture— J Fergusson (London, 1910)
375 Jaina Temples from Devagadh Fort — H D Sankalia (J I S O.A IX, 1941)
376 Khandagiri — Udayagiri Caves — T N Ramchandran & Chhotelal Jain (Calcutta 1951)
377 The Mancapuri Cave — T N Ramchandran (I H Q XXVII 1951)
378 Holy Abu — Jina Vijay (Bhavnagar 1954)
379 A Guide to Rajgir — Kuraishi & Ghose (Delhi 1939)
380 Archaeology in Gwalior State — M B. Garde (Gwalior 1934)
381 Cave Temples of India — Fergusson & Burgess (London 1880)

400 A Descriptive and Illustrated Catalogue of Miniature Paintings of the Jaina Kalpasutra as executed in the Early Western Indian Style — W N Brown (Washington 1934)

401 Conqueror s Life in Jaina Paintings — A K Coomaraswamy (J I.S of Or Art III 1935)

402 *The Story of Kalaka — W N Brown (Washington 1933)*

४०३ तीर्थराज आबू (गुज) जिनविजय (भावनगर १९५४)

४०४ जैन चित्र कल्पद्रुम – न साराभाई (अहमदाबाद १९३६)

४०५ जैसलमेर चित्रावली – पुण्य विजय (अहमदाबाद १९५१)

400 A Descriptive and Illustrated Catalogue of Miniature Paintings of the Jaina Kalpasutra as executed in the Early Western Indian Style — W N Brown (Washington 1934)

401 Conqueror s Life in Jaina Paintings — A K. Coomarswamy (J I.S of Or Art III 1935)

402 The Story of Kalaka — W N Brown (Washington, 1933)

४०३ तीर्थराज आबू (गुज.) जिनविजय (भावनगर १९२८)

४०४ जैन चित्र कल्पद्रुम — स. साराभाई (अहमदाबाद १९३६)

४०५ जैसलमेर चित्रावली — पुण्य विजय (अहमदाबाद १९५१)

400 A Descriptive and Illustrated Catalogue of Miniature Paintings of the Jaina Kalpasutra as executed in the Early Western Indian Style — W N Brown (Washington 1934)

401 Conqueror s Life in Jaina Paintings — A.K. Coomaraswamy (J I.S of Or Art III 1935)

402 The Story of Kalaka — W N Brown (Washington 1933)

४०३ तीर्थराज आबू (गुज) जिनविजय (भावनगर १९५४)

४०४ जैन चित्र कल्पद्रुम — म साराभाई (अहमदाबाद १९३६)

४०५ जैसलमेर चित्रावली — पुण्य विजय (अहमदाबाद १९५१)

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	५	सर्वापदा	सर्वापदाम्
१२	६	नाभ॰	नाभे
१३	२०	मुनियो	मुनयो
१४	२७	प्रघव्राज	प्रवव्राज
१४	२६	ग्रहगहीत	ग्रहगृहीत
१४	३०	इवादृश्वत	इवादृश्यत
१६	८	एक	एव
२४	१२	जानाली	जामालि
२८	२०	कोडवाणो	कोडवाणी
२६	७	विद्याघार	विद्याधर
३६	७	विशाल	विशाख
३६	१८	सिखप्पडिकार	सिलप्पडिकारं
३८	२२	कृष्ण द्वितीय	कृष्ण तृतीय
३८	२५	कोम्र	पोम्र
४३	१७	ऋवभदेव	ऋषभदेव
६७	२६	आश्यवक	आवश्यक
७७	२३	वट्खडागम	षट्खडागम
७६	१६	राचभल्ल	राचमल्ल
७६	१८	वहुर्वलि	वाहुवलि
८४	२७	पचास्तकाय	पचास्तिकाय
६७	४	जम्बूद्वीपवपण्णत्ति	जम्बूद्वीवपण्णत्ति
६६	२६	पर-प्रकशकत्व	पर-प्रकाशकत्व
६६	२७	प्रकारण	प्रकरण
१००	२३	(चारित्र भक्ति से पूर्व) जोडिये	श्रुतभक्ति (गा० ११)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०७	८	पंचवत्थुग	पंचवत्थुग
१०८	२१	पुरुषार्थ सिद्धयुपाय	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
१११	१	पंचासग	पंचासय
१२	४	समविभत्तक	समाधिशतक
१२१	६	२७ संस्कृत पद्यों	२७ संस्कृत पद्यों
१२२	८	प्रयामाम	प्राणायाम
१२२	२१	मोमीद्दीपन	मोनोद्दीपन
१२६	२१	मन्त्राम्मन्त्ता	मन्त्राम्नन्ता
१२७	१४-१५	'भक्तिभाव' के पश्चात्	१५वी पंक्ति का संबंधी आदि पाठ (४) से पूर्व तक का कीजिये और फिर (१) आदि
१३१	१३	मणिक	श्रेणिक
१३५	११	संवत् १२२१	संवत् १२११
१३६	२	नैमिचन्द्र	नेमिचन्द्र
१३७	१७	गथाएं	गाथाएं
१४७	१८ आदि	रत्नावकी	रत्नावली
१४९	१९	स्थाविर	स्थविर
१५१	२१	यापिनीय	यापनीय
१५८	१५	पुष्पदन्त	पुष्पदन्त
१६४	१	रत्नकरंड	रत्नकरंड
१६६	४	महापुराण-चरित	महापुरुषचरित
१६९	२८	वाग्भट्ट	वाग्भट
१८२	२६	र और स	ए और ख
१८५	७	विषयक्रम	विषमक्रम
१८५	२५	प्रभचन्द्र	प्रभाचन्द्र
१८५	२८	महाचन्द्र	महीचन्द्र
१९	२६	उप्भाषा	उद्भाषा

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६०	२८	उग्दीति	उद्गीति
१६५	१५	वाग्भट्ट	वाग्भट
१६५	१५	काव्यानुशान	काव्यानुशासन
१६७	१२	भण्णामाणा	भणमाणा
२२२	२१	अचप्रल	अचलप्र
२२८	२	द्वैप	द्वेष
२३८	२	कूरता	क्रूरता
२४७	७	कुश्रु	कुश्रुति
२८२	४	मनवीय	मानवीय
३२१	२५	निर्दिष्ट	निर्देश
३४४	१०	सक्त कर्मण	सक्तस्य कर्मण
३४४	१७	-सगिसर्गिणाम्	-सर्गिणाम्
३७१	१६	त्रिलोकसागर	त्रिलोकसार

मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्
के

प्रकाशन

१ कला के प्राण बुद्ध — लेखक श्री जगदीशचन्द्र मूल्य ७ ५०

२ कीचक वध — श्री खाडिलकर-कृत मराठी नाटक कीचक वध का हिन्दी अनुवाद। अनुवादक श्री भवानी प्रसाद तिवारी मूल्य १ ४०

३ अमरों की सदियाँ — लेखक श्री गौरीशंकर लहरी राष्ट्र के प्रधान प्राणवान क्षणों से संबन्धित कविताओं का संग्रह मूल्य ० ५०

४ धरती के रखवाले — लेखक श्री कृ० शि० मेहता वर्तमान समस्याओं को लेकर लिखे गए एकांकी नाटकों का संग्रह मूल्य १ ००

५ भारतीय सहकारिता आन्दोलन — लेखक श्री ओमप्रकाश शर्मा सहकारिता जैसे महत्वपूर्ण विषय पर लिखित विवेचनात्मक ग्रंथ मूल्य १ १५

६ बुन्देलखंडी लोकगीत — लेखक स्वर्गीय शिवसहाय चतुर्वेदी विधि रूप से विवेचित बुन्देलखंडी लोकगीतों का संग्रह मूल्य २ ००

७ भारत में आर्य और अनार्य — डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या द्वारा नागपुर मे परिषद् के तत्वावधान में सन् १९५ में दिए गए चार व्याख्यानों का संग्रह मूल्य १ ३०

८ नाट्य कला मीमांसा — डा० गोविन्ददास द्वारा उज्जैन में परिषद् के तत्वावधान में सन् १९६० में दिए गए चार व्याख्यानों का संग्रह मूल्य १ ५